अथर्ववेद का सुबोध भाष्य

तृतीय भाग

[काण्ड ७ से १०]

लेखक

महामहोपाध्याय पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विद्यामार्तण्ड, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

Rs. 75-00

पारडी [जि. बलसाड]

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य

तृतीय भाग

[काण्ड ७-१०]

भाष्यकार

पद्मभूषण डा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

स्वाध्याय मण्डल

पारडी

Rs. 75-00

प्रकाशक
बसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय मण्डल, पारडी
[जि० बलसाड]

1985

मुद्रक
मेहरा आफसेट प्रेस, नई दिल्ली

अथर्ववेदके सुभाषित

'सुभाषित' सर्वदा ध्यानमें धरने योग्य वेदमंत्रके मननीय विभाग हैं। ये वेदके सारभूत भाग हैं। ये यहां विषयवार वर्गीकरणके साथ अर्थके समेत दिये हैं। लेखक, वक्ता, संपादक, प्रचारक, उपदेशक आदिकोंके उपयोगमें ये अच्छी तरह आ सकते हैं। इनका वारंवार वैयक्तिक अथवा सामूहिक उच्चारण करनेसे करनेवालों तथा सुननेवालोंके मनोंपर बडा इष्ट परिणाम हो सकता है। इससे वैदिक धर्मका अच्छा प्रचार हो सकता है और मानवी जीवनमें वैदिक धर्म आनेके लिये यह एक सुगम साधन हो सकता है।

आगेके सुभाषितोंके प्रकरणोंमें मुख्य सुभाषित और उनमें जो भाग वैयक्तिक अथवा सामूहिक उच्चारणमें आ सकते हैं, वे बताये हैं। ये सुभाषित अनेक हैं, इतने ही हैं ऐसी बात नहीं और एक मंत्रके अनेक सार्थ विभाग करनेसे ये और अनेक हो सकते हैं। पाठक इनका उपयोग करते जांयगे तो उनको इनकी उपयुक्तता विदित हो सकती है।

ब्रह्म

तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानाः (७।१।१)— तृतीय ब्रह्मज्ञानसे बढते रहते हैं।

ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चित् (८।९।३)— ज्ञानी तपसे जाने कि यह ब्रह्म है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्न्यो अभि चाकशीति (९।९।२०)— दो उत्तम पंखवाले मित्र पक्षी (जीव और शिव) एक वृक्ष पर बैठे हैं, उनमें एक मीठा फल खाता है, दूसरा न खाता हुआ प्रकाशता है।

*

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः, यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्ते अमी समासते (९।१०।१८)— परम आकाशमें रहनेवाले ऋचाओंके अक्षरोंमें सब देव रहते हैं। जो यह नहीं जानता वह ऋचासे क्या करेगा, जो वह जानते हैं वे उत्तम स्थानमें विराजते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्, एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (९।१०।२८)— एक ही सत् है, उसको ज्ञानी अनेक नामोंसे पुकारते हैं, उसको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा कहते हैं।

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति, ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् (१०।२।२१)— ज्ञान विद्वान्‌को प्राप्त करता है, ज्ञान ही परमेष्ठी प्रजापतिको जानता है।

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति, ब्रह्म दैवजनीर्विशः, ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं, ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते (१०।२।२३) — ब्रह्म देवोंके साथ रहता है, ब्रह्म दिव्य जनरूपी प्रजामें वसता है, ब्रह्म ही न नाश पानेवाला है और ब्रह्म ही सच्चा क्षात्र तेज है।

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् (१०।२।२५)— ब्रह्मने पृथिवी बनायी, ब्रह्मने ही द्युलोक ऊपर रखा और. अन्तरिक्षमें ब्रह्म ही तिरछा और चारों ओर फैला है।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्, मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रेरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः (१०।२।२६)— सिर और हृदयको योगी सीता है, और मस्तकके ऊपर प्राणको चलाता है।

तद्वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः (१०।२।२७)— वह अथर्वाका सिर देवोंका खजाना सुरक्षित है।

सर्वा दिशः पुरुष आ बभूव (१०।२।२८)— सब दिशाओंमें वह पुरुष है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरं, तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः (१०।२।२९) — अमृतसे आवृत इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और अन्य देव चक्षु, प्राण (दीर्घायु) और सुप्रजा देते हैं।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा, पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते (१०।२।३०) — जो ब्रह्मकी इस नगरीको जानता है उसको न आंख और न प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व छोडते हैं।

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः (१०।२।३१) — आठ चक्र और नौ द्वार जिसमें है ऐसी यह देवोंकी नगरी है, उसमें सुवर्णका खजाना, तेजसे भरा हुआ स्वर्ग ही है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते, तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः (१०।२।३२)— उस तेजस्वी हृदयकोशमें, तीन आधारोंसे रहे स्थानमें जो आत्मावान् पूजनीय देव है, उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृतां, पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् (१०।२।३३) —तेजस्वी, यशसे घिरी, मनका हरण करनेवाली सुवर्णमय अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।

इन सुभाषितोंमें इनसे भी छोटे टुकडे सुभाषितके समान उपयोगमें लाये जा सकते हैं, देखिये—

ब्रह्मणा वावृधानाः— ब्रह्मज्ञानसे वृद्धि प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मैनद्विद्यात्— ब्रह्मको जाने।

ऋचो अक्षरे… देवा… निषेदुः— वेदमंत्रके अक्षरमें देव रहते हैं।

एकं सत्— एक सत् है।

ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति— ज्ञान वेदके विद्वान्को प्राप्त होता है।

ब्रह्म देवां अनु क्षियति— ब्रह्म देवोंके साथ रहता है।

शिरः देवकोशः— सिर देवोंका खजाना है।

सर्वा दिशः पुरुषः— सब दिशाओंमें पुरुष है।

नवद्वारा देवानां पूः— नौ द्वारोंवाली देवोंकी नगरी है।

पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेश— सुवर्णमय नगरीमें ब्रह्मा प्रविष्ट होता है।

इस तरह पूर्वोक्त बडे सुभाषितोंसे ऐसे अनेक छोटे छोटे सुभाषित तैयार होते हैं। ये व्यक्तिशः अथवा संघशः जपे या भजन किये जा सकते हैं, और ऐसा करनेसे करनेवालों और सुननेवालोंको बडा लाभ हो सकता है।

ईश्वर

प्रपथे पथां अजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः (७।१०।१)— द्युलोकके, अन्तरिक्षके, और पृथिवीके मार्गमें सबका पोषणकर्ता ईश्वर प्रकट होता है।

उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्— दोनों अत्यंत प्रिय स्थानोंमें सबको ठीक तरह जानता हुआ वह ईश्वर विचरता है।

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः— (७।१०।२)- सबका पोषणकर्ता ईश्वर सब दिशा उपदिशाओंको जानता है।

सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्— वह हम सबको निर्भयताके मार्गसे ले जाता है।

स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्— वह प्रभु सबका कल्याण करनेवाला, तेजस्वी, सबसे अधिक वीर प्रमाद न करता हुआ हमारा नेता हो।

अभि त्यं देवं सवितारं ओण्योः कविक्रतुम्। अर्चामि सत्यसवं रत्नधां अभि प्रियं मतिम् (७।१५।१) —सबकी रक्षा करनेवाले, द्युलोक और भूलोकके उत्पादक, ज्ञानी और शुभ कर्मकर्ता, सत्यप्रेरक, रत्नधारक, मनन करने योग्य और प्रिय उस देवकी मैं पूजा करता हूं।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि (७।१५।२) —जिसका अपरिमित तेज उसकी आज्ञानुसार ऊपर फैल रहा है।

हिरण्यपाणिः अमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः— उत्तम कर्म करनेवाला, सुवर्णके समान किरणवाला प्रभु अपने तेजको फैलाता है।

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे (७।१५।३)— हे देव! प्रथम पालन करनेके लिये तुमने यह उत्पन्न किया है।

वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै— इसके लिये उत्तम देह और उत्तम श्रेष्ठता दे दो।

अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः— हे सबके उत्पन्नकर्ता देव! हमारे लिये प्रतिदिन उत्तम धन और बहुत पशु मिलें।

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि (७।१५।४)— हे सबके उत्पादक दमनसे मनको स्वाधीन रखनेवाले तू श्रेष्ठ देव! रक्षकोंको तू रत्न, बल और आयु देता है।

ममदद्देनं— इसको आनंदित रख।

परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि— परिभ्रमण करनेवाला इसके आज्ञामें रहकर भ्रमण करता है।

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् (७।१६।१)— हे सबके उत्पादक देव! मैं सत्यकी प्रेरणा करनेवाली विलक्षण, रक्षा करनेवाली उत्तम बुद्धिको प्राप्त करता हूं।

यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय— जिस सहस्र धाराओंसे पुष्ट करनेवाली शक्तिको इसके ऐश्वर्यके लिये बलवान् ज्ञानी दुहता है- प्राप्त करता है।

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमाः (७।२०।१)— प्रजापालक ईश्वर इन सब प्रजाओंको उत्पन्न करता है।

धाता दधातु सुमनस्यमानः— धारक देव उत्तम मनसे सबका धारण करे।

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् (७।२२।१)— द्युलोकके स्वामीके पास सब अपनी स्तुतिसे चलो, वह एक है और सब जनोंका वह अतिथिवत् सत्कारके योग्य है।

विष्णोर्नु कं प्रावोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि (७।२७।१)— सर्वव्यापक परमात्माके पराक्रमोंका हम वर्णन करते हैं जो पृथ्वीपरके लोगोंको विशेष रीतिसे निर्माण करता है।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं— जिसने ऊपरका आकाश फैलाया है।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (७।२७।३)— जिसके तीन विक्रमोंमें सब विश्व भुवन रहते हैं।

उरुक्षयाय नस्कृधि— हमारे विशेष निवासके लिये सहाय कर।

विष्णुर्गोपा अदाभ्यः (७।२७।५)— व्यापक देव संरक्षक और न दबनेवाला है।

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम् (७।२७।७)— वह व्यापक देवका परम पद है, जो ज्ञानी लोग सदा देखते हैं, जैसा द्युलोकमें सूर्य प्रकाशता है।

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः (७।५३।१)— ज्ञानपति पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे हमारा पापोंसे रक्षण करे।

इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु— मित्र इन्द्र आगेसे और बीचसे हमें मित्रोंसे भी श्रेष्ठ बनावें।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्सु अन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश, य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये (७।९२।१)— जो अग्निमें, जलोंमें, औषधिवनस्पतियोंमें है, जो सब भुवनोंको रचता है, उस अग्निस्वरूप रुद्र देवको नमस्कार है।

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपं, कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव। (१०।७।८)— प्रजापालकने उत्तम और मध्यम विश्वरूप निर्माण किया, उसमें सर्वाधारने कितना प्रवेश किया और वह प्रविष्ट नहीं हुआ वह कितना है।

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य (१०।७।९)— सर्वाधार ईश्वर भूत-

कालमें बने हुएमें कितना प्रविष्ट हुआ और भविष्यमें होनेवालेमें कितना प्रविष्ट होगा।

एकं यदंगमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र (१०।७।९)—अपने एक अंगको जिसने सहस्रधा विभक्त किया (और यह विश्व बनाया) इसमें सर्वाधार कितना प्रविष्ट हुआ है ?

यत्र लोकांश्च कोशांश्च आपो ब्रह्म जना विदुः, असच्च यत्र सच्चान्तं स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः । (१०।७।१०)— जहां लोक, कोश, जल है वह ब्रह्म है ऐसा लोग जानते हैं, असत् व सत् जहां मिला है वह सर्वाधार है वह अत्यंत आनन्दमय है ।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता, यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः । (१०।७।१२)— जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, द्यु, अग्नि, चन्द्र, सूर्य रहे हैं वह सर्वाधार है, वही आनन्दमय है ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः, स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।१३)— जिसके शरीरमें तैंतीस देव रहते हैं, वही सर्वाधार परमेश्वर अत्यंत आनन्दमय है ।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम् (१०।७।१७) — जो पुरुष शरीरमें ब्रह्म जानते हैं वे परमेश्वरको जानते हैं ।

यो वेद परमेष्ठिनं, यश्च वेद प्रजापतिं, ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः ते स्कम्भं अनुसंविदुः (१०।७।१७) — जो परमेष्ठी, प्रजापति तथा ज्येष्ठ ब्रह्मको जानते हैं वे सर्वाधारको जानते हैं ।

यस्मादृचो अपातक्षन्, यजुर्यस्मादपाकषन्, सामानि यस्य लोमानि, अथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।२०)— जिससे ऋचाएं हुई, यजु जिससे बने, साम जिसके लोम हैं, अथर्वा, अंगिरस जिसका मुख है, वह सर्वाधार है और वही अत्यंत आनन्दस्वरूप है ।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः, भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः, स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।२२)— जिसमें वसु, रुद्र और आदित्य रहे हैं, भूतभविष्य और सब लोक जहां रहे हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर अत्यंत आनन्दमय है ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा (१०।७।२३) –तैंतीस देव जिसके खजानेका रक्षण सर्वदा करते हैं ।

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते, यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् (१०।७।२४)— जहां ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, जो उसको प्रत्यक्ष जानता है वह ज्ञानी ब्रह्मा होगा ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे, तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः (१०।७।२७)— जिसके अंगमें तैंतीस देव अवयव बनकर रहे हैं, उन तैंतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् (१०।७।२९)— सर्वाधार परमेश्वरमें लोक, तप और ऋत रहा है ।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् । (१०।७।३१)- सूर्योदयके पूर्व और उषःकालके पूर्व जो ईश्वरका नाम लेता है, जो अजन्मा आत्मा ईश्वरके साथ संगत होता है, उसको वह स्वराज्य प्राप्त होता है जिससे अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है ।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्, दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३२) —भूमि जिसका पांव, अन्तरिक्ष उदर और द्यु मस्तक है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार हो ।

यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः, अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३३) —जिसका सूर्य एक आंख है, और चन्द्र दूसरा आंख है, अग्नि जिसका मुख है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार करता हूं ।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्, दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३४)— वायु जिसके प्राण अपान है,

अंगिरस जिसके आंख है, दिशाएं जिसके ज्ञानसाधन (कान) हैं उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम है ।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधार उर्वन्तरिक्षम् । स्कम्भो दाधार प्रदिशः षड़ुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश (१०।७।३५) सर्वाधार परमेश्वरने द्यु, पृथिवी, बडा अन्तरिक्ष, छः दिशा-उपदिशाएं, धारण की हैं, वही सर्वाधार इस भुवनमें व्यापक है ।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्थ पृष्ठे, तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवाः, वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः (१०।७।३८)— बडा पूजनीय देव भुवनके मध्यमें है, तापमें वह क्रान्ति करता है, और वह जलके पृष्ठभागमें भी है, इसीके आश्रयसे सब देव रहते हैं । जैसे वृक्षके आश्रयसे उसकी शाखाएं रहती हैं ।

स्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा, यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।३९)— जिस अपरिमितके लिये सब देव अपने हाथों, पावों, वाचा, कान और आंखसे अपरिमित बलि देते हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर है, वह अत्यंत आनन्दमय है ।

अप तस्य हतं तमो, व्यावृत्तः स पाप्मना, सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ (१०।७।४०) उसका अन्धकार दूर हुआ, पापसे वह दूर हो चुका, प्रजापतिमें जो तीन ज्योतियां हैं वे उसमें होती हैं ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति, स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।८।१)- जे भूत और भविष्य सबका अधिष्ठाता है, जिसका प्रकाश स्वरूप है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ।

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा, अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क तद्बभूव (१०।८।७)— एक चक्र है, उसकी एक नाभि है, हजार आरे हैं, वे आगे-पीछे होते हैं । आधेसे सब भुवन बना है, जो दूसरा अर्ध है वह कहां है ?

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं, तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः (१०।८।९)— तिरछा मुखवाला एक लोटा है, उसका नीचेका भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश है, वहां सात ऋषि रहते हैं वे इस महान्‌के रक्षक हैं ।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः, अजायमानो बहुधा वि जायते (१०।८।१३)— प्रजापति गर्भमें संचार करता है, न जन्मनेवाला अनेक प्रकारसे जन्मता है ।

पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः (१०।८।१४) —सब आंखसे देखते हैं, पर सब मनसे नहीं जानते ।

यतः सूर्य उदेति, अस्तं यत्र च गच्छति, तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन (१०।८।१६) —जहांसे सूर्य उदय होता है और जहां अस्त होता है, मैं जानता हूं कि वही श्रेष्ठ है और उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता ।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे (१०।८।२६)- यह कल्याण करनेवाली मर्त्यके घरमें अमर देवता है ।

एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः (१०।८।२८)— एक देव मनमें प्रविष्ट होकर रहा है, वह एक वार जन्मा, पर वह फिर गर्भमें आया है ।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते, उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते (१०।८।२९)— पूर्णसे पूर्ण बाहर आता है, पूर्णसे पूर्ण सींचा जाता है, अब आज हम वह जाने कि जहांसे वह सींचा जाता है ।

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति संतं न पश्यति (१०।८।३२)— पास होनेपर वह छोडता नहीं, पास होनेपर भी वह दीखता नहीं ।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति— देवका काव्य देखो, वह मरता नहीं और न वह जीर्ण होता है ।

यो विद्यात्सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् सविद्याद् ब्राह्मणं महत् (१०।८।३७)— जो फैला हुआ धागा जानता

है, जिसमें ये सब प्रजा पिरोयी है। सूत्रका सूत्र जो जानता है वह बडा ब्रह्म जानता है।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः, सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् (१०।८। ३८)— मैं फैला हुआ सूत्र जानता हूं जिसमें सब प्रजा प्रोयी है, सूत्रका सूत्र मैं जानता हूं जो बडा ब्रह्म है।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतं, तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः (१०।८। ४३)— नौ द्वारोंवाला कमल है, तीन गुणोंसे वह घेरा है, उसमें पूजनीय देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

इन सुभाषितोंसे छोटे सुभाषित बनते हैं वह देखिये—

स्वस्तिदा…सर्ववीरः— सबमें वीर कल्याण करता है।

अर्चामि सत्यसवं— सत्य प्रेरककी पूजा करता हूं।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा— जिसका अपरिमित तेज ऊपर फैला है।

सुक्रतुः कृपात् स्वः— उत्तम कर्म करनेवाला प्रभु अपने तेजको फैलाता है।

वरिमाणमस्मै— इस प्रभुकी श्रेष्ठता है।

देवः सविता…दधद्रत्नं— सबको प्रसवनेवाला देव रत्नोंको देता है।

अहं वृणे सुमतिं— मैं उत्तम मति प्राप्त करता हूं।

प्रजापतिर्जनयति प्रजाः— ईश्वर प्रजा उत्पन्न करता है।

धाता दधातु— धारक देव सबको धारण करे।

एको विभूः— एक ही व्यापक देव है।

विष्णोर्नु कं प्रावोचं वीर्याणि— व्यापक ईश्वरके पराक्रम मैं वर्णन करता हूं।

यस्य विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा— जिसके विक्रमोंमें सब विश्व रहे हैं।

विष्णुर्गोपाः— परमेश्वर रक्षक है।

विष्णोः परमं पदं— व्यापक देवका श्रेष्ठ स्थान है।

बृहस्पतिर्नः परि पातु— ज्ञानका देव हमारा रक्षण करे।

प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपं— परमेश्वरने यह विश्वरूप बनाया।

एकं यदंगं अकृणोत्सहस्रधा— जिसने अपना एक अंग सहस्रधा विभक्त किया।

कतमः स्विदेव सः— वह परमेश्वर अत्यंत आनंदपूर्ण है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः— तैंतीस देव जिसके अंगोंमें रहे हैं।

पुरुषे ब्रह्म विदुः— मानव शरीरमें ब्रह्म जानते हैं।

ब्रह्मा वेदिता स्यात्— ब्रह्मा ज्ञाता होता है।

नाम नाम्ना जोहवीति— नाम जो लेना हैं, नामजप करता है।

यस्य सूर्यश्चक्षुः— सूर्य जिसका आंख है।

अग्निं यश्चक्र आस्यं— अग्निको जिसने मुख बनाया है।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये— भुवनके मध्यमें बडा पूज्य देव है।

अप तस्य हतं तमः— उसका अज्ञान दूर हुआ।

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः— उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है।

विश्वं भुवनं जजान— वह सब भुवनोंको उत्पन्न करता है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे— ईश्वर सबके गर्भमें विचरता है।

न सर्वे मनसा विदुः— मनसे सब ठीक तरह जानते नहीं।

तदु नात्येति कश्चन— उस प्रभुका कोई अतिक्रमण नहीं करता।

मर्त्यस्यामृता गृहे— मर्त्यके घरमें (शरीरमें) यह अमर रहता है।

एको ह देवो मनसि प्रविष्टः— एक देव मनके अन्दर है।

पूर्णात्पूर्णं उदचति— पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है।

अन्ति सन्तं न पश्यति— पास होनेपर भी (प्रभुको) देखता नहीं।

देवस्य पश्य काव्यं— देवका यह काव्य देखो।

यक्षमात्मन्वत्— आत्मावान् देव ही पूजनीय है।

ब्राह्मणं महत्— ब्रह्म सबसे बडा है।

सूत्रं विततं— एक सूत्र सर्वत्र फैला है (वह ब्रह्म है)।

यस्मिन्नोताः प्रजाः— जिसमें यह सब प्रजा प्रोयी है।

न ममार, न जीर्यति— वह मरता नहीं, और जीर्ण नहीं होता।

प्रथमो जातः— वह (प्रभु) सबसे पहिले प्रकट हुआ है।

इयं कल्याणी अजरा— यह (प्रभुशक्ति) कल्याण करनेवाली और जीर्ण न होनेवाली है।

इस तरह छोटे सुभाषित ऊपर दिये बडे सुभाषितोंसे बनते हैं। जो व्यक्तिशः या संघशः बोलनेके योग्य हैं। पाठक इनको वारंवार पढ कर देखें। इस तरह वारंवार करनेसे जो बोलनेवालोंके मनपर अपूर्व परिणाम होता है वह विशेष महत्त्वका है। करनेवालोंको ही इसका अनुभव हो सकता है।

दीर्घायु

दीर्घमायुः कृणोतु मे (७।३३।१)— वह मेरी दीर्घ आयु करे।

तं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे (७।३४।१)— यह अग्नि मुझे प्रजा और धनसे युक्त करे और मेरी दीर्घ आयु करे।

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः (७।५५।१) हे देवोंके वैद्यो अश्विनौ! अपनी शक्तियोंसे इससे मृत्युको दूर करो।

यमस्य …अभिशस्तेरमुञ्चः— यमके यातनाओंसे मुक्त कर।

शतं जीव शरदो वर्धमानः (७।५५।२) - बढता हुआ सौ वर्ष जीवो।

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्— विरोधी कारणोंसे जो तुम्हारी आयु घट गयी है, उस स्थानपर प्राण और अपान पुनः संचार करें।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् (७।५५।४)— प्राण और अपान इसे छोडकर न चला जावें।

सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु— सप्तर्षियोंको मैं इसे देता हूं वे इसको कल्याण करके वृद्धावस्थातक ले जांय।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजं, अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् (७।५५।५)— जैसे बैल गोशालामें घुसते हैं वैसे प्राण अपना इसमें घुसें। यह वार्धक्यका खजाना है। यह विनष्ट न होकर बढे।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते (७।५५।६) —तेरे अन्दर प्राणको प्रेरता हूं, और रोगको दूर करता हूं।

अन्तकाय मृत्यवे नमः, प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् (८।१।१)— अन्त करनेवाले मृत्युको नमस्कार है, प्राण और अपान तेरे शरीरमें यहां रमते रहें।

इहायमस्तु पुरुषः सहासुना— यह पुरुष यहां प्राणके साथ रहे।

इह तेऽसुरिह प्राणः इहायुरिह ते मनः (८।१।३)- यहां तेरा प्राण, तेरी आयु और यहां तेरा मन रमे।

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्थाः (८।१।४)— हे पुरुष! तू ऊपर चढ, मत गिर जा।

मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः— मृत्युके पाश तोड दो!

मा च्छित्था अस्माल्लोकात्— इस लोकसे दूर न हो।

त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः (८।१।५)— तेरे ऊपर मृत्यु दया करे, मत मर जा।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं (८।१।६)— हे पुरुष! तेरी उन्नति हो, अवनति न हो।

ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि— तुझे जीवन और दक्षता करता हूं।

आ हि रोहेममसृतं सुखं रथं— इस सुखदायी रथपर चढ।

अथ जिर्विर्विदथमा वदासि— और वृद्ध होकर ज्ञानका उपदेश देगा।

मा ते मनस्तत्र गान्, मा तिरो भूः (८।१।७)— तेरा मन निषिद्ध मार्गसे न जावे, गुप्त, न काम करनेवाला न बने।

मा जीवेभ्यः प्र मदः— जीवोंके लिये प्रमाद न कर।

मानु गाः पितॄन्— पितरोंके पीछे न जा।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह— सब देव यहां तेरी सुरक्षा करें।

मा गतानामा दीधीथाः (८।१।८)— मरे हुओंका शोक न कर।

आ रोह तमसो ज्योतिरेहि— यहां आ और अन्धेरेसे प्रकाशपर चढ।

मैतं पन्थामनु गा, भीम एषः (८।१।१०)— इस मार्गसे न जा, यह भयंकर मार्ग है।

तम एतत् पुरुष, मा प्र पत्था, भयं परस्ताद्भयं ते अर्वाक् — यह अन्धकार है, हे मनुष्य ! इससे न जा, परे भय है, उरे अभय है ।

अविच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते (८।२।१)— अविच्छिन्न वृद्धावस्था तुझे प्राप्त हो । (तू दीर्घायु हो)

असुं त आयुः पुनरा भरामि— तेरे अन्दर प्राण और आयुको पुनः भर देता हूं ।

रजस्तमो मोप गाः— रज और तमके पास न जा ।

मा प्र मेष्ठाः— मत मर जा ।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् (८।२।२)— जीवितोंकी ज्योतिको इस ओरसे प्राप्त हो ।

हरामि शतशारदाय— तुझे सौ वर्षोंकी आयुको प्राप्त कराता हूं ।

अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं— मृत्युपाशों और अप्रशस्तताको दूर हटाता हूं ।

द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि— मैं तेरे लिये दीर्घ आयु अधिक दीर्घ करके देता हूं ।

वातात् ते प्राणमविदम् (८।२।३)— वायुसे तेरे लिये प्राण अर्पण करता हूं ।

सूर्याच्चक्षुरहं तव- सूर्यसे तेरा आंख मैं प्राप्त कराता हूं ।

यत्ते मनस्त्वयि तद् धारयामि— जो तेरा मन है वह तुझमें मैं धारण कराता हूं ।

सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्— जिह्वासे शब्द बोल और अपने अंगोंसे संयुक्त हो ।

नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् (८।२।४) —हे मृत्यो ! तेरे आंखके लिये नमस्कार करता हूं तथा तेरे प्राणको नमन करता हूं ।

अयं जीवतु, मा मृत (८।२।५)— यह मनुष्य जीवे, न मरे ।

इमं समीरयामसि— इसको मैं सजीव करता हूं ।

कृणोम्यस्मै भेषजम्— इसको मैं औषध तैयार करके देता हूं ।

मृत्यो मा पुरुषं वधीः— हे मृत्यो ! इस पुरुषको मत मार ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहं, त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये (८।२।६)— इसको सुख प्राप्त हो इसलिये जीवन देनेवाली, हानि न करनेवाली, रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली, और बल बढानेवाली औषधिको मैं देता हूं ।

अधि ब्रूहि (८।२।७)— अच्छा बोल,

मा रभथाः— बुरा बर्ताव न कर,

सृजेमं— इसको छोड, (इसको न मार)

तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु— तेरा होकर पूर्ण आयुतक यह यहां रहे ।

भवाशर्वौ मृडतं, शर्म यच्छतं — हे सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता ! इसको सुखी करो, इसको आनन्द दो ।

अपसिध्य दुरितं धत्तमायुः— पाप दूर करके इसको दीर्घायु दो ।

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहि (८।२।८)— हे मृत्यो ! इसको आशीर्वाद दो ।

इमं दयस्व— इसपर दया कर ।

उदितोऽयमेतु— यह ऊपर उठे और चलने लगे ।

अरिष्टः सर्वांगः सुश्रुत् जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम्— यह पीडारहित, सर्व अवयवोंसे युक्त, कानोंसे उत्तम बातें सुननेवाला, वृद्ध होकर सौ वर्षतक जीनेवाला, अपनी शक्तिसे अपने भोग प्राप्त करें ।

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु (८।२।९)— देवोंका शस्त्र तुझसे दूर रहे ।

पारयामि त्वा रजसः—रजोगुणसे मैं तुझे पार करता हूं ।

उत्त्वा मृत्योरपीपरम्— तुझे मृत्युसे दूर किया है ।

जीवातवे त परिधिं दधामि— दीर्घ जीवनके लिये तेरी मर्यादा मैं धारण करता हूं ।

पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृणमसि (८।२।१०)— उस मृत्युके मार्गसे इसकी सुरक्षा करके, इसके लिये हम ज्ञानका कवच करते हैं ।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति (८।२।११)— मैं तेरे लिये प्राण, अपान वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु हो ऐसा कल्याणपूर्ण दीर्घायु करता हूं ।

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्— वैवस्वतने भेजे सब यमदूतोंको मैं दूर करता ।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्, रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि (८।२।१२)— शत्रु, दुर्गति, रोग, मांसभक्षक जन्तु, रक्त पीनेवाले जन्तु, तथा जो कुछ बुरा है वह सब अन्धकारके समान मैं दूर करता हूं।

यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि, तदु ते समृध्यताम् (८।२।१३)— जिससे अमर होकर तू नहीं मरेगा, वैसा जीवित रह, यह तेरा जीवन समृद्ध हो।

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ— तेरे लिये द्यु और पृथिवी संताप न दें और श्री देनेवाले हों।

शं ते सूर्य आ तपतु— (८।२।१४)— सूर्य तेरे लिये सुखदायक रीतिसे तपे।

शं वातो वातु ते हृदे— तेरे हृदयको आनन्द देता हुआ वायु बहे।

शिवा अभि रक्षन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः— वृष्टिसे प्राप्त जल तथा पृथ्वीपर बहनेवाला जल तुझे सुखदायी हो।

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वं, शिवं ते तन्वे तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते (८।२।१६)— जो तू वस्त्र पहनता है, जो कमर पर लपेटता है, वह तेरे लिये कल्याण देनेवाला हो, स्पर्शमें वह खुरदरा होकर न चूभे।

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु, शुभं मुखं, मा न आयुः प्र मोषीः (८।२।१७)- जो तू नापित स्वच्छता करनेवाले तेज धारवाले छुरेसे जो बालों और मूंछोंका मुण्डन करता है, उससे तेरा मुख सुन्दर होता है, पर तू हमारी आयुको नष्ट न करो।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः, यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नं अविषं कृणोमि (८।२।१९)— जो तू खाता है, जो पीता है, कृषीसे धान्य खाता और दूध पीता है, वह खाद्य और पेय अर्थात् सब तेरा अन्न मैं विषरहित करता हूं।

अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत (८।२।२०) — दुष्ट हिंसकोंसे इस मनुष्यकी सुरक्षा चारों ओरसे करो।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः (८।२।२१)— तेरी सौ वर्षकी आयु जिसमें दिन-रात्रका युगल, सर्दी-गर्मी-वृष्टि ये तीन काल और बाल्य-तारुण्य-वृद्ध और जराग्रस्तता ये चार अवस्थाएं तुझे सुखदायक हों।

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि, वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः (८।२।२२)— तेरे लिये वसन्त, ग्रीष्म, शरद, हेमन्त ये ऋतु सुखदायी हों, जिनमें औषधियां बढती हैं वह वर्षा ऋतु भी सुखदायी हो।

मृत्युरीशे द्विपदां, मृत्युरीशे चतुष्पदां, तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेः उद्भरामि, स मा बिभेः (८।२।२३)— द्विपाद और चतुष्पादोंपर मृत्युका स्वामित्व है, उस मृत्युसे तुझे मैं ऊपर उठाता हूं, वह तू मृत्युसे मत डर।

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि, न मरिष्यसि, मा बिभेः (८।२।२४)— हे अहिंसित मनुष्य! तू नहीं मरेगा, नहीं मरेगा, डर मत।

न वै तत्र म्रियन्ते— वहां नहीं मरते (दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं।)

नो यन्त्यधमं तमः— हीन अन्धेरेमें भी नहीं जाते (सदा प्रकाशमें ही रहते हैं।)

सर्वो वै तत्र जीवति ··· यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् (८।२।२५)— वहां सब जीवित रहते हैं ··· जहां यह ज्ञान और दीर्घ जीवनके लिये सुखदायी (यज्ञमार्गका अनुष्ठान) किया जाता है।

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः (८।२।२६)— समान लोगोंसे और बान्धवोंसे होनेवाली हिंसासे तेरा रक्षण होवे।

अमम्रिर्भवाऽमृतोऽतिजीवो, मा ते हासिषुरसवः शरीरम्— अमर बन, क्षीण न हो, दीर्घजीवी हो, तेरे प्राण तेरे शरीरको न छोडें।

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः, मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा (८।२।२७)— जो सौ मृत्यु

*

हैं, जो नाश करनेके हेतु हैं, उन मृत्युसे देव तुम्हारी मुक्ति करें।

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु (८।२।२८)— तू दुःखसे पार करनेवाला अग्निका शरीर हो।

रक्षोहासि सपत्नहा— तू रोगकृमिका नाशक हो, शत्रुका नाश करनेवाला हो।

अमीवचातनः— तू रोगोंको दूर करनेवाला है।

इनसे छोटे सुभाषित अत्यंत उपयोगी कैसे बनते हैं वह देखिये—

दीर्घमायुः कृणोतु मे— मेरी आयु दीर्घ करे।

प्रत्यौहतां ... मृत्युमस्मत्— इससे मृत्युको दूर करो।

अभिशस्तेरमुञ्चः— कुशोंसे बचाओ।

शतं जीव शरदः— सौ वर्ष जीवित रहे।

अपानः प्राणः पुनरा ताविताम्— अपान और प्राण पुनः यहां आवें।

मेमं प्राणो हासीत्— इसको प्राण न छोडे।

त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु— वे इससे सुखपूर्वक वृद्ध अवस्थातक ले जांय

परा यक्ष्मं सुवामि ते— तेरे रोगको दूर करता हूं।

प्राणा अपाना इह ते रमन्तां— तेरे प्राण, अपान यहां रमें।

अयमस्तु पुरुषः सहासुना— प्राणके साथ यह पुरुष रहे।

इह प्राणः— यहां तेरा प्राण रहे।

इह आयुः— यहां तेरी आयु रहे।

इह ते मनः— यहां तेरा मन रहे।

उत्क्राम अतः - यहां उन्नत हो।

माव पत्थाः— मत गिर जा।

मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः— मृत्युका पाश छोड दे।

उद्यानं ते पुरुष— हे मनुष्य ! तेरा ऊंचा उत्थान हो।

मा ते मनस्तत्र गात्— तेरा मन बुरे मार्गसे न जावे।

आरोह तमसः— अन्धकारसे ऊपर उठ।

ज्योतिरेहि— प्रकाशको प्राप्त कर।

भयं परस्तात्— दूरसे भय है।

अभयं ते अर्वाक्— तेरे समीप निर्भयता है।

तमो मोप गा— अंधकारको न प्राप्त हो।

जीवतां ज्योतिरभ्येहि— जीवितोंकी ज्योतिको प्राप्त हो।

वातात्प्राणं— वायुसे प्राण प्राप्त हो।

सूर्याच्चक्षुः— सूर्यसे आंख प्राप्त हो।

अयं जीवतु— यह जीवित रहे।

शर्म यच्छतं— सुख प्राप्त हो।

धत्तमायुः— दीर्घ आयु हो।

जरसा शतहायनः— वृद्ध होकर सौ वर्ष जीवित रहे।

ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि— ज्ञानका कवच इसके लिये करता हूं।

दीर्घमायुः स्वस्ति— सुखसे दीर्घ आयु हो।

यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्— सब यमदूतोंको मैं दूर करता हूं।

अमृतः सजूरसः— तू अमर रहेगा।

अभि रक्षन्तु त्वापः— जल तेरा रक्षण करें।

वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि— वर्ष तुम्हारे लिये कल्याणमय हों।

न मरिष्यसि मा बिभेः— तू मरेगा नहीं, मत डर।

अमम्रिर्भव— न मरनेवाला बन,

अमृतोऽति जीवः— अमर और दीर्घजीवी हो।

इस तरह ये छोटे सुभाषित हैं। घरमें कोई बीमार हो, उसको उत्साह देनेके लिये ये सुभाषित अत्यंत उपयोगी हैं। रोगी स्वयं इनको बोले अथवा उनके लिये दूसरा कोई बोले। रोगी बिस्तरेपर पडे पडे 'दीर्घमायुः कृणोतु मे' - 'ईश्वर मेरी दीर्घ आयु करे।' ऐसा वारंवार बोलनेसे, ईश्वर सहायक होता है और उसके अन्दरकी प्राणशक्ति तेजोमयी होकर, वह नीरोग होकर रोगमुक्त होता है, अर्थात् दीर्घ आयु प्राप्त करता है। ऐसा अनुभव अनेक वार लिया है।

दूसरे लोग बोलनेवाले हों, तो रोगीके शरीरपरसे प्रेमसे अपना हाथ घुमाकर—

परा यक्ष्मं सुवामि ते— तेरा रोग मैं दूर करता हूं।

मेमं प्राणो हासीत्— इसको प्राण न छोडे।

जीवतां ज्योतिरभ्येहि— जीवितोंके तेजको प्राप्त हो।

ये मंत्र अथवा ऐसे भाववाले मंत्र बोले जांय, तो निःसंदेह उस रोगीको आरोग्य प्राप्त होता है। वाचक मंत्रके अर्थका विचार करें और विश्वप्रेममय अपना मन बनाकर उक्त मंत्रोंका प्रयोग करें। प्रयोग करनेके समय रोगीका

विश्वास हो और प्रयोग करनेवालेका मन प्रेमसे भरा हो, तो सत्वर यश प्राप्त होता है ।

पाठक इसका अनुभव लें । मनमें अविश्वास या उपहासका भाव न हो ।

रक्षण

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिः परि पाहि नो गयम् (७।८९।१)— सब रोग दूर कर, और मानवी कल्याणोंके साथ हमारे घरका रक्षण कर।

सृकं संशाय, पविमिन्द्र तिग्मं, वि शत्रून् ताढि, वि मृधो नुदस्व (७।८९।३)— बाणको और वज्रको तीक्ष्ण कर, शत्रुओंको ताडन कर और हिंसकोंको भगा दे ।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्वन्तः (८।१।११)— जलोंमें रहनेवाले अग्नि तेरी रक्षा करें ।

रक्षतु त्वा मनुष्या यमिन्धते— मनुष्य जिसको प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि मेरी रक्षा करें ।

वैश्वानरो रक्षतु त्वा जातवेदाः— विश्वका नेता जातवेद अग्नि तेरी रक्षा करें ।

दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह— बिजलीके साथ दिव्य अग्नि तुझे न जलावे ।

रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च, अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः (८।१।१२) —द्यु, अन्तरिक्ष, पृथिवी, सूर्य और चन्द्र तेरा रक्षण करें ।

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतां (८।१।१३)— ज्ञान और विज्ञान तेरी रक्षा करें ।

अस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षतां— स्फूर्ति और न भागना तेरी रक्षा करें ।

गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्— रक्षक और जागनेवाला तेरा रक्षण करें ।

ते त्वा रक्षन्तु (८।१।१४)— वे तेरी रक्षा करें ।

ते त्वा गोपायन्तु— वे तेरा पालन करें ।

तेभ्यो नमः, तेभ्यः स्वाहा— उनको प्रणाम, उनके लिये अर्पण ।

मा त्वा प्राणो बलं हासीत् (८।१।१५)— प्राण तेरे लिये बल न छोडे ।

अनु तेऽनु ह्वयामसि— तेरे प्राणको अनुकूल करते हैं ।

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन् (८।१।१६)- विनाशक, घातक तथा अज्ञान तुझे प्राप्त न हों ।

उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् (८।१।१७) --सोमराज्यमें रहनेवाली औषधियां तेरी रक्षा करें ।

इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत्पारयामसि (८।१।१८)- हजारों सामर्थ्योंसे इसे हम मृत्युसे पार करते हैं ।

उत् त्वा मृत्योरपीपरम् (८।१।१९)— मृत्युसे तुझे हम पार करते हैं ।

सं धमन्तु वयोधसः— आयुका धारण करनेवाले (प्राण) तुझे बलवान् बनावें ।

मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन् — बालोंको खोलकर स्त्रियां तेरे लिये न रोयें (अर्थात् तेरी मृत्यु ही न हो)

आहार्षमविदं त्वा (८।१।२०)— मैंने तुझे लाया और प्राप्त किया है ।

पुनरागाः पुनर्णवः— तू फिर लाया और तू नया हुआ है ।

सर्वांग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्— हे संपूर्ण अंगवाले मानव ! तेरी दृष्टि और पूर्ण आयु तुझे प्राप्त हुई है ।

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् (८।१।२१)— तेरेसे अन्धकार दूर हुआ और ज्योति प्रकाशने लगी है ।

अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिं अप यक्ष्मं नि दध्मसि— तेरेसे मृत्यु, रोग और विपत्ति दूर हुई है ।

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म (८।३।१)— राक्षसोंके नाश करनेवाले, बलवान् प्रसिद्ध मित्रको मैं प्राप्त करता हूं जिससे सुख प्राप्त करता हूं ।

स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्— वह दिन-रात हमें शत्रुओंसे बचावे ।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश (८।३।२)- लोहेकी दाढोंसे युक्त होकर तेजसे यातना देनेवालोंको विनष्ट कर ।

आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व— मूर्खताको देव माननेवालोंको अपनी जिह्वासे दूर कर ।

क्रव्यादो वृष्ट्वाऽपि धत्स्वासन्— बलवान् बनकर अपने मुखमें मांस खानेवालोंको डाल (उनका नाश कर।)

सं धेह्यभि यातुधानान् (८।३।३)— यातना देनेवालोंका नाश कर।

त्वचं यातुधानस्य भिन्धि (८।३।७)— यातना देनेवालेकी चमडी काट डालो।

हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्— हिंसक बिजली इस दुष्टका नाश करे।

ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम् (८।३।६)— उन शस्त्रोंसे घातकोंको हृदयमें वींध और इनके बाहुओंको तोड।

उतारब्धान् स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणां ऋष्टिभिर्यातुधानान् (८।३।७)— हे जातवेद! अच्छा कार्य करनेवालों और भविष्यमें अच्छा कार्य करनेवालोंकी सुरक्षा कर और शस्त्रोंसे यातना देनेवालोंको दूर कर।

पूर्वो नि जहि शोशुचानः— प्रथम प्रकाशित होकर शत्रुको पराभूत कर।

आमादः क्ष्विंकास्तमदन्त्वेनीः— कच्चा मांस खानेवाले पक्षी इन दुष्टोंको खावें।

नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् (८।३।८)— मनुष्योंके हितकी दृष्टिसे इस दुष्टको विनष्ट कर।

हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं (८।३।९)— हिंसक राक्षसोंको चारों ओरसे तपाओ।

मा त्वा दभन् यातुधानाः— यातना देनेवाले दुष्ट तुझे न दबावें।

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु (८।३।१०)— मानवोंका निरीक्षण करता हुआ तू राक्षसोंको देख।

तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा— उस दुष्टके तीनों भागोंका नाश कर।

त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च— यातना देनेवालेका मूल तीन स्थानोंमें काट।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एतु ऋतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति (८।३।११)— जो असत्यसे सत्यका नाश करता है, वह दुष्ट तुम्हारे पाशमें तीनों बाजुओंसे आवे।

तया विध्य हृदये यातुधानान् (८।३।१२)— यातना देनेवाले दुष्टोंके हृदयमें वींध।

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् (८।३।१३)— यातना देनेवालोंको दूर करके उनका नाश कर।

पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि— हे अग्ने! राक्षसोंको दूर करके नाश कर।

परार्चिषा मूरदेवान् छृणीहि— मूढोंको देव माननेवालोंको दूर करके नाश कर।

परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि— दूसरोंके प्राणोंपर तृप्त होनेवाले शोक करनेवालोंको विनष्ट कर।

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु (८।३।१४)— सब देव पापीको दूर करें।

प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः— गालियां उन दुष्टोंके पास चली जाय।

वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन्— वाणीके चोरको शस्त्र मर्ममें काटें।

विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः- दुष्ट सबके बन्धनमें पडे।

यो पौरुषेयेण क्रविषा समंक्ते, यो अश्व्येन पशुना यातुधानः, यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने, तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च (८।३।१५)— जो मनुष्यका मांस खाता है, घोडेका या पशुका मांस खाता है, जो दुष्ट गौका दूध चुराता है, हे अग्ने! उनके सिर अपने बलसे तोड।

विषं गवां यातुधाना भरन्तां, आवृश्चन्तामदितये दुरेवाः, परैणान् देवः सविता ददातु (८।३।१६) —जो दुष्ट गौको विष देते हैं, जो दुष्ट गौको काटते हैं उनको सविता देव दूर करें।

संवत्सरीणं पय उस्रियायाः तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः (८।३।१७)— हे निरीक्षक देव! गौका वर्षभर प्राप्त होनेवाला दूध दुष्ट न पीवे।

पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यंचं अर्चिषा विध्य मर्मणि— जो दुष्ट गोदुग्धरूपी अमृत पीयेगा उसके मर्ममें तेजसे वींध।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् (८।३।१८)— हे अग्ने! तू सदा दुष्टोंका नाश करता है।

न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः— राक्षस तुझे युद्धमें पराभूत कर नहीं सकते।

सहमूराननु दह क्रव्यादः— मूढोंके साथ मांसभक्षकोंको जला दे।

मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः— तेरे दिव्य हथियारसे कोई दुष्ट न छूटें।

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् (८।३।१९)— हे अग्ने! नीचेसे, ऊपरसे, पीछेसे और आगेसे हमारी रक्षा कर।

प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु— वे तेरे तपानेवाले किरण पापीको जला देवें।

कविः काव्येन परि पाह्यग्ने (८।३।२०)— हे अग्ने! अपने काव्यसे तू ज्ञानी हमारी रक्षा कर।

सखा सखायं, अजरो जरिम्णे अग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः— तू मित्र होकर हम मित्रोंको, तू जरारहित हम जीर्ण होनेवालोंको, तू अमर हम मर्त्योंको सुरक्षित रख।

विषेण भंगुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि (८।३।२३) — विषसे नाश करनेवाले दुष्टोंका नाश कर।

प्राग्देवीर्मायाः सहते दुरेवाः (८।३।२४)— राक्षसोंके कपट आयोजनाको यह पराभूत करता है।

शिशीते शृंगे रक्षोभ्यो विनिक्षे— राक्षसोंके नाशके लिये अपने सींगोंको तीक्ष्ण करता है।

ताभ्यां दुर्हार्दं अभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व (८।३।२५)— उन सींगोंसे दुष्ट हृदय, दास बनानेवाले, भूखे, दुष्टको सामनेसे विनष्ट कर।

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने (८।४।२) — ज्ञानके शत्रु, मांसभक्षक, घोर आंखवाले भूखेके लिये निरंतर द्वेष धारण कीजिये।

दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् (८।४।३)— दुराचारीको गाढ अन्धकारमें पकड कर वींधो।

यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत्— इन दुष्टोंमेंसे एक भी पुनः न उठे (ऐसा कर।)

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भंगुरावतः (८।४।७) – वेगवान् वाहनोंसे दुष्टोंका पीछा करो। विनाशक तथा द्रोहकारी राक्षसोंका नाश करो।

दुष्कृते मा सुगं भूत्— दुष्ट कर्मकर्ताको सुखसे घूमना असंभव हो।

यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहः— जो द्रोही कदाचित् मुझे कष्ट देगा। उसको दूर कर।

यो मा पाकेन मनसा चरन्तं अभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः, आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता (८।४।८)— मैं शुद्ध अन्तःकरणसे चलनेपर भी जो असत्य भाषणसे मुझे झिडकता है, मुट्ठीमें पकडे जलके समान, वह असत्यभाषी नष्ट हो जावे।

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने, अश्वानां गवां यस्तनूनां, रिपुः स्तेन स्तेयकृत् दभ्रमेतु, नि ष हीयतां तन्वा तना च। (८।४।१०)— जो हमारे घोडों, गौवोंके अन्नके रसको बिगाडता है, हानि पहुंचाता है, वह चोर, शत्रु नाशको प्राप्त होवे, वह शरीरसे पुत्रपौत्रोंसे हीन बने।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते, तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् (८।४।१२)— ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्यके लिये यह उत्तम ज्ञान है, सत्य और असत्यकी स्पर्धा चल रही है। जो सत्य और सरल है उसका रक्षण सोम करता है और असत्यका नाश करता है:

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति (८।४।१३)— सोम कुटिलको कभी सहाय्य नहीं करता।

न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तं— मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियको भी सोम सहाय्य नहीं करता।

हन्ति रक्षो, हन्त्यासद् वदन्तं— राक्षसोंका और असत्य बोलनेवालेका नाश करता है।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि (८।४।१५)— यदि मैं दुष्ट हूं तो आज ही मर जाऊं।

गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन (८।४।१८)— राक्षसोंको पकडो और पीसो।

अभि जहि रक्षसः पर्वतेन (८।४।१९)— राक्षसोंको पर्वतास्त्रसे नष्ट कर।

वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः (८।४।२०)— दुष्टों पर बिजली फेंको और उनका वध करो।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुं, सुपर्णयातुं उत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र (८।४।२२)— कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, घमंडी, मत्सरको पत्थरसे मार, हे इन्द्र ! हमारी रक्षा कर ।

इन्द्र जहि पुमांसं उत स्त्रियं मायया शाशदानां (८।४।२४)— हे इन्द्र ! तू पुरुषको वा स्त्रीको पराजित कर जो कपटका आचरण करता है ।

विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु— मूर्खोंके उपासक गर्दन-रहित होकर घूमें ।

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते, वीर्यवान् सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः (८।५।१) —यह प्रतिसर मणि वीर्यवान्, वीर, शत्रुका नाश करनेवाला, संरक्षक, मंगल करनेवाला शूर है वह वीरके शरीरपर बांधा जाता है ।

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः (८।५।२)— यह मणि शत्रुनाशक, उत्तम वीर, शत्रुका पराभव करनेवाला, बलवान्, उग्र वीर हिंसक प्रयोगोंका नाश करता हुआ जाता है ।

अनेन (इन्द्रो)ऽजयत् प्रदिशश्चतस्रः (८।५।३)- इस मणिके प्रभावसे इन्द्रने चारों दिशाओंमें विजय प्राप्त किया ।

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्, अनेनासुरान् पराभावयन् मनीषी (८।५।३)— इस मणिके प्रभावसे इन्द्रने वृत्रको मारा और इसके प्रभावसे बुद्धिमान् इन्द्रने असुरोंका पराभव किया ।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः, ओजस्वान् विमृधो वशी सोऽस्मान् पातु सर्वतः (८।५।४) --यह प्रगति करनेवाला मणि शत्रुपर आक्रमण करनेवाला बलवान् वशमें रखनेवाला शूर है वह सब ओरसे हमारा रक्षण करे ।

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा, अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः (८।५।८)— ज्ञानी ऋषिके समान इस स्राक्त्य मणिसे मैं सब शत्रु सेनाओंको जीतता हूं और युद्धमें राक्षसोंका नाश करता हूं ।

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवाः (८।५।१०)— इस मणिको सब देव कवच करके बांधें ।

सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् (८।५।१२)— जो इस मणिको धारण करता है वह शत्रुका नाश करता है ।

सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् (८।५।१३) —जो इस मणिको धारण करता है वह सब दिशाओंमें विराजता है ।

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः, गर्भान् खादन्ति केशवाः तानितो नाशयामसि (८।६।२३)— जो कच्चा मांस खाते हैं, जो मनुष्यका मांस खाते हैं, जो बालोंवाले गर्भोंको खाते हैं उनको यहांसे हटाता हूं ।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः, अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् (८।७।१४)— व्याघ्रके समान यह शूर मणि औषधियोंसे बनाया, संरक्षक, विनाशसे बचाता है, यह सब रोगों और राक्षसोंको हमसे दूर ले जाकर उनका नाश करे ।

अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः (८।७।२२) मैं यह औषध बनाता हूं जिसके सेवनसे यह सौ वर्ष जीवित रहेगा ।

उत्त्वा हार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत, अथो यमस्य पड्वीशात् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् (८।७।२८)— पांच या दस रोगोंसे, यमपाशसे, सब देवोंके सम्बन्धमें किये पापोंसे तुझे ऊपर उठाता हूं ।

यथा हनाम सेनां अमित्राणां सहस्रशः (८।८।१)· शत्रुके सैकडों सैनिकोंको हम मारेंगे ।

अमित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् (८।८।२)— शत्रु हृदयमें भय धारण करें ।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् (८।८।५) इन्द्रने शत्रुकी सेनाको पकडकर भगाया ।

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः, तेन शत्रून् अभि सर्वान् न्युब्ज, यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् (८।८।६)— बडे सेनावाले समर्थ वीरका बडा जाल था, जिससे वह सब शत्रुओंको घेरता था, जिसमेंसे कोई शत्रु छूटता नहीं था ।

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य, शतवीर्यस्य, तेन शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया (८।८।७)— हे शूर इन्द्र ! तू सहस्र प्रकारसे पूज्य है और तेरे अन्दर सैकडों सामर्थ्य हैं, तेरा यह बडा जाल है, उससे सौ, हजार, दस हजार, लाख शत्रुओंको अपनी सेनासे इन्द्रने मारा।

अव पद्यन्तामेषामायुधानि, मा शकन् प्रतिधामिषुं, अथैषां बहु बिभ्यतां इषवो घ्नन्तु मर्मणि (८।८।२०)— इन शत्रुओंके शस्त्र गिरें, ये हमारे बाणोंको न सह सकें, इन डरनेवाले शत्रुके मर्मोंपर हमारे बाण आघात करें।

इतो जय, इतो विजय, संजय, जय (८।८।२४)— यहां जय प्राप्त कर, यहांसे विजय कर, मिलकर जय प्राप्त कर, जय प्राप्त कर।

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्— सब रोग दूर हो।

वैश्वानरो रक्षतु त्वा— विश्वका नेता तेरी रक्षा करे।

प्रतिबोधश्च रक्षतां— विज्ञान तेरा रक्षण करें।

जागृविश्च रक्षतां— जागनेवाला तेरा रक्षण करें।

आहार्षं त्वा— (मृत्युसे) तुझे वापस लाया है।

सर्वमायुश्च तेऽविदं— तुझे पूर्ण आयु प्राप्त हुई है।

अप त्वन्मृत्युं ... निदध्मसि— तेरेसे मृत्यु दूर हुई है।

निजहि शोशुचानः- प्रकाशित होकर शत्रुका पराजय कर।

रक्षसो जहि— राक्षसोंको पराभूत कर।

अयं मणिः सपत्नहा— यह मणि शत्रुनाशक है।

इस प्रकार छोटे सुभाषित होते हैं। छोटे ही सुभाषित बोलने चाहिये यह बात नहीं है। बडे पूरे मन्त्र भी बोले जा सकते हैं। अपने पास समय कितना है, रोगीके मनकी अवस्था कैसी है, उसके घरवाले मनकी किस स्थितिमें हैं। इन सबका विचार करके सम्पूर्ण मन्त्र बोलना या मन्त्रका भाग बोलना इसका निश्चय करना योग्य है। जिस समय घरके लोग मनसे बलवान् हैं, रोगीमें भी उत्साह है, ऐसी अनुकूल परिस्थितिमें पूर्ण मन्त्र बोल सकते हैं। पर जिस समय घरके लोग घबराये हैं, रोगी भी बेचैन है, ऐसी अवस्थामें छोटे सुभाषितोंका उपयोग करना उत्तम है। समय देखकर मन्त्रचिकित्साका प्रयोग करना योग्य है।

धन

धाता दधातु नो रयिं ईशानो जगतस्पतिः (७।१८।१)— जगत्‌का धारणकर्ता जगत्‌का पालक ईश्वर हमें धन देवे।

स नः पूर्णेन यच्छतु— वह ईश्वर हमें पूर्ण रीतिसे धन देवे।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् (७।१८।२) सबका धारणकर्ता ईश्वर दाताके लिये प्राप्त करने योग्य अक्षय जीवनशक्ति देवे।

वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः— हम संपूर्ण धनोंके स्वामी प्रभुकी उत्तम मतिको धारण करते हैं।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे (७।१८।३)— विश्वका धारक ईश्वर उसके घरमें भरपूर धन देवे जो प्रजाका हित करनेके लिये दान देता है।

तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे— उसको सब देव अमृत देवे।

यजमानाय द्रविणं दधातु (७।१८।४)— प्रभु यज्ञकर्ताको धन देवें।

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिं अक्षीयमाणम् (७।२१।३)— संतानके साथ न क्षीण होनेवाला धन हमें मिले।

तस्य वयं हेडसि मापि भूम— उस प्रभुके कोपमें हम क्षीण न हों।

सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम— उस प्रभुके सुमति और उत्तम कृतिमें हम रहें।

रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् (७।२१।४)— हे सुभगे ! उत्तम वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् (७।२५।१) — वह धन हमें सत्यधर्मा प्रजापालक जगत् स्रष्टा अनुकूल मतिसे देवे।

स नो रयिं विश्ववारं नि यच्छात् (७।४९।१)— वह हमें सबके स्वीकारने योग्य धन देवे।

ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्— सैकडों दान करनेवाले प्रशंसनीय वीर पुत्रको देवे।

रायस्पोषं चिकितुषी दधातु (७।४९।२) — वह ज्ञान वाली हमें धन और पोषण देवे ।

सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि (७।५०।२) — उत्तम बुद्धियां सुन्दर हैं, जो तुम दाताको धन देती हैं ।

तुराणामतुराणां विशां अवर्जुषीणां, समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम (७।५२।२) — त्वरासे कर्म करनेवालों तथा सुस्त मनुष्योंका तथा बुराईको दूर न करनेवालोंका जो धन है वह सब इकट्ठा होकर मेरे हाथमें आवे ।

वयं जयेम त्वया युजा (७।५२।४) — हम तेरे साथ रहकर जय करेंगे ।

वृतमस्माकमरं अंशं उदवा भरे भरे— हरएक युद्धमें हमारे कार्यभागकी रक्षा कर ।

अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि (७।५२।४) — हमारे लिये श्रेष्ठ स्थान सुखसे प्राप्त होने योग्य कर ।

प्र शत्रूणां वृष्ण्या रुज— शत्रुओंके बलोंको तोड ।

यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः (७।५२।६) — जो देवकी उपासना करनेवाला अपने पास धनको रोकता नहीं उनके पास अनेक धन अनेक शक्तियोंके साथ इकट्ठे होते हैं ।

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम (७।५२।७) — हम सब राजाओंमें पहिले होकर, विनाशको न प्राप्त होकर, निजशक्तियोंसे धनोंको जीतेंगे ।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (७।५२।८) — पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथमें है और बायें हाथमें जय रखा है ।

गोजित् भूयासमश्वजित् धनंजयो हिरण्यजित्— मैं गौवें, घोडे, धन और सुवर्णको जीतनेवाला होऊंगा ।

इस विश्वमें सुखसे रहना है तो धन अवश्य चाहिये । धन बुरा नहीं है । धनका दुरुपयोग करनेसे धन बुरा कहलाता है । इसलिये वेदमें धनको प्राप्त करनेका उपदेश है । धनमें गौ, घोडे, रथ, घर, पुत्र आदि सब आते हैं । जिससे मनुष्य धन्य होता है वह धन है । जिसके प्राप्त होनेसे मनुष्यको ऐसा मालूम हो कि मैं धन्य हुआ हूं वह धन है । ऐसा धन मनुष्य चाहता है । वह मिले ऐसा इन सुभाषितोंमें कहा है ।

अतिथि-सत्कार

यो विद्यात् ब्रह्म प्रत्यक्षं, परूंषि यस्य संभारा, ऋचो यस्यानूक्यं, सामानि यस्य लोमानि, यजुर्हृदयमुच्यते (९।६।१) — जो प्रत्यक्ष ब्रह्मको जानता है, उसके अवयव यज्ञसामग्री, ऋचाएं रीढ, साम लोम और यजु हृदय है ऐसा कहते हैं ।

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति, यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (९।६।३१) — जो अतिथिके पूर्व भोजन करता है वह उन घरोंका इष्ट पूर्त ही खाता है ।

पयश्च वा एष रसं च ... ऊर्जां च वा एष स्फातिं च, ... प्रजां च वा एष पशूंश्च, ... कीर्तिं च वा एष यशश्च, ... श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (९।६।३२-३६) — दूध और रस, अन्न और समृद्धि, प्रजा और पशु, कीर्ति और यश, श्री और संज्ञान वह खाता है, जो अतिथिके पूर्व भोजन करता है ।

एषा वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियः, तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्, अशितावत्यतिथावश्नीयात् (९।६।३७-३८) — अतिथि श्रोत्रिय है, इस कारण उसके पूर्व भोजन करना नहीं चाहिये, अतिथिका भोजन होनेपर ही स्वयं भोजन करें ।

यज्ञ

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (७।५।१) — देवोंने यज्ञसे यज्ञपुरुषकी पूजा की ।

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्— वे धर्म उत्तम थे ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त— वे महत्त्व प्राप्त करके सुखमय स्वर्गलोकको प्राप्त हुए ।

यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः— जहां पूर्वकालके साधना करनेवाले आकर रहे थे ।

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् (७।२१।१) — आज हमारी अनुमति देवोंमें पहुंचे ऐसा यज्ञ करनेके लिये मिले ।

सरस्वती

यस्ते स्तनः शशयुः, यो मयोभूः सुम्नयुः सुदत्रो यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः। (७।११।१)— हे सरस्वति देवी ! जो तेरा स्तन शान्ति देनेवाला, सुख देनेवाला, मनको शुभ करनेवाला, पुष्टि देनेवाला अतएव प्रार्थना करने योग्य है, जिससे तू सब वरणीय पदार्थोंकी पुष्टि करती है, उसको यहां हमारी पुष्टिके लिये हमारी ओर कर।

ऊर्ध्वो देवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् (७।१२।१)— तुम्हारा मार्गदर्शक दिव्य ध्वज इस सब विश्वको सुभूषित करता है।

मातृभाषा

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः (७।२८।१)— मातृभाषा हमारे पास रहे, जो अपने व्रतसे देवता समान आचरण करनेवालोंको पवित्र करती है।

मातृभूमि

आदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं (७।७।१)— मातृभूमि हमारा स्वर्ग है, मातृभूमि अन्तरिक्षलोक है।

अदितिर्माता स पिता स पुत्रः— मातृभूमि ही माता, पिता और पुत्र है।

विश्वे देवा अदितिः— मातृभूमि ही सब देव हैं।

पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद यही मातृभूमि है, जो भूतकालमें हुआ और जो भविष्यमें होगा वह सब (अर्थात् जो वर्तमानकालमें हैं) वह सब मातृभूमि ही के लिये है। (अदिति– जो अन्न देती है। वह मातृभूमि है।)

महीमू षु मातरं सुव्रतानां, ऋतस्य पत्नीं, अवसे हुवामहे (७।७।२)— मातृभूमि उत्तम व्रतधारियोंकी माता है, सत्यका पालन करनेवाली है, इसकी हम उत्तम प्रशंसा गाते हैं।

तुविक्षत्रां अजरन्तीं उरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्— बहुत क्षात्र तेजसे जिसकी सेवा होती है, यह कभी क्षीण नहीं होती, विशाल, सुख देनेवाली, अन्न देनेवाली और उत्तम योगक्षेम चलानेवाली मातृभूमि है।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं (७।७।३)— उत्तम रक्षण करनेवाली, प्रकाशयुक्त, अहिंसक हमारी मातृभूमि है।

दैवीं नावं स्वरित्रां अनागसो अस्रवन्तीं आरुहेमा स्वस्तये— यह दिव्य नौका कभी न चूनेवाली और उत्तम गति देनेवाले साधनोंसे युक्त है, इसपर अपने कल्याणके लिये हम चढें।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीं अदितिं नाम वचसा करामहे (७।७।४)— अन्नकी उत्पत्तिके लिये अन्न देनेवाली मातृभूमिकी हम अपनी वाणीसे प्रशंसा गाते हैं।

सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्— वह मातृभूमि हमें तीन गुणा सुख हम सबको देवे।

नैनान् मनसा परो अस्ति कश्चन (७।८।१)— इनसे मनसे अधिक योग्य कोई नहीं है।

राष्ट्रसभा

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने (७।१३।१)— ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति, प्रजापालक राजाकी ये दो पुत्रियां हैं, ये ज्ञान देनेवाली सभाएं मेरा (राजाका) रक्षण करें।

येना संगच्छा उप मा स शिक्षात्— जिस सभासदसे मैं मिलूं वह मुझे (राज्यशासन विषयक) शिक्षण देवे।

चारु वदानि पितरः संगतेषु— हे राष्ट्रके पितृस्थानीय सदस्यो ! मैं (राजा) सभाओंमें उत्तम भाषण करूंगा।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि (७।१३।२) — हे राष्ट्रसभे ! तेरा नाम अविनाशी भावका वाचक है यह मैं जानता हूं।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः— जो तेरे सभासद हैं वे मेरे साथ (राजाके साथ) समान भावसे भाषण करनेवाले हों।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे (७।१३।३)— इन सभामें बैठे इन सदस्योंसे मैं तेज और ज्ञान प्राप्त करता हूं।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु— इस सभाका सहभागी, हे इन्द्र ! तू मुझे कर ।

यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा । तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः (७।१२।४)— जो आपका मन दूर गया है, अथवा जो इस वा उस विषयमें लगा है, उस चित्तको मैं लौटाता हूं, तुम सबका मन मुझमें रमता रहे ।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वं अबिभेद्, इयमेवेदं भविष्यतीति (८।१०।१) — प्रथम राजविहीन अवस्था थी, उसको देखकर सब भयभीत हुए, यही अवस्था रहेगी ऐसा भय उनके मनमें उत्पन्न हुआ ।

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् (८।१०।२)— वह राजविहीन प्रजाशक्ति उत्क्रान्त हुई और गृहपति संस्थामें परिणत हुई ।

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् (८।१०।८)— वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त हुई और वह ग्रामसभामें परिणत हुई ।

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् (८।१०।१०)— वह प्रजाशक्ति राष्ट्रसभामें परिणत हुई ।

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् (८।१०।१२)— वह प्रजाशक्ति मंत्रीमंडलमें परिणत हुई ।

ज्ञान

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः (७।५४।१)— हमें स्वजनोंके साथ और निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ उत्तम ज्ञान प्राप्त हो ।

संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्— हे अश्विनो ! तुम दोनों हमें उत्तम ज्ञान दो ।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा (७।५४।२)- मनसे हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, और ज्ञान होनेपर एकमतसे रहें ।

मा युष्महि मनसा दैव्येन— दिव्य मनसे युक्त होकर आपसमें विरोध न करें ।

मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते— बहुतोंका नाश होनेपर दुःखके शब्द न निकलें ।

सप्तऋषीनभ्यावर्ते, ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् (१०।५।३९)— सप्तऋषिकी मैं उपासना करता हूं, वे मुझे द्रव्य और ब्रह्मवर्चस देवें ।

पोषण

मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु (७।२०।१)— सबको पुष्ट करनेवाला प्रभु मुझे पुष्टि देवे ।

सौभाग्य

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं (७।१७।१)— हे ज्ञानपते देव ! हे सबके उत्पादक ! इसको बढा ।

ज्योतयैनं महते सौभगाय— बडे सौभाग्यके लिये इसको प्रकाशित कर ।

संशितं चित् संतरं सं शिशाधि— सुबुद्धिवालेको अधिक उत्तम बननेके लिये सुशिक्षित कर ।

विश्व एनमनु मदन्तु देवाः— सब देव इसका अनुमोदन करें ।

इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः (७।३६।१)— इस राष्ट्रको सौभाग्यसे युक्त कर और सब देव इसके सहायक हों ।

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति (५।३७।१) —हे स्त्री ! मुझे अपने हृदयमें रख और हम दोनोंका मन साथ मिला रहे ।

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः, तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो (७।५७।१)— जो तेरे स्वर्गके मार्ग हैं, जिनसे तू सब विश्वको चलाते हो, उनसे हमें, हे वसो ! सुखसे युक्त कर ।

एकता

सं जानानाः सं मनसः सयोनयः (७।२०।१)— एक जातीके लोग उत्तम ज्ञानसे संपन्न होकर एक विचारके हों ।

आरोग्य

वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश (७।४३।१)— जो रोग घरमें प्रविष्ट हुआ है उस फैलनेवाले रोगको दूर करो ।

बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः— दुर्गतिको दूर ही रोक दो ।

कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्— किया हुआ पाप हमसे छुडाओ ।

युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् (७।४३।२)— तुम हमारे शरीरोंमें सब औषधोंको रखो।

अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्— हमारे शरीरोंमें जो पाप है उससे हमारा बचाव करो। हमारे किये हुए पापसे हमारी मुक्तता करो।

तप

यदग्ने तपसा तप उप तप्यामहे तपः, प्रियाः श्रुतस्य भूयास्म, आयुष्मन्तः सुमेधसः (७।६३।१)- हे अग्ने! हम तप करते हैं, इससे हम ज्ञानके प्रिय और दीर्घायु और बुद्धिमान् बनेंगे।

कल्याण

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७।९।१)— कल्याणसे अधिक श्रेय प्राप्त कर।

बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु—ज्ञानी तेरा मार्गदर्शक हो।

अथेममस्या वर आ पृथिव्या— इस मातृभूमीपर वीरको रखो।

आरे शत्रुं कृणुहि सर्ववीरं— सब वीरोंके समुदायको शत्रुसे दूर कर।

शं च नस्कृधि (७।२१।२)— हमारा कल्याण कर।

प्रजां देवि ररास्व नः— हे देवि! हमारे लिये प्रजा दे दो।

सं माग्ने वर्चसा सृज, सं प्रजया, समायुषा (९।१।१५)— हे अग्ने! मुझे तेजके साथ, प्रजाके साथ और दीर्घायुके साथ युक्त कर।

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्। मधुमान् भवति, मधुमदस्याहार्यं भवति, मधुमतो लोकान् जयति, य एवं वेद (९।१।२२-२३)— ब्राह्मण, राजा, गौ, बैल, चावल, जौ और मध ये सात मधु हैं! जो इनका महत्त्व जानता है वह मीठा होता है, वह मीठे लोकोंको जीतता है।

स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु (१०।६।५) —वह जैसा पुत्रोंके लिये कल्याण करता है वैसा हमारा कल्याण करे।

सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वः, तेन त्वं द्विषतो जहि (१०।६।७)— वह इसे बहुत बल प्रतिदिन देवे जिससे तू द्वेष करनेवालोंका पराजय कर।

तं बिभ्रत् चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः (१०।६।१०)— उस मणिको चन्द्रमाने धारण किया जिसे वह दानवोंके सुवर्णमय नगरोंको जीत सका।

विजय

यो नो द्वेषद्धरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मः तमु प्राणो जहातु (७।३१।१)— जो हमारा द्वेष करता है वह नीचे गिरे, जिसका हम द्वेष करते हैं उसको प्राण छोड देवे।

अग्ने जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् (७।३५।१)— हे अग्ने! मेरे शत्रु हुए हैं उनको दूर कर।

प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व— प्रकट न हुए अर्थात् जो गुप्त शत्रु हैं उनको भी दूर कर।

अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवः— जो सैन्य भेजते है उनको नीचे कर।

अनागसस्ते वयं अदितये स्याम— निष्पाप होकर अदीनताके अनुगामी हम हों।

उभा जिग्यथुः, न परा जयेथे, न परा जिग्ये कतरश्चन एनयोः (७।४५।१)— दोनों जीतते हैं, कभी पराजित नहीं होते। इनमेंसे एक भी पराजित नहीं होता।

सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः (७।६४।१)— यह उत्तम पालक महाबलवान् रथमें बैठनेवाले वीरके समान अग्रगामी होकर शत्रुसैनिकोंको जीतता है।

अधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः— जो सेनासे चढाई करते हैं वे नीचे गिर जांय।

स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा (७।६५।१)— वह सब दुःखोंके पार ले जावे।

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्तु अनृतेन सत्यम् (७।७३।२)— यातना देनेवाले, विपत्ति और राक्षस असत्यसे सत्यका नाश करते हैं।

ओजो दासस्य दम्भय (७।९०।१) — हिंसकके बलको दबाओ ।

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः (७।१०५।१) दुष्ट तथा विपत्तिकारक स्वप्नसे मैं दूर होता हूं ।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः— ब्रह्मको मैं बीचमें रखता हूं जिससे शोक बढानेवाले स्वप्न दूर हों ।

मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः (७।१०७।१) ऊंचा खडा होकर मैं निरीक्षण करता हूं, अधिकारी मेरा नाश न करें ।

जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु (७।११३।१)— विजय पानेवाले तुझे देखकर देव आनन्द करें ।

जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि (१०।५।१)— विजय प्राप्तिके योगके लिये ज्ञानयोगोंसे मैं आपको युक्त करता हूं ।

जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि (१०।५।२)- विजय प्राप्तिके योगके लिये मैं आपको क्षत्रियोचित योगोंसे युक्त करता हूं ।

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः (१०।५।१५)— हम उसको दूर करते हैं जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ।

तं वधेयं तं स्तृषीय अनेन ब्रह्मणा, अनेन कर्मणा, अनया मेन्या (१०।५।१५)— इस ज्ञानसे, इस कर्मसे, इस इच्छासे उस शत्रुका वध करें, उसका नाश करें ।

शत्रुके तेजका नाश

स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे (७।१४।१) — द्वेष करनेवाले स्त्रीपुरुषोंका तेज मैं लेता हूं ।

यावन्तो मा सपत्नानां आयान्तं प्रतिपश्यथ । उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे (७।१४।२)— जितने शत्रु मुझे आते हुए देखते हैं, उन सब शत्रुओंका तेज मैं लेता हूं जैसा उगता सूर्य लेता है ।

नीचैः सपत्नान् मम पादय (९।२।१)— मेरे शत्रुओंसे नीचे गिरा दे ।

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव (९।२।७)— प्रतापी बलवान् काम (इच्छा) मुझे शत्रुरहित करे ।

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् (९।२।१०)— हे काम ! मेरे शत्रुओंपर तू विजय कर और उनको घने अन्धेरेमें गिरा दो ।

निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः (९।२।१०) मेरे शत्रु नीरस और इन्द्रिय रहित हों और वे एक दिन भी जीवित न रहें ।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (९।२।११)— चारों दिशाएं मुझे नमें ।

मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु— छः भूमियां मुझे घी लाकर देवें ।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बन्धनात् (९।२।१२)— नौका बंधनसे छूटनेपर जैसी डूबती है वैसे वे शत्रु नीचे गिरें ।

न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्— बाणोंसे भगाये शत्रुओंका फिरसे आक्रमण नहीं होता ।

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यः (९।२।१४)— शत्रु भगाया हुआ वीरोंसे रहित होकर भटकता रहे ।

नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् (९।२।१५)— मेरा सामर्थ्यवान् सहायक मेरे शत्रुओंको नीचे प्रेरित करे ।

त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् (९।२।१७)— हे काम ! मेरे शत्रुओंको इस लोकसे दूर भगा दो ।

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा (१०।३।१) — यह मेरा वरणमणि बलवान् और शत्रुका नाश करनेवाला है ।

तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः— उससे तू शत्रुका नाश कर और दुष्टोंका घात कर ।

अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः (१०।३।२)— इस वरणमणिसे देवोंने रोज रोज होनेवाले अत्याचार दूर किये ।

अयं मणिर्विश्वभेषजः (१०।३।३)— यह मणि सब औषधोंसे बनाया है ।

स तें शत्रूनधरान् पादयाति— वह तेरे शत्रुओंको नीचे गिराता है।

पूर्वस्तान् दम्नुहि ये त्वा द्विषन्ति— जो तेरा द्वेष करते हैं उनको दबा दे।

पौरुषेयाद्‌यं भयात्, अयं त्वा सर्वस्मात् पापात् वरणो वारयिष्यते (१०।३।४) यह वरणमणि मानवी भयसे तथा सब पापसे तुझे दूर करेगा।

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान् शतशारदः। स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् (१०।३।१२) — इस वरणमणिको धारण करता हूं, इससे मैं दीर्घायु और सौ वर्ष जीवित रहनेवाला होऊं। यह मेरे लिये राष्ट्र क्षात्रबल, पशु और ओज धारण करे।

एवा सपत्नान् मे भंग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् (१०।३।१३)— इस तरह तू मेरे पहिले या पश्चात् होनेवाले शत्रुओंका नाश कर।

परा शृणीहि यातुधानान् (१०।५।४९)— यातना देनेवालोंको दूर कर।

पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि— हे अग्ने! अपने तेजसे राक्षसोंको दूर कर।

परार्चिषा मूरदेवान् शृणीहि— मूर्खोंको देव मानने- वालोंको अपने तेजसे दूर कर।

परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि— दूसरोंके प्राणोंमें तृप्त होनेवाले दुष्टोंको शोकमय स्थितिमें दूर भगा दो।

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान्, सो अस्यांगानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे (१०।५।५०)— इस शत्रु पर मैं तीक्ष्ण वज्र फेंकता हूं, उसका सिर तोडनेके लिये, वह शस्त्र उसके सब अंग तोडे, यह मेरा कार्य सब देव अनुमोदित करें।

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः, अपि वृश्चाम्योजसा (१०।६।१)— शत्रु, वैरी, दुष्ट हृदयका सिर मैं वेगसे काटता हूं।

तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाऽजयन् (१०।६।१६)— उस मणिको देवोंने धारण किया जिससे वे युद्धमें लोकोंको जीत सके।

तामिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये, अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदंभनं मणिम् (१०।६।२९)— सब देवता इस मणिको पुष्टिके लिये मुझे देवें, यह मणि शत्रुका पराभव करता, राष्ट्रका संवर्धन करता, शत्रुको दबाता है।

गौरूप

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् (९।७।२५)— यह सब रूप, सब विश्वरूप गौका रूप है।

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः। वशाया दुग्धमपिबन् साध्या वसवश्च ये (१०।१०।३०)— वशा गौ द्यौ, पृथिवी, विष्णु तथा प्रजापति है। साध्य और वसु इस गौका दूध पीते हैं।

वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये। ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते (१०।१०।३१)— साध्य और वसु देव इस वशा गौका दूध पीकर स्वर्गके ऊपर रहकर इस गौके दूधकी उपासना करते हैं।

पाप

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम, आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात् पात्वंहसः (१०।५।२२)— जो तीन वर्षोंके अन्दर मैंने असत्य भाषण किया होगा, उसके पापसे यह जल मुझे मुक्त करे।

माता–पिता

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं (७।१।२)— वह अपने माता पिताको जानता है।

रोग–निवारण

ये अंगानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव। यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् (९।८।१९)— जो अंगोंको व्याकुल करते हैं, मद उत्पन्न करते उन रोगोंका विष मैं तुझसे दूर करता हूं।

विपत्ति

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः, दुर्णाम्नी...

सर्वा दुर्भूतं वाचस्ता अस्मान्नाशयामसि (७।२४।१)— दुष्ट स्वप्न, दुःखमय जीवित, हिंसकोंका उपद्रव, दारिद्र्य, विपत्ति, बुरे वचन ये सब विपत्तियां हमसे दूर हों, विनष्ट हों ।

विश्व होना

स इदं विश्वमभवत् (७।१।२)— वह यह सब विश्व होता है ।

स आभवत्— वह सर्वत्र होता है ।

वेद

वेदः स्वस्ति (७।२९।१) — वेद कल्याण करनेवाला है ।

सत्य भाषण

ये वदन् ऋतानि (७।१।१)— जो सत्य बोलते हैं।

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः (७।४४।१)— तुम्हारे एक प्रकारके शब्द कल्याण करनेवाले, और दूसरे शब्द अशुभ होते हैं। उत्तम मनवाला तू उन सबको धारण करता है ।

सर्प

घनेन हन्मि वृश्चिकं अहिं दण्डेन आगतम् (१०।४।९)— हथोडेसे मैं बिछूको मारता हूं और सापको दण्डेसे मारता हूं ।

दंष्ट्रारमन्वगाद् विषं, अहिरमृत (१०।४।२६)— दंश करनेवालेके पास विष गया और वह साप मर गया ।

इस तरह वेदके काण्ड ७ से १० तकके सुभाषित हैं । इनका योग्य उपयोग करके पाठक अपना लाभ करके देखें कि वेद किस तरह कल्याण करता है ।

अथर्ववेद

का

सुबोध-भाष्य

[सप्तमं काण्डम्]

लेखक

म. म. डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डी. लिट्.

विद्यामार्तण्ड, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

द्वितीय वार

संवत् २०२२; शक १८८८; सन् १९६६

पारडी [जि. बलसाड]

* * *

एक सौ एक शक्तियाँ ।

एकशतं लक्ष्म्यो ३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः ।
तेषां पापिष्ठा निरितः प्रहिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नियच्छ ॥

अथर्व. ७।११५।२

' एक सौ एक शक्तियां मनुष्यके शरीरके साथ उसके जन्मते ही उत्पन्न होती हैं । उनमें जो पापरूप शक्तियां हैं, उनको हम दूर करते हैं, और हे सर्वज्ञ प्रभो ! कल्याणकारिणी शक्तियोंको हमें प्रदान कर । '

मुद्रक व प्रकाशक— वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, पारडी (जि. बलसार)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

सप्तम कांड

इस सप्तम काण्डके प्रथम सूक्तका देवता ' आत्मा ' है। सब देवताओंमें मुख्य देवता होनेसे यह आत्मा अत्यंत मंगल-मय देवता है। वेदमंत्रोंमें सर्वत्र अनेक रूपसे इसी देवताका वर्णन है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥ कठ उ. १।२।१५

तथा—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः॥ भ. गी. १५।१५

अर्थात् ' सर्व वेदके मंत्र उसी आत्माका वर्णन करते हैं। ' वेदमें अनेक देवता भले ही हों, परंतु मुख्य विषय आत्माका वर्णन करना ही है। उसी मंगलमय आत्माका वर्णन इस काण्डके प्रथम सूक्तमें होनेसे यह सूक्त इस काण्डके प्रारंभमें मंगलाचरणरूप ही है। आत्मासे भिन्न और मंगलमय देवता कौनसा हो सकता है? सबसे अधिक मंगलमय देवता यही है।

इस काण्डमें एक अथवा दो मंत्रवाले सूक्तोंकी संख्या अधिक है। बहुधा किसी दूसरे काण्डमें इस प्रकार छोटे सूक्त नहीं हैं। यदि मंत्रसंख्याके क्रमसे सातों काण्डोंका क्रम लगाया जावे, तो इस प्रकार क्रम लग सकता है—

क्रम	काण्ड	सूक्तसंख्या	सूक्तप्रकृति		
१	७ वां काण्ड	[११८]	१ मंत्रवाले सूक्त	५६	हैं
			२ मंत्रवाले सूक्त	५२	हैं
२	६ ठा काण्ड	[१४२]	३ मंत्रवाले सूक्त	१२२	हैं
३	१ ला काण्ड	[३५]	४ मंत्रवाले सूक्त	३०	हैं
४	२ रा काण्ड	[३६]	५ मंत्रवाले सूक्त	२२	हैं
५	३ रा काण्ड	[३१]	६ मंत्रवाले सूक्त	१३	हैं
६	४ था काण्ड	[४०]	७ मंत्रवाले सूक्त	२१	हैं
७	५ वाँ काण्ड	[३१]	८ मंत्रवाले सूक्त	२	हैं

इस सप्तम काण्डमें कुल सूक्त ११८ हैं, परंतु दूसरी गिनतीसे १२३ भी हो सकते हैं। बीचमें कई सूक्त ऐसे हैं कि, जिनके प्रत्येकमें दो दो सूक्त माने हैं, इस कारण दूसरी गिनतीमें ५ सूक्त बढ जाते हैं। हमने ये दोनों गिनतियां सूक्त क्रमसंख्यामें बतायी हैं। अब इस काण्डकी मंत्रसंख्या देखिये—

१ मंत्रवाले सूक्त	५६	हैं और उनमें मंत्रसंख्या	५६	है
२ मंत्रवाले सूक्त	२६	उनमें मंत्रसंख्या	५२	है
३ मंत्रवाले सूक्त	१०	उनमें मंत्रसंख्या	३०	है
४ मंत्रवाले सूक्त	११	उनमें मंत्रसंख्या	४४	है
५ मंत्रवाले सूक्त	३	उनमें मंत्रसंख्या	१५	है
६ मंत्रवाले सूक्त	४	उनमें मंत्रसंख्या	२४	है
७ मंत्रवाले सूक्त	३	उनमें मंत्रसंख्या	२१	है
८ मंत्रवाले सूक्त	३	उनमें मंत्रसंख्या	२४	है
९ मंत्रवाले सूक्त	१	उनमें मंत्रसंख्या	९	है
१० मंत्रवाले सूक्त	१	उनमें मंत्रसंख्या	११	है
कुल सूक्तसंख्या	११८	कुल मंत्रसंख्या	२८६	

इन मंत्रोंका अनुवाकोंमें विभाग देखिये—

											कुलसंख्या
अनुवाक	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	= १०
सूक्तसंख्या	१३	९	१६	१३	८	१४	८	९	१२	१६	= ११८
मंत्रसंख्या	२८	२२	३१	३०	२५	४२	३१	२४	२१	३२	= २८६

इस सप्तम काण्डकी मंत्रसंख्या केवल २८६ अर्थात् चतुर्थ (३२४), पञ्चम (३७६), और षष्ठ (४५४) की अपेक्षा बहुत ही कम और प्रथम (२३०), द्वितीय (२०७), तृतीय (२३०), की अपेक्षा अधिक है ।

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि–देवता–छन्द देखिये--

सूक्तोंके ऋषि--देवता--छन्द

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः । षोडशः प्रपाठकः ।				
१	२	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्, २ विराड् जगती
२	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्
३	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्
४	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	वायुः	१ त्रिष्टुप्
५	५	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्, ३ पंक्ती; ४ अनुष्टुप्
६ (६,७)	४ (२+२)	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	अदितिः	१ त्रिष्टुप् १ भुरिक्, ३–४ विराड् जगती
७ (८)	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	अदितिः	आर्षी जगती
८ (९)	१	उपरिबभ्रवः	बृहस्पतिः	त्रिष्टुप्
९ (१०)	४	उपरिबभ्रवः	पूषा	१,२ त्रिष्टुप् ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री, ४ अनुष्टुप्
१० (११)	१	शौनकः	सरस्वती	त्रिष्टुप्
११ (१२)	१	शौनकः	सरस्वती	त्रिष्टुप्
१२ (१३)	४	शौनकः	सभा । १,२ सरस्वती ३ इन्द्रः, ४ मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१३ (१४)	२	अथर्वा (द्विषोवर्चो-हर्तुकामः)	सोमः	अनुष्टुप्
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
१४ (१५)	४	अथर्वा (द्विषोवर्चो-हर्तुकामः)	सविता	१,२ अनुष्टुप् । ३ त्रिष्टुप्; ४ जगती
१५ (१६)	१	भृगु·	सविता	त्रिष्टुप्
१६ (१७)	१	भृगुः	सविता	त्रिष्टुप्
१७ (१८)	४	भृगुः	बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप् १ त्रिपदार्षी गायत्री २ अनुष्टुप्, ३-४ त्रिष्टुप्
१८ (१९)	२	अथर्वा	पृथिवी, पर्जन्यः	१ चतुष्पाद् भुरिगुष्णिक् २ त्रिष्टुप्
१९ (२०)	१	ब्रह्मा	मंत्रोक्ता	जगती
२० (२१)	६	ब्रह्मा	अनुमतिः	१-२ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ४ भुरिक् ५-६ जगती ६ अतिशक्वरीगर्भा
२१ (२२)	१	ब्रह्मा	आत्मा	शक्वरी विराड्गर्भा जगती
२२ (२३)	२	ब्रह्मा	लिंगोक्ताः	१ द्विपदैकावसाना विराड् गायत्री, २ त्रिपदानष्टुप्
तृतीयोऽनुवाकः ।				
२३ (२४)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनः	अनुष्टुप्
२४ (२५)	१	ब्रह्मा	सविता	त्रिष्टुप्
२५ (२६)	२	मेधातिथिः	विष्णुः	त्रिष्टुप्
२६ (२७)	८	मेधातिथिः	विष्णुः	१ त्रिष्टुप् २ त्रिपदा विराड् गायत्री ३ व्यवसाना षट्पदाविराट् शक्वरी, ४-७ गायत्री, ८ त्रिष्टुप्
२७ (२८)	१	मेधातिथिः	मंत्रोक्ताः	त्रिष्टुप्
२८ (२९)	१	मेधातिथिः	वेदः	त्रिष्टुप्
२९ (३०)	२	मेधातिथिः	मन्त्रोक्ता	त्रिष्टुप्
३० (३१)	१	भृग्वंगिराः	द्यावापृथिवी, प्रतिपदोक्ता	बृहती
३१ (३२)	१	भृग्वंगिराः	इन्द्रः	भुरिक्त्रिष्टुप्
३२ (३३)	१	ब्रह्मा	आयुः	अनुष्टुप्
३३ (३४)	१	ब्रह्मा	मन्त्रोक्ताः	पथ्यापंक्तिः
३४ (३५)	१	अथर्वा	जातवेदाः	जगती
३५ (३६)	३	अथर्वा	जातवेदाः	१ अनुष्टुप् २-३ त्रिष्टुभ्
३६ (३७)	१	अथर्वा	अक्षि,	अनुष्टुप्
३७ (३८)	१	अथर्वा	लिंगोक्ता	अनुष्टुप्
३८ (३९)	५	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप् ३ चतुष्पादुष्णिक्
चतुर्थोऽनुवाकः ।				
३९ (४०)	१	प्रस्कण्वः	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्
४० (४१)	२	प्रस्कण्वः	सरस्वती	त्रिष्टुप् १ भुरिक्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द	
४१ (४२)	२	प्रस्कण्वः	श्येनः	त्रिष्टुप्	१ जगती
४२ (४३)	२	प्रस्कण्वः	सोमारुद्रौ	त्रिष्टुप्	
४३ (४४)	१	प्रस्कण्वः	वाक्	त्रिष्टुप्	
४४ (४५)	१	प्रस्कण्वः	इन्द्रः, विष्णुः		भुरिक् त्रिष्टुप्
४५ (४६, ४७)	२	प्रस्कण्वः (४७ अथर्वा)	भेषजम्, ईर्ष्यापनयनम्	अनुष्टुप्	
४६ (४८)	३	अथर्वा	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्	१-२ अनुष्टुप्
४७ (४९)	२	अथर्वा	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्	१ जगती
४८ (५०)	२	अथर्वा	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्	१ जगती
४९ (५१)	२	अथर्वा	देवपत्न्यौ		१ आर्षी जगती, २ चतुष्पदा, पंक्तिः
५० (५२)	९	अंगिराः (कितवबाधनकामः)	इन्द्रः	अनुष्टुप्	३,७ त्रिष्टुप्; ४ जगती, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्
५१ (५३)	१	अंगिराः	बृहस्पतिः	त्रिष्टुप्	
पञ्चमोऽनुवाकः ।					
५२ (५४)	२	अथर्वा	सांमनस्यम्, अश्विनौ		१ ककुम्मती अनुष्टुप्, २ जगती
५३ (५५)	७	ब्रह्मा	आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ,	१ त्रिष्टुप्	३ भुरिक्, ४ उष्णिग्गर्भार्षी पंक्तिः, ५–७ अनुष्टुप्
५४ (५६,५७-१)	२	(५६) ब्रह्मा (५७) भृगुः	ऋक्साम, इन्द्रः	अनुष्टुप्	
५५ (५७-२)	१	भृगुः	इन्द्रः	विराट्	
५६ (५८)	८	अथर्वा	वृश्चिकादयः, २वनस्पतिः, ४ ब्रह्मणस्पतिः	अनुष्टुप्	४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
५७ (५९)	२	वामदेवः	सरस्वती	जगती	
५८ (६०)	२	कौरुपथिः	मंत्रोक्ता	१ जगती,	२ त्रिष्टुप्
५९ (६१)	१	बादरायणिः	अरिनाशनम्	अनुष्टुप्	
षष्ठोऽनुवाकः । सप्तदशः प्रपाठकः					
६० (६२)	७	ब्रह्मा	गृहाः, वास्तोष्पतिः	अनुष्टुप्	१ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्
६१ (६३)	२	अथर्वा	अग्निः	अनुष्टुप्	
६२ (६४)	१	कश्यपः मारीचः	अग्निः	जगती	
६३ (६५)	१	कश्यपः मारीचः	जातवेदाः	जगती	
६४ (६६)	२	यमः	मंत्रोक्ताः, निर्ऋतिः	भुरिगनुष्टुप्, २ न्यंकु सारिणी बृहती	
६५ (६७)	३	शुक्रः	अपामार्गवीरुत्	अनुष्टुप्	
६६ (६८)	१	ब्रह्मा	ब्रह्म	त्रिष्टुप्	
६७ (६९)	१	ब्रह्मा	आत्मा		पुरःपरोष्णिग्बृहती
६८ (७०-७१)	३	शंतातिः	सरस्वती	१ अनुष्टुप्, २त्रिष्टुप्, ३ गायत्री पंथ्यापंक्तिः	
६९ (७२)	१	शंतातिः	सुखं		
७० (७३)	५	अथर्वा	श्येनः, मन्त्रोक्ताः	१ त्रिष्टुप्, २ अतिजगतीगर्भा जगती, ३-५ अनुष्टुप् (३ पुरः ककुम्मती)	

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द	
७१ (७४)	१	अथर्वा	अग्निः	अनुष्टुप्	
७२ (७५.७६)	३	अथर्वा	इन्द्रः	अनुष्टुप्	२-३ त्रिष्टुप्
७३ (७७)	११	अथर्वा	अश्विनौ	अनुष्टुप्	२ पथ्याबृहती; १, ४, ६ जगती

सप्तमोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द	
७४ (७८)	४	अथर्वा	मन्त्रोक्ताः, जातवेदाः	अनुष्टुप्	
७५ (७९)	२	उपरिबभ्रवः	अघ्न्याः	१ त्रिष्टुप्	२ त्र्यवसाना पञ्चपदा भुरिक् पथ्यापंक्तिः।
७६ (८०,८१)	६	अथर्वा	अपचिद्भैषज्यं, ज्यायानिन्द्रः		१ विराडनुष्टुप्; ३-४ अनुष्टुप्; २ परा उष्णिक्; ५ भुरिगनुष्टुप् ६ त्रिष्टुप्
७७ (८२)	३	अङ्गिराः	मरुतः		१ त्रिपदा गायत्रीः; २ त्रिष्टुप् ३ जगती
७८ (८३)	२	अथर्वा	अग्निः		१ परोष्णिक्, २ त्रिष्टुप्
७९ (८४)	४	अथर्वा	अमावास्या	१ जगती;	२, ४ त्रिष्टुप्
८० (८५)	४	अथर्वा	पौर्णमासी, प्रजापतिः	त्रिष्टुप्;	४ अनुष्टुप्
८१ (८६)	६	अथर्वा	सावित्री	१,६ त्रिष्टुप्;	२ सम्राट्पङ्क्तिः ३ अनुष्टुप्; ४-५ आस्तारपङ्क्तिः

अष्टमोऽनुवाकः

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द	
८२ (८७)	६	शौनकः (संपत्कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्;	२ ककुम्मती बृहती; ३ जगती
८३ (८८)	४	शुनःशेपः	वरुणः	१ अनुष्टुप्;	२ पथ्यापंक्तिः ३ त्रिष्टुप्; ४ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
८४ (८९)	३	भृगुः	१ जातवेदा अग्निः, २-३ इन्द्रः	त्रिष्टुप्;	जगती
८५ (९०)	१	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	तार्क्ष्यः	त्रिष्टुप्	
८६ (९१)	१	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	इन्द्रः	त्रिष्टुप्	
८७ (९२)	१	अथर्वा	रुद्रः	जगती	
८८ (९३)	१	गरुत्मान्	तक्षकः	त्र्यवसाना बृहती	
८९ (९४)	४	सिंधुद्वीपः	अग्निः	अनुष्टुप्	४ त्रिपदानिचृत्परोष्णिक्
९० (९५)	३	अंगिराः	मन्त्रोक्ताः		१ गायत्री २ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ३ त्र्यवसाना षट्पदा भुरिग्जगती

नवमोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द	
९१ (९६)	१	अथर्वा	चन्द्रमाः	त्रिष्टुप्	
९२ (९७)	१	अथर्वा	चन्द्रमाः	त्रिष्टुप्	
९३ (९८)	१	भृग्वंगिराः	इन्द्रः	गायत्री	
९४ (९९)	१	अथर्वा	सोमः	अनुष्टुप्	
९५ (१००)	३	कपिञ्जलः	गृध्रौ	अनुष्टुप्	२,३ भुरिक्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
९६ (१०१)	१	कपिञ्जलः	वयः	अनुष्टुप्
९७ (१०२)	८	अथर्वा	इन्द्राग्नी	१-४ त्रिष्टुप्; ५ त्रिपदार्षी भुरिग्गायत्री ६ त्रिपात्प्राजापत्या बृहती; त्रिपदा साम्नी भुरिग्जगती; ८ उपरिष्टाद्बृहती
९८ (१०३)	१	अथर्वा	मंत्रोक्ताः	विराट् त्रिष्टुप्
९९ (१०४)	१	अथर्वा	मंत्रोक्ताः	भुरिगुष्णिक् त्रिष्टुप्
१०० (१०५)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनम्	अनुष्टुप्
१०१ (१०६)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनम्	अनुष्टुप्
१०२ (१०७)	१	प्रजापतिः	दुःस्वप्ननाशनम्	विराट् पुरस्ताद् बृहती
दशमोऽनुवाकाः ।				
१०३ (१०८)	१	ब्रह्मा	आत्मा	त्रिष्टुप्
१०४ (१०९)	१	ब्रह्मा	आत्मा	त्रिष्टुप्
१०५ (११०)	१	अथर्वा	मन्त्रोक्ता	अनुष्टुप्
१०६ (१११)	१	अथर्वा	अग्निर्जातवेदाः वरुणश्च	बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
१०७ (११२)	१	भृगुः	सूर्यः आपश्च	अनुष्टुप्
१०८ (११३)	२	भृगुः	अग्निः	२ त्रिष्टुप्; १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
१०९ (११४)	७	बादरायणिः	अग्निः	१ विराट् पुरस्ताद्बृहती अनुष्टुप् ४,७ अनुष्टुप्; २,३, ५,६ त्रिष्टुप्
११० (११५)	३	भृगुः	इन्द्राग्नी	१ गायत्री; २ त्रिष्टुप् ३ अनुष्टुप्
१११ (११६)	१	ब्रह्मा	वृषभः	पराबृहती त्रिष्टुप्
११२ (११७)	२	वरुणः	मन्त्रोक्ताः	१ भुरिक्; २ अनुष्टुप्
११३ (११८)	२	भार्गवः	तृष्टिका	१ विराडनुष्टुप्; २ शंकुमती चतुष्पदा भुरिगनुष्टुप्
११४ (११९)	२	भार्गवः	अग्नीषोमौ	अनुष्टुप्
११५ (१२०)	४	अथर्वांगिराः	सविता, जातवेदाः	अनुष्टुप्, २-३ त्रिष्टुप्
११६ (१२१)	२	अथर्वांगिराः	चन्द्रमाः	१ पुरोष्णिग्; २ एकावसाना द्विपदार्षी अनुष्टुप्
११७ (१२२)	१	अथर्वांगिराः	इन्द्र	पथ्याबृहती
११८ (१२३)	१	अथर्वांगिराः	चन्द्रमाः, बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप्

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानु सार सूक्तविभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग

१ अथर्वा ऋषिके १—७; १३—१४; १८; ३४—३८; ४६—४९; ५२; ५६; ६१; ७०—७४; ७६; ७८—८१; ८५—८७; ९१-९२; ९४; ९७—९९; १०५—१०६ ये तेतालीस सूक्त हैं।

२ ब्रह्मा ऋषिके १९—२२; २४; ३२—३३; ५३—५४; ६०; ६६—६७; १०३—१०४; १११ ये पंद्रह सूक्त हैं।

३ भृगु ऋषिके १५—१७; ५४—५५; ८४; १०७—१०८; ११० ये नौ सूक्त हैं।

४ प्रस्कण्व ऋषिके ३९-४५ ये सात सूक्त हैं।
५ मेधातिथि ऋषिके २५-२९ ये पांच सूक्त हैं।
६ अथर्वाङ्गिरा ऋषिके ११५-११८ ये चार सूक्त हैं।
७ शौनक ऋषिके १०-१२; ८२ ये चार सूक्त हैं।
८ यम ऋषिके २३; ६४; १००; १०१ ये चार सूक्त हैं।
९ अंगिरा ऋषिके ५०-५१; ७७; ९० ये चार सूक्त हैं।
१० उपरिबभ्रव ऋषिके ८-९; ७५ ये तीन सूक्त हैं।
११ भृग्वंगिरा ऋषिके ३०-३१; ९३ ये तीन सूक्त हैं।
१२ भार्गव ऋषिके ११३-११४ ये दो सूक्त हैं।
१३ शंताति ऋषिके ६८-६९ ये दो सूक्त हैं।
१४ बादरायणि ऋषिके ५९; १०९ ये दो सूक्त हैं।
१५ कश्यप ऋषिके ६२-६३ ये दो सूक्त हैं।
१६ कपिंजल ऋषिके ९५-९६ ये दो सूक्त हैं।
१७ वरुण ऋषिका ११२ वां एक सूक्त है।
१८ वामदेव ऋषिका ५७ वां एक सूक्त है।
१९ कौरुपथि ऋषिका ५८ वां एक सूक्त है।
२० शुक्र ऋषिका ६५ वां एक सूक्त है।
२१ शुनःशेप ऋषिका ८३ वां एक सूक्त है।
२२ गरुत्मान् ऋषिका ८८ वां एक सूक्त है।
२३ सिंधुद्वीप ऋषिका ८९ वां एक सूक्त है।
२४ प्रजापति ऋषिका १०२ वां एक सूक्त है।

इस प्रकार २४ ऋषियोंके नाम इस काण्डमें हैं। इसमें भी पूर्ववत् अथर्वाके सूक्त सबसे अधिक अर्थात् ४३ हैं और इनमें अथर्वाङ्गिराके ४; अंगिराके ४, मिलानेसे ५१ होते हैं। ये न भी गिने जायें तो भी ४३ सूक्त अकेले अथर्वाके नामपर हैं। यह बात देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस संहितामें अथर्वाके सूक्त अधिक होनेसे इसका नाम 'अथर्ववेद' हुआ होगा; दूसरे दर्जेपर इसमें ब्रह्माके मंत्र आते हैं, संभवतः इसी कारणसे इसका नाम 'ब्रह्मवेद' पडा होगा।

देवताक्रमानुसार सूक्त विभाग।

१ मंत्रोक्तदेवताके १२; १९; २७; २९; ३३; ३९; ४६-४८; ५८; ६४; ७०; ७४; ९०; ९८-९९; १०५; ११२ ये अठ्ठारह सूक्त हैं। (टिप्पणी-वस्तुतः मंत्रोक्त नामका कोई देवता नहीं है, इस प्रकारके सूक्तोंमें अनेक देवता रहते हैं, इसलिये अनेक देवताओंके नाम कहनेकी अपेक्षा यह एक संकेत मात्र किया है।)

२ इन्द्र देवताके १२; ३१; ४४; ५०; ५४-५५; ७२; ७६; ८४; ८६; ९३; ११७ ये बारह सूक्त हैं।
३ अग्नि देवताके ६१-६२; ७१; ७८; ८२; ८४; ८९; १०६; १०८; १०९ ये दस सूक्त हैं।
४ आत्मादेवताके १-३; ५; २१; ६७; १०३-१०४ ये आठ सूक्त हैं।
५ सरस्वतीदेवताके १०-१२; ४०; ५७; ६८ ये छः सूक्त हैं।
६ सवितादेवताके १४-१७; २४; ११५ ये छः सूक्त हैं।
७ जातवेदा देवताके ३४; ३५; ६३; ७४; ८४; १०६ ये छः सूक्त हैं।
८ दुःस्वप्ननाशनके २३; १००-१०२ ये चार सूक्त हैं।
९ चन्द्रमाके ९१-९२; ११६; ११८ ये चार सूक्त हैं।
१० बृहस्पतिके ८; ५१; ५३ ये तीन सूक्त हैं।

११ विष्णुके २५-२६; ४४ ये तीन सूक्त हैं।
१२ अश्विनौके ५२; ५३; ७३ ये तीन सूक्त हैं।
१३ अदितिके ६-७ ये दो सूक्त हैं।
१४ सोमके १६; ९४ ये दो सूक्त हैं।
१५ बहुदैवत्यके १७; ११८ ये दो सूक्त हैं। (यह भी देवताओंका संकेत है जैसा मंत्रोक्तमें लिखा है।)
१६ लिंगोक्तांके २२; ३७ ये दो सूक्त हैं।
१७ द्यावापृथिवीके ३०; १०२ ये दो सूक्त हैं।
१८ वनस्पतिके ३८; ५६ ये दो सूक्त हैं।
१९ आयुःके ३२; ५३ ये दो सूक्त हैं।
२० श्येनःके ४१; ७० ये दो सूक्त हैं।
२१ वरुणके ८३; १०६ ये दो सूक्त हैं।
२२ इन्द्राग्नीके ९७; ११० ये दो सूक्त हैं।

शेष देवता एक सूक्तवाले हैं। यमः ४; पूषा ९; सभा १२; पृथिवी १८; पर्जन्यः १८; अनुमतिः २०; वेद; २८; प्रतिपदोक्ता देवताः ३० (यह भी अनेक देवताओंका संकेत है); अक्षि ३६; सोमारुद्रौ ४२; वाक् ४३; भेषजं ४५; ईर्ष्यापनयनं ४५; देवपत्न्यौ ४९; सांमनस्यं ५२; ऋक्साम ५४; वृश्चिकः ५६; ब्रह्मणस्पतिः ५६; अरिष्टनाशनं ५९; गृहाः ६०; वास्तोष्पतिः ६०; निर्ऋतिः ६४; अपामार्गः ६५; ब्रह्म ६६; सुखं ६९; अघ्न्याः ७५; अपचिद्भेषजं ७६; ज्यायानिन्द्रः ७६; मरुतः ७७; अमावास्या ७९; पौर्णमासी ८०; प्रजापतिः ८०; सावित्री ८१; सूर्याचन्द्रमसौ ८१ः तार्क्ष्यः ८५; रुद्रः ८७; तक्षकः ८८; गृध्रः ९५; वयः ९६; सूर्यः १०७; आपः १०७; वृषभः १११; तृष्टिका ११३; अग्नीषोमौ ११३;

इस प्रकार इस काण्डमें ६६ देवता आये हैं। इनमें मंत्रोक्त, बहुदैवत्य आदि संकेतोंमें आनेवाले कई देवता और अधिक संमिलित होनी हैं। इनकी गिनती उक्त संख्यामें नहीं की गई है। अब सूक्तोंके गणोंकी व्यवस्था देखिये—

सप्तम काण्डके सूक्तोंके गण।

१ स्वस्त्ययनगणमें ६; ५१; ८५; ९१; ९२; ११७ ये छः सूक्त हैं।
२ बृहच्छान्तिगणमें ५२; ६६; ६८; ६९; ८२; ८३ ये छः सूक्त हैं।
३ पत्नीवन्तगणमें ४७-४९ ये तीन सूक्त हैं।
४ दुःस्वप्ननाशनगणमें १००; १०१; १०८ ये तीन सूक्त हैं।
५ अभयगणमें ९; ९१ ये दो सूक्त हैं।
६ पुष्टिकगणमें १४; ६० ये दो सूक्त हैं।
७ वास्तुगणमें ४१; ६० ये दो सूक्त हैं।
८ इन्द्रमहोत्सवके ८६; ९१ ये दो सूक्त हैं।
९ आयुष्यगणमें ३२ वां एक सूक्त है।
१० सांमनस्यगणमें ५२ वां एक सूक्त है।
११ कृत्यागणमें ६५ वां एक सूक्त है।
१२ रौद्रगणमें ८७ वां एक सूक्त है।
१३ अंहोलिंगगणमें ११२ वां एक सूक्त है।
१४ तक्मनाशनगणमें ११६ वां एक सूक्त है।

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके गणोंका विचार है। अन्य सूक्त भी इसी प्रकार अन्यान्य गणोंमें विभक्त किये जा सकते हैं, परंतु वह विशेष विचारका प्रश्न है। आज ही यह कार्य नहीं हो सकता। सूक्तोंका अर्थ निश्चित हो जानेपर यह गणविभाग परिपूर्ण किया जा सकता है।

इतना विचार होनेके पश्चात् अब हम इस सप्तम काण्डके प्रथम सूक्तका मनन करते हैं—

अथर्ववेदका सुबोध–भाष्य

[सप्तम काण्ड]

आत्मोन्नतिका साधन

[१]

(ऋषिः– अथर्वा ' ब्रह्मवर्चस्कामः '। देवता– आत्मा।)

धीती वा ये अनयन्वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥ १ ॥
स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत्स भुवत्पुनर्मघः ।
स द्यामौर्णोदुन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत्स आभवत् ॥ २ ॥

अर्थ— (ये वा मनसा धीती) जो अपने मनसे ध्यानको (वाचः अग्रं अनयन्) वाणीके मूलस्थानतक पहुंचाते हैं, तथा (ये वा ऋतानि अवदन्) जो सत्य बोलते हैं, वे (तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानाः) तृतीय ज्ञानसे बढते हुए, (तुरीयेण) चतुर्थभागसे (धेनोः नाम अमन्वत) कामधेनुके नामका मनन करते हैं ॥ १ ॥

(सः सूनुः भुवत्) वही उत्पन्न हुआ है, (सः पुत्रः पितरं सः च मातरं वेद) वही पुत्र अपने मातापिताको जानता है, (सः पुनर्मघः भुवत्) वह बारबार दान देनेवाला होता है, (सः द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत्) वह द्युलोक, अन्तरिक्ष और आत्मप्रकाशको अपने आधीन करता है, (सः इदं विश्वं अभवत्) वह यह सब विश्व बनाता है, और (सः आभवत्) वह सर्वत्र व्याप्त होता है॥ २ ॥

भावार्थ— (१) मनसे ध्यान लगाकर वाणीकी उत्पत्ति जहांसे होती है उस वाणीके मूलको देखना, (२) सदा सत्य वचन बोलना (३) ज्ञानसे संपन्न होना और (४) कामधेनु स्वरूप परमेश्वरके नामका मनन करना, ये चार आत्मोन्नतिके साधन हैं ॥ १ ॥

जो इस चतुर्विध साधनको उपयोगमें लाता है, उसीका जन्म सफल होता है, वह अपने मातापितास्वरूप परमात्माको जानता है, वह आत्मसर्वस्वका दान करता है, वह त्रिभुवनको अपनी शक्तिसे घेरता है, मानो वही इस सब विश्वरूप में परिवर्तित हो जाता है और वही सर्वत्र व्याप्त होता है ॥ २ ॥

*

आत्मोन्नतिका साधन

साधनमार्ग

आत्मोन्नतिका साधनमार्ग इस सूक्तमें बताया है। यह मार्ग चतुर्विध है, अथवा इस मार्गको बतानेवाले चार सूत्र इस सूक्तमें बताये हैं। आत्मोन्नतिके चार सूत्र ये हैं-

(१) **ऋतानि अवदन्**- सत्य बोलना। अर्थात् छल-कपटका भाषण न करना और अन्य इंद्रियोंको भी असत्य मार्गमें प्रवृत्त होने न देना। सदा सत्यनिष्ठ, सत्यव्रती और सत्यभाषी होना। (मं. १)

(२) **ब्रह्मणा वावृधानः**- ब्रह्म नाम बंधननिवृत्तिके ज्ञानका है। (मोक्षे धीर्ज्ञानं) ज्ञानका अर्थही बंधनसे छूटनेके उपायका ज्ञान है। इस ज्ञानसे जो बढता है अर्थात् इस ज्ञानसे जो परिपूर्ण होता है, वही आत्मोन्नतिका अधिकारी होता है। जो आत्मज्ञानके साधनका उपयोग करना चाहता है उसको यह ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। (मं. १)

(३) **धेनोः नाम अमन्वत**- कामधेनुके नामका मनन करते हैं। भक्तके मनोकामनाको पूर्ण करनेवाली कामधेनु परमेश्वरकी शक्ति ही है उसके गुणबोधक नाम अनंत हैं। उन नामोंका मनन करनेसे और उन गुणोंको अपने अंदर धारण करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। (मं. १)

(४) **मनसा धीती वाचः अग्रं अनयन्**- मनकी एकाग्रतासे ध्यान द्वारा वाणीके मूलस्थान पर पहुंचना। यह आत्माकी प्राप्तिका एक और साधन है। वाणी कैसे उत्पन्न होती है, इसकी रीति इसप्रकार बताई है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ ६॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ ७॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥ ८॥
(पाणिनीयशिक्षा)

(१) आत्मा बुद्धिसे युक्त होकर विशेष अर्थका अनुसंधान करती है, (२) पश्चात् उस अर्थको प्रकट करनेके लिये मनको नियुक्त करती है, (३) मन शरीरके अग्निको प्रेरित करता है, (४) वह अग्नि वायुको गति देती है, (५) वह वायु छातीसे ऊपर आकर मन्द्र स्वर पैदा करती है, (६) वह स्वर मूर्धामें आकर मुखके विविध स्थानोंमें आघात करता है, (७) विविध स्थानोंमें आघात होनेके कारण विविध वर्ण उत्पन्न होते हैं और यही वाणीकी उत्पत्ति है।

वाणीकी इस प्रकार उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य ध्यान लगाकर वाणीकी उत्पत्तिका प्रकार देखता है और (वाचः अग्रं) वाणीके मूल स्थानपर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तब वह उस स्थानमें आत्माको देखता है। इस प्रकार वाणीके मूलको ढूंढनेके यत्नके द्वारा आत्माको जाना जाता है। वाणीके मूलभागको अन्तर्मुख होकर ही देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—पहिले कोई शब्द लें। वह शब्द कई अक्षरोंका—अर्थात् वर्णोंका बना हुआ होता है, ये वर्ण एक ही वायुके मुखके विभिन्न स्थानों पर आघात होनेसे उत्पन्न होते हैं। वर्णोत्पत्तिके पूर्व जो वायु छातीमें संचार करता है, उसमें ये विविध वर्ण नहीं होते हैं। उससे भी पूर्व जब वायुको अग्नि प्रेरणा देती है, उसमें तो शब्दका नाम तक नहीं होता है। इसके पूर्व मनकी प्रेरणा है और इससे भी पूर्व आत्माकी बोलनेकी प्रवृत्ति होती है। इस रीतिसे अंदर अंदरकी ओर देखनेका प्रयत्न ध्यानपूर्वक करनेसे वाणीके मूलस्थानका पता लगता है, और आत्माका दर्शन होता है। यही विषय वेदमें इस प्रकार वर्णित है-

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ४५॥
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ४६॥ (ऋ० १। १६४, ४५-४६; अथर्व० ९। (१०) १५। २७-२८)

' वाणीके चार पांव हैं, मननशील ब्रह्मज्ञानी उनको जानते हैं। इनमेंसे तीन पांव हृदयमें गुप्त हैं, और प्रकट होनेवाला जो वाणीका चतुर्थ पाद है, वही मनुष्योंकी भाषा है जिसे मनुष्य बोलते हैं। यह वाणी जहांसे—जिस मूल कारणसे—प्रकट होती है, वह एक ही सत्य वस्तु है, परंतु ज्ञानी लोग उस एक वस्तुको अनेक नाम देते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं। '

यही आत्मा है, जिससे वह प्रकट होती है। इसीलिये

वाणीके मूलकी खोज करते करते आत्माकी प्राप्ति होती है, ऐसा इस सूक्तमें कहा है।

आत्माको खोज करनेका मार्ग इस प्रकार इस सूक्तमें कहा है। इसको भी यदि संक्षिप्त करना हो, तो '(१) सत्य-निष्ठा, (२) सत्यज्ञान, (३) प्रभुगुणमनन, और (४) वाङ्मूलान्वेषण ' इन चार शब्दोंसे सूचित होनेवाला यह आत्मोन्नतिका मार्ग है। मनुष्य इस मार्गसे जाकर अपनी आत्माका पता लगा सकता है और सत्यके आश्रयसे और ज्ञानके प्रकाशसे यथेच्छ उन्नति प्राप्त कर सकता है। यहां ज्ञानका ' बंधनसे मुक्त होनेका निश्चित ज्ञान ' यह अर्थ विवक्षित है। अन्य पाञ्चभौतिक ज्ञानके लिये संस्कृतमें विज्ञान शब्द है। जो इस प्रकारके श्रेष्ठ ज्ञानसे युक्त होता है, वह मनुष्य—

(५) सः सूनुः भुवत् = वही सच्चे रूपमें उत्पन्न हुआ हुआ कहा जाता है। अर्थात् उसीने जन्म लिया और अपना जन्म सार्थक किया, ऐसा कहा जा सकता है। अन्य लोग जन्म तो लेते ही हैं, परंतु उनका जन्म लेना व्यर्थ होता है, क्योंकि जन्म लेनेका प्रयोजन वे सफल नहीं कर सकते, अतः उनके जन्म लेनेका परिश्रम व्यर्थ होता है। मनुष्यके जन्मकी सफलता उसी समय होती है, जब वह—

(६) सः पुत्रः पितरं मातरं च वेद = वह पुत्र अपने माता पिताको जानने लगता है। अपने मातापिताको यथावत् जाननेसे पुत्रका जन्म सफल होता है। मातापिताको जानना तब होगा, जब वह अपने मातापिताके गुणोंका मनन करेगा। यह गुणोंके मनन करनेका उपदेश (नाम अमन्वत। मं० १) प्रथम मंत्रके अन्तिम चरणमें दिया है। पिताका या माताका नाम लेना अथवा उनके गुणोंका मनन करना इसीलिये होता है, कि पुत्र अपने आपको सुयोग्य बनाता हुआ पिताके समान बने। माता पिताको जाननेका अर्थ यही है। मेरे माता पिता ऐसे शुद्धाचारी थे, मैं भी वैसा ही शुद्धाचारी बनूं। मातापिताके गुणोंको जाननेसे पुत्रके अंदर इस प्रकार अपनी उन्नति करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। यहां ' पुत्र ' शब्द विशेष महत्त्वका अर्थ रखता है। ' पु + त्र ' अर्थात् जो अपने आपको (पुनाति) पवित्र करता है और (त्रायते) अपनी रक्षा करता है वह सच्चा पुत्र है। अपने आपको निर्दोष, पवित्र और शुद्ध बनाने, तथा अपने आपको दोषों और पापोंसे रक्षा करनेका कार्य जो करता है वही सच्चा पुत्र है, जो ऐसा नहीं करते, वे केवल जन्तुमात्र हैं। इस प्रकारका सुपुत्र जो होता है, वह जिस समय अपने परम पिताके गुणकर्मोंका मनन करता है, उस समय उसके मनमें यह बात आती है कि मैं भी अपने परम पिताके समान और अपनी परम माताके समान बनूं। यत्न करके वैसा होऊं। इस विचारसे वह प्रेरित होता है, इसलिये—

(७) सः पुनर्मघः भुवत् = बारबार दान देनेवाला होता है। वह अपनी सब तन, मन, धन आदि शक्तियोंको जनताकी भलाईके लिये बारबार समर्पित करता है। दान करनेसे वह पीछे नहीं हटता। इसीका नाम यज्ञ है। अपनी शक्तियोंका यज्ञ करनेसे ही मनुष्य उन्नत होता है। वह देखता है कि, वह परमपिता अपनी सब शक्तियोंको संपूर्ण प्राणिमात्रकी भलाईके लिये समर्पित कर रहा है, इस बातको देखकर वह उसीका अनुकरण करता है। और इस प्रकार परमपिताके अनुकरणसे वह प्रतिसमय अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता है और इसको जितनी अधिक शक्ति मिलती जाती है, उसी प्रमाणसे उसका कार्यक्षेत्र भी बढता जाता है। उदाहरणके लिये साधारण मनुष्य अपने पेटके लिए कार्य करता है, गृहस्थी मनुष्य अपने कुटुंबके पोषणके कार्यक्षेत्रमें लगा रहता है, नगर सुधारक अपने नगरके कार्यक्षेत्रमें तन्मय होता है. राष्ट्रका नेता राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें काम करता है, इसके पश्चात् वसुधैव कुटुंबक वृत्तिका संन्यासी संपूर्ण जनताको अपने परिवारमें संमिलित करके उनकी भलाईके लिये आत्म-समर्पण करता है, इस प्रकार जिसको जैसी शक्ति प्राप्त होती जाती है, उसी प्रकार वह अधिकाधिक विस्तृत कार्यक्षेत्रमें कार्य करता है, इस प्रकार शक्तिकी वृद्धि होते होते अन्तमें—

(८) स द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत् = वह द्युलोक, अन्तरिक्ष और सब प्रकाशमय लोकोंको व्यापता है। मनुष्यकी शक्ति बढ जाती है। वह जिस समय विशेष उन्नत होता है, उस समय संपूर्ण अवकाशमें उसकी व्याप्ति होती है। साधारण आत्माके ' महात्मा ' बननेसे यह बात सिद्ध होती है। इससे—

(९) सः इदं विश्वं अभवत् - वह यह सब विश्व रूप बनता है, जब उसकी शक्ति परम सीमातक उन्नत हो जाती है, तब उसको अनुभव होता है कि मैं विश्वरूप हूं। कई मनुष्य ' शरीररूप ' होते हैं, अपने शरीरमें कष्ट होनेसे वे दुःखी होते हैं, कई लोग ' कुटुंबरूप ' होते हैं उनके कुटुंबके किसी मनुष्यको दुःख हुआ तो वे दुःखी होते हैं, कई लोग ' राष्ट्ररूप ' बनते हैं उनके राष्ट्रका कोई आदमी दुःखी होता है तो वे भी उसके साथ दुःखी होते हैं, इसी प्रकार जो

' विश्वरूप ' बनते हैं वे संपूर्ण विश्वमें किसीको भी दुःखी देखनेसे स्वयं दुःखी होते हैं। इस प्रकार मनुष्यकी शक्तिका विस्तार होता जाता है और अन्तमें विश्वरूप बन जाना उसकी उन्नतिकी परम सीमा है, इस समय–

(१०) सः आभवत्— वह सर्वत्र व्याप्त होता है अर्थात् विश्वरूप बनी हुई आत्मा विश्वभरमें व्याप्त होती है। प्रारंभमें मनुष्यकी आत्मा अपने शरीरमें ही व्याप्त होती है, परंतु इसकी शक्ति और कार्यक्षेत्र क्रमशः बढते बढते इतना विस्तृत हो जाते हैं कि अन्तमें विश्वरूप बन जाते हैं। यह आत्माका विस्तार उसकी शक्तिके विस्तारसे होता है। इसका उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है, एक दीप जो छोटेसे कमरेको ही प्रकाशित कर पाता है, पर यदि किसी यंत्रप्रयोगसे उसकी प्रकाशशक्तिका विस्तार किया जाय, तो वही दीप दस बीस मीलतक प्रकाश देनेमें समर्थ हो सकेगा। अग्निकी छोटीसी चिनगारी भी विस्तृत होकर दावानलका रूप ले लेती है। इसी प्रकार इस जीवात्माकी शक्तिके परम विकासकी कल्पना भी की जा सकती है,

कई मनुष्य होते हैं उनकी आज्ञा पारिवारिक लोग भी सुनते नहीं, इतनी उनकी शक्ति अत्यल्प होती है, परंतु कई महात्मा ऐसे होते हैं कि, जिनकी आज्ञा होते ही लाखों और करोडों मनुष्य अपना बलिदानतक देनेको तैयार हो जाते हैं, यह आत्मशक्तिके विस्तारका उदाहरण है। इसी प्रकार आगे परम सीमातक आत्माकी शक्तिका विकास होना संभव है। इसी शक्तिविकासके चार उपाय प्रथम मंत्रमें बताये हैं। उन उपायोंका अनुष्ठान जो करेंगे वे अपनी शक्ति विकसित होनेका अनुभव अवश्य लेनेमें समर्थ होंगे।

जीवात्माका वर्णन

[२]

(ऋषिः– अथर्वा ' ब्रह्मवर्चसकामः '। देवता– आत्मा।)

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ १ ॥

अर्थ— (यः मनसा) जो मनसे (इमं यज्ञं अथर्वाणं पितरं) इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाले पिता और (देवबंधुं) देवोंके साथ संबंध रहनेवाले (मातुः गर्भं) माताके गर्भमें आनेवाले (पितुः असुं) पिताके प्राणस्वरूप (युवानं) सदा तरुण आत्माको (चिकेत) जानता है, वह (इह तं नः प्रवोचः) यहां उसके विषयमें हमें उपदेश देवे और (इह ब्रवः) यहां उसको बतलावे ॥ १ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी अपनी मननशक्ति द्वारा इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाली, पिताके समान रक्षक, देवोंके साथ संबंध करनेवाली, माताके गर्भमें आनेवाली, पिताके प्राणको धारण करनेवाली सदा तरुण अर्थात् कभी वृद्ध न होनेवाली और कभी बालक न होनेवाली आत्माको जानता है, वह उसके विषयका ज्ञान यहां हम सबको कहे और उसका विशेष स्पष्टीकरण भी करे ॥ १ ॥

जीवात्माका वर्णन

जीवात्माके गुण

इस सूक्तमें मुख्यतया जीवात्माके गुण वर्णन किये हैं। इनका मनन करनेसे जीवात्माका ज्ञान हो सकता है-

१ मातुः गर्भे- माताके गर्भको प्राप्त होनेवाली जीवात्मा है। जन्म लेनेके लिए यह माताके गर्भमें आती है। यजुर्वेदमें इसीके विषयमें ऐसा कहा है-

पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः
स एव जातः स जनिष्यमाणः।

वा. यजु. ३२।४

' यह आत्मा पहिले उत्पन्न हुई थी, वही इस समय गर्भमें आयी है; वह पहिले जन्मी थी और भविष्यमें भी जन्म लेगी ' इस प्रकार यह बारबार जन्म लेनेवाली जीवात्मा है।

२ पितुः असुं= पितासे यह प्राणशक्तिको धारण करती है। पितासे प्राणशक्ति और मातासे रयिशक्ति प्राप्त करके यह शरीर धारण करती है।

३ युवानं— यह सदा जवान है। यह न कभी बूढी होती है और न कभी बालक। वह भौतिक शरीर ही उत्पन्न होता है और छः विकारोंको प्राप्त होता है। यह शरीर (जायते) उत्पन्न होता है, (अस्ति) अस्तित्वमें आता है, (वर्धते) बढता है, (विपरिणमते) परिणत होता है, (अपक्षीयते) क्षीण होता है और (विनश्यति) नाशको प्राप्त होता है। यह छः विकार शरीरके होते हैं। इन छः विकारोंको प्राप्त होनेवाले शरीरमें रहती हुई यह जीवात्मा सदा तरुण रहती है। यह न तो शरीरके साथ बालक बनती है और न शरीरके वृद्ध होनेसे वह बूढी ही होती है। यह अजर और अबालक है अर्थात् इसको युवावस्थामें रहनेवाली कहते हैं।

४ देवबंधुं— यह देवोंका भाई है। देवोंको अपने साथ बांध देनेवाली यह जीवात्मा है। इस देहमें इस जीवात्माके कारण ही सूर्यका अंश नेत्ररूपसे आंखके स्थानमें है, वायुका अंश प्राणरूपसे नासिका स्थानमें है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियोंके देवताओंके अंश हैं। इन सब देवताओंको यह अपने साथ लाती है और अपने साथ ही फिर ले भी जाती है। जिस प्रकार सब भाई भाई इकट्ठे रहते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा यहां इन देवताओंके साथ रहती है इस प्रकार यह देवोंकी सहायक है।

५ अथर्वाणं— (अथ+अर्वाक्=अथर्वा) शरीरके पास अर्थात् शरीरके अन्दर रहनेवाली यह है। इसको ढूंढनेके लिये बाहर भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यही सबसे समीप है, इससे समीप और कोई नहीं है।

६ पितरं— यह पिताके समान है। यह रक्षक है। जब तक यह शरीरमें रहती है तबतक यह शरीरकी रक्षा करती है। इसकी शक्तिसे ही शरीर रक्षित होता है। जब यह इस शरीरको छोड देती है तब इस शरीरकी कोई रक्षा नहीं कर सकता। इसके इस शरीरको छोड देनेके पश्चात् यह शरीर सडने लगता है।

७ यज्ञं— यह यहां यजनीय अर्थात् पूजनीय है। इसीके लिये यहांके सब व्यवहार किये जाते हैं। अन्न, पान, भोग, नियम सब इसीकी संतुष्टिके उद्देश्यसे दिये जाते हैं। यदि यह न हो तो कोई कुछ न करेगा। जबतक यह इस शरीरमें है, तबतक ही सब भोग तथा त्याग किये जाते हैं।

ये सात शब्द जीवात्माके वर्णन करनेके लिये इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं। जीवात्माके गुणधर्म इनका विचार करनेसे ज्ञात हो सकते हैं। इनका विचार (मनसा चिकेत) मनन द्वारा ही होगा। जब उत्तम मनन हो तब वह ज्ञानी इस ज्ञानका (प्रवोचः) प्रवचन करे और (इह ब्रवः) यहां व्याख्या करे। कोई मनुष्य मननके पूर्व प्रवचन न करे। अर्थात् जब मननपूर्वक उत्तम ज्ञान प्राप्त हो, तभी मनुष्य दूसरोंको इसका ज्ञान देवे।

उपदेश देनेका अधिकार तब होता है कि जब स्वयं पूर्ण ज्ञानी होता है। स्वयंको उत्तम ज्ञान होनेके पूर्व जो उपदेश देनेका प्रयत्न करता है वह घातक होता है। ज्ञानी ही उपदेश देनेका सच्चा अधिकारी है।

जीवात्माका ज्ञान ठीक प्रकार होनेपर मनुष्य परमात्माको जाननेमें समर्थ होगा। इस विषयमें अथर्ववेदका कथन यहां देखने योग्य है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्॥

(अथर्व. १०।७।१७)

' जो सबसे प्रथम पुरुषमें स्थित ब्रह्मको जानते हैं, वेही परमेष्ठी प्रजापतिको भी जानते हैं। ' यही ज्ञान प्राप्त करनेकी रीति है। अपने शरीरान्तर्गत आत्माको जाननेसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस रीतिसे इस मंत्रके मननसे प्रथम जीवात्माका ज्ञान होगा और उसीको परम सीमातक विस्तृत रूपमें देखनेसे यही ज्ञान परमात्माका बोध करानेमें समर्थ होगा।

आत्माका परमात्मामें प्रवेश

[३]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- आत्मा ।)

अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अर्थ— (अया वि-स्था) इस प्रकारकी विशेष स्थितिसे (कर्वराणि जनयन्) विविध कर्मोंको करता हुआ, (सः) वह (हि वराय उरुः गातुः) श्रेष्ठ देवकी प्राप्ति करनेके लिये विस्तृत मार्गरूप और (घृणिः) तेजस्वी बनता हुआ, (सः) वह (मध्वः धरुणं अग्रं प्रति उदैत्) मिठासको धारण करनेवाले अग्रभागके प्रति पहुंचनेके लिये ऊपर उठता है और (स्वया तन्वा) अपने सूक्ष्म शरीरसे उस देवके (तन्वं ऐरयत्) सूक्ष्मतम शरीरके प्रति अपने आपको प्रेरित करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— इस प्रकार वह श्रेष्ठ कर्मोंको करता है और उस कारण वह स्वयं परमात्माके पास जानेका श्रेष्ठ मार्ग बतानेवाला होता है और दूसरोंको प्रकाश देता है। वह स्वयं मधुर अमृतको धारण करनेवाले परमात्माके समीप जानेके लिए अपने आपको उच्च करता है और समाधिस्थितिमें अपने सूक्ष्म शरीरसे परमात्माके विश्वव्यापक सूक्ष्मतम कारण शरीरके पास पहुंचनेके लिये स्वयं अपने आपको प्रेरित करता है। इस प्रकार वह स्वयं परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

आत्माका परमात्मामें प्रवेश

जीवकी शिवमें गति ।

जीवात्मा परममंगलमय शिवात्मामें गति किस प्रकार होती है इसका विचार इस सूक्तमें किया है। इसका अनुष्ठान क्रमपूर्वक कहते हैं—

१ अया वि-स्था कर्-वराणि जनयन्- इस विशेष स्थितिमें रहकर वह मुमुक्षु जीव श्रेष्ठ कर्म करता है। विशेष स्थितिमें रहनेका अर्थ है सर्व साधारण मनुष्योंकी जैसी स्थिति होती है वैसी साधारण स्थितिमें न रहना। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि विषयमें तथा रहने सहनेके विषयमें साधारण मनुष्य पशुके समान ही रहते हैं। इस सामान्य स्थितिका त्याग करके मनुष्य विशेष स्थितिमें रहे अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईशभक्ति करता हुआ मनुष्य अपने आपको विशेष परिस्थितिमें रखे और उस विशेष परिस्थितिके अनुरूप श्रेष्ठ कार्य करे। इससे उसको दो सिद्धियां प्राप्त होंगी, वे सिद्धियां ये हैं-

२ सः घृणिः— वह तेजस्वी बनता है, वह दूसरोंका मार्गदर्शक होता है, वह जनताको चेतना देनेवाला होता है, वह अपने तेजसे दूसरोंको प्रकाशित करता है। तथा—

३ सः वराय उरुः गातुः- वह श्रेष्ठ स्थानके पास जानेवाले विस्तृत मार्ग जैसा होता है। जिस प्रकार विस्तृत मार्ग पर चलनेसे प्राप्तव्य स्थानके प्रति मनुष्य विना आयास चलता जाता है, उसी प्रकार इस पुरुषका जीवन अन्य मनुष्योंके लिये विस्तृत मार्गवत् हो जाता है। तब मनुष्यको दूसरे मार्ग देखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। महात्माओंका जीवन चरित्र देखकर और उसके अनुसार चलकर उनका जीवन सफल होजाता है और इस जगत्में जो वर अर्थात् श्रेष्ठ है, उस श्रेष्ठ परमात्माके पास वे सीधे पहुंच जाते हैं। इस रीतिसे वह सन्मार्गगामी पुरुष अन्य मनुष्योंके लिये मार्गदर्शक हो जाता है। वह मार्ग बताता नहीं अपितु लोग ही उसका चालचलन देखकर स्वयं उसका अनुकरण करके सुधर जाते हैं। अर्थात् वह मार्गदर्शक नहीं बनता प्रत्युत लोगोंके लिये विस्तृत मार्गरूप बन जाता है।

४ सः मध्वः धरुणं अग्रं प्रति उत् ऐत्- वह मधुर-

ताको धारण करनेवाले उस अन्तिम स्थानके प्रति जानेके लिये ऊपर उठता है। जिस प्रकार सूर्य उदय होकर ऊपर ऊपर चढता है और जैसे जैसे ऊपर चढता है वैसे वैसे अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता है, उसी प्रकार यह मुमुक्षु पुरुष (उदैत्) ऊपर उठता है अर्थात् अधिकाधिक उच्च अवस्था प्राप्त करता जाता है। इसके ऊपर उठनेका हेतु यह है कि, वह (मध्वः अग्रे) मिठासके परम केन्द्रको प्राप्त करना चाहता है मधुरताकी जो जड है, जहांसे सब मधुरता फैलती है, उस स्थानको वह प्राप्त करनेका अभिलाषी होता है। और इस हेतुसे वह उच्चतर भूमिका अपने प्रयत्नसे प्राप्त करता है। और अन्तमें—

५ स्वया तन्वा तन्वं ऐरयत– अपने सूक्ष्म (स्वभाव) परमात्माके सूक्ष्मतम (स्वभाव) के प्रति अपने आपको प्रेरित करता है। इस मंत्रभागमें ' तनु ' शब्द है। लौकिक संस्कृतमें वह शरीरका वाचक है यह बात सत्य है, तथा यहां ' तनु ' शब्दके ' सूक्ष्म. बारीक, स्वभाव, गुण, विशेषता ' ये अर्थ विवक्षित हैं। ऊपर हमने तनु शब्दका सुप्रसिद्ध ' शरीर ' यह अर्थ लेकर लिखा है. तथापि हमारे मतसे इसका वास्तविक अर्थ ' जीवात्मा अपने स्वभावधर्मसे परमात्माके स्वभावधर्ममें प्रेरित होता है ' यह सर्वोत्कृष्ट है। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये ही पूर्वोक्त सब अनुष्ठान हैं।

इस विधिसे किया हुआ अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता, अपितु हरएक अवस्थामें विशेष फल देनेवाला होता है और अन्तमें जीवात्माकी शिवात्मामें गति होती है। यही उन्नतिकी परम सीमा है।

प्राणका साधन

[४]

(ऋषिः– अथर्वा। देवता– वायुः।)

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सुहुते वायो) उत्तम प्रकार बुलाने योग्य प्राण देवता ! (एकया च दशभिः च) एक और दससे, (द्वाभ्यां विंशत्या च) दो और बीससे तथा (तिसृभिः च त्रिंशता च) तीन और तीससे तू (इष्टये वहसे) यज्ञके लिये जाता है। अतः तू (वियुग्भिः इह ताः विमुञ्च) विशेष योजनाओंसे उनको यहां मुक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रशंसायोग्य प्राण ! तू ग्यारह, बाईस और तैतीस शक्तियों द्वारा इस जीवनयज्ञमें कार्य करता है, अतः तू अपनी विशेष योजनाओं द्वारा सब प्रजाओंको दुःखोंसे मुक्त कर ॥ १ ॥

प्राणका साधन

प्राणसाधनसे मुक्ति

इस शरीरमें प्राणका शासन सर्वत्र चल रहा है यह सब जानते हैं। स्थूल शरीरमें पञ्च ज्ञानेंद्रिय; पञ्च कर्मेंद्रिय और इन दस इंद्रियोंका संयोजक मस्तिष्क ये ग्यारह शक्तियां इस प्राणके आधीन हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें जाकर यह प्राण कार्य करता है अर्थात् ये ग्यारह प्राणके कार्यस्थान हैं। इसके नंतर सूक्ष्म शरीरमें येही वासना देहमें ग्यारह शक्तियां कार्य कर रही हैं, ये भी सबके सब प्राणके ही आधीन हैं। स्थूल शरीरकी ग्यारह और सूक्ष्म शरीरकी ग्यारह, दोनों मिलकर बाईस शक्तियां प्राणके आधीन स्वप्नावस्थामें रहती हैं। तीसरे मज्जातन्तुओंके ग्यारह केन्द्र जो मस्तकसे लेकर गुदातकके पृष्ठवंशमें रहते हैं और जिनके आधीन शरीरके विविध भाग कार्य करते हैं, वे भी प्राणकी शक्तिसे ही अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। ये सब मिलकर तैतीस शक्ति केन्द्र हैं,

जिनमें प्राणकी शक्ति कार्य कर रही है। मानो इन तैतीस केन्द्रों द्वारा प्राणको चलाया जाता है। अथवा ये तैतीस प्राणके रथके घोडे हैं, जिस रथमें बैठकर प्राण शरीरभरमें गमन करता है और वहांका कार्य करता है।

इस सूक्तमें ग्यारह, बाईस और तैतीस प्राणको चलाते हैं ऐसा कहा है। यह संख्या इन शक्तिकेन्द्रोंकी सूचक है। यह शरीर एक यज्ञशाला है, इसमें शतसांवत्सरिक यज्ञ चलाया जा रहा है। यह यज्ञ प्राणके द्वारा होता है और प्राण इन शक्तिकेन्द्रों द्वारा इस यज्ञभूमिमें आता और कार्य करता है।

प्राणकी योजना

प्राणको (**वियुग्भिः विमुञ्च**) विशेष योजनासे मुक्त कर अर्थात् प्राणकी विशेष योजना की जाये तो उसके द्वारा मुक्ति प्राप्तकी जा सकती है। यहां विचार करना चाहिये कि प्राण-की (**वियुग्भिः**) विशेष योजनायें कौनसी हैं और उनसे मुक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है। यह देखनेके लिये पूर्वोक्त शक्तियां क्या करती हैं और इनकी स्वभाव प्रवृत्ति कैसी है यह देखना चाहिये।

हमारे पास नेत्र है, यह यद्यपि देखनेके लिये बनाया गया है तथापि यह दूसरोंकी ओर बुरी दृष्टिसे देखता है। कान शब्द श्रवण करनेके लिये बनाया गया है तथापि वह बहुत बुरे शब्द सुनता है। मुख बोलनेके लिये बनाया गया है, परंतु वह ऐसे बुरे शब्द बोलता है कि जिससे विविध झगडे उत्पन्न होते हैं। उपस्थइंद्रिय सुप्रजाजननके लिये बनायी गई है, परंतु वह व्यभिचारके लिये प्रवृत्त होती है। इस प्रकार शतसांवत्सरिक यज्ञमें संमिलित होनेवाली सब शक्तियां अयोग्य मार्गमें प्रवृत्त होती हैं। प्राणायाम करनेसे मनकी चंचलता दूर होती है और मन स्थिर होनेसे उक्त तैतीस शक्तियां ठीक सीधे मार्गसें चलती हैं। प्राणकी विशेष योजनाएं यही हैं। इन विशेष योजनाओं द्वारा नियुक्त हुआ प्राण इन तैतीस शक्तियोंका संयम करता है उनको बुरा-ईयोंके विचारसे मुक्त करता है, और सत्कार्यमें प्रेरित करता है। इस प्रकार प्राणसाधनसे मुक्तिके मार्ग पर चलना सुगम होता है।

आत्मयज्ञ

[५]

(ऋषिः- अथर्वा ' ब्रह्मवर्चसूकामः '। देवता- आत्मा।)

यज्ञेनं यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १ ॥

अर्थ— (**देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त**) देवगण यज्ञसे यज्ञ पुरुषकी पूजा करते हैं। (**तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्**) वे धर्म उत्कृष्ट हैं। (**ते महिमानः नाकं सचन्ते**) वे महत्त्व प्राप्त करते हुए सुखपूर्ण लोकको प्राप्त होते हैं, (**यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति**) जहां पूर्वके साधनसंपन्न देव रहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— श्रेष्ठ याजक अपनी आत्माके योगसे परमात्माकी उपासना करते हैं, यह मानसोपासनाकी यज्ञविधि सबसे श्रेष्ठ और मुख्य है। इस प्रकारकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ उपासकही उस सुखपूर्ण स्वर्गधामको प्राप्त करते हैं कि जिसे पूर्वकालके साधक प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥ २ ॥
यद्देवा देवान्हविषायजन्तामर्त्यान्मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन्पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥
यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥
मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

अर्थ— (यज्ञः बभूव) यज्ञ प्रकट हुआ, (सः आबभूव) वह सर्वत्र फैला, (सः प्रजज्ञे) वह विशेष रीतिसे ज्ञानका साधन हुआ और (सः उ पुनः वावृधे) वह फिर बढने लगा। (सः देवानां अधिपतिः बभूव) वह देवोंका अधिपति बन गया, (सः अस्मासु द्रविणं आ दधातु) वह हममें धन स्थापित करे ॥ २ ॥

(देवाः यत् अमर्त्यान् देवान्) देव जहां अमर देवोंका (हविषा अमर्त्येन मनसा अयजन्त) अपने हविरूप अमर मनसे यजन करते हैं (तत्र परमे व्योमन् मदेम) वहां उस परम आकाशमें हम सब आनंद प्राप्त करते हैं । और वहां (सूर्यस्य उदितौ तत् पश्येम) सूर्यका उदय होनेपर उसका वह प्रकाश देखते हैं ॥ ३ ॥

(यत् देवाः) जो देवोंने (पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत) पुरुषरूपी हविसे यज्ञ किया, (तस्मात् ओजीयः नु अस्ति) उससे अधिक बलवान् क्या है ? (यत् विहव्येन ईजिरे) जो विशेष यजन द्वारा होता है ॥ ४ ॥

(मुग्धाः देवाः) मूढ याजक (उत शुना अयजन्त) कुत्तेसे यजन करते हैं (उत गोः अंगैः पुरुधा अयजन्त) गौके अवयवोंसे बहुत प्रकार यजन करते हैं । (यः इमं यज्ञं मनसा चिकेत) जो इस यज्ञको मनसे करना जानता है, वह (इह नः प्रवोचः) यहां हमें उसका ज्ञान देवे और (इह तं ब्रवः) यहां उसका उपदेश करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह मानसोपासनारूपी यज्ञ पहिले प्रकट हुआ, यह सर्वत्र फैला, उसको सबने जाना और वह फिर बहुत विस्तृत हो गया । वह संपूर्ण उपासकोंका मानों, स्वामी बन गया । यह यज्ञ हमें धन समर्पण करे ॥ २ ॥

याजकोंने जब अमर देवोंकी उपासना अपने अमर्त्य शक्तिसे युक्त मनके द्वारा की, तब सबको आनंद प्राप्त हुआ और जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे प्रकाश प्राप्त होता है उसी प्रकार यज्ञसे सबको आनंद मिलता है ॥ ३ ॥

याजक जो यज्ञ अपनी आत्मारूपी हविसे किया करते हैं, उससे अधिक श्रेष्ठ यज्ञ भला और कौनसा हो सकता है ? जो कि विविध हविर्द्रव्योंके हवनसे प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

वे याजक मूढ हैं कि जो कुत्ते, गौ आदि पशुओंके अंगोंसे हवन करते हैं । जो याजक इस मानसिक यज्ञको मनसे करना जानता है वह ज्ञानीही यज्ञका उपदेश करे और यज्ञके महत्त्वका कथन करे ॥ ५ ॥

आत्मयश

मानस और आत्मिक यज्ञ ।

यज्ञ बहुत प्रकारके हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ मानस यज्ञ अथवा आत्मिक यज्ञ है । मनका समर्पण करनेसे मानस यज्ञ होता है । और आत्माका समर्पण करनेसे आत्मयज्ञ हुआ करता है । दोनोंका करीब करीब भाव एक ही है । यह समर्पण परमेश्वरके लिये करना होता है । परमेश्वरके कार्य इस जगत्में जो होते हैं, उनमेंसे—

(१) सज्जनोंकी रक्षा

*

(२) दुष्ट जनोंको दूर करना और
(३) धर्मकी व्यवस्था

ये तीन कार्य परमात्माके लिये मनुष्य कर सकता है। परमात्माके अनंत कार्य हैं, परंतु मनुष्य उन सब कार्योंको कर नहीं सकता। ये तीन कार्य अपनी शक्तिके अनुसार कर सकता है। इसलिये जब मनुष्य अपने आपको इन तीन कार्योंके लिये समर्पित करता है, तब उसका समर्पण परमेश्वरके लिये हुआ हुआ माना जाता है। मनसे और अपनी आत्माकी शक्तियोंसे उक्त त्रिविध कार्य करनेका नाम ही अपने मनका और आत्माका परमेश्वरार्पण करना है।

प्रत्येक यज्ञमें भी तीन कार्य करने होते हैं।

(१) (पूजा) श्रेष्ठोंका सत्कार,

(२) अपने अंदर (संगतिकरण) संगतिकरण किंवा संघटन

(३) और (दान) दुर्बलोंकी सहायता।

प्रत्येक यज्ञमें ये तीन कार्य होने ही चाहिये। इनके बिना यज्ञ सुफल और सफल नहीं होगा। मनका और आत्माका समर्पण करके जो यज्ञ करना है, वह भी इन तीन कर्मोंके साथ ही करना है। इनके बिना यज्ञ ही नहीं होगा। अर्थात्—

(१) सज्जनोंकी रक्षा करके उनका सत्कार करना, (२) दुर्जनोंको दण्ड देकर दूर करना और पुनः दुर्जन कष्ट न देवें इसलिये अपनी उत्तम संघटना करना और (३) धर्मकी व्यवस्था करके जो दुर्बल हों उनकी योग्य सहायता करना, यह त्रिविध यज्ञकर्म है।

यह त्रिविध कर्म अपने मनःसमर्पण और आत्मसमर्पण द्वारा करने चाहिये। जिस कार्यमें मन और आत्मा दोनों लग जाते हैं वही कार्य ठीक होता है। अपने हस्तपादादि अवयव और इंद्रिय मनके बिना कार्य नहीं कर सकते, मन और आत्माके समर्पण करनेका उपदेश करनेसे अपनी शक्तियोंका समर्पण ही मानना चाहिये। इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

अमर्त्येन मनसा हविषा देवान् यजन्त। (मं. ३)

'अमर मनरूपी हविसे देवोंका यजन करते हैं।' घीका हवन करनेका अर्थ घी उस देवताके लिये समर्पित करना और उसका स्वयं उपभोग न करना है। '**इन्द्राय इदं हविः दत्तं न मम।**' इन्द्र देवताके लिये यह घृतादि हवि समर्पित की है इस पर अब मेरा अधिकार नहीं है और न मैं इसका अपने सुखके लिये उपयोग करूंगा।' इसी प्रकार अपने मन और आत्माके समर्पण करनेका तात्पर्य ही यज्ञ है। अपना मन और आत्मा परमेश्वरके लिये एक बार दे देने पर उससे फिर खुदगर्जीके कार्य नहीं किये जा सकते। जो पूर्वोक्त ईश्वरके कार्य हैं, वेही किये जायगे। जिस प्रकार घृतादि पदार्थ यज्ञमें दिये जाते हैं, उसी प्रकार इस मानसयज्ञमें मनका समर्पण किया जाता है और आत्मयज्ञमें आत्मसर्वस्वका समर्पण किया जाता है। अन्य घृतादि बाह्य पदार्थोंका समर्पण करनेके द्वारा जो यज्ञ किया जाता है, उससे कई गुना श्रेष्ठ वह यज्ञ होगा कि, जो आत्मसमर्पण और मानस समर्पणसे होगा। इसीलिये कहा है कि—

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। (मं. १)

'ये मानस यज्ञरूप कर्म प्रथम श्रेणीके हैं।' अर्थात् ये सबसे श्रेष्ठ कर्तव्य हैं। एक मनुष्य घृत, समिधा आदिके हवनसे यज्ञ करता है और दूसरा आत्मसमर्पणसे यज्ञ करता है, इन दोनोंमें आत्मसमर्पण करनेवाला ही श्रेष्ठ है। इसका वर्णन इस सूक्तमें इन शब्दोंसे हुआ है—

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे॥ (मं. ४)

'याजक लोग जो यज्ञ (अपने अंदरके प्रकृति पुरुषोंमेंसे) पुरुष अर्थात् आत्माके समर्पण द्वारा किया करते हैं, उससे कौनसा दूसरा यज्ञ श्रेष्ठ है, जो दूसरे यज्ञ (आत्मासे भिन्न) प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे किये जाते हैं? वे तो उससे निःसन्देह गौण हैं। मनुष्यके पास प्रकृति और पुरुष, जड और चेतन, देह और आत्मा ये दोही पदार्थ हैं, इनमें पुरुष अथवा चेतन आत्मा श्रेष्ठ और प्रकृति गौण है। अन्य यज्ञ प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे होते हैं इसलिये वे गौण हैं, और यह मानसिक अथवा आत्मिक यज्ञ आत्मसमर्पण द्वारा होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ यज्ञ तो ज्ञानी याजक ही कर सकते हैं, साधारण हीन अवस्थामें रहनेवाले मूढ मनुष्य जो करते हैं, वह तो एक निन्दनीय ही कर्म होता है—

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ (मं. ५)

'मूढ याजक कुत्तेके अंगोंसे और गौवोंके अवयवोंसे यजन करते हैं।' मूढ लोगोंके इस कृत्यको मूढताका ही कृत्य कहा जाता है। इसको कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं कह सकता। 'जो श्रेष्ठ याजक इस आत्मयज्ञको मनसे करनेकी विधि जानते हैं, वेही

यहां आकर उस यज्ञका उपदेश करें।' पूर्वोक्त मांसयज्ञकी अपेक्षा यह मानस यज्ञ बहुत श्रेष्ठ है। जो मानसयज्ञ करना जानते हैं वेही उपदेश करनेके अधिकारी हैं। इस मानस-यज्ञकी महिमा देखिये—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि
धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ (मं. १)

'इस आत्मयज्ञसे याजक परमात्माकी पूजा करते हैं। आत्मयज्ञ द्वारा परमात्मपूजा करना श्रेष्ठ कार्य है। ये याजक श्रेष्ठ होकर उस स्वर्गधाममें पहुंचते हैं कि, जहां पहिले साधन करनेवाले पहुंच चुके हैं।' इस प्रकार इस आत्मयज्ञकी महिमा है। किसी दूसरे गौण यज्ञसे यह श्रेष्ठ फल प्राप्त नहीं हो सकता। यह आत्मयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ है—

यज्ञो बभूव, स आबभूव,
स प्रजज्ञे, स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव,
सोऽस्मासु द्रविणमादधातु॥ (मं. २)

'यह आत्मयज्ञ प्रकट हुआ, यह आत्मयज्ञ सर्वत्र फैल गया, उसके महत्त्वको सबने जान लिया, इस कारण वह बढ गया, यहांतक बढ गया कि वह देवोंका भी अधिपति बन गया, उससे हमें महत्त्व प्राप्त होवे।'

यह सबसे श्रेष्ठ आत्मयज्ञ ही हमारा महत्त्व बढानेमें समर्थ है। इसकी तुलना किसी दूसरे गौण यज्ञसे नहीं हो सकती। इस यज्ञमें (मनसा हविषा यजन्त। (मं० ३) मनरूप हविका समर्पण करना होता है। और इस यज्ञके करनेसे मनुष्य—

तत्र परमे व्योमन् मदेम। (मं० ३)

'उस परम आकाशमें आनन्दको प्राप्त होंगे' यह इस यज्ञके करनेका फल है। इसमें 'परम' शब्द विशेष मनन करने योग्य है। 'पर, परतर, परतम,' ये शब्द एकसे एक श्रेष्ठत्वके दर्शक हैं, इनमेंसे 'परतम' शब्दका ही संक्षिप्त रूप 'पर-म' है, बीचके 'त' कारका लोप हो गया है। अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ होता है वह 'परतम किंवा परम' है। इस अवस्थाके पूर्वकी दो अवस्थाएँ पर और परतर इन दो शब्दों द्वारा बतायी जाती हैं। अर्थात् व्योम तीन प्रकारके हैं (१) एक पर व्योम, (२) दूसरा परतर व्योम और (३) तीसरा परतम किंवा परम व्योम। आधुनिक परिभाषामें यदि यही भाव बोलना हो तो 'सूक्ष्म, कारण और महाकारण' अवस्था इन तीन शब्दोंसे 'पर, परतर और परतम व्योम' इनका भाव व्यक्त होता है 'व्योमन्' शब्द भी विशेष महत्त्वका है। इसमें 'वि+ओम्+अन्' ये तीन शब्द हैं, इनका क्रमपूर्वक अर्थ 'प्रकृति+परमात्मा और जीवात्मा' है। सूक्ष्म, कारण और महाकारण अवस्थाओंमें प्रकृति, जीव और परमात्माका जो अनुभव होता है वह इन तीन शब्दोंसे व्यक्त होता है। इन तीन अनुभवोंमें सबसे श्रेष्ठ अनुभव 'परम व्योम' शब्दसे व्यक्त होता है। और यह इस सूक्तमें कहे गए आत्मयज्ञके करनेसे प्राप्त होता है। अन्य गौण यज्ञोंके करनेसे जो अनुभव मिलेंगे वे इससे न्यून श्रेणीके अर्थात् गौण होंगे क्योंकि, वे अन्य यज्ञ भी इस आत्मयज्ञसे गौण ही हैं। गौणका फल गौण और श्रेष्ठ कर्मका फल श्रेष्ठ होना स्वाभाविक ही है। इस आत्मयज्ञके करनेसे जो परम व्योममें उच्चतम अवस्था प्राप्त होकर फल अनुभवमें आता है। वह कैसा अनुभव होता है इस विषयमें एक दृष्टांत देते हैं—

सूर्यस्य उदितौ तत् पश्येम। (मं. ३)

'सूर्यका उदय होनेपर जैसे उसका प्रकाश दिखाई देता है, उसी प्रकार हम उस आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव लेंगे।' अर्थात् जैसा सूर्यप्रकाश भूमिपर रहनेवालोंको दिनमें प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार इस तृतीय व्योममें संचार करनेवाली श्रेष्ठ आत्माओंको वहांका सुख प्रत्यक्ष होता है। जैसे यहांका यह सूर्य प्रत्यक्ष है उसी प्रकार वहां भी एक इस सूर्यका सूर्य है जो वहीं प्रत्यक्ष होगा।

इस प्रकार आत्मयज्ञका फल इस सूक्तमें कहा है। इस सूक्तमें (पुरुषेण हविषा। मं. ४) पुरुष अर्थात् आत्मारूपी हविसे यज्ञ तथा (मनसा हविषा। मं. ३) मनरूपी हविसे यज्ञ करनेका विधान है। जिस प्रकार 'सोम' का हवन होनेसे 'सोमयाग' कहा जाता है, अज संज्ञक बीजोंका हवन होनेसे 'अजमेध' कहा जाता है, उसी प्रकार 'पुरुष' अर्थात् आत्माका समर्पण होनेसे 'पुरुषयज्ञ, आत्मयज्ञ' तथा 'मन' का हवन होनेसे 'मानसयज्ञ' कहा जाता है। उसी प्रकार भगवद्गीता (भ. गी. अ. ४) में 'द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, इंद्रिययज्ञ, विषययज्ञ. कर्मयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणयज्ञ' इत्यादि यज्ञ कहे हैं। जिस यज्ञमें जिसका समर्पण होता वह नाम उस यज्ञका होता है।

'पुरुष' रूपी हविका समर्पण होनेसे इस सूक्तमें वर्णित यज्ञको 'पुरुषयज्ञ' कहते हैं। यहां प्रकृतिपुरुषान्तर्गत पुरुष शब्द यहां विवक्षित है और वह आत्माका वाचक है। इस सूक्तमें 'पुरुषयज्ञ अथवा पुरुषमेध' का अर्थ स्पष्ट हुआ है।

पुरुषमेध ।

पुरुषमेध प्रकरण पुरुषसूक्तमें है। यह पुरुषसूक्त ऋग्वेद (मं. १०।९०) में है, वा. यजुर्वेद (अ. ३०) में है। सामवेदमें थोडा है और अथर्ववेद (कां. १९।६) में है।

इस पुरुषसूक्तमें जिस पुरुषमेध यज्ञका वर्णन है, वही यज्ञ इस सूक्तमें कहा है। इसलिये इस सूक्तका विचार ठीक प्रकार होनेसे 'पुरुषसूक्त' के यज्ञका स्वरूप उत्तम प्रकार ध्यानमें आ सकता है। दोनों सूक्तोंमें एक ही विषयका वर्णन हुआ है। तथा इस सूक्तमें आये हुए 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त०' तथा 'यत्पुरुषेण हविषा०' ये मंत्र भी पुरुष सूक्तमें आये हैं। इससे दोनों सूक्तोंका विषय एक ही है, यह बात सिद्ध है। पुरुषसूक्तमें कई लोग मनुष्यके हवनका विषय है ऐसा मानते हैं, वह अत्यंत अयुक्त है, यह बात इस सूक्तके साथ पुरुषसूक्तका मनन करनेसे स्पष्ट होगी। हमारे मतसे पुरुषसूक्तमें भी इसी आत्मयज्ञका ही विषय है।

मातृभूमिका यश

[६ (७)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अदितिः ।)

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

म॒हीमू॒ षु मा॒तरं॑ सुव्र॒ताना॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हवामहे ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥ २ ॥

अर्थ— (अदितिः द्यौः) मातृभूमि स्वर्ग है, (अदितिः अन्तरिक्षं) मातृभूमि अन्तरिक्ष है, (अदितिः माता) मातृभूमि ही माता है, (सः पिता सः पुत्रः) वही पिता है और वही पुत्र है। (अदितिः विश्वेदेवाः) मातृभूमि ही सब देव है, (अदितिः पञ्च जनाः) मातृभूमि ही पांच प्रकारके लोग है, (अदितिः जातं) मातृभूमि ही उत्पन्न हुए पदार्थ है और (अदितिः जनित्वं) उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी मातृभूमि ही हैं ॥ १ ॥

(सुव्रतानां मातरं) उत्तम कर्म करनेवालोंका हित करनेवाली, (ऋतस्य पत्नीं) सत्यका पालन करनेवाली, (तुवि-क्षत्रां) बहुत प्रकारसे क्षात्रतेज दिखानेवाली, (अ-जरन्तीं) क्षीण न करनेवाली, (उरूचीं) विशाल, (सु-शर्माणं) उत्तम सुख देनेवाली, (सु-प्र-नीतिं) सुखसे योगक्षेम चलानेवाली और (अदितिं महीं) अन्न देनेवाली बडी मातृभूमिकी (अवसे सुहवामहे उ) रक्षाके लिये हम प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— मातृभूमि ही हमारा स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष है, वही माता, पिता और पुत्रपौत्र है, वही हमारे सब देवता है और वही हमारी जनता है, बना हुआ और बननेवाला सब कुछ पदार्थ हमारे लिये मातृभूमि ही है ॥ १ ॥

मातृभूमि उत्तम पुरुषार्थी मनुष्योंकी रक्षा करती है, सत्यकी रक्षक वही है, उसी मातृभूमिके लिये अनेक प्रकारके क्षात्रतेज प्रकाशित होते हैं, मातृभूमि क्षीण न करनेवाली है, विशाल सुख देनेवाली है, हमें उत्तम मार्गपर चलानेवाली और हमें अन्न देनेवाली है, उससे हमारी रक्षा होती है, इसलिये हम उसका यश गाते हैं ॥ २ ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ ३ ॥
वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥ ४ ॥

अर्थ—(सुत्रामाणं) उत्तम रक्षा करनेवाली, (द्यां अनेहसं) प्रकाशयुक्त और अहिंसक, (सुशर्माणं सुप्रणीतिं) उत्तम सुख देनेवाली और उत्तम योगक्षेम चलानेवाली (सुअरित्रां अस्रवन्तीं दैवीं नावं) उत्तम बल्लियोंवाली, न चूनेवाली दिव्य नौका पर चढनेके समान (पृथिवीं) मातृभूमि पर (अनागसः स्वस्तये आरुहेम) पापरहित हम कल्याणके लिये चढते हैं ॥ ३ ॥

(वाजस्य प्रसवे) अन्नकी उत्पत्ति करनेके लिये (अदितिं मातरं महीं) अन्न देनेवाली बडी मातृभूमिका (नाम वचसा करामहे) वक्तृत्वसे यश गाते हैं। (यस्याः उपस्थे उरु अन्तरिक्षं) जिसकी गोदमें विशाल अन्तरिक्ष है, (सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात्) वह मातृभूमि हम सबको त्रिगुणित सुख देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— उत्तम बल्लियोंवाली, न चूनेवाली नौकाके ऊपर चढनेके समान हम उत्तम रक्षक, तेजस्वी, अविनाशक, सुखदायक, उत्तम चालक मातृभूमिके ऊपर हम अपने कल्याणके लिये उन्नत होते हैं ॥ ३ ॥

अन्नकी उत्पत्ति करनेके लिये अन्न देनेवाली मातृभूमिके यशका हम गायन करते हैं। जिसके ऊपर यह बडा अन्तरिक्ष है, वह मातृभूमि हमें उत्तम सुख देवे ॥ ४ ॥

मातृभूमिका यश

मातृभूमिका यश

इस सूक्तमें मातृभूमिके यशका वर्णन किया है। मातृभूमि सचमुच उत्तम कल्याण करनेवाली है, इसका वर्णन देखिये—

१ अदितिः—(अदनात् अदितिः) अदन अर्थात् भक्षण करनेके लिए अन्न देती है। अपनी मातृभूमि हमें अन्न देती है, इसीलिये हमारा (द्यौः) स्वर्गधाम वही है। हमारी माता पिता भी वही है, क्योंकि माता पिताके समान मातृभूमि हमारा पालन करती है। पुत्रादि भी वही है, क्योंकि (पुनाति त्रायते) हमें पवित्र करनेवाली और हमारी रक्षा करनेवाली भी वही है। इसके अतिरिक्त वह हमें पुष्ट करती है और उस कारण हमारी संतति उत्पन्न होती है, इसलिये वह सन्तान उसीकी दयासे होती है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है। हमारे त्रिलोकीके सुख मातृभूमिके कारण ही हमें प्राप्त होते हैं। (मं० १)

२ विश्वेदेवा आदितिः— सब देवता हमारे लिये हमारी मातृभूमि है। अर्थात् मातृभूमिकी उपासनासे सब देवताओंकी उपासना करनेका श्रेय प्राप्त होता है। (मं. १)

३ पञ्चजनाः अदितिः— हमारी मातृभूमि ही पांच प्रकारके लोग हैं। ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और अशिक्षित ये पांच प्रकारके लोग प्रत्येक राष्ट्में रहते हैं। मातृभूमि इन्हींसे पूर्ण होती है, इसलिये कहा जाता है कि, मातृभूमि ये पांच प्रकारके लोग हैं और ये पांच प्रकारके लोग ही मातृभूमि है। अर्थात् मातृभूमिका अर्थ इन पांच प्रकारके लोगोंके साथ अपनी भूमि है। (मं. १)

४ जातं जनित्वं अदितिः— पूर्वकालमें बना हुआ और भविष्यमें बननेवाला सब मातृभूमिमें ही रहता है। पूर्वकालमें हमने बर्ताव कैसे किया यह भी मातृभूमिकी आजकी व्यवस्थासे पता लग सकता है और मातृभूमिकी अवस्था भविष्यकालमें कैसी होगी, यह भी आजके हमारे व्यवहारसे समझमें आसकता है। (मं. १)

५ सुव्रतानां माता— उत्तम सत्कर्म करनेवाले मनुष्योंका यह मातृभूमि माताके समान हित करनेवाली है। (मं. २)

६ ऋतस्य पत्नी— सत्यव्रतका पालन करनेवाली अर्थात् सत्यनिष्ठ रहनेवालोंका पालन करनेवाली मातृभूमि है। (मं. २)

७ तुविक्षत्रा— जिसके कारण विविध शौर्य करनेके लिये उत्साह उत्पन्न होता है, ऐसी यह मातृभूमि है। (मं. २)

८ अजरन्ती— जो इसकी भक्ति करते हैं उनको यह क्षीण, दीन और अशक्त नहीं बनाती। (मं० २)

९ सुशर्मा— उत्तम सुख देनेवाली मातृभूमि है। (मं० २-३)

१० सुप्रणीतिः— (सु-प्र-नीतिः) उत्तम मार्गसे चलानेवाली, उत्तम अवस्थाको पहुंचानेवाली मातृभूमि है। (मं० २-३) नीति शब्द यहां चलानेके अर्थमें है।

११ अनेहस्—(अहननीया) जो घात करनेके अयोग्य अथवा जो स्वयं भी दूसरोंका घात नहीं करती है, ऐसी यह मातृभूमि है। (मं० ३)

१२ स्वस्तये आरुहेम— अपने कल्याणके लिये हम अपनी मातृभूमिमें रहते हैं। मातृभूमिमें हम यदि न रहें तो हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता। जो अपनी मातृभूमिमें रहते है उन्हींका कल्याण होता है। (मं० ३)

१३ स्वरित्रा अस्रवन्ती दैवी नौः— जिस प्रकार उत्तम बल्लियोंवाली, न चूनेवाली दिव्य नौका समुद्रसे पार करनेमें सहायक होती है, उसी प्रकार यह मातृभूमि हमें दुःखसागरसे पार करानेके लिये दिव्य नौकाके समान है। (मं० ३)

१४ वाजस्य प्रसवे मातरं महीं वचसा नाम करामहे— अन्नकी विशेष उत्पत्ति करनेके कार्यमें हम सब मातृभूमिके यशका वाणीसे गान करते हैं। मातृभूमि हमें बहुत अन्न देती है, इस कारण उसकी हम बहुत प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार मातृभूमिका गीत गाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। (मं० ४)

१५ सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात्— वह मातृभूमि हमें तीन गुना सुख देती है। अर्थात् स्थूल शरीरका, इन्द्रियोंका और मनका सुख इस प्रकार यह त्रिविध सुख देती है। (मं० ४)

इस सूक्तमें मातृभूमिका गुणवर्णन किया है। यह प्रत्येक मनुष्यको ध्यानमें धारण करने योग्य है। मनुष्यके लिये मातापिता मातृभूमि ही है। इसीलिये जन्मभूमिको 'मातृभूमि' तथा 'पितृदेश' भी कहते हैं। इस प्रकार पुत्रभूमि भी यही है। उत्तम पुरुषार्थी लोगोंके लिये यही स्वर्गधाम होता है अर्थात् पुरुषार्थ न करनेवालोंके लिये यह नरक हो जाता है। इसका कारण मनुष्योंका गुण या दोष ही है। मातृभूमिकी उचित रीतिसे भक्ति करें और उन्नतिको प्राप्त करें।

अदिति शब्द।

'अदिति' शब्द वेदमें कई स्थानोंमें विलक्षण अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। एक अदिति शब्द 'अद्=भक्षण करना' इस धातुसे बनता है। इसका अर्थ 'अन्न देनेवाली' ऐसा होता है। यह शब्द इस सूक्तमें है। 'गौ' अदिति है क्योंकि वह दूध देती है, भूमि अदिति है क्योंकि वह अन्न, धान्य, वनस्पति आदि देती है, द्यौ अदिति है क्योंकि द्युलोकसे जल वर्षता है और उससे अन्नपान मनुष्योंको मिलता है। इस प्रकार अन्न देनेवालेके अर्थमें यह अदिति शब्द है। परन्तु उसका दूसरा भी अर्थ है अथवा मानो वह अदिति शब्द दूसरा ही है। वह (अ+दिति) जो दिति अर्थात् खण्डित अथवा प्रतिबंधयुक्त नहीं वह अदिति 'स्वतन्त्रता' है। ये दो शब्द परस्पर भिन्न हैं। इनमें पहिला शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त है।

मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर

[७ (८)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अदितिः ।)

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमवं देवानां बृहतामनर्मणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

अर्थ— (दितेः) प्रतिबंधताके (तेषां पुत्राणां) निर्माता उन पुत्रोंका (धाम समुद्रियं गभिषक् हि) निवास समुद्रके गंभीर स्थानमें है । वहांसे उनको (अदितेः बृहतां अनर्मणां देवानां) स्वाधीनतासे युक्त मातृभूमिके बडे अहिंसाशील दैवी गुणोंसे युक्त सुपूतोंके लिये (अव अकारिषं) हटाता हूं । क्योंकि (एनान् मनसा परः) इनके मनसे अधिक योग्य (कश्चन न अस्ति) कोई भी नहीं है ॥ १ ॥

भावार्थ— पराधीनता फैलानेवाले राक्षस अथवा असुर समुद्रके मध्यमें बहुत गहरे स्थानमें रहते हैं । वहांसे उनको हटाता हूं और मातृभूमिकी स्वाधीनता संपादन करनेवाले श्रेष्ठ दैवी गुणोंसे युक्त अहिंसाशील सज्जनोंके लिए योग्य स्थान बनाता हूं । क्योंकि इन सज्जनोंसे कोई दूसरा अधिक योग्य नहीं है ॥ १ ॥

मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर

दिति और अदिति

दिति और अदिति शब्दोंके अर्थ विशेष रीतिसे यहां देखने चाहिये । कोशोंमें इन शब्दोंके अर्थ निम्नलिखित प्रकार मिलते हैं—

(१) अदिति— स्वतन्त्रता, स्वातंत्र्य, मर्यादा न रहना, अमर्याद, अखण्डित, सुखी, पवित्र, पूर्णत्व, वाणी, पृथ्वी, गौ, देवमाता इत्यादि अर्थ अदितिके हैं ।

(२) दिति— खण्डित, पराधीनता, मर्यादित, दुःखी, अपवित्र, अपूर्णत्व, राक्षसमाता ये अर्थ दितिके हैं ।

अदितिकी प्रजा 'देवता' है और दितिकी प्रजा 'राक्षस' है । यह सब महाभारतादि ग्रंथोंमें वर्णित हुआ हुआ विषय है । इस सूक्तमें (दितेः पुत्राणां) दितिके पुत्रोंका स्थान अर्थात् राक्षसोंका स्थान नष्ट करके देवोंको सुख देता हूं, ऐसा परमेश्वर द्वारा कहा गया है । दितिके पुत्रोंका स्थान समुद्रमें गहरे स्थानमें है, यह एक उस स्थानके प्रवेश योग्य न होनेका संकेत है । वस्तुतः राक्षस जैसे समुद्रमें रहते हैं वैसे भूमिपर भी रहते हैं । गीतामें राक्षसोंके गुणोंका वर्णन इस प्रकार है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥
(भ. गी. १६।४)

'दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये राक्षसी गुण हैं। अर्थात् जो दंभी, घमण्डी, अभिमानी, क्रोधी, कठोर और अज्ञानी अर्थात् बन्धमुक्त होनेका ज्ञान जिनको नहीं है, ऐसे लोग राक्षस होते हैं । ये ऐसे हैं इसी लिये इनके व्यवहारसे पारतन्त्र्य दुःख आदि फैलते हैं और जो इनकी सङ्गतमें आते हैं, वे भी पराधीन बनते हैं । इसी लिये मन्त्रमें कहा है कि, ऐसे दुष्टोंको मैं उखाड देता हूं और देवोंका स्थान सुदृढ करता हूं ।

अदितिके पुत्र देव हैं। परमेश्वर इनकी सहायता करता है । राक्षसोंको दूर करना भी इसीलिये है कि, वहां देव सुदृढ बनें । दैवी गुण ये हैं—

'निर्भयता, पवित्रता, बन्धमुक्त होनेका ज्ञान, दान, इंद्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, भूतोंपर दया, अलोभ, मृदुता, बुरा कर्म करनेके लिये लज्जा, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, अद्रोह, घमण्ड न करना इत्यादि गुण देवोंके हैं । (भ. गी १६।१-३) ये गुण जिनमें हैं वे देव हैं । देव ही स्वतन्त्रता-स्थापन करनेका कार्य करते हैं ।

परमेश्वर राक्षसवृत्तिवाले लोगोंका अन्तमें नाश करता है इसका कारण यही है कि, वे जगत्में पराधीनता और दुःख बढाते हैं । और वह दैवीवृत्तिवालोंकी सहायता इसीलिये करता है कि, वे देव जगत्में स्वातन्त्र्य वृत्ति फैलाते हैं और सबको सुखी करनेमें दत्तचित्त रहते हैं । इसलिये मन्त्रमें कहा है कि (एनान् परः कश्चन नास्ति) इन देवोंसे श्रेष्ठ कोई नहीं है । इसीलिये ईश्वरकी सहायता इनको मिलती है ।

कल्याण प्राप्त कर

[८ (९)]

(ऋषिः- उपरिबभ्रवः । देवता- बृहस्पतिः ।)

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥ १ ॥

अर्थ— (भद्रात् अधि) सुखसे परे (श्रेयः प्रेहि) परम कल्याणको प्राप्त हो । (बृहस्पतिः ते पुरएता अस्तु) ज्ञानी तेरा मार्गदर्शक होवे । (अथ) और (अस्याः पृथिव्याः वरे) इस पृथ्वीके श्रेष्ठ स्थानमें (इमं सर्ववीरं) इस सब वीर समुदायको (आरे-शत्रुं कृणुहि) शत्रुसे दूर कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य ! तू सुख प्राप्त कर, परंतु सुखकी अपेक्षा जिससे तेरा परम कल्याण हो, उस मार्गका अवलम्बन कर और वह परम कल्याणकी अवस्था प्राप्त कर । इस पृथ्वीके ऊपर जो जो श्रेष्ठ राष्ट्र हैं, उनमें सब प्रकारके वीर पुरुष उत्पन्न हों, उनके शत्रु दूर हो जायें । अर्थात् सब राष्ट्रोंमें उत्तम शान्ति स्थापित होवे ॥ १ ॥

यहां ' भद्र ' शब्द साधारण सुखके लिये प्रयुक्त हुआ है । यह शब्द यहां अभ्युदयका वाचक है । जगत्में भौतिक साधनोंसे जो सुख मिलता है वह साधारण सुख है । आहार, निद्रा, निर्भयता और मैथुन संबंधी जो सुख है वह साधारण है । इससे जो श्रेष्ठसुख है उसको ' श्रेयः ' कहते हैं । मनुष्यको यह परम कल्याण प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये; इसके लिये ज्ञानी (बृहस्पति) पुरुषको गुरु मानकर उसकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये । ज्ञान भी वही है कि जो (मोक्षे धीः) बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये साधक हो । ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । इसका उद्देश्य यह है कि इस पृथ्वीपर जो जो राष्ट्र हैं, वे श्रेष्ठ राष्ट्र बनें, और सब स्त्रीपुरुष तेजस्वी वीरवृत्तिवाले निर्भय बनें और किसी स्थानपर उनके लिये शत्रु न रहें । मनुष्यको चाहिए कि वह ऐसी अवस्था जगत्में स्थिर करे ।

ईश्वरकी भक्ति

[९ (१०)]

(ऋषिः- उपरिबभ्रवः । देवता- पूषा ।)

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥

अर्थ— (पूषा) पोषक ईश्वर (दिवः प्रपथे) द्युलोकके मार्गमें (पथां प्रपथे) अन्तरिक्षके विविध मार्गोंमें और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथ्वीके ऊपरके मार्गमें (अजनिष्ट) प्रकट होता है । (उभे प्रियतमे सधस्थे अभि) दोनों अत्यन्त प्रिय स्थानोंमें (प्रजानन् आ च परा च चरति) सबको ठीक ठीक जानता हुआ समीप और दूर विचरता है ॥ १ ॥

भावार्थ— परमेश्वर इस त्रिलोकीके संपूर्ण स्थानोंमें उपस्थित है । वह सब सुखदायक स्थानोंको अथवा अवस्थाओंको जानता है और वह हम सबके पास भी है और दूर भी है ॥ १ ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥
पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन । स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥
परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् । पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

अर्थ— (पूषा सर्वाः इमाः आशाः अनुवेद) पोषणकर्ता देव सब इन दिशाओंको यथावत् जानता है । (सः अस्मान् अभयतमेन नेषत्) वह हम सबको उत्तम निर्भयताके मार्गसे लेजाता है। वह (स्वस्ति-दा आघृणिः) कल्याण करनेवाला, तेजस्वी, (सर्ववीरः) सब प्रकारसे वीर, (प्रजानन्) सबको यथावत् जानता हुआ और (अप्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करनेवाला (पुरः एतु) हमारा अगुवा होवे ॥ २ ॥

हे (पूषन्) पोषक देव ! (वयं तव व्रते कदाचन न रिष्येम) हम तेरे व्रतमें रहनेसे कभी नष्ट नहीं हों। (इह ते स्तोतारः स्मसि) यहां तेरे गुणोंका गान करते हुए हम रहें ॥ ३ ॥

(पूषा परस्तात् दक्षिणं हस्तं परि दधातु) पोषकदेव अपना दायां हाथ हमें देवे । (नः नष्टं पुनः नः आजतु) हमारा विनष्ट हुआ पदार्थ पुनः हमें प्राप्त होवे । (नष्टेन सं गमेमहि) हम विनष्ट हुवे पदार्थको पुनः प्राप्त करें ॥ ४ ॥

भावार्थ--- यह सबका पोषण करता है और सबको यथावत् जानता है । वही हमको निर्भयताके मार्गसे ठीक प्रकार और सुरक्षित ले जाता है। वह हम सबका कल्याण करनेवाला, सबको तेज देनेवाला, सबमें वीरवृत्ति उत्पन्न करनेवाला, सबकी उन्नतिका मार्ग जाननेवाला, और कभी प्रमाद न करनेवाला है, वही हम सबका मार्गदर्शक होवे, अर्थात् हम सब उसको अपना मार्गदर्शक मानें ॥ २ ॥

इस ईश्वरके व्रतानुष्ठानमें यदि हम रहेंगे तो हम कभी विनाशको प्राप्त नहीं होंगे, इसलिये हम उसी ईश्वरके गुणगान करते हैं ॥ ३ ॥

वह पोषक ईश्वर अपना उत्तम सहारा हमें देवे । हमारे साधनोंमें जो विनष्ट हुआ हो, वह योग्य समयमें हमें पुनः प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

भक्तका विश्वास

भक्तका ऐसा विश्वास होना चाहिये कि, परमेश्वर (पूषा) सबका पोषणकर्ता है । सबकी पुष्टि उसीकी पोषकशक्तिसे हो रही है। वह ईश्वर सर्वत्र उपस्थित है यह दूसरा विश्वास होना चाहिये कि, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं है। तीसरा विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, वह हमारे सब बुरे भले कर्मोंको यथावत् जानता है और वह जैसे हमारे पास है वैसे ही दूर भी है। चौथा विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, वह ईश्वर ही हमें निर्भयता देकर उत्तमसे उत्तम मार्गसे ले जाता है और कभी बुरे मार्गको नहीं बताता । वह सबका कल्याण करता है और सबको प्रकाशित करता है। कभी प्रमाद नहीं करता और सबको उत्तम प्रकार चलता है।

पांचवां विश्वास ऐसा रखना चाहिये कि, उसके व्रतानुसार चलनेसे किसीका कभी नाश नहीं होगा। छठा विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, वह हमें उत्तम प्रकार सहारा देता रहता है, हमको ही उसके सहारेकी अपेक्षा करनी चाहिये। सातवां विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, यदि किसी कारण हमारा कुछ नाश हो तो उसकी सहायतासे वह सब ठीक हो सकता है। ये विश्वास रखकर सब मनुष्योंको चाहिए कि, वे ईश्वरके गुणगान करें और उन गुणोंकी धारणा अपने अंदर करके अपनी उन्नति करें ।

सरस्वती

[१० (११)]

(ऋषिः- शौनकः । देवता- सरस्वती ।)

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः॑ सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑ ।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सरस्वति) सरस्वति ! (यः ते शशयुः स्तनः) जो तेरा शान्ति देनेवाला स्तन है और (यः मयोभूः यः सुम्नयुः) जो सुख देनेवाला, जो शुभ मनको देनेवाला, (यः सुहवः सुदत्रः) जो प्रार्थनीय और जो उत्तम पुष्टि देनेवाला है, (येन विश्वा वार्याणि पुष्यसि) जिससे तू सब वरणीय पदार्थोंकी पुष्टि करती है, (तं इह धातवे कः) उसको यहां हमारी पुष्टिके लिये हमारी ओर कर ॥ १ ॥

भावार्थ— सरस्वती देवी जगत्को सारवान् रस देती है, उसके स्तनसें पोषक दुग्ध है, वह सुख, शान्ति, सुमनस्कता, पुष्टि आदि देता है । इससे सबका ही पोषण होता है । हे देवी ! वह तुम्हारा पोषक गुण हमारी ओर कर, जिससे उत्तम रस पीकर हम सब पुष्ट हो जायें ॥ २ ॥

सरस्वती विद्या है । विद्याही सबका पोषण करती है, सबको शान्ति, सुख, सुमनस्कता और पुष्टि देती है । विद्यासेही इहलोकमें और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होती है । इसलिये यह विद्या हरएकको अवश्य प्राप्त करनी चाहिये ।

मेघोंमें सरस्वती

[११ (१२)]

(ऋषिः- शौनकः । देवता- सरस्वती ।)

यस्ते॑ पृ॒थु स्त॑नयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैवः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑ती॒दम् ।
मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभि॒ः सूर्य॑स्य ॥ १ ॥

अर्थ— (यः ते पृथु स्तनयित्नुः) जो तेरा विस्तृत, गर्जना करनेवाला (ऋष्वः दैवः केतुः) प्रवाहित होनेवाला और दिव्य ध्वजाके समान मार्गदर्शक चिन्ह (इदं विश्वं आभूषति) इस जगत्को भूषित करता है, उस (विद्युता) बिजलीसे (नः मा वधीः) हमें मत मार । तथा हे देव ! (उत) और हमारा (सस्यं सूर्यस्य रश्मिभिः मा वधीः) खेत सूर्यकी किरणोंसे मत नष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे सरस्वती ! जो तेरा विस्तृत और गर्जना करनेवाला, स्वयं वृष्टिरूपसे प्रवाहित होनेवाला, जिसमें बिजलीकी चमक होती है और जो इस विश्वका भूषण होता है, वह मेघ अपनी बिजलीसे हमारा नाश न करे, परंतु ऐसा भी न हो कि, आकाशमें बादल न आयें, और सूर्यके तापसे हमारी सब खेती जल जावे । अर्थात् आकाशमें बादल आयें, मेघ बरसे और खेती उत्तम हो; परंतु मेघोंकी विद्युत्से किसीका नाश न होवे ॥ १ ॥

' सरस्वती ' का दूसरा अर्थ (सरः) रसवाली है । अर्थात् जल देनेवाली । वह जल अथवा रस मेघोंमें रहता है और वह हमारे धान्यादिकी पुष्टि करता है । पूर्वसूक्तमें ' विद्या ' अर्थ है और इसमें ' जल ' अर्थ है ।

राष्ट्रसभाकी अनुमति

[१२ (१३)]

(ऋषिः– शौनकः । देवता– सभा; १–२ सरस्वती; ३ इन्द्रः; ४ मन्त्रोक्ताः ।)

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु ॥ १ ॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥
यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

अर्थ— (सभा च समितिः च) ग्रामसमिति और राष्ट्रसभा ये दोनों (प्रजापतेः दुहितरौ) प्रजाका पालन करनेवाले राजाके द्वारा पुत्रीवत् पालनेके योग्य हैं और वे दोनों (संविदाने) परस्पर ऐकमत्य होती हुई (मा अवतां) मुझ राजाकी रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिससे मैं मिलूं (सः मा उपशिक्षात्) वह मुझे शिक्षा देवे। हे (पितरः) रक्षको! (संगतेषु चारु वदानि) सभाओंमें मैं उत्तम रीतिसे बोलूं ॥ १ ॥

हे (सभे) सभे! (ते नाम विद्म) तेरा नाम हमें विदित है। (नरिष्टा नाम वै असि) 'नरिष्टा' अर्थात् अहिंसक यह तेरा नाम वा यश है। (ये के च ते सभासदः) जो कोई तेरे सभासद हैं (ते मे सवाचसः सन्तु) वे मुझ राजासे समताका भाषण करनेवाले हों ॥ २ ॥

(एषां समासीनानां) इन बैठे हुए सभासदोंसे (विज्ञानं वर्चः अहं आददे) विशेष ज्ञानरूपी तेज मैं–राजा–स्वीकार करता हूं। (इन्द्र) इन्द्र! (अस्याः सर्वस्याः संसदः) इस सब सभाका (मां भगिनं कृणु) मुझे भागी कर ॥ ३ ॥

हे सभासदो! (वः यत् मनः परागतं) आपका जो मन दूर चला गया है, (यत् वा इह वा इह वा बद्धं) जो इसमें अथवा इस विषयमें बंधा हुआ है, (वः तत् आवर्तयामसि) आपके उस चित्तको मैं पुनः लौटा लेता हूं, अब आपका (मनः मयि रमतां) मन मेरे ऊपर रममाण होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— ग्रामसमिति और राष्ट्रसभा राष्ट्रमें होनी चाहिये और राजाको उनका पुत्रीवत् पालन करना चाहिये। ये दोनों सभाएं एकमतसे राष्ट्रका कार्य करें और प्रजारंजन करनेवाले राजाका पालन करें। राजा जिस सभासद्से राज्यशासन-विषयक संमति पूछे, वह सभासद् योग्य संमति राजाको देवे। राजा तथा अन्य सभासद् सभाओंमें सभ्यतासे वादविवाद करें ॥ १ ॥

इन लोकसभाओंका नाम 'नरिष्टा' है, क्योंकि इनके होनेसे राजाका भी नाश नहीं होता और प्रजाका भी नाश नहीं होता है। इन सभाओंके जो सभासद् हों, वे राजासे अपनी संमति निष्पक्षपातसे स्पष्ट शब्दोंमें कहें ॥ २ ॥

लोकसभाओंके सदस्योंसे राज्यशासनविषयक विशेष ज्ञान राजा प्राप्त करता है और तेजस्वी बनता है। अतः राजा ऐसी सभाओंसे राज्यशासनविषयक विज्ञानका भाग अवश्य प्राप्त करे और भाग्यवान् बने ॥ ३ ॥

लोकसभाका कार्य करनेके समय किसी सभासद्का मन इधर उधरके कार्यमें जाए तो उसको चाहिए कि, वह मनको वापस लाकर राज्यशासनके कार्यमें ही लगावे। सब सभासद् राजा और उसके राज्यशासनके कार्यमें अपना मन लगावें ॥ ४ ॥

राष्ट्रसभाकी अनुमति

राज्यशासनमें लोकसंमति

ग्रामसभा

राज्यशासन चलानेके लिये एक ग्रामसभा होनी चाहिये। ग्रामके लोगोंद्वारा चुने हुए सदस्य इस ग्रामसभाका कार्य करें। ग्राममें जो जो कार्य आरोग्य, न्याय, शिक्षा, धर्मरक्षा, उद्योगवृद्धि आदिके विषयमें होंगे, उनको निभाना इस ग्राम-सभाका कार्य है। यह ग्राम-सभा अपने कार्य करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र होगी, इसका अर्थ यह है कि, प्रत्येक ग्राम अथवा नगर पूर्ण स्वराज्यके अधिकारोंसे युक्त होगा।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नतिका कार्य करनेके लिये स्वतंत्र होता है, परंतु सार्वजनिक सर्वहितकारी कार्य करनेके लिये परतंत्र होता है; ठीक उसी प्रकार प्रत्येक ग्राम या नगर अपनी सर्व प्रकारसे उन्नति साधन करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र है, परंतु सार्वदेशिक अथवा सार्वराष्ट्रीय उन्नतिके कार्योंके लिये प्रत्येक ग्राम राष्ट्रीय नियमोंसे बंधा रहेगा।

राष्ट्रसभा

जैसे प्रत्येक ग्रामके लिये ग्रामसभा, नगरके लिये नगर-सभा होती है, उसी प्रकार प्रांतके लिये प्रांतसभा और राष्ट्रके लिये ' राष्ट्रीय महासभा ' होती है और यह सब राष्ट्रका शासन करती है। ग्रामसभाका अधिकार ग्रामपर और राष्ट्र-सभाका राष्ट्रपर होता है। येही दो सभाएं इस सूक्तमें कही हैं। ग्रामसभा और राष्ट्रीय महासमिति इन दोनोंका वर्णन होनेसे बीचकी नगरसभा और प्रांतसभा आदि सब सभाओंका वर्णन हो चुका है, ऐसा समझना योग्य है। आदि और अन्तका ग्रहण करनेसे सब बीचमें स्थित अवस्थाओंका ग्रहण होजाता है। इस सार्वत्रिक नियमके अनुसार इन मंत्रोंमें ग्रामसभा और राष्ट्रसभाका वर्णन होनेसे बीचकी सब उप-सभाओंका वर्णन हुआ है, ऐसा पाठक समझें।

जनसभाका अधिकार

इन प्रजाओंका अधिकार क्या है, यह एक विचारणीय प्रश्न है; इसका उत्तर इन मंत्रोंका विचार करनेसे ही मिल सकता है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि—

सभा च समितिः च प्रजापतेः दुहितरौ॥ (मं० १)

' ग्रामसभा और राष्ट्रीय महासभा ये दोनों प्रजाका पालन करनेवाले राजाकी दो पुत्रियाँ हैं। ' अर्थात् इन दोनों सभाओंका पिता राजा है और उसकी दो लडकियां ये सभाएं हैं। यही उत्तर इनका अधिकार निश्चित करनेके लिये पर्याप्त है।

पिता पुत्रीका जनक है, परंतु उसका भोग करनेवाला नहीं। पुत्री पिताके अधिकारके नीचे हमेशा नहीं रहेगी, पुत्रीपर अधिकार किसी औरका होगा, पिताका नहीं। इसी प्रकार राजाकी आज्ञासे राष्ट्रसभा और ग्रामसभा स्थापित होती है, राजाकी अनुमतिसे इन सभाओंके सदस्य चुनने और सभाओंके चलानेके नियम बनते हैं, इसलिये राजाही इन सभाओंका पिता, जनक अथवा उत्पादक होता है। तथापि उत्पत्ति और रक्षा करनेकाही अधिकारी राजा है, वह उन सभाओंपर पतिके समान शासन नहीं चला सकता। राजा इन सभाओंका पिता या जनक है, परंतु पति अथवा शासक नहीं। लोकसभा राजाकी भोग्य नहीं। राजाके अधिकारसे भिन्न लोकसभाका अधिकार स्वतंत्र है, इसी उद्देश्यसे उक्त मंत्रमें कहा है। कि—

सभा च समितिः च प्रजापतेः दुहितरौ। (मं० १)

' ये दोनों सभाएं प्रजापालक राजाकी दुहिताएं हैं। ' यहां दुहिता शब्द विशेष महत्त्वका है। श्रीमान् यास्काचार्यने इस शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

दुहिता दूरे हिता। (निरु० ३।१।४)

' जो दूर रहनेपर हितकारक होती है वही दुहिता है। ' धर्मपत्नी पास रखने योग्य है, दुहिता या पुत्री दूर रखने-योग्य है। इस व्युत्पत्तिसे स्पष्ट हो जाता है, यह लोकसभा राजाकी दुहिता होनेके कारण ही उसके अधिकारसे बाहर रहनी चाहिये। अर्थात् ये दोनों सभाएं स्वतंत्र हैं। राजाके नियंत्रणसे ये दोनों सभाएं बाहर हैं। यह लोकसभाका अधि-कार है। लोकसभाके सभासद् पूर्ण निर्भय हों, सत्यमत प्रदर्शन करनेके लिये उनको राजासे भयभीत होना नहीं चाहिये। पूर्ण निडर होकर जो सत्य हो, वह उनको कहना चाहिए।

ये सभाएं (संविदाना-ऐक्यमत्यं प्राप्ता) एकमतसे ही सब राष्ट्रका शासनव्यवहार करें। सब सदस्योंका एकमत न हो सकनेकी अवस्थामें बहुमतसे कार्य करना योग्य है। परंतु बहुमतसे कार्य करना आपत्कालही समझना चाहिये, क्योंकि वेदकी आज्ञा तो (संविदाना) एकमतसे अर्थात् सर्वसंमतिसेही कार्य करनेकी है। लोकसभामें सब सदस्यों-की सर्वसंमतिसे जो निर्णय होगा वह राजाके लिये भी बंधन-कारक होगा। इतना महत्त्व लोकसभाकी सर्वसंमतिका है। तथा यह निर्णय प्रजाके लिये भी बंधनकारक होगा।

राजाके पितर

राष्ट्रसमितिके सभासद् राजाके पितर हैं। इस सूक्तमें राजाने उनको, ' पितरः ' करके संबोधन किया है देखिये—

चारु वदानि पितरः संगतेषु। (मं० १)

' हे पितरो! अर्थात् हे राष्ट्रमहासभाके सब सदस्यो! सभाओंमें मैं योग्य भाषण करूं। ' अर्थात् सभ्यतासे युक्त भाषण करूं। कभी नियमबाह्य मेरा भाषण न हो। हे सभासदो! सब सदस्य भी सदा इसी प्रकार सभ्यताके नियमोंके अनुकूल भाषण किया करें। इस मंत्रभागमें राजाने लोकसभाके सभासदोंके लिए ' पितरः ' शब्द प्रयुक्त किया है। यह शब्द यहां देखनेयोग्य है।

लोकसभा, अथवा राष्ट्रसमिति राजाकी पुत्रियां हैं यह ऊपर कहा है। अब यहां कहा जाता है कि, इन सभाओंके सदस्य राजाके ' पितर ' हैं, यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इतना ही है कि यहां केवल बाह्य अर्थ लेना उचित नहीं है, यहां भाव और शब्दका मूलार्थ लेना चाहिये। पितर शब्दका अर्थ रक्षक है और उत्पादक भी है। दोनों अर्थ यहां लगते हैं। राजसभाके सभासद् राजाको चुनते और उसको राजगद्दीपर बिठलाते हैं, इसलिये वे उसके उत्पादक, जनक और पिताके समान भी हैं। इसी प्रकार राजाके उचित व्यवहारके रहनेतक वे उसको राजगद्दीपर रखते हैं, और राजा अनुचित व्यवहार करने लग जाए, तो उसको हटाकर उसके स्थानपर सुयोग्य दूसरा राजा नियुक्त करते हैं, इसलिये ये राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके रक्षक भी हैं, अर्थात् सब प्रकारसे ये सदस्य राजाके पितर हैं।

' पितृदेवो भव ' पिताको देवताके समान मानकर उसका सन्मान कर, यह आज्ञा वेदानुकूल है। इसलिये राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रमहासभाके सदस्योंका सन्मान करे, उनका गौरव करे और कभी उनका अपमान न करे। राष्ट्रसभाका यह अधिकार है।

राजाके शिक्षक

राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके गुरु भी हैं। इस विषयमें प्रथम मंत्रका भाग देखने योग्य है—

येन संगच्छै, सः मा उपशिक्षात्। (मं० १)

' हे गुरुजनो! हे राष्ट्रसभाके सदस्यो! तुममेंसे जिससे मैं राष्ट्रशासनके कार्यमें संमति पूछूं, वह उस विषयमें अपनी संमति देकर मुझे उत्तम योग्य शिक्षा देवे। ' अर्थात् राजाको योग्य शिक्षा देनेवाले उत्तम गुरु राष्ट्रसभाके सदस्य हैं। ये राजाके लिए गुरुस्थानीय हैं। ' आचार्यदेवो भव ' अर्थात् गुरुजनोंका संमान करना चाहिये, यह आज्ञा वैदिकधर्मकी है। इसके अनुसार वैदिकधर्मी राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रसभाके सदस्योंका गौरव करे और उनसे पूर्ण आदरके साथ बर्ताव करे। राष्ट्रसभाके सदस्योंका यह अधिकार है।

सभासद् सत्यवादी हों

राजसभा अथवा किसी अन्य सभाके सभासद् (सवाचसः) समान भाषण करनेवाले अर्थात् जैसा देखा, जाना और अनुभव किया है वैसा ही सत्यसत्य बोलनेवाले हों। जो जैसा सत्य एकवार कहा हो, वैसा ही सत्य सभी प्रसंगोंपर कहनेवाले हों। उनमें अदल बदल करके ' हां ' ' हां ' मिलानेवाले न हों। निर्भय होकर जो सत्य हो, वही राजासे कह दें। राष्ट्रका हित किस बातमें है, इसका विचार करके जो अपना मत हो, वह योग्य रीतिसे कह देनेमें किसीसे न डरें। यह सभासदोंका कर्तव्य है। (मं. २)

तेजप्रदाता और विज्ञानदाता

राजाका तेज राष्ट्रसभाके सदस्योंसे प्राप्त होता है। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन देखने योग्य है—

एषां समासीनानां वर्चः विज्ञानं अहं आददे।
(मं. ३)

' राष्ट्रसभाके इन सदस्योंसे मैं राजा (वर्चः) तेज प्राप्त करता हूं और (विज्ञानं) विशेष ज्ञान भी प्राप्त करता हूं। ' यहां का विज्ञान राज्यशासन चलानेके विषयका विशेष ज्ञान ही है। प्रजाका हित क्या करनेसे हो सकता है, इस समय सबसे प्रथम कौनसी बात करनी चाहिये, इस समय प्रजाको कौनसे कष्ट हैं और उन कष्टोंको किस ढंगसे दूर करना चाहिये; इत्यादि विषयमें प्रजाके प्रतिनिधियोंकी योग्य संमति योग्य समय पर राजाको मिली, और तदनुसार राजाने राज्यशासनका कार्य किया, तो सबका हित हो जाता है। यह विज्ञान राष्ट्रसभाके सदस्य राजाको देवें और राजा भी उनसे संमति प्राप्त कर उचित शासनप्रबंध द्वारा सबका कल्याण करे।

इस प्रकार प्रजा संमतिसे राज्यशासन करनेवाला राजा चिरकाल राज्यपर रह सकता है और बड़ा तेजस्वी हो सकता

है । इसके विरुद्ध जो राजा प्रजाके प्रतिनिधियोंकी संमति न मान कर, अपने मन चाहे अत्याचार प्रजापर करेगा, वह राजगद्दीसे हटाया जायगा। वेदकी संमति राज्यशासनके विषयमें यह है ।

राजाका भाग्य

राजाका संपूर्ण भाग्य, ऐश्वर्य, अधिकार और सर्वस्व राष्ट्र-सभाकी अनुमतिसे ही होता है । अन्यथा राजा किसी कारण भी ' राजा ' नहीं रह सकता। यह बात स्वयं राजा ही कहता है, देखिये—

अस्याः संसदः मां भगिनं कृणु ॥ (मं. ३)

' इस सभाका मुझे भागी कर । ' अर्थात् इस सभाकी अनुमतिसे रहनेके कारण मैं भाग्यवान् बनूं। मैं इस सभाकी अनुमतिका भागी बनूंगा, अर्थात् जो निश्चय सभा करेगी, वह मैं मानूंगा और वैसा कार्य करूंगा । मैं उसके विरुद्ध आचरण कदापि न करूंगा । इस प्रकार जो राजा आचरण करेगा, वह भाग्यवान् बन जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है । अर्थात् राजाका भाग्य प्रजाका रंजन करनेसे ही बढता है, नहीं तो नहीं ।

दत्तचित्त सभासद्

राष्ट्रसभाके, नगरसमितिके अथवा किसी सभाके सभासद् अपनी अपनी सभाके कार्यमें दत्तचित्त रहें । किसीका मन इधर किसीका उधर ऐसा न हो। सब अपना मन सभाके कार्यमें स्थिर रखकर सभाका कार्य अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर जहांतक होसके वहांतक निर्दोष बनावें । इसका उपदेश इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है ।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद्व आवर्तयामसि ॥ (मं. ४)

' हे सभासदो ! यदि आपका मन दूर भाग गया हो, अथवा यहां ही इधर उधरके अन्यान्य बातोंमें लगा हो, उसको मैं वापस लाता हूं । ' अर्थात् मन चंचल है, वह इधर उधर दौडता ही रहेगा । परंतु दृढनिश्चय करके उसको कर्तव्यकर्ममें स्थिर रखना चाहिये । और अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर अपना कर्तव्य जहांतक हो सके वहांतक निर्दोष बनानेका यत्न करना चाहिये । हरएक सभासद् यदि अपने मनको कहीं और ही कार्यमें लगावेगा, तो सभा करनेका प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये हरएक सभासद्का कर्तव्य है कि, वह अपना मन सभाके कार्यमें लगावे और अपनी पूरी शक्ति लगाकर सभाका कार्य निर्दोष करनेके लिये अपनी पराकाष्ठा करे । इस मंत्रभागमें सभासदोंका कर्तव्य कहा है। सभाके सभासद् इसका अवश्य विचार करें ।

नरिष्टा सभा

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सभाका नाम ' नरिष्टा ' कहा है। ' नरिष्टा ' के दो अर्थ हैं । एक (नरैः इष्टा) नर अर्थात् नेता मनुष्योंको जो इष्ट है, प्रिय है अथवा नेता जिसको चाहते हैं। सभाको मनुष्य चाहते हैं क्योंकि, इस सभा द्वारा ही जनताके कष्ट राजाको विदित हो जाते हैं और तत्पश्चात् राजा उनको दूर कर सकता है । इस प्रकार सभाके होनेसे जनताका सुख बढ सकता है, इसलिये जनता सभाओंको पसंद करती है ।

' नरिष्टा ' शब्दका दूसरा अर्थ है (न-रिष्टा) अहिंसक अर्थात् जो किसीका नाश नहीं करती और जिसका नाश कोई नहीं कर सकता । सभाके कारण प्रजाका नाश नहीं होता और जनमतके अनुसार चलनेवाले राजाकी भी रक्षा हो जाती है, इसलिये राजाका भी नाश नहीं होता । इसी प्रकार जनता स्वयं राष्ट्रसभाका नाश नहीं करना चाहती और राजाका अधिकार ही नहीं है कि, जो इस राष्ट्रसभाका नाश कर सके । इस रीतिसे सब प्रकार यह सभा ' अविनाशक ' है।

इस सूक्तमें इस प्रकार वैदिक राज्यशासनके कुछ सिद्धांत कहे हैं ।

शत्रुके तेजका नाश

[१३ (१४)]

(ऋषिः- अथर्वा द्विषो वर्चोहर्तुकामः । देवता- सोमः ।)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥
यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

अर्थ— (यथा उद्यन् सूर्यः) जैसे उदय होता हुआ सूर्य (नक्षत्राणां तेजांसि आददे) तारोंके प्रकाशोंको हर लेता है, (एवा द्विषतां स्त्रीणां च पुंसां च) उसी प्रकार द्वेष करनेवाले स्त्रियों और पुरुषोंका (वर्चः आददे) तेज मैं हर लेता हूं ॥ १ ॥

(सपत्नानां यावन्तः) शत्रुओंमेंसे जितने (मां आयन्तं प्रतिपश्यत) मुझे आते हुए देखते हैं, उन (द्विषतां वर्चः आददे) शत्रुओंका तेज मैं उसी प्रकार खींच लेता हूं । जिस प्रकार (उद्यन् सूर्यः सुप्तानां इव) उदय होता हुआ सूर्य सोते हुओंका तेज हर लेता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रु स्त्री हो अथवा पुरुष हो, वह सोता हो अथवा जागता हो, जो कोई शत्रुता करता है उसकी अपेक्षा अपना तेज बढाना चाहिये ॥ १-२ ॥

शत्रुका तेज घटाना

इस सूक्तमें शत्रुका तेज घटानेका उपाय कहा है । पाठक इसका उत्तम मनन करें । नक्षत्र और सूर्यकी उपमासे यह विषय कहा है । जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेके पूर्व नक्षत्र चमकते रहते हैं, परंतु सूर्यके उदय होते ही नक्षत्रोंका तेज हलका हो जाता है । इसमें नक्षत्रोंका तेज घटानेके लिये सूर्य कोई यत्न नहीं करता है, अपितु सूर्य अपना तेज बढाता है जिससे आपही आप नक्षत्रोंका तेज घटता है । इसी प्रकार द्वेष करनेवालोंका विचार न करते हुए, अपना तेज बढानेका यत्न करना चाहिये । जो शत्रुके तेजको घटानेका यत्न करेंगे वे फंसेंगे, परन्तु जो सूर्यके समान अपना तेज बढानेका यत्न करेंगे उनका अभ्युदय होगा । शत्रुका विचार करनेके समय ' सूर्य और नक्षत्रोंका दृष्टान्त ' पाठक ध्यानमें धारण करें । इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि, शत्रुका तेज घटानेके लिये हमें क्या करना चाहिये । शत्रुकी शक्तिसे कई गुनी अधिक शक्ति हमें प्राप्त करनी चाहिये, जिससे शत्रुकी शक्ति स्वयं घट जायगी और वह स्वयं नीचे दब जायगा ।

उपासना

[१४ (१५)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- सविता ।)

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ओण्योः सवितारं) रक्षा करनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोकके (सवितारं) उत्पादक सूर्य, जो (कवि-क्रतुं) ज्ञानी और कर्मकर्ता है, (सत्य-सवं रत्नधां) सत्यका प्रेरक और रमणीयताका धारक है और जो (प्रियं मतिं) प्रिय और मननीय है, (त्यं देवं अभि अर्चामि) उस देवकी मैं पूजा करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— संपूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाला, सबका उत्पादक, ज्ञानी, जगत्कर्ता, सत्यका प्रेरक, रमणीय पदार्थोंका धारणकर्ता, सबका प्यारा, सबके द्वारा ध्यान करने योग्य जो सविता देव है, उसकी मैं उपासना करता हूं ॥ १ ॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात्स्वः ॥ २ ॥

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥ ३ ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात्सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित्क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्य अमतिः भाः) जिसका अपरिमित तेज (सवीमनि ऊर्ध्वा अदिद्युतत्) उसकी आज्ञामें रहकर ऊपर फैलता हुआ सर्वत्र प्रकाशित होता है । यह (सुक्रतुः हिरण्यपाणिः) उत्तम कर्म करनेवाला तेजही जिसका हस्त है, ऐसा यह देव (कृपात् स्वः अमिमीत) अपनी शक्तिसे प्रकाशको निर्माण करता है ॥ २ ॥

हे (देव) देव ! तू (प्रथमाय पित्रे हि सावीः) पहिले पालकके लिये ही इसको उत्पन्न करता है। और (अस्मै वर्ष्माणं) इसको देह (अस्मै वरिमाणं) इसको श्रेष्ठता, हे (सवितः) सविता देव ! (अथ अस्मभ्यं वार्याणि) और हमारे लिये बहुत वरणीय पदार्थ, (भूरि पश्वः) बहुत पशु आदि सब (दिवः दिवः आसुव) प्रतिदिन प्रदान कर ॥३॥

हे (देव) देव ! तू (सविता वरेण्यः) सबका प्रेरक, श्रेष्ठ, और (दमूनाः) शमदमयुक्त मनवाला है । तू (पितृभ्यः रत्नं दक्षं आयूंषि) पिताओंको रत्न, बल और आयु (दधत्) धारण कराता रहा है। (अस्य धर्मणि सोमं पिबात्) इसीके धर्मशासनमें सोमरसरूपी अन्न लेते हैं। वह (एनं ममदत्) इसको आनंदित करता है। (परिज्मा इष्टं चित् क्रमते) वह गतिमान् इष्ट स्थानके प्रति संचार करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिसकी कान्ति अपरिमित है, जिसकी आज्ञामें रहकर उसीका तेज सर्वत्र फैलता है, जो उत्तम कार्य करता है और तेजकी किरणें ही जिसके हाथ हैं, वह अपनी शक्तिसे आत्मतेज फैलाता है ॥ २ ॥

इस देवने, जो प्रारंभमें मनुष्य जन्मे थे, उनके लिये सब कुछ आवश्यक पदार्थ उत्पन्न किये थे । इन मनुष्योंके लिये देह, श्रेष्ठता आदि वही देता है । वही हमारे लिये बहुत पदार्थ, पशु आदि सब प्रतिदिन देगा ॥ ३ ॥

यह देव सबका प्रेरक, सबसे श्रेष्ठ, मानसिक शक्तियोंका दमन करनेवाला है । इसीने पूर्वकालके मनुष्योंको धन बल और आयु दी थी । इसीकी शक्तिसे प्रभावित हुई वनस्पतियां मनुष्यादि प्राणियोंको अन्नरस देकर पुष्ट करती हैं । इसीसे सबको आनंद मिलता है । यह देव सर्वत्र अप्रतिबद्ध रीतिसे संचार करता है ॥ ४ ॥

उपास्य देवका यह वर्णन स्पष्ट है । अतः इसका विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है । द्विजोंके गायत्री मंत्रका जो देवता है, वही ' सविता ' देवता इसका है और गायत्री मंत्रके ' देव, सविता, वरेण्य, ' इत्यादि शब्द जैसेके वैसे ही इस सूक्तमें हैं, मानो गायत्री मंत्रका ही अधिक स्पष्टीकरण इस सूक्तमें है । यदि पाठक गायत्रीमंत्रके साथ इस सूक्तकी तुलना करके देखेंगे, तो उनको अर्थज्ञानके विषयमें बहुत लाभ हो सकता है ।

उपासना

[१५ (१६)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- सविता ।)

तां सवितुः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सवितः) उत्पादक प्रभो ! (अहं सत्यसवां) मैं सत्यकी प्रेरणा करनेवाली, (सुचित्रां विश्ववारां तां सुमतिं) विलक्षण, सबकी रक्षा करनेवाली उस उत्तम बुद्धिको (आवृणे) स्वीकार करता हूं, (यां सहस्रधारां प्रपीनां) जिस सहस्रधाराओंसे पुष्ट करनेवाली शक्तिको (अस्य भगाय) अपने भाग्यके लिये (महिषः कण्वः अदुहत्) बलवान् ज्ञानी दोहन करता है, प्राप्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस शक्तिको ज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं और श्रेष्ठ बनते हैं, उस सत्यप्रेरक, विलक्षण शक्तिवाली, सबकी रक्षा करनेवाली, उत्तम मति रूप बुद्धि शक्तिको मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

गायत्री मंत्रमें कहा है कि, (धियो यो नः प्रचोदयात्) अपनी बुद्धियोंको सवितादेव चेतना देता है। वही वर्णन अन्य शब्दोंसे यहां है । गायत्रीमंत्रमें 'धी, धियः' शब्द है, उसके बदले यहां 'सुमति' शब्द है । पूर्व सूक्तके समान ही यह मंत्र गायत्री मंत्रका ही आशय विशेष स्पष्ट करता है ।

हे देव ! सौभाग्यके लिये हमें बढाओ

[१६ (१७)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- सविता ।)

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
संशितं चित्संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (बृहस्पते सवितः) ज्ञानपते, हे उत्पादक देव ! (एनं वर्धय) इसको बढा, (एनं महते सौभगाय ज्योतय) इसको महान् सौभाग्यके लिये प्रकाशित कर । (संशितं सं-तरं चित् संशिशाधि) पहिलेसे ही तीक्ष्ण बुद्धिवालेको और अधिक उत्तम बनानेके लिये शिक्षासे युक्त कर । (विश्वे देवाः एनं अनु मदन्तु) सब देवता इसका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी देव ! हम सब मनुष्योंको बढाओ, हमें महान् ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये अपना प्रकाश अर्पित करो । हममें जो पहिलेसे तेजस्वी लोग हैं, उनको और अधिक तेजस्वी बनानेके लिये उत्तम शिक्षा प्राप्त होवे और दैवी शक्तियोंकी सहायता सबको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सूर्य वनस्पति आदि देवताओंकी सहायता हमें उत्तम प्रकार प्राप्त हो और उनकी शक्ति प्राप्त करके अपनी उन्नतिका साधन करें और ऐश्वर्यके भागी हम बनें । ईश्वर ऐसी परिस्थितिमें हमें रखे कि, जहां हमें उन्नति करनेके कार्यमें किसीका विरोध न होवे और हम अखंड उन्नतिका साधन कर सकें ।

धन और सद्बुद्धिकी प्रार्थना

[१७ (१८)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- धाता, सविता ।)

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः । स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ ३ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ— (धाता जगतः पतिः ईशानः) धारणकर्ता, जगत्‌का स्वामी, ईश्वर (नः रयिं दधातु) हमें धन देवे। (सः नः पूर्णेन यच्छतु) वह हमें पूर्ण रीतिसे देवे ॥ १ ॥

(धाता दाशुषे) धारणकर्ता ईश्वर दाताके लिये (प्राचीं अक्षितां जीवातुं दधातु) प्राप्त करनेयोग्य अक्षय जीवनशक्ति देवे । (वयं विश्वराधसः देवस्य सुमतिं) हम संपूर्ण धनोंके स्वामी ईश्वरकी सुमतिका (धीमहि) ध्यान करते हैं ॥ २ ॥

(धाता) धारक ईश्वर (प्रजाकामाय दाशुषे) प्रजाकी इच्छा करनेवाले दाताके लिये (दुरोणे विश्वा वार्या) उसके घरमें संपूर्ण वरणीय पदार्थोंको (दधातु) स्थापित करे । (विश्वे देवाः) सब देव, (सजोषाः अदितिः) प्रीतियुक्त अनंत दैवी शक्ति, तथा (देवाः) अन्य ज्ञानी (तस्मै अमृतं सं व्ययन्तु) उसके लिये अमृत प्रदान करें ॥ ३ ॥

(धाता रातिः सविता) धारक, दाता, उत्पादक, (निधिपतिः प्रजापतिः अग्निः) निधिका पालक, प्रजारक्षक, प्रकाशरूप देव (नः इदं जुषन्तां) हमारी इस प्रार्थनाको सुने । तथा (प्रजया संरराणः त्वष्टा विष्णुः) प्रजाके साथ आनंदमें रहनेवाला सूक्ष्म पदार्थोंको बनानेवाला व्यापक देव (यजमानाय द्रविणं दधातु) यज्ञकर्ताको धन देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जगत्‌का धारण और पालन करनेवाला ईश्वर हमें पूर्ण रीतिसे विपुल धन देवे । वह हमें दीर्घ जीवनकी शक्ति देवे । हम उसकी सुमतिका ध्यान करते हैं । संतानकी इच्छा करनेवाले दाताको उसके घरमें—गृहस्थके घरमें—रहने योग्य सब पदार्थ प्राप्त हों । सब देव दाताको अमरत्वकी प्राप्ति करावें । सब जगत्‌का धारक, धनदाता, संपूर्ण विश्वका उत्पादक, संसाररूपी खजानेका रक्षक, सबका पालक, एक प्रकाश स्वरूप देव है, वह हमें सब प्रकारका सुख देवे । सब सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंका निर्माता, व्यापक देव उपासकको धनादि पदार्थ देवे ॥ १-४ ॥

यह प्रार्थना सुबोध है अतः स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

खेतीसे अन्न

[१८ (१९)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– पृथिवी, पर्जन्यः ।)

प्र नंभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः ।
उन्दो दिव्यस्यं नो धातरीशांनो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥
न घ्रंस्तंताप न हिमो जंघान प्र नंभतां पृथिवी जीरदांनुः ।
आपंश्चिदस्मै घृतमित्क्षंरन्ति यत्र सदुमित्तत्रं भद्रम् ॥ २ ॥

अर्थ— (पृथिवि) हे पृथिवि ! तू हमारे शत्रुओंको (प्रनभस्व) उत्तम प्रकारसे नष्ट कर। हे (धातः) धारक देव ! तू (ईशानः) हमारा ईश्वर है इस लिये (इदं दिव्यं नभः भिन्धि) इस दिव्य मेघको छिन्नभिन्न कर और (दिव्यस्य उन्दः दृतिं विष्य) दिव्य जलके भरे बर्तनको खोल दे ॥ १ ॥

(घ्रन् न तताप) उष्णता करनेवाला सूर्य नहीं तपाता, (हिमः न जघान) हिम भी पीडित नहीं करता । (जीरदानुः पृथिवी प्र नभतां) अन्न देनेवाली पृथ्वी चूर्ण की जावे । (आपः चित् अस्मै) जल इसके लिये (घृतं इत् क्षरन्ति) घी जैसा बहता है, (यत्र सोमः) जहां सोमादि औषधियां उत्पन्न होती हैं, (तत्र सदं इत् भद्रं) वहां सदाही कल्याण होता है ॥ २ ॥

भूमि हल आदि चलाकर अच्छी प्रकार तैयार की जावे । इसके बाद ईश्वरकी प्रार्थना की जावे कि, वह उत्तम प्रकार जल बरसाकर हमारी खेती उत्तम होनेमें सहायता देवे । बहुत गर्मी न पडे, न बहुत पाला पडे, भूमिकी उत्तम प्रकार तैयारी की जावे, खेतीको पानी घी जैसा दिया जावे, अर्थात् न अधिक और न बहुत कम । इस प्रकार खेती करनेसे बहुत उत्तम वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं और सब प्राणियोंका कल्याण होता है ।

प्रजाकी पुष्टि

[१९ (२०)]

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवता– प्रजापतिः ।)

प्रजापंतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दंधातु सुमनस्यमानः ।
संजानानाः संमंनसः सर्योनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥ १ ॥

अर्थ— (प्रजापतिः इमाः प्रजाः जनयति) प्रजापालक परमेश्वर इन सब प्रजाओंको उत्पन्न करता है, और (सुमनस्यमानः धाता दधातु) वही उत्तम मनवाला, धारक देव इनका धारक देव इनको धारण करता है । इससे प्रजाएं (संजानानाः) ज्ञान प्राप्त करके एक मतसे कार्य करनेवाली, (संमनसः) एक विचारवाली और (सयोनयः) एक कारणसे बंधी हो कर रहती हैं । इन प्रजाओंमें रहनेवाले (मयि) मुझे (पुष्टिपतिः पुष्टं दधातु) पुष्टिको देनेवाला ईश्वर पुष्टि देवे ॥ १ ॥

प्रजाकी पुष्टि अर्थात् प्रजाकी शक्तिके बढनेका उपाय इस सूक्तमें कहा है, इसके नियम निम्नलिखित हैं--

१ सब प्रजाजन एक ईश्वरको मानें और उसी एक देवको सबका उत्पादक समझें।

२ उसी ईश्वरकी शक्तिसे सबकी धारणा होती है ऐसा मानें और उसीको कर्ता धर्ता और हर्ता समझें।

३ (संजानानाः) सब प्रजाजन उत्तम ज्ञानसे युक्त हों और एकमतसे अपना कार्य करें।

४ (संमनसः) उत्तम शुभसंस्कार युक्त मनवाले होकर एक विचारसे उन्नतिका कार्य करते जायें।

५ (सयोनयः) एक कारणका ध्यान करके सबको एक कार्यमें संघटित करें। अपने संघ बनावें और संघके नियमोंके बाहर कोई न जावे।

इस प्रकार संघटना करनेवाले लोगोंको प्रजापोषक ईश्वर सब प्रकारकी पुष्टि देता है।

अनुमति

[२० (२१)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अनुमतिः।)

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥
अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥
अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्।
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (अद्य नः अनुमतिः) आज हमारी अनुमति (देवेषु यज्ञं अनुमन्यतां) देवता लोगोंके अन्दर सत्कर्म करनेके लिये अनुकूल होवे। (हव्यवाहनः अग्निः) हवनीय पदार्थोंको ले जानेवाला अग्नि (मम दाशुषे भवतां) हमारे दाताके लिये अनुकूल होवे ॥ १ ॥

हे (अनुमते) अनुकूल बुद्धे ! (त्वं इदं अनुमंससे) तू इस कार्यके लिये अनुमति देती है। (नः च शं कृधि) हमारा कल्याण कर। (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किये हुए पदार्थको स्वीकार कर। हे देवि ! (नः प्रजां ररास्व) हमें उत्तम संतान दे ॥ २ ॥

(अनुमन्यमानः) अनुमोदन करनेवाला (अक्षीयमाणं प्रजावन्तं धनं अनुमन्यतां) क्षीण न होनेवाले प्रजायुक्त धन प्राप्त करनेके लिये अनुमति देवे। (तस्य हेडसि वयं मा अपि भूम) उसके क्रोधमें हम क्षीण न हों। (अस्य सुमृडीके सुमतौ स्याम) इसके सुख और सुमतिमें हम रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— आज ही हमारी बुद्धि सत्कर्म करनेके लिये अनुकूल होवे और अग्नि आदिकी अनुकूलता हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

अनुकूल मति होनेसे ही यह सब कार्य होता है, इसलिये हमारी अनुमतिसे ऐसे कार्य होवें, कि जो हमारा कल्याण करनेवाले हों हम जो दान करते हैं वह सत्कर्ममें लगें और हमें उत्तम संतान प्राप्त होवे ॥ २ ॥

क्षीण न होनेवाला धन और उत्तम प्रजा प्राप्त होनेके लिये जैसा सत्कर्म करना चाहिये वैसा करनेमें हमारी मति अनुकूल होवे। अर्थात् सच्चा उत्तम सुख देनेवाली सुमति हमारे पास होवे ! और हम कभी क्रोधमें आकर सुमतिके विरुद्ध कार्य न करें ॥ ३ ॥

यत्ते नाम॑ सुहवं॑ सुप्रणी॒तेऽनु॑मते॒ अनु॑मतं सु॒दानु॑ ।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥ ४ ॥
एमं य॒ज्ञमनु॑मतिर्जगाम सुक्षे॒त्रता॑यै सुवी॒रता॑यै॒ सुजा॑तम् ।
भ॒द्रा ह्य॑स्याः॒ प्रम॑तिर्ब॒भूव॒ सेमं य॒ज्ञम॑वतु दे॒वगो॑पा ॥ ५ ॥
अनु॑मति॒: सर्व॑मि॒दं ब॑भूव॒ यत्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति ।
तस्या॑स्ते दे॒वि सु॒म॒तौ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मंस॑से नः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (सु-प्र-नीते अनुमते) उत्तम प्रकारसे ले जानेवाली अनुमति! हे (विश्ववारे) सबके द्वारा स्वीकार किए जाने योग्य! (यत् ते सुदानु सुहवं अनुमतं नाम) जो तेरा उत्तम दानशील, उत्तम त्यागमय, अनुमतियुक्त यश है, (तेनः नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे सत्कर्मको पूर्ण कर। हे (सुभगे) सौभाग्यवाली! (न सुवीरं रयिं धेहि) उत्तम वीरोंसे युक्त धन हमें दे ॥ ४ ॥

(इमं सुजातं यज्ञं) इस प्रसिद्ध सत्कर्मके प्रति (अनुमतिः सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै आजगाम) अनुमति उत्तम स्थान बनानेके लिये और उत्तम वीरता उत्पन्न होनेके लिये आई है। (अस्याः प्रमतिः भद्रा बभूव) इसकी श्रेष्ठ बुद्धि कल्याण करनेवाली हो गई है। (सा देवगोपा इमं यज्ञं आ अवतु) वह देवोंद्वारा रक्षित हुई सुमति सब प्रकारसे इस सत्कर्मकी रक्षा करे ॥ ५ ॥

(यत् तिष्ठति) जो स्थिर है, (यत् चरति) जो चलता है, (यत् च विश्वं एजति) जो सबको चला रहा है, (इदं सर्वं अनुमतिः बभूव) वह यह सब अनुमति ही है। हे (देवि) देवि! (तस्याः ते सुमतौ स्याम) उस तेरी सुमतिमें हम रहें। हे (अनुमते) अनुमति! (नः हि अनुमंससे) हमें तू अनुमति देती रह ॥ ६ ॥

भावार्थ— उत्तम नीति और सुमतिका यश बडा है और उसमें दान, त्याग आदि श्रेष्ठ गुण हैं। इन गुणोंसे युक्त हमारे सत्कर्म हों और हमें वीरोंसे युक्त धन मिले ॥ ४ ॥

सुप्रसिद्ध सत्कर्मके लिये हमारी अनुकूलमति होवे, और उससे हमें उत्तम वीरत्व और उत्तम कार्यक्षेत्र प्राप्त हों। ऐसी जो सद्बुद्धि होती है वही कल्याण करती है। यह देवोंसे रक्षित होनेवाली बुद्धि हमारे द्वारा चलाये सत्कर्मकी रक्षा करे ॥५॥

जो स्थिर और चर पदार्थ हैं और जो उनकी चालक शक्ति है, यह सब अनुमतिसे ही बने हैं। यह अनुमति हमारे अनुकूल रहे अर्थात् हमसे प्रतिकूल बर्ताव न करावे और हमें सदा सत्कर्म करनेकी ही प्रेरणा करती रहे ॥ ६ ॥

अनुमति।

अनुमतिकी शक्ति

'अनुकूल बुद्धि' को ही 'अनुमति' कहते हैं, जगत्में जो कुछ भी हो रहा है वह अनुकूल मतिसे ही हो रहा है। चोर चोरी करता है वह अपनी अनुमतिसे करता है, योगी योगाभ्यास करता है वह अपनी अनुमतिसे ही करता है और देशभक्त स्वराज्ययुद्धमें संमिलित होकर अपना सिर कटवाता है वह भी अपनी अनुमतिसे ही कटवाता है। तात्पर्य यह है कि, जो जो मनुष्य जो कुछ कार्य, बुरा या भला, हितकारी या अहितकारी, देशोद्धारक या देशघातक करता है वह सब अपनी अनुमतिसे ही निश्चित करके करता है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है—

यत् तिष्ठति, चरति, यत् उ च विश्वमेजति,
इदं सर्वं अनुमतिः बभूव ॥ (मं. ६)

'जो स्थिर है, जो चंचल है, और जो सबको चलाता है, वह सब अनुमतिसे ही होता है।' यह मंत्र छोटे कार्यसे बडे विश्वव्यापक कार्यतक व्यापनेवाले तत्त्वको बता रहा है।

जो स्थिर जगत्की व्यवस्था है, जो चर जगत्का प्रबंध है और जो इस सब स्थिरचर जगत्को चलाता है वह सब विश्वका कार्य परमेश्वर अपनी अनुमतिसे करता है। यह संपूर्ण जगत् जो चल रहा है वह परमेश्वरकी अनुमतिसे ही चल रहा है। यहां तक अनुमतिकी शक्ति है। इसी प्रकार मनुष्य भी जो अनुकूल या प्रतिकूल कार्य करते हैं वह सब अपनी अनुमतिसे ही करते हैं। मनुष्य बचपनसे मरनेतक जो करता है वह सबका सब अपनी अनुमतिसे ही करता है, इतना अनुमतिका साम्राज्य सब जगतमें चल रहा है। इसीलिये अपनी अनुमति अच्छे कार्योंके लिये ही होवे और बुरे कार्योंके लिये न होवे, ऐसी दक्षता धारण करना अत्यंत आवश्यक है। यह सूचना निम्नलिखित मंत्रभाग देते हैं—

देवेषु यज्ञं अनुमन्यताम्। (मं. १)
अनुमते ! त्वं अनुमंससे, नः शं कृधि। (मं. २)
वयं तस्य हेडसि मा अपि भूम। (मं. ३)
सुमृडीके सुमतौ स्याम। (मं. ३)
सुदानु सुहवं अनुमतं नाम। (मं. ४)
सुवीरं रयिं धेहि। (मं. ४)
सुमतौ स्याम। (मं. ६)

' देवोंमें चलनेवाले सत्कर्मके लिये अनुमति हो, अर्थात् राक्षसोंके चलाये घातक कार्यके लिये कदापि अनुमति न होवे। अनुमतिसे ही सब कार्य होते हैं, इसलिये ऐसे कार्योंके लिये अनुमति होवे कि, जिससे कल्याण हो। हम कभी क्रोधके लिये अपनी अनुमति न करें, किसीके क्रोधके लिये हम अनुकूल न हों। सबके सुख बढानेके कार्योंमें और उत्तम बुद्धिके कार्योंमें हमारी अनुकूलमति हो, अर्थात् दुःख बढानेवाले किसी कार्यके लिये हम अपनी अनुमति न दें। जिसमें दान होता है और त्याग होता है, परोपकार जिसमें है ऐसे कार्योंके लिये जो अनुमति होती है, वही यश बढानेवाली होती है। अर्थात् जिसमें परोपकार नहीं, किसीका भला नहीं, बुराही बुरा है वैसे कार्योंको अनुमति देनेसे अकीर्तिही होती है। सदा अनुमति ऐसे ही कार्योंके लिये रखनी चाहिये कि, जो कार्य वीरतायुक्त धन बढानेवाले हों। भीरुता और नीचतासे, धन कमानेके कार्योंके लिये कभी कोई अपनी अनुमति न दें। सारांश यह है कि, सुमतिके लिये हमारी अनुमति होवे, और दुर्मतिके लिये कदापि अनुमति न होवे। "

इस सूक्तमें जो विशेष महत्त्वके उपदेश हैं वे ये हैं। अनुमतिकी शक्ति बहुत बडी है, इसलिये उस अनुमतिको अच्छे कार्योंमें ही लगाना योग्य है, अन्यथा हानि होगी। इस विषयमें सबसे पहिली आज्ञा यह है—

नः अनुमतिः देवेषु यज्ञं अद्य अनुमन्यताम्। (मं. १)

' हमारी अनुमति देवोंमें चलाये जानेवाले सत्कर्मके लिये आजही अनुमोदन देवे। ' यहां कलका वायदा नहीं, शुभकर्म आजही करना चाहिये, कलके लिये नहीं रखना चाहिये। जो सत्कर्म करना हो उसे आज ही शुरू करना चाहिये। सत्कर्मका लक्षण यह है कि (देवेषु यज्ञं) देवोंमें जो यज्ञ जैसे होता है, वह वैसे ही करनेके लिये अपनी अनुमति हो। देव कौनसा यज्ञ कर रहे हैं यह द्रष्टव्य है। जो दान देते हैं, प्रकाश देते हैं, परोपकार करते हैं वे देव हैं पृथिवी देवता है वह सबको आधार देती है, जल देवता है वह सबको शांतिसुख देनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, अग्नि देवता है वह शीतपीडितोंको गर्मी देकर सुख पहुंचाता है, सूर्य देवता सबको जीवन और प्रकाश देता है, वायु सबका प्राण बनकर सबको आयु प्रदान कर रहा है, चन्द्रमा स्वयं कष्ट भोग कर भी दूसरोंको शान्ति देनेमें तत्पर रहता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवता अहर्निश परोपकारमें लगे हुए हैं। यही देवताओंमें होनेवाला परोपकारमय यज्ञ है। ऐसे शुभ कर्मोंके लिये हमारी मति अनुकूल होवे। इन देवोंमें—

दाशुषे हव्यवाहनः अग्निः भवताम् (मं. १)

" दानी पुरुषके लिये हव्यवाहक अग्नि आदर्श होवे। " अग्नि ही परोपकारका आदर्श है क्योंकि वह स्वयं जलता रहनेपर भी दूसरोंको सुख देनेके लिये प्रकाशित होता है, हिमपीडितोंको गर्मी देता है और अपनी ऊर्ध्वगति कायम रखता है। हरएक अवस्थामें अपनी उच्च गति स्थिर रखनेके कार्यमें अग्निही एक श्रेष्ठ आदर्श है। (**अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं**), ' उच्च दिशासे प्रकाशित होकर प्रगति करनेका आदर्श ' अग्निही सबको देता है। हरएक अपनी बुद्धिमें यह आदर्श सदा रखे। और कोई मनुष्य अपनी गति हीनदिशासे कदापि होने न दें। सूर्य भी अग्निरूप होनेके कारण सबसे उच्च स्थानपर रहता हुआ प्रकाशित होता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य भी उच्चसे उच्च अवस्था प्राप्त करें और प्रकाशित हों। कभी नीच अवस्थामें पडकर दुःखी न हों, कभी अन्धकारके कीचडमें न फंसें। किस कार्यके लिए अनुमति देनी उचित है ? इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

अक्षीयमाणं प्रजावन्तं रयिं अनुमन्यताम्। (मं. ३)
सुवीरं रयिं (अनुमन्यतां)। (मं. ४)

" क्षीण न होनेवाला, प्रजायुक्त और वीरोंसे युक्त धन बढानेवाले जो जो श्रेष्ठ कर्म हों " उन कर्मोंको करनेकी अनुमति होनी चाहिये। अर्थात् कोई ऐसे दुष्ट व्यसन जिनसें धनका नाश हो वैसे काम करनेसें कदापि अनुमति नहीं होनी चाहिये। मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग मनन करने योग्य हैं—

सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै अनुमतिः। (मं. ५)

" अपना प्रदेश उत्तम बने और उसमें वीरभाव बढे, इन दो कार्योंके लिये अपनी अनुमति देनी चाहिये। हरएक प्रकारका क्षेत्र (सु-क्षेत्र) उत्तमसे उत्तम क्षेत्र बने, हरएक ग्राम, नगर और प्रांत सुधरे, हरएक राष्ट्र सुधर कर सबसे श्रेष्ठ बने इस कार्यके लिये प्रयत्न होने चाहिये और जिनसे यह सुधार हो, ऐसे कार्य करनेके लिये अनुमति देनी चाहिये। जिससे स्थान हीन हो, जिससे देशका देश हीन हो, ऐसे किसी कार्यके लिए अनुमति नहीं देनी चाहिये। इसी प्रकार अपने देशमें, नगर और ग्राममें, घरघरमें और व्यक्ति व्यक्तिमें उत्तम वीरता उत्पन्न होने योग्य श्रेष्ठ कर्मोंके लिये अपनी अनुमति देनी चाहिये। कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये कि, जिससे अपने देशके किसी मनुष्यमें थोडी भी भीरुता उत्पन्न हो। ' अवीरताका ' का नाश करनेकी वेदमें आज्ञा स्पष्ट है।

सुमति हमेशा (देवगोपा) देवोंद्वारा रक्षित हुई मति होती है अर्थात् जो दुर्मति होती है वह राक्षसोंद्वारा रक्षित होती है। इसलिये अपनी मति राक्षसोंके आधीन करना किसीको भी योग्य नहीं है। देवोंद्वारा सुरक्षित हुई जो प्रमति और विशेष श्रेष्ठ बुद्धि होती है, वही ' भद्रा ' अर्थात् सच्चा कल्याण करनेवाली होती है।

आत्माकी उपासना

[२१ (२२)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- आत्मा।)

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्तं वर्तनिरनु वावृत एकमित्पुरु ॥ १ ॥

अर्थ— (विश्वे) तुम सब लोग (दिवः पतिं वचसा समेत) प्रकाशलोकके स्वामी आत्माको स्तुतिके वचनोंसे प्राप्त करो। वह (एकः जनानां विभूः अ-तिथिः) एक है, सब जनों अर्थात् प्राणियोंमें विभु है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है। (सः पूर्व्यः) वह सबसे पूर्व ही विद्यमान है, वह (नूतनं आविवासत्) नूतन उत्पन्न शरीरोंमें भी बसता है। (तं एकं इत्) उस एकके प्रति (पुरु वर्तनिः) बहुत प्रकारके मार्ग (अनुवावृते) पहुंचते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— सब लोग इकट्ठे हो कर प्रकाशके स्वामी आत्माकी अपने शब्दोंसे स्तुति करें। वह आत्मा एक है, और सब जनों तथा प्राणियोंके अन्दर विद्यमान है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है। यद्यपि सबसे पूर्व वह विद्यमान था तथापि नूतनसे नूतन पदार्थमें भी वह रहता है। वह एकही है तथा अनेक प्रकारके मार्ग उसके पास पहुंचते हैं ॥१॥

यह आत्मा एक ही है अर्थात् संपूर्ण विश्वमें एक ही है। यही स्वर्ग किंवा प्रकाशलोकका स्वामी है। हरएक मनुष्य इसके गुणोंका गान करे। यह अनेक उत्पन्न हुए पदार्थोंमें स्वामी (विभूः) विद्यमान है और (अतिथिः) इसके आनेजानेकी तिथि किसीको पता नहीं लगती, अथवा (अतिथिः) यह सतत प्रेरणा करता है, सतत गति दे रहा है, विश्वको सतत घुमा रहा है किंवा यह अतिथिवत् पूज्य है। यह सब जगत् (पूर्व्यः) पूर्व भी था, यह कभी नहीं था ऐसा नहीं, यह पुराण पुरुष होता हुआ भी नूतन शरीरोंमें, नूतनसे नूतन पदार्थोंमें रहता है। सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण यह किसी स्थानपर नहीं ऐसी बात नहीं, इसलिये पुरातन और नूतन सभी पदार्थोंमें रहता है। वह आत्मा यद्यपि एक है तथापि उसके पास

पहुंचनेके मार्ग अनेक हैं। मनुष्य किसी भी मार्गसे जाए अन्तमें उसी एककी प्राप्ति होती है। कोई मार्ग दूरका हो या कोई समीपका हो, परंतु प्रत्येक मार्ग वहांतक पहुंचता है इसमें संदेह नहीं है।

इस सूक्तका वर्णन परमात्माका और कुछ मर्यादासे जीवात्माका भी है। परमात्माका क्षेत्र बडा और जीवात्माका छोटा है और इस रीतिसे क्षेत्रोंकी न्यूनाधिक मर्यादासे यह एकही वर्णन दोनोंका हो सकता है। जीवात्मापरक 'अतिथि' शब्द 'अनिश्चित तिथिवाला' इस अर्थमें होगा, और परमात्मापरक अर्थ होनेपर 'गतिमान्' इस अर्थमें होगा।

आत्माका प्रकाश

[२२ (२३)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- मन्त्रोक्ता, ब्रध्नः।)

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि। ॥ १ ॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं) यह परमात्मा (वि-धर्मणि) विरुद्ध अथवा विविध धर्मवाले पदार्थोंकी संकीर्णतामें (नः कवीनां सहस्रं दृशे) हमारे ज्ञानियोंके हजारों प्रकारके दर्शनके लिये (मतिः ज्योतिः आ) उत्तम बुद्धि और ज्योतिरूप होता है ॥ १ ॥

वह (ब्रध्नः) बडा आत्मारूपी सूर्य (समीचीः अरेपसः) उत्तम रीतिसे चलनेवाली, निर्दोष (सचेतसः मन्युमत्तमाः) ज्ञान देनेवाली, उत्साह बढानेवाली (उषसः) उषःकालकी किरणोंको (गोः स्वसरे चिते) इंद्रियोंके स्वसंचारके मार्गको बतलानेके कार्यमें (समैरयन्) प्रेरित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ— विरुद्ध गुण धर्मवाले पदार्थोंमें व्यापनेवाला एक परमात्मा है। वह ज्ञानियोंको उत्तम मार्ग हजारों रीतियोंसे बताता है और उनको उत्तम बुद्धि तथा ज्योति देता है ॥ १ ॥

यह परमात्मा एक बडा सूर्य ही है, उसकी ज्ञान देनेवाली किरणें अत्यंत निर्मल, उत्साह बढानेवाली, प्रकाश देनेवाली, हमारे इंद्रियोंको संचारका मार्ग बतानेवाली हैं, अर्थात् उनसे शक्ति प्राप्त करके हमारी इंद्रियां कार्य करती हैं ॥ २ ॥

इस सूक्तमें जगत्का भी वर्णन है और उसमें व्यापनेवाले परमात्माका भी वर्णन है और उसकी उपासना करनेवाले भक्तोंका भी वर्णन है।

जगत्का वर्णन करनेवाला शब्द यह है— (विधर्मणि) विरुद्ध गुणधर्मवाला जगत् है, इसमें अग्नि उष्ण है और जल शीत है, पृथ्वी स्थिर है और वायु चंचल है, पृथ्वी आदि पदार्थ सावयव हैं तो आकाश निरवयव है। ऐसे विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंमें एक रस व्यापनेवाली यह आत्मा है। विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंकी संगतिमें सदा रहनेपर भी इसके गुण धर्मोंमें अदल बदल नहीं होता। इसी प्रकार विरुद्ध गुणधर्मवाले लोगोंको अपने पास रखकर स्वयं उनके दुर्गुणोंसे दूर रखकर अपने शुभगुणोंसे उनको प्रेरित करना चाहिये।

जिस प्रकार परमात्मा सबको (मतिः ज्योतिः) सद्बुद्धि और प्रकाश देता है, उसी प्रकार अपने पास जो ज्ञान हो वह अन्योंको देना और अपने पास जितना प्रकाश हो उतना अंधेरेमें चलनेवाले दूसरे लोगोंको दिखलाना चाहिये।

वह परमात्मा बडा है, उसकी किरणें निर्दोष हैं, वह मलहीन है, वह उत्साह देनेवाला है; इसी प्रकार मनुष्योंको उचित है कि, वे उच्च बनें, निर्दोष बनें, शुद्ध और पवित्र बनें, उत्साही बनें और दूसरोंको उच्च, निर्दोष, शुद्ध, पवित्र और उत्साही बनावें। इस प्रकार आत्माके गुणोंका विचार करके वे गुण अपनेमें बढाने चाहिये।

विपत्तिको हटाना

[२३ (२४)]

(ऋषिः- यमः। देवता- दुःस्वप्ननाशनः।)

दौष्वंप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमिराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

अर्थ— (दौष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्नोंका आना, (दौर्जीवित्यं) दुःखमय जीवन (रक्षः) हिंसकोंका उपद्रव, (अ-भ्वं) अभूति, दरिद्रता, (अराय्यः) विपत्तिके कष्ट, (दुर्नाम्नीः) बुरे नामोंका उच्चार करना, (सर्वाः दुर्वाचः) सब प्रकारके दुष्ट भाषण (ताः अस्मत् नाशयामसि) उन सबको हम अपने स्थानसे नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— बुरे स्वप्न, कष्टका जीवन, हिंसकोंका उपद्रव, विपत्ति, दारिद्य, दुष्टभाषण, गालियाँ देना आदि जो जो बुराईयां हममें हैं, उनको हम दूर करते हैं ॥ १ ॥

विपत्तियां अनेक प्रकारकी हैं, उनमें कुछ विपत्तियोंकी गणना इस स्थानपर की है। बुरे स्वप्न आना आदि विपत्ति तथा दुःखपूर्ण जीवनका अनुभव होना, ये विपत्तियां आरोग्य न रहनेसे होती हैं। आरोग्य उत्तम रीतिसे रखनेके लिये व्यायाम, योगासनोंका अनुष्ठान, यमनियमपालन, प्राणायाम, योग्य आहारविहार आदि उपाय हैं। इनके योग्य रीतिसे करनेसे ये दो विपत्तियां दूर होती हैं। हिंसकोंका उपद्रव दूर करनेके लिये अपने अंदर शूरता उत्पन्न करके शत्रुनाशके उस कार्यमें उस शक्तिको लगाना चाहिये। इससे राक्षसोंके आक्रमणसे हम अपना बचाव कर सकते हैं। (अ-भ्वं) अभूति और (अ-राय्यः) निर्धनता ये दो आर्थिक आपत्तियां उद्योगवृद्धि करने और बेकारी दूर करनेसे दूर होती हैं। मनुष्य आलसी न रहे, कुछ न कुछ उत्पादक काम धंदा करे और अपनी धन संपत्ति सुयोग्य उपायसे बढावे। इस प्रकार उद्योगवृद्धि करनेसे ये आर्थिक आपत्तियां दूर हो जाती हैं। गाली देना, बुरा भाषण करना, बुरे शब्द उच्चारण करना आदि जो आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये अपनी वाणीकी शुद्धि करनी चाहिये। अप शब्दोंका उच्चार न करनेसे कुछ दिनोंके पश्चात् ये शब्द वाणीसे स्वयं दूर हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मशुद्धि करनेका मार्ग इस सूक्तने बताया है।

प्रजापालक

[२४ (२५)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- सविता।)

यन्न इन्द्रो अखनुद्यदुग्निर्विश्वे देवा मुरुतो यत्स्वर्काः।
तदुस्मभ्यं सविता सुत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जो (इन्द्रः, अग्निः, विश्वे देवाः) इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेव, (स्वर्काः मरुत्) उत्तम तेजस्वी मरुत् इनमेंसे प्रत्येकने (नः अखनत्) हमारे लिये खोदा है (तत्) उस पदार्थको (सत्यधर्मा प्रजापतिः अनुमतिः सविता) सत्य धर्मवाला प्रजापालक अनुमति रखनेवाला सविता (नियच्छात्) देवे ॥ १ ॥

हम सब प्राणिमात्रके लिये विद्युत्, अग्नि, पृथिवी आदि सब देव तथा विविध प्रकारके वायु जो लाभ देते हैं, वह लाभ हमें सूर्यसे प्राप्त होता है, परंतु उससे योग्य रीतिसे लाभ प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि सच्चा प्रजापालक यही सूर्य है।

व्यापक और श्रेष्ठ देव

[२५ (२६)]

(ऋषिः- मेधातिथिः । देवता- सविता ।)

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥
यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

अर्थ— (ययोः ओजसा) जिन दोनोंके बलसे (रजांसि स्कभिता) लोक लोकान्तर स्थिर हुए हैं, (यौ वीर्यैः शविष्ठा वीरतमा) जो दो अपने पराक्रमोंसे बलवान् और अत्यंत शूर हैं, (यौ सहोभिः अप्रतीतौ प्रत्येते) जो अपने बलोंसे पीछे न हटते हुए आगे बढते हैं। उन दोनों (विष्णुं वरुणं) विष्णु अर्थात् व्यापक देवके प्रति और वरुण अर्थात् श्रेष्ठ देवके प्रति (पूर्वहूतिः अगन्) सबसे प्रथम प्रार्थना करता हुआ प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

(यस्य प्रदिशि) जिसकी दिशा उपदिशाओंमें (इदं यत् विरोचते) यह जो प्रकाशित होता है (प्र अनति च) और उत्तम रीतिसे प्राण धारण करता है, (देवस्य धर्मणा सहोभिः) इस देवके धर्म और बलोंसे (शचीभिः विचष्टे च) तथा शक्तियोंसे देखता है, उस (विष्णुं वरुणं च पूर्वहूतिः अगन्) व्यापक और श्रेष्ठ देवको सबसे प्रथम प्रार्थना करनेवाला होकर प्राप्त करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जिसने अपने बलसे इस त्रिलोकीको अपने स्थानमें स्थिर किया है, जो अपनी विविध शक्तियोंसे अत्यंत बलवान् और पराक्रमी हुआ है, जो कभी पीछे नहीं हटता परंतु आगे बढता है, उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं, क्योंकि वह सबसे श्रेष्ठ देव है ॥ १ ॥

जिसकी शक्तिसे दिशा और उपदिशाओंमें सर्वत्र प्रकाश फैल रहा है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणीमात्र प्राण धारण करते हैं, जिस देवके निज धर्मसे और बलोंसे सब प्राणी देखते और अनुभव करते हैं उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं क्योंकि वह सबसे वरिष्ठ देव है ॥ २ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूक्तमें प्रथम मंत्रमें दो देव भिन्न भिन्न हैं ऐसा मानकर वर्णन किया है, परंतु दूसरे ही मंत्रमें उन दोनोंको एक माना है और एकवचनी प्रयोग हुआ है। इससे ' विष्णु और वरुण ' इन दो शब्दोंसे एक अभिन्न देवताका ही वर्णन अभीष्ट है ऐसा दीखता है।

सर्वव्यापक ईश्वर

[२६ (२७)]

(ऋषिः- मेधातिथिः । देवता- विष्णुः ।)

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

अर्थ— (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जो पृथ्वीपरके लोकोंको विशेष रीतिसे निर्माण करता है। (यः उरुगायः) जो बहुत प्रकार प्रशंसित होता हुआ (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकारसे पराक्रम करता हुआ। (उत्तरं सधस्थं अस्कभायत्) उच्चतर स्वर्गीय प्रकाशस्थानको स्थिर करता है ऐसे उस (विष्णोः वीर्याणि) सर्वव्यापक ईश्वरके पराक्रमोंका (कं प्रावोचं नु) सुख बढानेवाला वर्णन मैं करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— सर्वव्यापक परमेश्वरके पराक्रम बहुत हैं। जो अपना सुख बढाना चाहते हैं वे उनका वर्णन करें, उनका गायन करें। उसी परमेश्वरने सब पार्थिव पदार्थोंका विशेष कुशलतासे निर्माण किया है। इसीलिये उसकी सर्वत्र बहुत प्रशंसा होती है। वह तीनों लोकोंमें तीन प्रकारका पराक्रम करता है और उसीने सबसे ऊपरका द्युलोक बिना किसी आधारके स्थिर किया हुआ है ॥ १ ॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
परावत आ जगम्यात्परस्याः ॥ २ ॥
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

अर्थ— (तत् वीर्याणि) उस पराक्रमके कारण (विष्णुः स्तवते) वही व्यापक ईश्वर प्रशंसित होता है। वह (भीमः मृगः न) भयानक सिंहके समान (कु-चरः गिरि-ष्ठः) पृथ्वीपर सर्वत्र संचार करनेवाला और गिरि गुहाओंमें रहनेवाला है। वह (परस्याः परावतः) दूरसे दूरके प्रदेशसे (आजगम्यात्) समीप आता है ॥ २ ॥

(यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु) जिसके विशाल तीन विक्रमोंमें (विश्वा भुवनानि अधि क्षियन्ति) सब भुवन रहते हैं वह तू है (विष्णो, उरु विक्रमस्व) व्यापक देव ! विशेष विक्रम कर। (नः क्षयाय उरु कृधि) हमारे निवासके लिये विस्तृत स्थान दे। हे (घृतयोने, घृतं पिब) रसको उत्पन्न करनेवाले! रसका पान कर और (यज्ञ-पतिं प्र प्र तिर) यज्ञकर्ताको दुःखसे पार करा ॥ ३ ॥

(विष्णुः इदं विचक्रमे) व्यापक देव इस जगत्में विक्रम कर रहा है, उसने (पदा त्रेधा निदधे) अपने पांवसे तीन प्रकारसे पद रखा है। (अस्य पांसुरे समूढं) इसका जो पांव बीचके लोकमें है वह गुप्त है ॥ ४ ॥

(अदाभ्यः गोपा विष्णुः) न दबनेवाला, पालक और व्यापक देव (त्रीणि पदा विचक्रमे) तीन पावोंको इस जगत्में रखता है और (इतः धर्माणि धारयन्) वहांसे सब धर्मोंका धारण करता है ॥ ५ ॥

(विष्णोः कर्माणि पश्यत) व्यापक देवके ये कार्य देखो। (यतः व्रतानि पस्पशे) जहांसे सब गुणधर्मोंको वह देखता है। (इन्द्रस्य युज्यः सखा) वह जीवात्माका योग्य मित्र है ॥ ६ ॥

भावार्थ— इस परमेश्वरका गुणसंकीर्तन करनेसे उसके पराक्रमोंका ज्ञान प्राप्त होता है और उससे उसका महत्त्व अनुभव करना सुगम होता है। जैसे सिंह गिरिकंदराओंमें संचार करता है, और भूमिपर घूमता है, उसी प्रकार यह भी हृदयगुफामें संचार करता है और इस लोकको व्याप्त करता है। वह दूरसे दूर रहनेपर भी भक्ति करनेपर समीपसे समीप आ जाता है ॥ २ ॥

पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंमें इस ईश्वरके तीन पराक्रम दिखाई देते हैं। उन पराक्रमोंसे ही इन तीन लोकोंका अस्तित्व है। इसलिये उस प्रभुकी विशेष प्रार्थना करते हैं कि वह हमें उत्तम और विस्तृत स्थान कार्य करनेके लिये अर्पण करे। हे प्रभो ! यजमान जो सत्कर्म करता है उसका रस ग्रहण करके यजमानको इस दुःखसागरसे पार कर ॥ ३ ॥

व्यापक देवका कार्य इस त्रिलोकीमें देख, उसने अपने तीन पांव लोकोंमें रखकर वहांका कार्य किया है। पृथ्वीपर उसका कार्य दिखाई देता है, द्युलोकमें भी वैसा ही अनुभवमें आता है। परंतु मध्यस्थानीय अन्तरिक्ष लोकमें उसका जो कार्य हो रहा है वह दिखाई नहीं देता ॥ ४ ॥

यह व्यापक देव किसीसे भी न दबनेवाला और सबकी रक्षा करनेवाला है। इन तीनों लोकोंमें अपने तीन पांव रखता है और वहांका सब कार्य करता है। यहींसे उसके सब गुणधर्म प्रकट होते हैं ॥ ५ ॥

हे लोगो ! इस सर्वव्यापक ईश्वरके ये चमत्कार देखो। जिसके प्रभावसे उसके सब व्रत यथायोग्य रीतिसे चल रहे हैं। हरएक जीवका यह परमेश्वर एक उत्तम मित्र है ॥ ६ ॥

तद्विष्णोः पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ । दि॒वीऽव॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ ७ ॥
दि॒वो वि॑ष्ण उ॒त वा॑ पृथि॒व्या म॒हो वि॑ष्ण उ॒रोर॒न्तरि॑क्षात् ।
हस्तौ॑ पृणस्व ब॒हुभि॑र्व॒स॒व्यै॑रा॒प्रय॑च्छ दक्षि॑णा॒दोत स॒व्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ— मनुष्य (दिवि आततं चक्षुः इव) जैसे द्युलोकमें फैले हुए चक्षुरूपी सूर्यको प्रत्यक्ष देखते हैं, उसी प्रकार उस (विष्णोः तत् परमं पदं) व्यापक देवके उस परम स्थानको (सूरयः सदा पश्यन्ति) ज्ञानी जन सदा देखते हैं ॥ ७ ॥

हे (विष्णो) व्यापक देव ! (दिवः उत पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवीसे तथा (महः उरोः अन्तरिक्षात्) बडे विस्तृत अन्तरिक्षसे (बहुभिः वसव्यैः हस्तौ पृणस्व) बहुत धनोंसे अपने दोनों हाथ भर ले और (दक्षिणात् उत सव्यात्) दायें तथा बायें हाथोंसे हमें (आ प्रयच्छ) प्रदान कर ॥ ८ ॥

भावार्थ — जिस प्रकार द्युलोकमें सूर्यको सब लोग देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग सदा उसको देखते हैं । अर्थात् वह ईश्वर इस प्रकार उनको प्रत्यक्ष होता है ॥ ७ ॥

हे सर्वव्यापक प्रभो ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमेंसे बहुत धन तू अपने हाथमें लेकर अपने दोनों हाथोंसे उस धनको हमें प्रदान कर ॥ ८ ॥

इस सूक्तमें सर्वव्यापक ईश्वरका वर्णन है । तीनों लोकोंमें जो विलक्षण चमत्कार दिखाई देते हैं, वे सब उसीकी शक्तिसे हो रहे हैं । उसीने ये तीनों लोक रचे, उसीने इनको धारण किया और वही यहांका सब चमत्कार कर रहा है । यह सर्वव्यापक होनेपर भी साधारण लोगोंको वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता । परन्तु ज्ञानी लोगोंको वह वैसा ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जैसे दो पहरका सूर्य आकाशमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

मातृभाषा

[२७) २८)]

(ऋषिः– मेधातिथिः । देवता– इडा (मंत्रोक्ता) ।)

इडै॒वास्माँ॒ अनु॑ वस्तां व्र॒तेन॒ यस्याः॑ प॒दे पु॒नते॑ दे॒वय॑न्तः ।
घृ॒तप॑दी॒ शक्व॑री॒ सोम॑पृ॒ष्ठोप॑ य॒ज्ञम॑स्थित वैश्वदे॒वी ॥ १ ॥

अर्थ— (इडा एव व्रतेन अस्मान् अनुवस्तां) मातृभाषा ही नियमसे हमारे पास अनुकूलतासे रहे, (यस्याः पदे देवयन्तः पुनते) जिसके पदपदमें देवताके समान आचरण करनेवाले पवित्र होते हैं। (घृतपदी) स्नेहयुक्त पदवाली, (शक्करी) सामर्थ्यवती, (सोमपृष्ठा) कलानिधि जिसके पीछे होता है, ऐसी (वैश्वदेवी) सब देवोंका वर्णन करनेवाली वाणी (यज्ञं उप अस्थित) यज्ञके समीप स्थिर होवे ॥ १ ॥

मातृभाषासे हम कभी पराङ्मुख न हों, अनुकूलतासे मातृभाषाका उपयोग करनेकी अवस्थामें हम सदा रहें । देवता बननेकी इच्छा करनेवाले सज्जन इस मातृभाषाके पदपदके उच्चारणके समय अपनी पवित्रता होनेका अनुभव करते हैं । अर्थात् मातृभाषाको छोडकर किसी अन्यभाषाका उच्चारण करनेकी आवश्यकता हो और उतने प्रमाणसे मातृभाषाका प्रतिबंध होने लगे, तो वे समझते हैं कि पदपदमें अपवित्रता हो रही है । क्योंकि मातृभाषाका हरएक पद उच्चारण करनेवालेके रक्तके साथ संबंध रखता है । मातृभाषाके शब्दोंमें (घृत-पदी) घी भरा रहता है अर्थात् एक प्रकारका तेजस्वी स्नेहरस रहता है, जिसके कारण मातृभाषाका शब्दोच्चार अन्तःकरणपर एक विलक्षण भाव उत्पन्न करता है। मातृभाषा (शक्करी)

शक्तिमती भी होती है। परकीय भाषाका व्याख्यान श्रवण करनेसे सब उपस्थित स्त्रीपुरुषोंपर वैसी शक्तिका प्रभाव नहीं जम सकता, जैसा मातृभाषाका व्याख्यान शक्ति प्रदान कर सकता है। मातृभाषाके पीछे (सोमकलानिधि) कलाओंकी निधि रहती है। सब हुनर इसके साथ रहते हैं इस कारण इसकी शक्ति बहुत ही बढ जाती है। यह (वैश्व+देवी= विश्वे देवाः) सब देवोंको स्थान देनेवाली होती है अर्थात् पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि देवोंका गुण वर्णन-वैज्ञानिक पदार्थ विज्ञान- इस भाषामें रहनेसे मानों इसमें देवता रहती हैं। ऐसी दैवी बलसे युक्त मातृभाषा हरएक सत्कर्ममें प्रयुक्त होवे। कभी अन्य भाषाके शब्द मातृभाषा बोलनेके समय प्रयुक्त न किये जायें। इस प्रकार इस सूक्तका एक एक शब्द मातृभाषाका गौरव वर्णन कर रहा है।

कल्याण

[२८ (२९)]

(ऋषिः- मेधातिथिः। देवता- वेदः।)

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (वेदः स्वस्ति) ज्ञान कल्याण करनेवाला है। (द्रु-घणः स्वस्ति) लकडी काटनेकी कुल्हाडी कल्याण करनेवाली है। (परशुः) परशु कल्याण करनेवाला है। (वेदिः) यज्ञकी वेदि कल्याण करती है। (नः परशुः स्वस्ति) हमारा शस्त्र कल्याण करनेवाला (हविष्कृतः याज्ञियाः यज्ञकामाः) हवि बनानेवाले, पूजनीय और यज्ञ करनेकी इच्छा करनेवाले (ते देवासः) वे याजक (इमं यज्ञं जुषन्तां) इस यज्ञका प्रेमसे सेवन करें ॥ १ ॥

ज्ञान, बढईके हथियार, लकडी तोडनेके कुल्हाडे, घास काटनेका हंसिया, समिधा तैय्यार करनेका फरसा, वेदी, हवि, हवि तैय्यार करनेवाले लोग, यज्ञ करनेवाले, यज्ञकी इच्छा करनेवाले ये सब कल्याण करनेवाले हैं। इसलिये इनके विषयमें उचित श्रद्धा धारण करनी चाहिये।

दो देवोंका सहवास

[२९ (३०)]

(ऋषिः- मेधातिथिः। देवता- अग्नाविष्णू।)

अग्नाविष्णू महि तद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अग्नाविष्णू) अग्नि और विष्णु ! (वां तत् महि महित्वं नाम) तुम दोनोंका वह बडा महत्त्वपूर्ण यश है, जो तुम दोनों (गुह्यस्य घृतस्य पाथः) गुह्य घृतका पान करते हो। तथा (दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ) प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको धारण करते हो और (वां जिह्वा घृतं प्रति आ चरण्यात्) तुम दोनोंकी जिह्वा प्रत्येक यज्ञमें उस रसको प्राप्त करती है ॥ १ ॥

भावार्थ— अग्नि और विष्णु ये दो देव एक स्थानमें रहते हैं, उन दोनोंकी बडी भारी महिमा है। वे दोनों गुप्त रीतिसे गुहामें बैठकर घीका भक्षण करते हैं, प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको स्थापित करते हैं और अपनी जिह्वासे गुह्य घीका स्वाद लेते हैं ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्नाविष्णू) अग्नि और विष्णु! (वां धाम महि प्रियं) आपका स्थान बडा प्रिय है । उसको (घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः) घीके गुह्य रसका सेवन करते हुए प्राप्त करते हो । (दमे दमे सुष्टुत्या वावृधानौ) प्रत्येक घरमें उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए (वां जिह्वा घृतं प्रति उत् चरण्यात्) तुम दोनोंकी जिह्वा उस घृतको प्राप्त करती है ॥ २ ॥

भावार्थ— इन दोनोंका एक ही बडा भारी प्रिय स्थान है । ये दोनों घीके गुह्य रसका स्वाद लेते हैं । हरएक घरमें स्तुतिसे बढते हैं और गुह्य घीके पास ही इनकी जिह्वा पहुंचती है ॥ २ ॥

दो देवोंका सहवास

इस सूक्तमें एक स्थानमें रहनेवाले दो देवोंका वर्णन है। एक अग्नि और दूसरा विष्णु है । ' विष्णु ' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमेश्वरका वर्णन इसके पूर्वके २६ वें सूक्तमें हो चुका है । ' विष्णु ' शब्दका दूसरा अर्थ ' सूर्य ' है, सूर्य भी बहुत ही बडा है और इस ग्रहमालाका आधार तथा कर्ता-धर्ता है उसकी अपेक्षा अग्नि बहुतही अल्प और छोटी है । सूर्यके साथ हमारे अग्निकी तुलना की जाय, तो दावानलके साथ चिनगारीकी ही कल्पना हो सकती है । अग्नि उत्पन्न होती है, अर्थात् इसका जन्म होता है यह बात हम देखते हैं, जन्मके बाद वह कुछ समय जलती रहती है और पश्चात् बुझ जाती है । ठीक यही बात जीवात्माके जन्म होने, उसकी आयुसमाप्तितक जीवित रहने और पश्चात् मरनेके साथ तुलना करके देखिये, तो पता लग जायगा । यदि यहां ' विष्णु ' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमात्माका ग्रहण किया जावे, तो ' अग्नि ' शब्दसे छोटे जीवात्माका ग्रहण किया जा सकता है। उत्पन्न होना, जीवित रहना और बुझ जाना ये तीनों बातें जैसी अग्निमें हैं वैसी ही जीवात्मामें हैं और उसके साथ सदा रहनेवाला विश्वव्यापक परमात्मा है । यही बात वेदमें अन्यत्र भी कही है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥

' दो सुंदर पंखवाले पक्षी साथ साथ रहते हैं, परस्पर मित्र हैं, ये दोनों एक ही वृक्षपर रहते हैं। ' (ऋ० १।१६४।२०)

यह जो दो पक्षी कहे हैं, उनमेंसे एक जीवात्मा है और दूसरा परमात्मा है । इसी प्रकार साथ रहनेवाले दो देव, एक अग्नि और दूसरा सूर्य, अथवा एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा है । यहां अग्निका जीवात्माके किन गुणोंके साथ साधर्म्य है वह ऊपर कहा है । देहके साथ वारंवार संबंधित होनेके कारण पूर्वोक्त तीनों धर्म जीवात्माके ऊपर आरोपित होते हैं, क्योंकि जीवात्मा तो न जन्मता है और न मरता है । शरीरके ये धर्म उसपर लगाये जाते हैं । ये दोनों—

दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ (मं० १)

' घर घरमें सात रत्नोंको धारण करते हैं । ' ये सात रत्न यहां प्रत्येक जीवात्माके प्रत्येक घरमें हैं । पांच ज्ञानेंद्रियाँ और मन तथा बुद्धि ये सात रत्न हैं, इसीसे साधारणतः सब प्राणी और विशेषतः मनुष्य सुशोभित होते हैं । इनमें रमणीयता है, ये मनुष्यके आभूषण हैं अतः ये रत्न ही हैं । जो जेवरोंमें पहने जाते हैं वे वस्तुतः रत्न नहीं हैं; आत्माके इन सात रत्नोंके ठीक रहने पर ही जेवर और भूषण शरीरको शोभा देते हैं, अन्यथा जेवरोंसे कोई शोभा नहीं होती । यजुर्वेदमें कहा है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः० (यजु० ३४।५५)

' प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि हैं, ये सात इस सभास्थानकी अर्थात् शरीरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं, ये सात नदियां सोनेवाले इस जीवात्माके लोकमें जाती हैं ' इत्यादि वर्णन भी इन्हीं इंद्रियोंका ही वर्णन है, सात रत्न, सात ऋषि, सात रक्षक, सात जलप्रवाह इत्यादि वर्णन इन्हीं जीवात्माकी सात शक्तियोंका है । जबतक यह जीवात्मारूपी अग्नि इस शरीररूपी हवन कुण्डमें जलता रहता है तबतक ये सात रत्न भी रहते हैं, जब यह बुझ जाता है, तब ये रत्न भी शोभा देना बंद कर देते हैं । ये दोनों अग्नियां—

गुह्यस्य घृतस्य पाथः । (मं १)

घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः । (मं २)

वां जिह्वा घृतं प्रति आ (उत्) चरण्यात् ।

(मं० १-२)

' गुह्य घी पीते हैं। इनकी जिह्वा इस घीकी ओर जाती है। ' यह गुह्य घृत कौनसा है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। गुहामें जो होता है वह ' गुह्य ' कहलाता है। यहां ' गुहा ' शब्दसे ' बुद्धि ' अथवा ' अन्तःकरण ' विवक्षित है। इसमें जो इंद्रियरूपी गौसे निचोडे हुए दूधका बनाया हुआ घी होता है, वह गुह्य किंवा गुप्त घी है। यह घी इस बुद्धिमें अथवा हृदयकंदरामें रखा हुआ होता है और इसका ये गुप्त रीतिसे सेवन करते हैं। यह बात अब पाठकोंको विदित होगई होगी, कि इस रूपकका क्या तात्पर्य है।

वां महि प्रियं धाम । (मं० २)

' इनका स्थान बडा है और प्रिय है। ' क्यों कि यहां प्रेम भरा रहता है। सबको यह प्यारा है। सब इसकी ही प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं। ऐसा इनका स्थान है। तथा-

दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ । (मं० २)

' घर घरमें उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। ' अर्थात् हरएक शरीरमें जहां जहां उत्तम ईश्वरकी स्तुति होती है, जहां उसके शुभ गुणोंका गायन होता है, वहां एक तो परमेश्वर भावकी वृद्धि होती है, और उन गुणोंकी धारणासे जीवात्माकी शक्ति बढती है। यह जीवात्माकी वृद्धिका उपाय है।

यहां शरीरके लिए ' दम ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस शरीरमें इंद्रियोंका शमन होता है और मनोवृत्तियोंका दमन होता है उसका नाम ' दम ' है। दो प्रकारके शरीर हैं। एकमें भोगवृत्ति बढती है और दूसरेमें दमवृत्ति बढती है। जिसमें दमवृत्ति बढती है उसका नाम यहां ' दम ' रखा है और इस दमसे ' सप्त रत्न ' भी उत्तम तेजःपुंज स्थितिमें रहते हैं और वहीं आत्माकी शक्ति विकसित होती है।

अञ्जन

[३० (३१)]

(ऋषिः- भृग्वंगिराः । देवता- द्यावापृथिवी, मित्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सविता च।)

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी मे सु-आक्तं) द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरी आंखोंको उत्तम अञ्जनसे युक्त करें। (अयं मित्रः स्वाक्तं अकः) यह मित्र मुझे अञ्जनसे युक्त करता है। (ब्रह्मणस्पतिः मे स्वाक्तं) ज्ञानपति देवने मुझे उत्तम अञ्जनसे युक्त किया है। (सविता स्वाक्तं करत्) सविताने भी मेरी आंखोंके लिये उत्तम अञ्जन दिया है ॥ १ ॥

आंखमें अञ्जन डालकर आंखोंका आरोग्य बढानेकी सूचना इस मंत्र द्वारा मिलती है। द्युलोकसे पृथ्वीतक जो जो सृष्ट्यन्तर्गत सूर्यादि पदार्थ हैं, उनका जो तेजस्वी रूप है, उसी तरह मेरी आंखें तेजस्वी बनें। यह इच्छा इस सूक्तमें स्पष्ट है। यह मंत्र ज्ञानाञ्जनका भी सूचक माना जा सकता है। जिससे दृष्टि शुद्ध होती है वह अञ्जन होता है, फिर वह साधारण अञ्जन हो, अथवा ज्ञानाञ्जन हो।

अपनी रक्षा

[३१ (३२)]

(ऋषिः– भृग्वंगिराः । देवता– इन्द्रः ।)

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यांवच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यावत् श्रेष्ठाभिः बहुलाभिः ऊतिभिः) अतिश्रेष्ठ विविध प्रकारकी रक्षाओंसे (अद्य न जिन्व) आज हमें जीवित रख । हे (मघवन् शूर) धनवान् शूरवीर ! (यः नः द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (सः अधरः पदीष्ट) वह नीचे गिर जावे । (यं उ द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (तं उ प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १ ॥

भावार्थ— हे धनवान् और शूर प्रभो ! तुम्हारे जो अनेक प्रकारके अतिश्रेष्ठ रक्षाके साधन हैं, वे सब हमें प्राप्त हों और उनसे हमारी रक्षा होवे और हमारा जीवन उनकी सहायतासे सुखकर होवे। जो दुष्ट हमारी विनाकारण निन्दा करता है, वह गिर जावे और जिस दुष्टसे हम सब द्वेष करते हैं उसका जीवन ही समाप्त हो जावे ॥ १ ॥

हम परमेश्वरकी भक्ति करें और उसकी रक्षा प्राप्त करके सुरक्षित और स्वस्थ होकर आनन्दका उपभोग करें। परंतु जो दुष्ट मनुष्य हम सबसे द्वेष करता है और उस कारण जिस दुष्टसे हम सब द्वेष करते हैं, उसका नाश हो। दुष्टता और द्वेषका समूल नाश हो।

दीर्घायुकी प्रार्थना

[३२ (३३)]

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवता– आयुः ।)

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् ।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

अर्थ— (प्रियं पनिप्नतं) प्रिय, स्तुतिके योग्य, (युवानं आहुतीवृधं) तरुण और आहुतियोंसे बढनेवाले अग्निके समीप (नमः बिभ्रतः उप अगन्म) अन्न धारण करते हुए हम प्राप्त होते हैं। वह (मे दीर्घं आयुः कृणोतु) मेरी दीर्घ आयु करे ॥ १ ॥

प्रतिदिन घर घरमें प्रज्वलित अग्निमें हवन करनेसे और उसमें योग्य विहित हवनीय पदार्थोंका हवन करनेसे घरवालोंकी आयु वृद्धिंगत होती है।

प्रजा, धन और दीर्घ आयु

[३३ (३४)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- मन्त्रोक्ता ।)

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।

सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

अर्थ— (मरुतः मा सं सिञ्चन्तु) मरुत् मेरे ऊपर प्रजा और धनका सिंचन करें । (पूषा बृहस्पतिः सं सं) पूषा और ब्रह्मणस्पति मेरे ऊपर उसीका उत्तम रीतिसे सिंचन करें (अयं अग्निः प्रजया च धनेन च मा सं सिञ्चतु) यह अग्नि मेरे ऊपर प्रजा और धनका उत्तम सिंचन करे । और (मे आयुः दीर्घं कृणोतु) मेरी आयु दीर्घ करे ॥ १ ॥

देवताओंकी सहायतासे मुझे उत्तम संतान विपुल धन और दीर्घ आयु प्राप्त होवे । जिस प्रकार मेघसे पानी बरसता है उसी प्रकार मेरे ऊपर इनकी वृष्टि होवे । अर्थात् पर्याप्त प्रमाणमें ये मुझे प्राप्त हों । 'मरुत' वायु किंवा प्राण है । शुद्ध वायुसे प्राण बलवान् होकर नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त हो सकती है । 'ब्रह्मणस्पति' की सहायतासे ज्ञान और 'पूषा' की सहायतासे पुष्टि प्राप्त होगी । इसी प्रकार अग्नि शुद्धता करता है इसलिये इससे पवित्रता प्राप्त होगी और इन सबसे, प्रजा, धन और दीर्घ आयुकी वृद्धि होगी ।

निष्पाप होनेकी प्रार्थना

[३४ (३५)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- जातवेदाः ।)

अग्ने जातान्प्र णुदा मे सपत्नान्प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ।

अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (मे जातान् सपत्नान् प्रणुद) मेरे उत्पन्न हुए शत्रुओंको दूर कर । हे (जातवेदः) ज्ञानके उत्पादक देव । (अजातान् प्रति नुदस्व) ऊपरसे शत्रु न होनेपर भी अंदर अंदरसे शत्रुता करनेवाले शत्रुओंको एकदम हटा । (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुष्व) जो सेना लेकर हमपर चढाई करते हैं उनको नीचे गिरा दे । (वयं अनागसः) हम सब निष्पाप हों और (अदितये स्याम) अदीनता अर्थात् स्वतंत्रताके लिये योग्य हों ॥ १ ॥

ज्ञानी, ज्ञानदाता प्रकाशमय देव हमारे सब शत्रुओंको हमसे दूर करे । शत्रु खुली रीतिसे शत्रुता करनेवाले हों अथवा गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हों, सबके सब वे शत्रु दूर हों । जो सैन्य लेकर हमारे ऊपर चढाई करते हैं, वे भी सब अपने स्थानसे गिर जावें । हम निष्पाप बनें और दीनता हमसे दूर हो जाये । अदीनता, भव्यता तथा स्वतंत्रता हमारे पास रहे ।

*

स्त्रीचिकित्सा

[३५ (३६)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– जातवेदाः ।)

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥
इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥
परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।
अस्वं१ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अन्यान् सपत्नान् सहसा प्रसहस्व) दूसरी सौतोंको बलसे दबा दे । हे (जातवेदः) ज्ञानप्रकाशक ! (अजातान् प्रति नुदस्व) अभी न बने हुए परन्तु आगे होनेवाली सौतोंको दूर कर । (इदं राष्ट्रं सौभगाय पिपृहि) इस राष्ट्रको उत्तम समृद्धिके लिये परिपूर्ण कर । (विश्वे देवाः एनं अनुमदन्तु) सब देव इसका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

(याः ते इमाः शतं हिराः) जो ये सौ नाडियां हैं, (उत सहस्रं धमनीः) और हजारों धमनियां हैं, (ते तासां सर्वासां बिलं) तेरी उन सब धमनियोंका छिद्र (अहं अश्मना अपि अधां) मैं पत्थरसे बन्द करता हूं ॥ २ ॥

(ते योनेः परं) तेरे गर्भस्थानसे परे जो हैं उनको (अवरं कृणोमि) मैं समीप करता हूं । जिससे (प्रजा उत सूनुः) संतान अथवा पुत्र (त्वा मा अभिभूत्) तुझे तिरस्कृत न करे । (त्वा अस्वं प्रजसं कृणोमि) तुझे असुवाला अर्थात् प्राणवाला संतान करता हूं । और (अश्मानं ते अपिधानं कृणोमि) पत्थर तेरा आवरण करता हूं ॥ ३ ॥

स्त्रीचिकित्सा

इस सूक्तमें स्त्रीचिकित्साका विषय कहा है । विशेषकर योनिचिकित्साका महत्त्वपूर्ण विषय है । सूक्त अस्पष्ट है और समझनेमें बहुत कठिन है । अतः इसका योग्य स्पष्टीकरण हम कर नहीं सकते । योनिस्थानकी सैंकडों नाडियोंका छिद्र बंद करनेका विधान द्वितीय मंत्रमें है । अर्थात् स्त्रियोंके रक्तस्रावके अथवा प्रमेह आदिके रोगको दूर करनेका तात्पर्य यहां प्रतीत होता है । रक्तस्रावको दूर करनेका साधन (अश्मा) पत्थर कहा है, यह किस जातिका पत्थर है इसकी खोज वैद्योंको करनी चाहिये । यह कोई ऐसा पत्थर होगा कि जिसके घावपर लगानेसे, वहांसे होनेवाला रक्तप्रवाह बंद होता होगा और रोगीको आरोग्य प्राप्त होता होगा । तृतीयमंत्रमें भी इसी पत्थरका उल्लेख है । घावपर इस पत्थरको ढक्कन जैसा रखना है । यह विधान इसलिये होगा कि यदि किसी घावका रक्तप्रवाह एकबार लगानेसे बंद न होता हो तो उसपर वह औषधिका पत्थर बहुत समय तक बांध देना उचित होगा ।

फिटकडीका पत्थर छोटे घावपर लगानेसे वहांका रक्तप्रवाह बंध होनेका अनुभव है । इसी प्रकारका यह कोई पत्थर होगा जो स्त्रियोंके योनिस्थानके रक्तप्रवाहको रोकनेवाला यहां कहा है ।

तृतीय मंत्रमें सन्तान न होनेवाली स्त्रीके योनिस्थान और गर्भाशयकी नाडियों और धमनियोंका स्थान बदल देनेका उल्लेख है । इस प्रकार स्थान बदल देनेसे उस स्त्रीकी सन्तानें होती हैं । स्त्री और पुरुष सन्तानें भी होती हैं । इस प्रकार

धमनियोंका स्थान बदलने पर संतति उस माताका तिरस्कार नहीं करती (**प्रजा मा अभि भूत्**) प्रजा अथवा संतान द्वारा स्त्रीका तिरस्कार होनेका स्पष्ट अर्थ यह है कि उस स्त्री की संतान न होना। जो जिसका तिरस्कार करता है, वह उसके पास नहीं जाता। यहां सन्तान स्त्रीका तिरस्कार करती है, ऐसा कहनेसे उस स्त्रीकी सन्तान नहीं होती यह बात सिद्ध है। ऐसी वंध्या स्त्रीको (**अस्-वं प्रजसं कृणोमि**) प्राणवाली प्रजा करता हूं। पूर्वोक्त प्रकार स्त्रीकी धमनियोंका प्रवाह बदलनेसे वंध्या स्त्रीकी भी प्राणवाली प्रजा होती है। 'अस्व' शब्द 'अस्-वन्, 'असु-वान्' प्राणवाला इस अर्थमें यहां है। यहां 'अश्वं' ऐसा भी पाठ है। पाठ माननेपर 'बलवान्' ऐसा अर्थ होगा।

वंध्या दो प्रकारकी होती है, एककी सन्तान नहीं होती और दूसरीकी सन्तान होती है परंतु मर जाती है। इन दोनों प्रकारकी वंध्याओंका योनिस्थानकी नाडियोंका रुख बदल देनेसे सन्तानोत्पत्ति करनेमें समर्थ होनेकी संभावना यहां कही है। शस्त्रवैद्य इसका विचार करें। यह शस्त्र प्रयोग करनेवाले कुशल डाक्टरोंका विषय है, इसलिये इस सूक्तपर विचार करना उनका कार्य है।

पतिपत्नीका परस्पर प्रेम

[३६ (३७)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अक्षि।)

अक्ष्यौ॒ नौ॒ मधु॑संकाशे॒ अनी॑कं नौ स॒मञ्ज॑नम्।
अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॒ स॒हास॑ति ॥ १ ॥

अर्थ— (**नौ अक्ष्यौ मधुसंकाशे**) हम दोनोंकी आंखें मधुके समान मीठी हों। (**नौ अनीकं समञ्जनं**) हम दोनोंकी आंखके अग्रभाग उत्तम अञ्जनसे युक्त हों। (**हृदि मां अन्तः कृणुष्व**) अपने हृदयके अन्दर मुझे रख। (**नौ मनः इत् सह असति**) हम दोनोंका मन सदा परस्पर साथ मिला रहे ॥ १ ॥

पतिपत्नीकी आंखें परस्परका अवलोकन प्रेमकी मीठी दृष्टिसे करें। एकको देखनेसे दूसरेको आनन्दका अनुभव हो। कभी पतिपत्नीमें ऐसा भाव न हो कि जिसके कारण एकको देखनेसे दूसरेके मनमें क्रोध और द्वेषका भाव जाग उठे। दोनोंकी आंखें, उत्तम अञ्जनसे शुद्ध, पवित्र और निर्दोष हों। किसीकी भी दृष्टिमें अपवित्रता न हो। आंखकी पवित्रता साधारण अञ्जन करता है, उसी प्रकार ज्ञानसे भी दृष्टिकी पवित्रता होती है।

पति अपने हृदयमें पत्नीको अच्छा स्थान दे, वहां धर्मपत्नीके सिवाय किसी दूसरी स्त्रीको स्थान न मिले। इसी प्रकार पत्नी भी अपने हृदयमें पतिको स्थान दे और कभी धर्मपतिके बिना दूसरे किसी पुरुषको वहां स्थान प्राप्त न हो। (**हृदि मां अन्तः कृणुष्व**) पतिपत्नी एक दूसरेको ही अपने हृदयमें स्थान दें।

(**मनः सह असाति**) पतिपत्नीका मन एक दूसरेके साथ मिला हुआ हो, कभी विभक्त न हो। इनमेंसे कोई एक व्यक्ति दूसरेके साथ न झगडे और अपना मन किसी दूसरे व्यक्तिके साथ न मिलावे।

इस प्रकार पतिपत्नी रहें और गृहाश्रमका व्यवहार करें। इस मंत्रमें पतिपत्नीके गृहस्थाश्रमका सर्वोत्तम आदर्श बताया है।

पत्नी पतिके लिये वस्त्र बनावे

[३७ (३८)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- लिंगोक्ता ।)

अभि त्वा मनुंजातेन दधांमि मम वासंसा ।
यथासो मम केवंलो नान्यासां कीर्तयांश्चन ॥ १ ॥

अर्थ—(मम मनुजातेन वाससा) अपने विचारके साथ बनाये गए वस्त्रसे (त्वा अभि दधामि) तुझे मैं बांध देती हूं। (यथा केवलः मम असः) जिससे तू एक मात्र केवल मेरा पति होकर रहे और (अन्यासां न चन कीर्तयाः) अन्य स्त्रियोंका नामतक लेनेवाला न हो ॥ १ ॥

स्त्री अपने हाथसे सूत काते, चर्खा चलावे, सूत निर्माण करे और अपनी कुशलतापूर्वक निर्माण किये हुए कपडेसे पतिके पहिननेके वस्त्र निर्माण करे। पत्नीके द्वारा काते हुए सूतसे बने हुए वस्त्र पति पहने। सूत कातनेके समय पत्नी अपने आन्तरिक प्रेमके साथ सूत काते और पति भी ऐसा कपडा पहनना अपना वैभव माने। इस प्रकार परस्पर प्रेमका व्यवहार करनेसे धर्मपति भी दूसरी स्त्रीका नाम नहीं लेगा, और धर्मपत्नी भी दूसेर पुरुषका नाम नहीं लेगी। इस प्रकार दोनों गृहस्थाश्रमका आनन्द प्राप्त करते हुए सुखी हों।

यह सूक्त भी गृहस्थी लोगोंको ध्यानमें धारण करने योग्य उपदेश दे रहा है।

पतिपत्नीका एकमत

[३८ (३९)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वनस्पतिः ।)

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमंभिरोरुदम् । परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥
येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि । तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया ॥ २ ॥

अर्थ— मैं (इदं औषधं खनामि) इस औषधि वनस्पतिको खोदती हूं। यह औषधि (मां-पश्यं) मेरी ओर दृष्टि आकर्षित करनेवाला और (अभिरोरुदं) सब प्रकारसे दुर्वर्तनको रोकनेवाला, (परायतः निवर्तनं) कुमार्गमें दूर जानेवालेको भी वापस लानेवाला, और (आयतः प्रतिनन्दनं) संयममें रहनेवालेका आनन्द बढानेवाला है ॥ १ ॥

(आसुरी) आसुरी नामक औषधिने (येन देवेभ्यः परि इन्द्रं नि चक्रे) जिस गुणके कारण देवोंके ऊपर इन्द्रको अधिक प्रभावशाली बनाया, (तेन अहं त्वां निकुर्वे) उससे मैं तुझे प्रभावशाली बनाती हूं, (यथा ते सुप्रिया असानि) जिससे तेरी प्रिय धर्मपत्नी मैं बनूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं इस औषधिको भूमिसे खोदकर लाती हूं, इससे मेरी ओर ही पतिकी आंखें लगी रहेंगी, अर्थात् किसी अन्य स्थानमें नहीं जायेंगी, इस प्रकार सब प्रकारके दुर्वर्तनसे बचाव होगा, यदि दुर्मार्गमें उसका पांव पड भी जाए तो वह निश्चयसे वापस आ जाएगा और वह संयमसे रहकर अब आनंद प्राप्त कर सकेगा ॥ १ ॥

इसका नाम आसुरी वनस्पति है। इसके प्रभावसे इन्द्र सब देवोंमें विशेष प्रभावशाली होनेके कारण श्रेष्ठ बन गया। इस वनस्पतिसे मैं अपने पतिको प्रभावित करती हूं, जिससे मैं धर्मपत्नी अपने पतिकी प्रिय सखी बनकर रहूं ॥ २ ॥

प्रतीची सोमंमसि प्रतीच्युत सूर्यम् । प्रतीची विश्वांन्देवान्तां त्वाच्छावंदामसि ॥ ३ ॥
अहं वंदामि नेत्त्वं सभायामह त्वं वदं । ममेदसस्त्वं केवंलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥
यदि वासिं तिरोजनं यदिं वा नद्यस्तिरः । इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

अर्थ— तू (सोमं प्रतीची असि) चन्द्रके संमुख रहती है, (उत सूर्यं प्रतीची) और सूर्यके संमुख रहती है, तथा (विश्वान् देवान् प्रतीची) सब देवोंके संमुख रहती है। (तां त्वा अच्छा वदामसि) ऐसे तेरा मैं उत्तम वर्णन करता हूं ॥ ३ ॥

(अहं वदामि) मैं बोलती हूं, (न इत् त्वं) तू न बोल। (त्वं सभायां अह वद) तू सभामें निश्चयपूर्वक बोल। (त्वं केवलः मम इत् असः) तू केवल मेराही होकर रह, (अन्यासां न चन कीर्तयाः) अन्योंका नाम तक न ले ॥ ४ ॥

(यादि वा तिरोजनं असि) यदि तू जनोंसे दूर जंगलमें रहेगा, (यादि वा नद्यः तिरः) यदि तू नदीके पार गया होगा, तो भी (इयं ओषधिः) यह औषधि (त्वां बध्वा) तुझे बांधकर (मह्यं नि आनयत् ह) मेरे पास ले आवेगी ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह वनस्पति चन्द्रके अभिमुख होकर शान्तगुण प्राप्त करती है, तथा सूर्यके संमुख रहकर तेजस्विता प्राप्त करती है और अन्य देवोंसे अन्यान्य दिव्य गुण लेती है। इसीलिये इसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ३ ॥

हे पति! घरमें जब मैं बोलूं तब मेरे भाषणका अनुमोदन तू कर। तू सभामें खूब वक्तृत्व कर। परंतु घरमें आकर तू केवल मेरा प्रिय पति बनकर मेरे अनुकूल रह। ऐसा करनेसे तुझे किसी अन्य स्त्रीके नाम तक लेनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी ॥ ४ ॥

यदि तू ग्राममें हो या वनमें गया हो यदि नदीके पार गया हो अथवा नदीके इस ओर हो, यह औषधि ऐसी है कि जिसके प्रभावसे तू मेरे साथ बंधकर मेरे पासही आवेगा और किसी दूसरे स्थानपर नहीं जा सकेगा ॥ ५ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है इसलिये अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। पतिके लिये एकही स्त्री धर्मपत्नी हो और पत्नीका एकही पुरुष धर्मपति हो, यह विवाहका उच्चतम आदर्श इस सूक्तने पाठकोंके सन्मुख रखा है। कोई पुरुष अपनी विवाहित धर्मपत्नीको छोडकर किसी दूसरी स्त्रीकी अपेक्षा न करे और कोई स्त्री अपने विवाहित धर्मपतिको छोडकर किसी दूसरे पुरुषकी कभी अपेक्षा न करे।

दोनों एक दूसरेके साथ प्रेमसे वश होकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक व्यवहार करें और गृहस्थाश्रमका व्यवहार सुखपूर्वक करें। इस सूक्तमें ' आसुरी ' वनस्पतिका उपयोग कहा है। इसका सेवन करनेसे मनुष्य पराक्रमी और उत्साही होता है, मनुष्यकी प्रवृत्ति पापाचरणकी ओर नहीं होती। ऐसा इसका फल वर्णित है। यह औषधि कौनसी है इसका पता नहीं चलता।

उत्तम वृष्टि

[३९ (४०)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- मन्त्रोक्ता ।)

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तंमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्टया तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥ १ ॥

अर्थ— (दिव्यं, पयसं सुपर्णं) आकाशमें रहनेवाले, जलको धारण करनेके कारण जलसे परिपूर्ण, (अपां बृहन्तं वृषभं) जलकी बडी वृष्टि करनेवाले, (ओषधीनां गर्भं) औषधिवनस्पतियोंका गर्भ बढानेवाले, (अभीपतः वृष्टया तर्पयन्तं) सब प्रकारसे वृष्टिद्वारा तृप्ति करनेवाले, (रयि-स्थां) शोभायुक्त स्थानमें रहनेवाले मेघको देव (नः गोष्ठे आ स्थापयतु) हमारी गोशालाकी भूमिमें स्थापित करे अर्थात् हमारी भूमिमें उत्तम वृष्टि होवे ॥ १ ॥

मेघ आकाशमें संचार करता है, वह जलसे परिपूर्ण होता है, जलकी वृष्टि करता है, उसके जलसे सब औषधि वनस्पतियां गर्भयुक्त होती हैं, यह अन्य रीतिसे अपनी वृष्टि द्वारा सबकी तृप्ति करता है, सबकी शोभा बढाता है, यह सबका हित करनेवाला मेघ हमारी भूमिमें, जहां हमारी गौएं रहती हैं, वहां उत्तम वृष्टि करावे और हम सबको तृप्त करे।

अमृतरसवाला देव

[४० (४१)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- सरस्वान् ।)

यस्यं व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्यं व्रत उपतिष्ठन्त आपः ।
यस्यं व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥ १ ॥
आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सर्वे पशवः यस्य व्रतं यन्ति) सब पशु जिसके नियमके अनुसार जाते हैं, (यस्य व्रते आपः उपतिष्ठन्ति) जिसके कर्मके अनुसार जल उपस्थित होते हैं, (यस्य व्रते पुष्टपतिः निविष्टः) जिसके व्रतमें पोषणकर्ता कार्य करता है, (तं सरस्वन्तं अवसे हवामहे) उस अमृतरसवाले देवकी अपनी रक्षाके लिये हम प्रार्थना करते हैं ॥१॥

(दाशुषे प्रत्यञ्चं दाश्वंसं) दाताको प्रत्येक समय संमुख होकर दान देनेवाले, (पुष्टपतिं सरस्वन्तं) पुष्टि करनेवाले, अमृतरसवाले, (रयि-स्थां) ऐश्वर्यमें स्थिर रहनेवाले, (रायस्पोषं श्रवस्युं) धनकी पुष्टि करनेवाले और अन्नवाले, (रयीणां सदनं) धनोंके आश्रयस्थानरूप देवकी (इह वसानाः) यहां रहनेवाले हम सब (आ हुवेम) प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— सब पशु पक्षी जिसके नियममें रहते हैं, जल जिसके नियमसे बहता है, जिसके नियमसे सबकी पुष्टि होती है, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

हरएक दाताको जो धन देता है, सबका जो पोषण करता है, जिसके कारण सबकी शोभा होती है, जो सबके ऐश्वर्यको बढाता है, और जिसके पास अन्न भी विपुल है, जिसके आश्रयसे सब धन रहते हैं, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि, उसकी कृपासे हम सब इस स्थानमें रहनेवाले लोग सुरक्षित हों ॥ २ ॥

ईश्वरके पास संपूर्ण अमृतरस हैं। वह स्वयं सबका पोषण करता है अतः हम उसकी प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे, हमें पुष्ट करे, हमें धनसंपन्न करे और अमृत रससे युक्त करे।

मनुष्योंका निरीक्षक देव

[४१ (४२)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- श्येनः)

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जंगम्यात् ॥ १ ॥

अर्थ— (अवसान-दर्शः, नृचक्षाः, श्येनः) अन्तिम अवस्थाको समझनेवाला, सब मनुष्योंको यथावत् जाननेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान ईश्वर, (धन्वानि अति अपः अति ततर्द) रेतीले देशोंके ऊपर भी जलकी अत्यंत वृष्टि करता है। तथा (विश्वानि अवरा रजांसि) सब निम्नभागके लोकोंके प्रति (इन्द्रेण सख्या शिवः) अपने मित्रके साथ कल्याण रूप होकर (तरन्) सबको पार करता हुआ (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नि यच्छाद्वसु यत्पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥ २ ॥

अर्थ— (नृचक्षाः दिव्यः सुपर्णः) मनुष्योंका निरीक्षक, द्युलोकमें रहनेवाला, उत्तम किरणोंवाला, (सहस्रपात् शतयोनिः) सहस्र पावोंसे सर्वत्र संचार करनेवाला, सैंकडों प्रकारकी उत्पादक शक्तियोंसे युक्त, (वयोधाः श्येनः) अन्नको देनेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान (सः) वह देव (यत् पराभृतं वसु) जो अन्योंसे प्राप्त होनेवाला धन है, वह धन (नः नियच्छात्) हमें देवे। (अस्माकं पितृषु स्वधावत् अस्तु) हमारे पितरोंमें अन्नवाला भोग सदा रहे ॥ २ ॥

सब मनुष्योंकी अन्तिम अवस्थाका यथार्थ ज्ञान रखनेवाला, सब मनुष्योंके कर्मोंका योग्य निरीक्षण करनेवाला, द्युलोकमें प्रकाशसे पूर्ण होनेवाला, जो हजारों प्रकारकी गतियोंसे सर्वत्र संचार करता है, और जो सैंकडों प्रकारकी उत्पादक शक्तियोंसे विविध पदार्थोंको उत्पन्न करता है, जो सबको अन्न देता है, ऐसा प्रकाशमय देव रेतीले प्रदेशोंपर भी बहुत वृष्टि करता है, अर्थात् अन्यत्र वृक्षवनस्पतियों पर तो करता ही है, पर रेतीले प्रदेशों पर भी भरपूर बरसात बरसाता है। यह देव द्युलोकमें रहकर अन्यान्य लोक लोकान्तरोंको धारण करता है, उनका कल्याण करता है, सबको दुःखसे पार कराता है। इन्द्र अर्थात् जीवात्माका परम मित्र यह है और यह भूमिपर भी सर्वत्र उपस्थित होता है। यह देव अन्योंसे जो धन प्राप्त होता है वह सब तो उपासकोंको देता ही है, उसके अलावा अन्य भी बहुत कल्याणकारी धन देता है। वह देव हमारे पितरोंको तथा हम सबको अन्नादि पदार्थ देवे।

पापसे मुक्तता

[४२ (४३)]

(ऋषिः– प्रस्कण्वः । देवता– सोमारुद्रौ ।)

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ १ ॥
सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद्विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत्तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र! (या अमीवा) जो रोग (नः गयं आविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हो गया है, उस (विषूचीं विवृहतं) फैलनेवाले रोगको दूर करो। (निर्ऋतिं पराचैः दूर बाधेथां) दुर्गतिको विशेष रीतिसे दूर पर ही रोक दो। (कृतं चित् एनः) हमारा किया हुआ भी जो पाप हो, वह (अस्मत् प्रमुमुक्तं) हमसे छुडाओ ॥ १ ॥

हे (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र ! (युवं अस्मत् तनूषु) तुम दोनों हमारे शरीरोंमें (एतानि विश्वा भेषजानि धत्तं) इन सब औषधियोंको स्थापित करो। (यत् तनूषु बद्धं नः एनः असत्) जो शरीरोंके संबंधसे हुआ हमारा पाप है उससे (अवस्यतं) हमारा बचाव करो। (अस्मत् कृतं एनः मुमुक्तं) हमारे द्वारा किये हुए पापसे हमारी मुक्तता करो ॥ २ ॥

'अमीव' नाम उन रोगोंका है कि जो आम अर्थात् पचन न हुए अन्नसे होते हैं। पेटमें जो अन्न जाता है वह वहां हजम न हुआ तो उसका आम बनता है और उससे रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगोंको सोम और रुद्र ये दो देव दूर करनेमें समर्थ हैं 'सोम' शब्द वनस्पति और औषधियोंका वाचक है, अर्थात् योग्य औषधिके सेवनसे आमका दोष दूर हो सकता है। यह एक उपदेश यह मंत्र दे रहा है।

' रुद्र ' नाम प्राणका अथवा शरीरमें रहनेवाली जीवन शक्तिका है। यह रौद्री शक्ति मनुष्यका दोष दूर करनेमें समर्थ है। प्राणायामसे एक तो रक्तकी शुद्धि होती है और दूसरे आंतोंमें प्राणकी योग्य गति होनेसे शौचशुद्धि होनेके कारण आमका दोष दूर होता है।

शरीरकी सब दुर्गति आम विकारके कारण होती है अतः योग्य औषधिके सेवनसे तथा प्राणायामके अभ्याससे उक्त दोष शरीरसे दूर किए जा सकते हैं। यदि शरीरसे कुछ नियमविरोधी आचरण होनेके कारण कुछ पाप हो भी गया हो, तो उक्त देवताओंकी सहायतासे वह पाप दूर हो सकता है और पापसे आनेवाली सब विपत्तियां भी दूर हो सकती हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि (विश्वानि भेषजानि) संपूर्ण औषधियां सोम और रुद्रसे प्राप्त हो सकती हैं। सोम तो औषधियोंका राजा ही है, अतः उसके पास सब औषधियां रहती ही हैं। रुद्र भी जीवनशक्तिमय हैं, इसलिये जहां जीवनशक्ति होगी, वहां रोग कैसे आसकते हैं ? इस प्राणसे भी सब औषधियां मनुष्यको प्राप्त हो सकती हैं। इनसे पूर्ववत् शरीरके दोष और सब पाप दूर हो जाते हैं।

वाणी

[४३ (४४)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः। देवता- वाक्।)

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ते एकः शिवाः) तेरे एक प्रकारके शब्द कल्याणकारक होते हैं, तथा (ते एकाः अशिवाः) तेरे दूसरे प्रकारके शब्द अशुभ भी होते हैं। (सुमनस्यमानः सर्वाः बिभर्षि) उत्तम मनवाला तू उन सबको धारण करता है। (तिस्रः वाचः अस्मिन् अन्तः निहिताः) तीन प्रकारकी वाणियां इस मनुष्यके अन्दर गुप्त रूपसे रहती हैं। (तासां एका घोषं अनु विपपात) उनमेंसे एक बडे स्वरमें विशेष रीतिसे बाहर व्यक्त होती है ॥ १ ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये वाणीके चार नाम हैं, परा नाभिस्थानमें, पश्यन्ती हृदयस्थानमें, मध्यमा छातीके ऊपरके भागमें और वैखरी मुखमें होती है। जो शब्द बोला जाता है वह इन चार स्थानोंसे गुजरता है। पहिली तीनों वाणियां गुप्त हैं और चौथी वाणी प्रकट है, जो सब बोलते हैं। यह चौथी वैखरी वाणी मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकारसे बोलते हैं। अतः मनुष्यको चाहिए कि वह उत्तम शुभ संस्कार युक्त मनवाला होकर शुभ शब्दोंका ही प्रयोग करे। यही शुभ वाणी सबका कल्याण कर सकती है।

विजयी देव

[४४ (४५)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः। देवता- इन्द्रः, विष्णुः।)

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥ १ ॥

अर्थ— (उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं। वे कभी (न परा जयेथे) पराजित नहीं होते। (इन्द्रः विष्णो च) हे इन्द्र और हे विष्णु ! (यत् अपस्पृधेथां) जब तुम दोनों मिलकर स्पर्धासे शत्रुसे युद्ध करते हो, (तत् सहस्रं त्रेधा वि ऐरयेथां) तब हजारों शत्रुओंको तीन प्रकारसे भगा देते हो ॥ १ ॥

'विष्णु' नाम व्यापक परमात्माका है और 'इन्द्र' नाम शरीरस्थ इंद्रियोंको अपनी शक्तिको प्रदान करनेवाले जीवात्माका है। ये दोनों विजयी हैं। ये ही नर और नारायण हैं, ये शरीररूपी एक ही रथपर रहते हैं और विजय प्राप्त करते हैं। ये दोनों ही विजयशाली हैं। ये अपने शत्रुको अनेक प्रकारसे भगा देते हैं। इनमें विजयी इन्द्र तो उन्हींका जीवात्मा है और विष्णु उसका परम मित्र परमात्मा है। इन दोनों अर्थात् आत्मा परमात्माकी, विजयी शक्ति मनुष्यके अन्दर है, इसलिये यदि वे मनुष्य इस शक्तिका योग्य उपयोग करेंगे; तो निःसन्देह उनकी विजय होगी।

ईर्ष्यानिवारक औषध

[४५ (४६, ४७)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः, ४७ अथर्वा। देवता- ईर्ष्यापनयनं भेषजम्।)

जना॑द्विश्वज॒नीना॑त्सिन्धु॒तस्पर्याभृ॑तम्।
दू॒रात्त्वा॑ मन्य॒ उद्भृ॑तमी॒र्ष्याया॒ नाम॑ भेष॒जम् ॥ १ ॥
अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑तो दा॒वस्य॒ दह॑तः॒ पृथ॑क्।
ए॒ताम॒तस्ये॒र्ष्यामु॒द्नाग्निमि॑व शमय ॥ २ ॥

अर्थ— (विश्वजननित् जनात्) संपूर्ण जनोंके हितकारी जनपदसे तथा (सिन्धुतः परि आभृतं) समुद्रसे जो लाया गया है, वह (ईर्ष्यायाः नाम भेषजं) ईर्ष्याको दूर करनेवाली औषध है, हे औषध ! (दूरात् त्वा उद्भृतं मन्ये) दूरसे तुझ औषधको यहां लाया गया है, यह मैं जानता हूं ॥ १ ॥

हे औषध ! तू (अस्य दहतः अग्नेः इव) इस जलानेवाले अग्निके समान तथा (पृथक् दहतः दावस्य) अलग जलानेवाले दावानलके समान भयंकर (एतस्य एतां ईर्ष्यां) इस मनुष्यकी इस ईर्ष्याको (उद्ना अग्निं इव शमय) पानीसे अग्निको शान्त करनेके समान शान्त कर ॥ २ ॥

मनमें जो ईर्ष्या, स्पर्धा और द्वेषभाव होता है, वह इस औषधके प्रयोगसे दूर होता है। सुविद्य वैद्योंको उचित है कि वे इन मनके ऊपर प्रभाव करनेवाली औषधियोंकी खोज करें। इस समय वैद्य मानसिक रोगोंकी चिकित्सा करनेमें असमर्थ समझे जाते हैं। यदि ये औषधियां प्राप्त हो जाए तो मनके रोग भी दूर हो सकते हैं। इस सूक्तमें औषधिका नामतक नहीं है। यही इसकी खोजमें बडी कठिनता है।

सिद्धिकी प्रार्थना

[४६ (४८)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- मंत्रोक्ता।)

सिनी॑वालि॒ पृथु॑ष्टुके॒ या दे॒वाना॒मसि॒ स्वसा॑।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सिनीवालि पृथु-ष्टुके) अन्नयुक्त और बहुतोंद्वारा प्रशंसित देवी ! (या देवानां स्वसा असि) जो तू देवोंकी भगिनी है। हे (देवि) देवि ! तू (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवनकी गई आहुतियोंको स्वीकार कर। और (नः प्रजां दिदिड्ढि) हमें उत्तम सन्तान दे ॥ १ ॥

*

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥
या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— (या सुबाहुः स्वङ्गुरिः) जो उत्तम बाहुवाली और उत्तम अंगुलियोंवाली, (सुषूमा बहु सूवरी) उत्तम अंगवाली और उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ है, (तस्यै विश्पत्न्यै सिनीवाल्यै) उस प्रजापालक अन्नयुक्त देवताके लिये (हविः जुहोतन) हवि प्रदान करो ॥ २ ॥

(या विश्पत्नी इन्द्रं प्रतीची असि) जो प्रजापालन करनेवाली तू प्रभुके सन्मुख रहती है। तथा (सहस्र-स्तुका देवी अभियन्ती) हजारों कवियों द्वारा प्रशंसित तू देवी आगे बढती है। हे (विष्णोः पत्नि) विष्णुकी पत्नी ! हे (देवि) देवि ! (तुभ्यं हवींषि राता) तुम्हारे लिये मैं हवियां अर्पण करता हूं। हमारी (राधसे पतिं चोदयस्व) सिद्धिकी प्राप्तिके लिये अपने पतिको प्रेरित कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें ' विष्णु ' अर्थात् व्यापक देवकी पत्नी अर्थात् उसकी शक्तिकी प्रार्थना है। यह व्यापक ईश्वरकी शक्ति संपूर्ण अन्य देवताओंमें जाकर कार्य करती है, सब जगत्का पालन इसी शक्तिसे होता है। हजारों ज्ञानी जन शक्तिका अनुभव करते हैं, और वे इसकी विविध प्रकारसे स्तुति करते हैं। यह शक्ति अपने पति सर्वव्यापक ईश्वरको प्रेरित करे ताकि वह हमें सब प्रकारकी सिद्धि देवे।

अमृत-शक्ति

[४७ (४९)]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— मंत्रोक्ता।)

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद्ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥
कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥ २ ॥

अर्थ— (सुकृतं विद्मनापसं सुहवा) उत्तम कर्म करनेवाली, ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली, स्तुतिके योग्य, (कुहूं देवीं) पृथ्वीपर जिसके लिए हवन होता है ऐसी दिव्य शक्तिमयी देवीको मैं (अस्मिन् यज्ञे जोहवीमि) इस यज्ञमें बुलाता हूं। (सा विश्ववारं रयिं नः नियच्छात्) वह सबके द्वारा स्वीकार करने योग्य धन हमें देवे। तथा (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) प्रशंसनीय और सैंकडों दान करनेवाले वीरको प्रदान करे ॥ १ ॥

(देवानां अमृतस्य पत्नी कु-हू) सब देवोंके बीचमें जो पूर्णतया अमर है, उस ईश्वरकी पत्नी यह कुहू, अर्थात् जिसके लिए सब इस पृथ्वीपर हवन करते हैं, वह (नः हव्या) हमारे द्वारा प्रशंसित होने योग्य है। वह (अस्य हविषः जुषेत) इस हविका सेवन करे। (उशती यज्ञं शृणोतु) इच्छा करती हुई वह देवी यज्ञका वृत्तान्त सुने और (चिकितुषी रायस्पोषं अद्य नः दधातु) ज्ञानवाली वह देवी धनसमृद्धि आज हमें देवे ॥ २ ॥

इस पृथ्वीपर जिसका सत्कार होता है उसको ' कु-हू ' कहते हैं। यह (अमृतस्य पत्नी) अमर ईश्वरकी आदि शक्ति है। और यह ईश्वर (देवानां अमृतः) संपूर्ण देवोंमें अमर है। इसकी अमर शक्तिसे ही सब अन्य देव अमर बने हैं। परमेश्वरी शक्तिकी हम उपासना करते हैं। वह देवी हमें धन और वीरता देवे।

पुष्टिकी प्रार्थना

[४८ (५०)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- मंत्रोक्ता ।)

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥
यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं सुहवा सुष्टुती राकां हुवे) मैं उत्तम बुलानेयोग्य और स्तुति करनेयोग्य पूर्ण चन्द्रमाके समान आल्हाददायिनी देवीको बुलाता हूं। (शृणोतु) वह मेरी प्रार्थना सुने और (सुभगा नः त्मना बोधतु) वह उत्तम ऐश्वर्यवाली देवी हमें अपनी शक्तिसे जगावे । (अच्छिद्यमानया सूच्या अपः सीव्यतु) कभी न टूटनेवाली सूईसे वह अपने कपडे सीवे और (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) प्रशंसनीय सैंकडों दान देनेवाले वीर पुत्रको हमें प्रदान करे ॥१॥

हे (राके) शोभा देनेवाली देवी ! (याभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिनसे तू दाताको धन देती है । (याः ते सुपेशसः सुमतयः) ऐसी जो तेरी उत्तम सुमतियां हैं, हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त देवी ! (ताभिः रराणा सुमनाः) उन सुमतियोंसे शोभनेवाली उत्तम मनवाली देवी तू (अद्य नः सहस्रपोषं उपागहि) आज हमें हजारों तरहके पुष्टियोंको लाकर दे ॥ २ ॥

पूर्णचन्द्रमायुक्त राका होती है। इससे जैसी प्रसन्नता प्राप्त होती है उसकी अपेक्षा कई गुनी अधिक प्रसन्नता ईश्वरके तेजसे होती है। इस सूक्तमें पूर्ण चन्द्रप्रभाके वर्णनके मिषसे आध्यात्मिक परमात्माकी शक्तिका वर्णन किया है। यह परमात्मशक्ति हमें ज्ञान देवे, अज्ञानसे जगाकर प्रबुद्ध करे, और ज्ञान द्वारा हमारी उन्नति करे। इसी प्रकार हमें पुष्टि और उत्तम वीरसंतति देवे और हमारी सब प्रकारकी उन्नति करे।

सुखकी प्रार्थना

[४९ (५१)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- देवपत्न्यौ ।)

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥

अर्थ— (उशतीः देवानां पत्नीः नः अवन्तु) हमारी इच्छा करनेवाली देवोंकी पत्नियां हमारी रक्षा करें । वे (तुजये वाजसातये नः प्रावन्तु) सन्तान और अन्नकी विपुलताके लिये हमारी रक्षा करें। (याः पार्थिवासः) जो पृथ्वीपर स्थिर और (याः अपां व्रते अपि) जो कार्योंकी नियमव्यवस्थामें स्थित हैं, (ताः सुहवाः देवीः) वे उत्तम प्रशंसित देवियां (नः शर्म यच्छन्तु) हमें सुख देवें ॥ १ ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (उत देवपत्नीः ग्नाः व्यन्तु) और देवोंकी पत्नियां ये देवियां हमारे हितकी इच्छा करें। (इन्द्राणी) इन्द्रकी पत्नी, (अग्नाय्यी) अग्निकी पत्नी, (अश्विनी राट्) अश्विनी देवोंकी पत्नी रानी, (रोदसी) रुद्रकी पत्नी, (वरुणानी) जलदेव वरुणकी पत्नी (आशृणोतु) हमारी पुकार सुनें। (जनीनां यः ऋतुः) स्त्रियोंका जो ऋतुकाल है, उस समय (देवीः व्यन्तु) ये देवियां हमारा हित करें ॥ २ ॥

देवताओंकी शक्तियां देवोंकी पत्नियां हैं। अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, आदि अनेक देव हैं, उनकी शक्तियां भी विविध हैं। ये ही इनकी पत्नियां हैं। पत्नी पालन करनेवाली होती है। अग्निशक्ति अग्निका पालन करती है, वायुशक्ति वायुका पालन करती है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी शक्तियां अन्य देवोंको उनके स्वरूपमें रखती हैं, जितने देव हैं उतनी ही उनकी पत्नियां हैं। ये सब देवशक्तियां हम सब मनुष्योंको सुख और शान्ति प्रदान करें।

कर्म और विजय

[५० (५२)]

(ऋषिः– अङ्गिराः । देवता– इन्द्रः ।)

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥
तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥
ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत्कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा अशनिः) जिस प्रकार विद्युत् (वृक्षं विश्वाहा अप्रति हन्ति) वृक्षका सर्वदा नाश करती है, (एव अहं अद्य अक्षैः कितवान्) वैसी मैं आज पाशोंके साथ जुआरियोंको (अप्रति वध्यासं) बहुत बुरी रीतिसे मारूं ॥ १ ॥

(तुराणां अतुराणां) त्वरा करनेवाली अर्थात् उत्साहयुक्त तथा मन्द किंवा सुस्त और (अवर्जुषीणां विशां) बुराईका वर्णन न करनेवाली प्रजाओंका (भगः विश्वतः समैतु) ऐश्वर्य सब ओरसे इकट्ठा होवे और वह (मम अन्तर्हस्तं कृतं) मेरे हस्तके अंदर आए हुएके समान हो ॥ २ ॥

(स्ववसुं अग्निं नमोभिः ईडे) अपने निज धनसे युक्त और प्रकाशक देवकी नमस्कारोंद्वारा पूजा करता हूं। (इह प्रसक्तः नः कृतं विचयत्) यहां रहता हुआ यह देव हमारे किये कर्मको संग्रहित करे, जैसा (वाजयद्भिः रथैः इव प्रभरे) बलयुक्त अन्नोंसे रथोंके समान सब स्थानको भर देता हूँ। पश्चात् मैं (मरुतां प्रदक्षिणं स्तोमं ऋध्यां) मरुतोंका श्रेष्ठ स्तोत्र सिद्ध करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार बिजलीसे वृक्षोंका नाश होता है, उसी प्रकार मैं पाशोंके साथ जुआरियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥

कुछ प्रजाजन किसी कार्यको त्वरासे समाप्त करनेवाले, कुछ सुस्तीसे समाप्त करनेवाले और बुराइयोंको दूर न करनेवाले होते हैं। उन सब प्रजाजनोंका धन एक स्थानपर जमा होवे और वह मेरे हाथमें आए हुए धनके समान हो ॥ २ ॥

मैं ईश्वरकी भक्ति और उपासना करता हूं। यह देव हमारे कर्मोंका निरीक्षण करे। और जिस प्रकार रथोंसे धन इकट्ठा करते हैं उसी प्रकार हमारे सब सत्कर्मोंका फल इकट्ठा होवे। उसका उपभोग करते हुए हम उत्तम स्तोत्रोंका गायन करके आनन्दसे रहें ॥ ३ ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज ॥ ४ ॥
अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥
उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥
गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ ७ ॥

अर्थ— (वयं त्वया युजा वृतं जयेम) हम तेरी सहायतासे युक्त होकर घेरनेवाले शत्रुको जीतें । (भरे भरे अस्माकं अंशं उद् अव) प्रत्येक युद्धमें हमारे कार्यभागकी उत्कृष्ट रक्षा कर । हे (इन्द्र) इन्द्र ! (अस्मभ्यं वरीयः सुगं कृधि) हमारे लिये वरिष्ठ स्थानसे जाने योग्य कर । हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (शत्रूणां वृष्ण्या प्र रुज) शत्रु-ओंके बलोंको तोड ॥ ४ ॥

(सं लिखितं त्वा अजैषं) हरएक रीतिसे कष्ट देनेवाले तुझ शत्रुको मैं जीत लेता हूं । (उत संरुद्धं अजैषं) और रोकनेवाले तुझ जैसे शत्रुको भी मैं जीतता हूं । (यथा अविं वृकः मथत्) भेडिया जैसे भेडको मथता है (एवा ते कृतं मथ्नामि) ऐसे ही तेरे किये शत्रुभूत कर्मको मैं मथ डालता हूं ॥ ५ ॥

(उत अतिदीवा प्रहां जयति) और अत्यंत विजयेच्छु वीर प्रहार करनेवालेको भी जीत लेता है । (श्वघ्नी [स्व-घ्नी] काले कृतं इव विचिनोति) अपने धनका नाश करनेवाला मूढ समयपर अपने किये हुए कर्मको ही विशेष रीतिसे प्राप्त करता है । (यः देवकामः धनं न रुणद्धि) जो देवकी तृप्तिकी इच्छा करनेवाला धनको केवल अपने लिये ही रोक रखता है, (तं इत् रायः स्वधाभिः संसृजति) उसीके साथ सब धन अपनी धारक शक्तियोंसे उत्तम प्रकार संयुक्त होता है ॥ ६ ॥

(दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम) दुर्गतिरूप कुमतिको गौओंसे पार करें । हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा प्रशंसित देव ! (विश्वे यवेन वा क्षुधं) हम सब जौसे भूखको पार करें । (वयं राजसु प्रथमा अरिष्टासः) हम सब राजाओंमें उत्कृष्ट होकर विनाशको न प्राप्त होते हुए (वृजनीभिः धनानि जयेम) अपनी शक्तियोंसे धनोंको जीतें ॥ ७ ॥

भावार्थ— हम ईश्वरकी सहायतासे सब शत्रुको जीतें । ईश्वरकी कृपासे हर एक युद्धमें हमारे प्रयत्न सुरक्षित हों । हे देव ! हमारे शत्रुओंका बल कम करो, और हमें वरिष्ठस्थान सुखसे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

पीडा देनेवाले और प्रतिबन्ध करनेवाले शत्रुको मैं जीतता हूं । जिस प्रकार भेडिया भेडको पराजित करता है वैसे मैं शत्रुके किये उत्तमसे उत्तम प्रयत्नको व्यर्थ करता हूं ॥ ५ ॥

विजयेच्छु वीर घातक शत्रुको भी जीत लेता है । आत्मघात करनेवाला मूढ मनुष्य अपने कृत कर्मको ही भोगता है । जो मनुष्य देवकार्यके लिये अपना धन समर्पण करता है और ऐसे समयमें अपने पास इकट्ठा करके नहीं रखता, उसीको विशेष धन प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

दुर्गति और कुमतिको गौओंकी रक्षा करके हटा दें । इसी प्रकार जौसे भूखको हटा दें । हम राजाओंमें उत्कृष्ट राजा बनें और निजशक्तियोंसे यथेष्ट धन कमायें ॥ ७ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥
अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

अर्थ— (कृतं मे दक्षिणे हस्ते) पुरुषार्थ मेरे दायें हाथमें है और (मे सव्ये जयः आहितः) मेरे बायें हाथमें विजय है । अतः मैं (गोजित् अश्वजित्) गौओंका, घोडोंका (हिरण्यजित् धनंजयः भूयासं) सुवर्णका और धनका विजेता होऊं ॥ ८ ॥

हे (अक्षाः) ज्ञान विज्ञानो ! (क्षीरिणीं गां इव) दूधवाली गौके समान (फलवतीं द्युवं दत्त) फलवाली विजिगीषा हमें दो । (स्नाव्ना धनुः इव) जैसे तांतसे धनुष्य संयुक्त होता है वैसे ही (मा कृतस्य धारया सं नह्यत) मुझको अपने किए हुए कर्मकी धारा प्रवाहसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— मेरे दायें हाथमें पुरुषार्थ है और बायें हाथमें विजय है । इसलिये हम गौवें, घोडे, सुवर्ण और अन्य धन प्राप्त करें ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञान ये मेरी आंखें बनें और उनसे बहुत दूध देनेवाली गौके समान उत्तम फल देनेवाली विजयेच्छा हममें स्थिर रहे । जिस प्रकार तांतसे धनुष्यकी दोनों नोकें जुडी रहती हैं, उसी प्रकार मेरा पुरुषार्थ मुझे फलके साथ बांध देवे ॥ ९ ॥

कर्म और विजय

पुरुषार्थ और विजय

इस सूक्तका सप्तम मंत्र हरएक मनुष्यके द्वारा सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है, उसका पाठ ऐसा है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् ॥
(मं० ८)

' पुरुषार्थ प्रयत्न मेरे दायें हाथमें है और विषय मेरे बायें हाथमें है । इससे मैं गौवें, घोडे, धन और सुवर्णको जीत कर प्राप्त करनेवाला होऊं । '

मनुष्यको येही विचार मनमें धारण करने चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि उस प्रयत्नसे उसे चारों ओर विजय प्राप्त हो । मनुष्यकी विजय कहीं बाहरके प्रयत्नसे नहीं होती, वह अपने अंदरके बलसेही प्राप्त होगी । इसलिये अपने अन्दर बल बढे और अपनी विजय हो, इसके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है ।

' कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ' ये चार प्रकारके मनुष्य-कर्म होते हैं, इनके लक्षण ये हैं—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
(ऐ० ब्रा० ७।१५)

' सो जाना कलि है, निद्राका त्याग द्वापर है, उठकर तैयार होना त्रेता कहलाता है, कार्य करना कृत कहलाता है। ' अर्थात् आलस्यसे कलियुग बनता है और पूर्ण पुरुषार्थसे कृत युग होता है, और बीचकी अवस्थाएं द्वापर और त्रेता युगकी हैं । कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार नाम पुरुषार्थके चार वर्गोंके सूचक हैं । जो पुरुष प्रयत्न करके अपने हाथमें कृत नामक पुरुषार्थ लेता है, वह दूसरे हाथसे निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त कर लेता है । ' कृत ' पुरुषार्थ मानो एक बडे जलप्रवाहकी प्रचंड धारा है, वह धारा निःसंदेह विजय प्राप्त करा देती है—

कृतस्य धारया मा सं नह्यत् । (मं० ९)

' कृत नाम श्रेष्ठ पुरुषार्थकी प्रवाह धारासे संयुक्त होकर उद्दिष्ट स्थानको मैं पहुंच जाऊं । ' कृतके साथ ' सत्य, अहिंसा, प्रबल पुरुषार्थ शक्ति, उद्यम, सरलता, धैर्य आदि सात्विक गुणोंका साहचर्य हमेशा रहता है । सत्ययुग कृतयुगको ही

कहते हैं। सत्ययुगके मनुष्योंके जो गुण पुराणोंमें वर्णित हैं, वेही सात्विक शुभ गुण इस कृत नामक पुरुषार्थके साथ सदा रहते हैं,

'कलि' पुरुषार्थ युक्त नहीं है, यह शब्द पुरुषार्थहीनताका द्योतक है। जहां बिलकुल पुरुषार्थ नहीं है वहीं कलि रहता है, आपसके झगडे, अनाचार, अधर्म, अनीति अधःपातका व्यवहार सब इसके साथ रहता है। इससे मनुष्योंकी अधोगति होती है। इसलिये इससे मनुष्योंको बचना आवश्यक है। बीचके दो पुरुषार्थ इन दो स्थितियोंके बीचमें हैं।

जुआरीको दूर करो।

अपने समाजमेंसे जुआरीको दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका मंत्र बडा बोधप्रद है, देखिये—

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति॥ (मं० १)

'जैसे आकाशकी विद्युत् वृक्षका नाश करती है उसी प्रकार मैं अपने समाजसे पाशोंके साथ जुआरियोंको दूर करता हूं।' समाजसे जुआरियोंको दूर करता हूं, अर्थात् समाजमें एक भी जुआरीको नहीं रहने देना चाहिए। समाजसे जुआरियोंको दूर करना ही समाजके जुआरियोंका वध है। वध कोई शरीरके नाशसे ही होता है और अन्य रीतिसे नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। समाजमें जब तक जुआरी रहेंगे, तबतक समाजमें पुरुषार्थका सामर्थ्य नहीं बढ सकता क्योंकि थोडे प्रयत्नसे ही धनी होनेका भाव जुएसे जनतामें बढता है। अतः समाजको पुरुषार्थी बनानेके लिये समाजमेंसे जुआरियोंको नष्ट करना चाहिए।

तीन प्रकारके लोग

समाजमें तीन प्रकारके लोग होते हैं, 'तुर, अतुर और अवर्जुष' अर्थात् त्वरासे काम करनेवाले, प्रत्येक कार्यमें अत्यंत शीघ्रता करनेवाले, जल्दी जल्दीसे कार्य करके कार्यको बिगाडनेवाले जो होते हैं वे भी पुरुषार्थके लिये योग्य नहीं होते, क्यों कि वे शीघ्रता करके हाथमें लिये हुए कामको बिगाड देते हैं। दूसरे 'अतुर' अर्थात् शिथिल किंवा सुस्त, ये अपनी सुस्तीके कारण कार्यको बिगाडते हैं, अतः ये भी पुरुषार्थके लिये निकम्मे होते हैं। तीसरे 'अवर्जुष' अर्थात वर्णन करनेयोग्य बातोंको भी दूर नहीं करते, बुराईको भी अपने पास रखते हैं। ये लोग भी कभी पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति नहीं कर सकते। ये तीनों प्रकारके लोग सदा हीन अवस्थामें ही रहेंगे, इनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। इसलिये मंत्रमें कहा है कि—

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम॥ (मं० २)

'शीघ्रता करनेवाले, सुस्त तथा बुराइयोंको भी दूर न करनेवाले ये जो तीन प्रकारके लोग अपनी उन्नतिकी साधना नहीं करते, वे सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे। अतः उनके पास जानेवाला धन मेरे हाथमें रहनेके समान हो क्योंकि मैं पुरुषार्थ करता हूं।' इसका आशय यह है, कि पूर्वोक्त तीन दोषोंवाले लोग ये सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे और विश्वके धनका जो भाग उनको प्राप्त होना है, वह उनका भाग पुरुषार्थी लोगोंके हस्तगत होगा। उस उक्त धन पांच ही पुरुषार्थी लोगोंमें बांटा जायगा और पांच लोग दुर्भाग्यमें ही सडते रहेंगे। यह मंत्र इस दृष्टिसे पाठकोंको विचार करने योग्य है। एक ही ग्राममें कई लोग पुरुषार्थसे धन कमाते हैं और सुस्तीसे कई निर्धन अवस्थामें रहते हैं, इसका कारण इस मंत्रमें उत्तम रीतिसे कहा है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि प्रकाशक देवकी हम उपासना करते हैं और उससे पर्याप्त धन हमें मिल सकता है। चतुर्थ मन्त्रमें भी यही आशय स्पष्ट किया है—

वयं जयेम त्वया युजा। (मं. ४)

'हम तेरे (ईश्वरके) साथ रहनेपर विजय प्राप्त कर सकते हैं।' ईश्वरके साथ रहनेसे अर्थात् ईश्वरके भक्त होनेसे विजय प्राप्त होती है, यह विजय सच्ची विजय होती है। ईश्वरके सत्य भक्त होनेसे बडी शक्ति प्राप्त होती है। इस विषयमें पञ्चम मंत्रका कथन यह है—

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्। (मं. ५)

'खुरचनेवाले अर्थात् विविध प्रकारसे दुःख देनेवाले और प्रतिबंध करनेवाले तुझ जैसे शत्रुको मैं जीत लेता हूं।' अर्थात् मैं ईश्वरभक्त होनेके कारण अब मुझे सत्यमार्गसे आगे बढनेमें कोई डर नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति निःसन्देह सिद्ध करूंगा। पुरुषार्थके विषयमें एक नियम है, वह यह कि धार्मिक दृष्टिसे निर्दोष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला ही जीतता है, अन्तमें उसीकी विजय होती है। अधार्मिकको कुछ देर विजय प्राप्त हुई तो भी अन्तमें उसका नाश ही होता है, इस विषयमें षष्ठ मन्त्रकी घोषणा विचार करने योग्य है—

उत प्रहामतिदीवा जयति ।
कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति काले ॥ (मं. ६)

'निःसन्देह यह बात है कि (अतिदीवा) अत्यंत विजिगीषु पुरुषार्थी मनुष्य (प्रहां जयति) प्रहार करनेवालेको जीतता है। और (श्व-घ्नी, स्वघ्नी) अपना आत्मघात करनेवाला मनुष्य (काले) समयमें अपने कृत-कर्मका फल प्राप्त करता है।

इस मंत्रमें दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं। उनका विचार करना अत्यंत आवश्यक है।

१ श्व-घ्नी- [स्व-घ्नी]— आत्मघात करनेवाला मनुष्य। जो मनुष्य अपना नाश करनेवाले कुकर्मोंको करता रहता है। जिससे अपनी अधोगति होती है ऐसे कुकर्म जो करता है वह आत्मघातकी है। आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति होती है इस विषयका वर्णन ईशोपनिषद् (वा. यजु. ४०।३) में है, वहां पाठक वह वर्णन अवश्य देखें।

२ अतिदीवा— इस शब्दमें 'दिव्' धातु 'विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति, मोद, गति' इत्यादि अर्थमें है, अतः 'दीवा' शब्दका अर्थ 'विजिगीषा अर्थात् जयकी इच्छा करनेवाला, व्यवहार उत्तम रीतिसे करनेवाला, स्तुति ईशभक्ति करनेवाला, आनन्द बढानेवाले कार्य करनेवाला, प्रगति करनेवाला' अतः 'अतिदीवा' शब्दका अर्थ है 'अत्यंत विजयके लिए पुरुषार्थ करनेवाला' यह विजय प्राप्त करनेवाला अपने शत्रुको अवश्य ही जीत लेता है।

देवकाम मनुष्य

कई मनुष्य देवकामी होते हैं और कई असुरकामी होते हैं। देवोंके समान जिनकी इच्छा होती है, वे देवकामी मनुष्य और राक्षसोंके समान जिनकी कामना होती है, वे असुरकामी मनुष्य होते हैं। ये क्या करते हैं इस विषयका वर्णन इसी मंत्रमें किया है, वह अब देखिये। इसी मंत्रके शब्द निम्न प्रकार रखनेसे दोनोंके लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं—

देवकामः धनं न रुणद्धि ।
[असुरकामः] धनं रुणद्धि । (मं. ६)

'देवकामनावाला मनुष्य अपने धनको अपने पास ही इकट्ठा नहीं करता, परंतु आसुरी कामनावाला मनुष्य अपने पास धन इकट्ठा करके रखता है।' यह मंत्रभाग इन दोनोंके व्यवहार स्वरूप अच्छी प्रकार बता रहा है। कंजूस लोग धन अपने पास संग्रह करते हैं, उसको बाहर व्यवहारमें जाने नहीं देते, अथवा अपने स्वार्थी भोगोंके लिये रखते हैं, अतः ये राक्षसी कामनाएं हैं। परंतु जो मनुष्य दैवी प्रवृत्तिके होते हैं, वे धन अपने पास कभी नहीं रोकते, अपितु अपने सर्वस्वको सब जनताकी भलाईके लिये समर्पित करते हैं, अपनी संपूर्ण शक्तियां उसी कार्यमें लगाते हैं, इसलिये ये लोग उन्नतिके भागी होते हैं। यही बात इसी मंत्रके अंतमें कही है—

तं रायः स्वधाभिः संसृजति । (मं. ६)

'उसीको सब प्रकारके धन अपनी सब धारक शक्तियोंके साथ प्राप्त होते हैं।' जो अपना धन देवकार्यमें लगाता है वही विशेष धन प्राप्त कर सकता है और वही बडी विजय प्राप्त कर सकता है।

यहां देवकार्य कौनसा है, इसका भी विचार करना चाहिये। 'साधुजनोंका परित्राण करना, दुष्कर्म करनेवालोंका नाश करना और धर्ममर्यादाकी स्थापना करना' यह त्रिविध कार्य देवकार्य कहलाते हैं। अर्थात् इसके विरुद्ध जो कार्य हो उसे राक्षस या आसुर कार्य समझना चाहिए। यह देवकार्य जो करता है और इस देव कार्यमें अपनी शक्ति और धन जो लगाता है वह देवकाम मनुष्य है। इसके विरुद्ध कार्य करनेवाला मनुष्य आसुरी कामनावाला कहलाता है और वह अवनतिको प्राप्त होता है।

गोरक्षा

सप्तम मंत्रमें गोरक्षाके महत्त्वका वर्णन किया है। यदि दुर्गतिसे बचनेका कोई सच्चा साधन है तो एक मात्र गोरक्षा ही है देखिये—

दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम । (मं. ७)

'दुरवस्थाकी जो बुद्धिहीन स्थिति है वह हम गौओंकी रक्षासे दूर करें।' अर्थात् गौओंकी सहायतासे हम अपनी दुरवस्था हटावें। देशमें उत्तम गोरक्षा हो और विपुल दूध हरएकको प्राप्त होने लगे तो देशकी दुरवस्था निःसन्देह दूर होगी। मनुष्यको सुधारनेका यही एकमात्र उपाय है। इसी प्रकार—

विश्वे यवेन क्षुधं [तरेम] । (मं. ७)

'हम सब जौसे भूखको दूर करें।' अर्थात् जौ आदि धान्यका भक्षण करके ही हम अपनी भूखका शमन करें। यहां मांस आदि पदार्थोंका भूखकी निवृत्तिके लिये उल्लेख नहीं है, यह बात विशेष ध्यानमें धारण करने योग्य है।

गौका दूध पीना और जौ गेहूं चावल आदि धान्यका सेवन करना, ये दो रीतियां हैं जिनसे मनुष्य उन्नत होता है और अत्यंत सुखी हो सकता है। अब अन्तिम मंत्रका उपदेश देखिये—

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त। (मं. ९)

'हे ज्ञान विज्ञानो! फलवाली विजय हमें दो।' यहां 'अक्ष' शब्द है, यह शब्द कोशोंमें निम्नलिखित अर्थोंमें आया है– 'गाडीका मध्य दण्ड, आधार स्तंभ, रथ, गाडी, चक्र, तुलाका दण्ड, तोलनेका वजन (कर्ष), बिभीतक (भिलावा), रुद्राक्षका वृक्ष, रुद्राक्ष, इन्द्राक्ष, सर्प, गरुड, आत्मा, ज्ञान, सत्यज्ञान, विज्ञान, तारक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कानून (लॉ, law), कानूनी कार्यवाही, विधिनियम।' हमारे मतसे यहांका 'अक्ष' शब्द अन्तिम आठ या नौ अर्थोंको यहां व्यक्त कर रहा है और इसीलिये हमने इसका अर्थ ज्ञान विज्ञान ऐसा किया है।

द्यु और दीवाकी उत्पत्ति एक ही दिव् धातुसे होनेके कारण 'अतिदीवा' शब्दके प्रसंगमें जो अर्थ बताया है वही 'द्युव' का यहां अर्थ है। 'विजिगीषा' यह इसका यहां अर्थ अभिप्रेत है। 'ज्ञान विज्ञानसे हमें फल युक्त विजय प्राप्त हो' यह इस मंत्र भागका यहां आशय है। ज्ञान विज्ञानसे ही सुफल युक्त विजय प्राप्त हो सकती है।

विजय ऐसी हो कि जैसी (क्षीरिणीं गां इव) सदा दूध देनेवाली गौ होती है। विजय प्राप्त करनेके बाद उसका मधुर फल भविष्यमें मिलता रहे और पुनः हमारा अधः-पात कभी न होवे, यह आशय यहां है।

(कृतस्य धार्यामा संनह्यत्। मं. ८) अपने किये हुए पुरुषार्थके धाराप्रवाहसे मैं उत्कर्षको सरलतया प्राप्त होऊं। बीचमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो। जो ज्ञान विज्ञानयुक्त होकर इस प्रकार परमपुरुषार्थ करेंगे, वे ही निःसन्देह यज्ञके भागी होंगे।

रक्षाकी प्रार्थना

[५१ (५३)]

(ऋषिः– अङ्गिराः। देवता– इन्द्राबृहस्पती।)

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहस्पतिः नः पश्चात्, उत उत्तरस्मात्) ज्ञानका स्वामी हमें पीछेसे, उत्तर दिशासे (अधरात् अघायोः पातु) नीचेके भागसे पापी पुरुषोंसे बचावे। (सखा इन्द्रः) मित्र प्रभु (नः) हमें (पुरस्तात् उत मध्यतः) आगेसे और बीचमेंसे (सखिभ्यः वरीयः कृणोतु) मित्रोंमें श्रेष्ठ बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ— ज्ञान देनेवाला पीछेसे, ऊपरसे और नीचेसे अर्थात् बाहरसे हमारी रक्षा करे और मित्र हमारी रक्षा संमुखसे और बीचके स्थानसे करे ॥ १ ॥

ज्ञान देनेवाला और सहायक मित्र ये दोनों रक्षा करते हैं, एक बाहरसे रक्षा करता है और एक अंदरसे रक्षा करता है। परमात्मा ज्ञान देकर बाहरसे और मित्र होकर अन्दरसे और सब ओरसे हमारी रक्षा करता है।

*

उत्तम ज्ञान

[५२ (५४)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- सांमनस्यं, अश्विनौ ।)

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (नः स्वेभिः संज्ञानं) हमें स्वजनोंके साथ उत्तम ज्ञान प्राप्त हो। तथा (अरणेभिः संज्ञानं) निम्न श्रेणीके जो लोग हैं उनके साथ भी हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो। (इह) इस संसारमें (युवं अस्मासु संज्ञानं नियच्छतं) तुम दोनों हमें उत्तम ज्ञान प्रदान करो ॥ १ ॥

(मनसा संजानामहै) हम मनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करें (चिकित्वा सं) ज्ञान प्राप्त करके एकमतसे रहें। (मा युष्महि) परस्पर विरोध न करें। (दैव्येन मनसा) दिव्य मनसे हम युक्त होवें। (बहुले विनिर्हते घोषा मा उत् स्थुः) बहुतोंका वध होनेके कारण दुःखके शब्द न उत्पन्न हों। (आगते अहनि) भविष्य कालमें (इन्द्रस्य इषुः मा पतत्) इन्द्रका बाण हमपर न गिरे ॥ २ ॥

दीर्घायु

[५३ (५५)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च ।)

अमुत्रभूयादधि यद्यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! हे (अग्ने) अग्ने ! तू (यत् अमुत्र-भूयात्) जो परलोकमें होनेवाले (यमस्य अभिशस्तेः अमुञ्चः) यमकी यातनाओंसे मुक्त करता है। हे (देवानां भिषजौ अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनीदेवो ! (शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रति औहतां) शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर करो ॥ १ ॥

भावार्थ— परलोकमें देहपातके पश्चात् जो दुःख होते हैं उनसे मनुष्यका बचाव होवे, और मनुष्यकी शक्तियोंकी उन्नति होकर उसका मृत्युसे बचाव होवे ॥ १ ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात्तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ ३ ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ ४ ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (प्राणापानौ) प्राण और अपानो ! (सं क्रामतं) शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करो (शरीरं मा जहीतं) शरीरको मत छोडो । वे दोनों (इह ते सयुजौ स्ताम्) यहां तेरे सहचारी होकर रहें। (वर्धमानः शरदः शतं जीव) बढता हुआ तू सौ वर्ष जीवित रह । (ते अधिपाः वसिष्ठः गोपाः अग्निः) तेरा अधिपति निवासक और रक्षक तेजस्वी देव है ॥ २ ॥

(ते यत् आयुः पराचैः अतिहितं) तेरी जो आयु विरुद्ध आचरण करनेके कारण घट गयी है, उस स्थानपर (तौ प्राणः अपानः पुनः आ इतां) वे प्राण और अपान पुनः आवें। (अग्निः निर्ऋतेः उपस्थात् तत् पुनः आहाः) वह तेजस्वी देव तुझे दुर्गतिके समीपसे पुनः लाता है, (ते आत्मनि तत् पुनः आवेश यामि) तेरे अन्दर उसको पुनः स्थापन करता हूँ ॥ ३ ॥

अर्थ— (इमं प्राणः मा हासीत्) इसको प्राण न छोडे और (अपानः अवहाय परा मा गात् उ) अपान भी इसको छोड कर दूर न जावे । (सप्तर्षिभ्यः एनं परिददामि) सात ऋषियोंके समीप इसको देता हूं, (ते एनं जरसे स्वस्ति वहन्तु) वे इसको वृद्धावस्थातक सुखपूर्वक ले जावें ॥ ४ ॥

हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (व्रजं अनड्वाहौ इव प्रविशतं) जैसे गोशालामें बैल घुसते हैं उसी प्रकार तुम दोनों प्रविष्ट होवो ! (अयं जरिम्णः शेवधिः) यह वार्धक्यतककी पूर्ण आयुका खजाना है, यह (इह अरिष्टः वर्धतां) यहां न घटता हुआ बढे ॥ ५ ॥

भावार्थ— मनुष्यके शरीरमें प्राण और अपान ठीक प्रकार संचार करते रहें। वे शरीरको शीघ्र न छोडें। ये ही जीवके सहचारी दो मित्र हैं। मनुष्य बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रहे, मनुष्यका रक्षक, पालक, संवर्धक और यहां का जीवन सुखमय करनेवाला एकमात्र परमेश्वर है ॥ २ ॥

जो आयु विरुद्ध आचरणोंके कारण घट जाती है, उसको प्राण और अपान पुनः ले आवें और यहां स्थापित करें। वही तेजस्वी देव दुर्गतिसे आयुको वापस ले आवे और इसके अन्दर सुरक्षित रखे ॥ ३ ॥

इस मनुष्यको प्राण और अपान न छोडें । सप्तर्षिसे बने जो सप्त ज्ञानेद्रियें हैं, उनके समीप इस जीवको छोड देते हैं । वे इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्रदान करें ॥ ४ ॥

शरीरमें प्राण और अपान वेगसे संचार करें और इस शरीरमें रखा हुआ दीर्घायुका खजाना बढावें ॥ ५ ॥

आ ते॑ प्रा॒णं सु॑वामसि॒ परा॒ यक्ष्मं॑ सुवामि ते ।
आयु॑र्नो वि॒श्वतो॑ दधद॒यम॒ग्निर्वरे॑ण्यः ॥ ६ ॥
उद्व॒यं तम॑स॒स्परि॒ रोह॑न्तो॒ नाक॑मुत्त॒मम् ।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (ते प्राणं आ सुवामसि) तेरे प्राणको मैं प्रेरित करता हूं । (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे क्षयरोगको मैं दूर करता हूं । (अयं वरेण्यः अग्निः) यह श्रेष्ठ अग्नि (नः आयुः विश्वतः दधत्) हमारे अन्दर आयु सब प्रकारसे स्थापित करे ॥ ६ ॥

(वयं तमसः परि उत्) हम अन्धकारके ऊपर चढें, वहांसे (उत्तरं नाकं रोहन्तः) श्रेष्ठ स्वर्गमें आरोहण करते हुए (देवत्रा उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म) सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्य–सबके उत्पादक–देवको प्राप्त हों ॥७॥

भावार्थ— तेरे प्राणोंको प्रेरित करनेसे तेरे रोग दूर होंगे और तेरी आयु वृद्धिंगत होगी ॥ ६ ॥

हम अन्धकारको छोडकर प्रकाशकी प्राप्तिके लिये ऊपर चढते हैं, ऊपर स्वर्गमें आरोहण करते हुए सबके रक्षक तेजस्वी देवताको प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

दीर्घायु

दीर्घ आयु कैसे प्राप्त हो ?

इस सूक्तमें दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपाय बताया है । दीर्घ आयु करनेवाले दो देव हैं, वे अपनी शक्तियोंसे मनुष्यकी मृत्युसे रक्षा करते हैं, ये दो देव अश्विनी देव हैं । अश्विनी देव कौन हैं और कहां रहते हैं, इसका विचार करके निश्चय करना चाहिये ।

देवोंके वैद्य ।

अश्विनी कुमार ये देवोंके दो वैद्य हैं, इस मंत्रमें भी इनको–

देवानां भिषजौ (मं० १)

' देवोंके दो वैद्य ये हैं ' ऐसा कहा है । यहां देव कौनसे हैं और उनकी चिकित्सा करनेवाले ये वैद्य कौनसे हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है । इनके नामोंका मनन करनेसे एक नाम हमारे सन्मुख विशेष प्रामुख्यसे आता है, जो ' नासत्यौ ' है । (नास–त्यौ=नासा–स्थौ) नासिकाके स्थानपर रहनेवाले । प्राणका स्थान नासिका है । प्राणके स्थानपर रहनेवाले ये दो ' श्वास उच्छ्वास ' अथवा ' प्राण अपान ' ही हैं । प्राण और अपान ये दो देव इस शरीरमें रहकर इस शरीरमें जो इंद्रियस्थानोंमें अनेक देवगण हैं उनकी चिकित्सा करते हैं । प्राणसे पुष्टि प्राप्त होती है और अपानसे दोष दूर होते हैं । इस प्रकार दोष दूर करके पुष्टिके द्वारा ये दो देव इन सब इंद्रियोंकी चिकित्सा करते हैं । यहां यह अर्थ देखनेसे इनका ' नास–त्य ' नाम बिलकुल सार्थ प्रतीत होता है । प्राण और अपान अशक्त हो जाएं अथवा इनमेंसे कोई भी एक अपना कार्य करनेमें असमर्थ हो जाए, तो इंद्रियगण भी अपना अपना कार्य करनेमें असमर्थ हो जाते हैं । इतना इंद्रियोंके आरोग्यके साथ प्राणोंके स्वास्थ्यका संबंध है । अर्थात् वेदोंमें और पुराणोंमें ' देवोंके वैद्य अश्विनी कुमार ' के नामसे जो प्रसिद्ध वैद्य हैं, वे अध्यात्मपक्षमें अपने देहमें प्राण और अपान हैं, और येही इंद्रियरूपी देवोंकी चिकित्सा करते हुए इस मनुष्यको दीर्घायु देते हैं । यदि प्राणोंकी कृपा न हुई तो कोई दूसरा उपाय ही नहीं है कि जिससे मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सके । यह विचार ध्यानमें रखकर यदि पाठक निम्नलिखित मंत्र देखेंगे तो उनको उसका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है, देखिये—

(हे) देवानां भिषजौ अश्विनौ !
शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रत्यौहताम् । (मं० १)

' हे देवोंके वैद्य प्राण और अपानो ! अपनी विविध शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर करो । ' अर्थात् प्राण और अपानही इस देहस्थानीय सब अवयवों और अंगोंकी चिकित्सा करते

हैं और उनको पूर्ण निर्दोष करते हुए मनुष्यको मृत्युसे बचाते हैं। अतः मृत्यु दूर करनेके लिये उनकी प्रार्थना यहां की गई है। जो देव जिस वस्तुको देनेवाले हैं उनकी प्रार्थना उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये करना योग्य ही है। इसी अर्थको मनमें धारण करके निम्नलिखित मंत्र देखिये—

(हे) प्राणापानौ ! सं क्रामतं,
शरीरं मा जहीतम्। (मं० २)

'हे प्राण और अपानो ! शरीरमें उत्तमरीतिसे संचार करो, और शरीरको मत छोडो।' यहां अश्विनौ देवताके बदले 'प्राणापानौ' शब्द ही है, और यह बताता है कि हमने जो अश्विनौका अर्थ प्राण और अपान किया है वह ठीक ही है। ये प्राण और अपान शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करें। शरीरको इनके उत्तम संचारके लिये योग्य बनाना नीरोग रहनेके लिये अत्यंत आवश्यक है। शरीरको प्राण-संचारके योग्य बनानेके लिये योगशास्त्रमें कहे धौती, बस्ति, नेति आदि क्रियाएं हैं। इनसे शरीर शुद्ध होता है, दोषरहित बनता है और प्राणसंचार द्वारा सर्वत्र आरोग्य स्थिर होता है। शरीरमें प्राणापानोंका यह महत्त्व है। प्राणापानोंका बहुत महत्त्व है, इसीलिये कहा है कि—

इह प्राणापानौ ते सयुजौ स्याताम्। (मं० २)

'यहां प्राण और अपान ये दोनों तेरे सहचारी मित्र बन कर रहें।' तेरे विरोध करनेवाले न बनें। सहचारी मित्र सदा साथ रहते हैं और सदा हित करनेवाले होते हैं इस प्रकार ये प्राणापान मनुष्यके सहचारी मित्र हैं। मनुष्य इनको ऐसा समझे और उनकी मित्रता न छोडें। ऐसा करनेसे क्या होगा सो इसी मंत्रमें लिखा है—

वर्धमानः शतं शरदः जीव। (मं० २)

'वृद्धि और पुष्टिको प्राप्त होता हुआ तू सौ वर्ष जीवित रहेगा' अर्थात् प्राण और अपानको अपने अंदर उत्तम अवस्था-में रखेगा तो तू पुष्ट और बलिष्ठ होकर सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त कर सकेगी। दीर्घायु प्राप्त करनेका यह उपाय है, मनुष्य योगशास्त्रमें कहे उपायोंका अवलंबन करके तथा प्राणा-यामका अभ्यास करके अपने शरीरमें प्राणापानोंको बलवान् करके कार्यक्षम बनावे, जिससे मनुष्य दीर्घायु बन सकता है। प्राण अपान ये ऐसे सहायक हैं कि वे दोषोंसे घटी हुई आयुको भी पुनः प्राप्त करा देते हैं, देखिये—

यत् ते आयुः पराचैः अतिहितं
प्राणः अपानः तौ पुनः आ इताम्॥ (मं० ३)

"जो तेरी आयु हीन दोषोंके कारण घट गई है, वे प्राण और अपान, पुनः उस स्थानपर आवें और वे उस आयुको वहां पुनः स्थापन करें।" यह है प्राणापानोंका अधिकार। कुमार अथवा तरुण अवस्थामें कुछ अनियमके कारण यदि कोई ऐसे कुव्यवहार हो गये और उस कारण यदि आयु क्षीण हो गई तो युक्तिसे प्राण और अपान उस दोषको हटा देते हैं और दीर्घ आयु प्राणोपासना करनेवाले मनुष्यको मनुष्यको अर्पण करते हैं। इसलिए कहा है—

इमं प्राणः मा हासीत्, अपानः अवहाय मा परा गात्।
(मं० ४)

'इसको प्राण न छोड देवे और अपान भी इसको छोडकर दूर न चला जावे।' क्योंकि प्राण और अपान इस मनुष्यके देहको छोडने लगे तो कोई दूसरी शक्ति मनुष्यको आयु देनेमें समर्थ नहीं हो सकती। इनके रहनेपरही अन्य शक्तियां सहायक होती हैं। अन्य शक्तियां इस मंत्रमें सप्तर्षि नामसे कही हैं, जो इस देहमें रहकर मनुष्यकी सहायता करती हैं—

सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि
त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु। (मं. ४)

'मैं इस मनुष्यको सप्त ऋषियोंके पास देता हूं, वे इसको बुढापेतक उत्तम कल्याणके मार्गसे ले चलें।' ये सप्त ऋषि सप्त ज्ञानेन्द्रियां-पंच ज्ञानेन्द्रियां और मन तथा बुद्धि हैं, इनके विषयमें पूर्व स्थलमें कईवार लिखा जा चुका है। जब प्राण और अपान उत्तम अवस्थामें रहते हैं तब ये सातों इंद्रियां उत्तम अवस्थामें रहती हैं और मनुष्य दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। ये प्राणापान शरीरमें बलवान् रहने चाहिये। इनका बल कैसा होना चाहिये इस विषयमें निम्नमंत्र देखिये—

अनड्वाहौ वज्रं इव प्राणापानौ प्रविशतम् (मं. ५)

'जैसे बैल गोशालामें वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे प्राण प्राण और अपान वेगसे शरीरमें प्रवेश करें। प्राणका अन्दर प्रवेश बलसे होवे और अपानका बाहर निःसरण भी वेगके साथ हो। इनमें निर्बलता न रहे यही तात्पर्य यहां है। अवास्तविक वेग उत्पन्न हो यह इसका मतलब नहीं है। इस प्रकार मनका वेग योग्य प्रमाणमें रहे तो यह आयुका खजाना वार्धक्यतक ठीक अवस्थामें रहेगा। इस विषयमें मंत्र देखिये—

अयं जरिम्णः शेवधिः इह अरिष्टः वर्धताम् (मं. ५)

'यह दीर्घ आयुका खजाना, न्यून न होता हुआ यहां बढे।' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्राणापान अपना अपना कार्य करनेके लिये समर्थ हों तो दीर्घायुका खजाना बढता जाता

है। दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय प्राणापानको बलवान् बनाना ही है। इसी विषयमें और देखिये—

ते प्राणं आसुवामि, ते यक्ष्मं परा सुवामि। (मं. ६)

" प्राणसे तेरा जीवन बढाता हूं, और अपानसे तेरा क्षय दूर करता हूं। " प्राण अपने साथ जीवनकी शक्ति लाता है तथा शरीर जीवनमय करता है और अपान अपने साथ शरीरके क्षयको बाहर निकालता है, जिससे शरीर निर्दोष होता है इस प्रकार ये दोनों शरीरको जीवनपूर्ण और निर्दोष बनाते हुए इसको दीर्घजीवन देते हैं। यही बात निम्नलिखित मंत्रभागमें कही है—

" प्राणसे उत्पन्न होनेवाला श्रेष्ठ अग्नि हमारी आयु सब प्रकारसे धारण करे " यहां प्राणके साथ रहनेवाला जीवनाग्नि अपेक्षित है। प्राणायाम करनेसे विशेष कर भस्त्रा करनेसे शरीरमें अग्नि बढनेका अनुभव तत्काल आता है। इस सूक्तमें कहा अग्नि यही शरीरस्थानकी उष्णता है। यहां बाह्य अग्नि अपेक्षित नहीं है—

अगले सप्तम मन्त्रमें कहा है कि हम अंधकारसे दूर होकर उत्तम प्रकाशमें आवें और सूर्यकी ज्योतिको प्राप्त हों। इस मन्त्रमें जो यह बात कही है, आयुष्य बढानेकी दृष्टीसे इसकी बडी आवश्यकता है। इससे निम्नलिखित बोध मिलता है-

१ **वयं तमसः परि उत् रोहन्तः**— हम अंधकारके ऊपर चढें। अर्थात् अंधकारके स्थानमें निवास करना आयुको घटानेवाला है, अतः हम अंधकारके स्थानको छोडते हैं और ऊपर चढते हैं और—

२ **उत्तमं नाकं रोहन्तः**— उत्तम सुखदायक प्रकाशपूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, क्योंकि प्रकाश ही जीवन देनेवाला और रोगादि दोषोंको दूर करनेवाला है, इसलिये—

३ **देवत्रा देवं उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म**— सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्यदेवको प्राप्त करते हैं। सूर्य ही सब स्थावर जंगमके द्वारा प्राप्य है अतः प्राणरूपी सूर्यको प्राप्त करनेके कारण हम अवश्य दीर्घजीवी बनें।

दीर्घायु प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले लोग सूर्य प्रकाशवाले घरमें रहें और कभी अंधेरे कमरोंमें न रहें। इस प्रकार दीर्घायु बननेके दो उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। एक प्राण और अपानको बलवान् बनाना और सूर्य प्रकाशको प्राप्त करना और अंधेरे कमरोंमें न रहना।

ज्ञान और कर्म

[५४ (५६, ५७-१)]

(ऋषिः- भृगुः। देवता- इन्द्रः।)

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

अर्थ— (याभ्यां कर्माणि कुर्वते) जिनके द्वारा कर्म करते हैं उन (ऋचं साम यजामहे) ऋचाओं और सामोंसे हम संगतिकरण करते हैं। (एते सदसि राजतः) ये दोनों इस यज्ञस्थलमें प्रकाशमान् होते हैं। और ये (देवेषु यज्ञं यच्छतः) देवोंमें श्रेष्ठ कर्मका अर्पण करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— ऋचा और साम इन मन्त्रोंसे मानवी उन्नतिके सब कर्म होते हैं, इसलिये हम इन वेदोंका अध्ययन करते हैं। ये ही वेद इस जगत्की कर्म भूमिमें प्रकाश देनेवाले मार्गदर्शक हैं। क्योंकि ये ही देवोंमें सत्कर्मकी स्थापना करते हैं ॥ १ ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद्वेदः पृष्टः शचीपते ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् ऋचं साम, यजुः) जिन ऋचा, साम और यजु तथा (हविः ओजः बलं अप्राक्षं) हवन, ओज और बलके विषयमें मैंने पूछा, हे (शचीपते) बुद्धिमान् ! (तस्मात् एषः पृष्टः वेदः) उस कारण यह पूछा हुआ वेद (मा मा हिंसीत्) मेरी हिंसा न करे ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं गुरुसे ऋचा, साम और यजुके विषयमें पूछता हूं, और हवनकी विधि, शारीरिक बल कमानेका उपाय और मानसिक बल प्राप्त करनेका उपाय भी पूछता हूं । यह सब प्राप्त किया हुआ ज्ञान मेरी उन्नतिका सहायक होवे और बाधक न बने ॥ २ ॥

इस सूक्तमें कहा है कि ऋचा, यजु और साम ये ज्ञान देनेवाले मंत्र हैं और इनसे श्रेष्ठतम कर्म किया जाता है । इन कर्मोंको करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त करता है और ओज तथा बलको बढाता है । उक्त मन्त्रोंसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे कर्म करके उन्नत होता है । परन्तु किसी किसी समय मनुष्य मोहवश होकर ज्ञानका दुरुपयोग भी करता है और अपना नाश कर लेता है । उदाहरणार्थ कोई मनुष्य बल प्राप्तिके उपायका ज्ञान प्राप्त करता है और उसका अनुष्ठान करके बहुत बल कमाता है । शरीरमें बल बढनेसे वह घमण्डी हो जाता है और वही मनुष्य निर्बलोंको सताने लगाता है और गिरता है । अतः इस सूक्तमें अन्तिम मन्त्रमें प्रार्थना की है कि वह प्राप्त हुआ ज्ञान हमारा घात न करें । ज्ञान एक शक्ति है जो उपयोग कर्ताके भले बुरे प्रयोगके अनुसार भला बुरा परिणाम करनेवाली होती है । इसीलिये परमेश्वरसे प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी सत्प्रवृत्ति रखे और हमें घातपातके मार्गमें जाने ही न दें ।

प्रकाशका मार्ग

[५५ (५७-२)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- इन्द्रः ।)

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः । तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वसो) सबके निवासक प्रभो ! (ये ते दिवः पन्थानः) जो तेरे प्रकाशके मार्ग हैं, (येभिः विश्वं अव ऐरयः) जिनसे तू सब जगत्को चलाता है, (तेभिः नः सुम्नया धेहि) उनके साथ हम सबको सुखसे युक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! जो तेरे प्रकाशके मार्ग हैं और जिनसे तू सब जगत्को चलाता है, उनसे हमें सुखके मार्गसे ले चल और हमें सुख दे ॥ १ ॥

मार्ग दो हैं । एक प्रकाशका और दूसरा अन्धेरेका । ईश्वर प्रकाशका मार्ग सबको बताता है और सबको सुखी करता है । परन्तु जो इस प्रभुको छोडकर अन्धेरेके मार्गसे जाते हैं वे दुःख भोगते हैं । इसीलिये इस प्रभुकी ही प्रार्थना करना चाहिये कि वह अपना प्रकाशका मार्ग हमें दर्शावे और हमें ठीक मार्गसे ले चले ।

विषचिकित्सा

[५६ (५८)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वृश्चिकादयः, २ वनस्पतिः, ४ ब्रह्मणस्पतिः ।)

तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि ।
अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥ ३ ॥

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि ।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (तिरश्चि-राजेः असितात्) तिरछी रेखावाले, काले (पृदाकोः कंकपर्वणः) नाग और कौवे जैसे पर्ववाले सांपसे (संभृतं तत् विषं) इकठ्ठे हुए उस विषको (इयं वीरुत् परि अनीनशत्) यह वनस्पति नष्ट करती है ॥ १ ॥

(इयं वीरुत् मधु-जाता मधुला) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई मधुरता देनेवाली (मधुश्चुत् मधूः) मधुरताको चुआनेवाली और स्वयं भी मधुर है । (सा विह्रुतस्य भेषजी) वह कुटिल सांपके विषकी औषधि है और वह (मशक-जम्भनी) मच्छरोंका नाश करनेवाली है ॥ २ ॥

(यतः दष्टं) जहां काटा गया है, (यतः धीतं) जहांसे खून पिया गया है, (ततः) वहांसे (तृप्रदंशिनः अर्भस्य मशकस्य) तीक्ष्णतासे काटनेवाले छोटे मच्छरके (अरसं विषं निः ह्वयामसि) रसहीन विषको हम हटा देते हैं ॥ ३ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामिन् ! (यः अयं वक्रः वि-परुः) जो यह टेढा और संधिपथानमें शिथिल और (व्यंगः) कुरूप अंगवाला हो गया है और जो (मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि) मुख टेढे मेढे और विरूप बनाता है, (तानि त्वं इषिकां इव सं नमः) उनको तू मुञ्जके समान सीधा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिसपर तिरछी लकीरें होती हैं और जिसके पर्व होते हैं ऐसे सांपके विषको मधु नामक वनस्पति दूर करती है ॥ १ ॥

यह वनस्पति मीठे रसवाली है, मिठासके लिये प्रसिद्ध है, इसका नाम मधु है। यह विषबाधासे टेढेमेढे हुए हुए अंगवाले रोगीके लिए उत्तम औषधी है। इससे मच्छर भी दूर होते हैं ॥ २ ॥

जहां काटा है और जहांसे रक्त पीया है, वहांसे मच्छर आदिके विषको उक्त औषधिके प्रयोगसे हटा देते हैं ॥ ३ ॥

विषबाधासे जो रोगी टेढा मेढा, विरूप अंगवाला, ढीले संधियोंवाला हो गया है और जो अपने मुख टेढे मेढे करता है, उस रोगीको इस औषधीद्वारा ठीक किया जा सकता है ॥ ४ ॥

अरसस्यं शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।
विषं ह्य१स्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥
न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥ ६ ॥
अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥
य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्ये॒न च ।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

अर्थ— (अरसस्य नीचीनस्य उपसर्पतः) नीरस और नीचेसे आनेवाले (अस्य शर्कोटस्य विषं) इस बिच्छू या सर्पके विषको (आ अदिषि) नष्ट करता हूं, (यथो एनं अजीजभं) और इसको मार डालता हूं ॥ ५ ॥

हे बिच्छू ! (ते बाह्वोः बलं न अस्ति) तेरी बाहुओंमें बल नहीं है। (न शीर्षे उत न मध्यतः) न सिरमें और ना ही मध्य भागमें ही बल है। (अथ किं अमुया पापया) फिर क्यों इस पापवृत्तिसे (पुच्छे अर्भकं बिभर्षि) पुच्छमें थोडासा विष धारण करता है ? ॥ ६ ॥

(पिपीलिकाः त्वा अदन्ति) चींटियां तुझे खाती हैं, (मयूर्यः विवृश्चन्ति) मोरनियां काट डालती हैं। (सर्वे भल ब्रवाथ) सब भलीप्रकार कहते हैं कि (शार्कोटं विषं अरसं) बिच्छुका विष खुष्की करनेवाला है ॥ ७ ॥

(यः पुच्छेन च आस्येन च उभाभ्यां) जो तू पूंछ और मुख इन दोनोंसे (प्रहरसि) प्रहार करता है, परंतु (ते आस्ये विषं न) तेरे मुखमें विष नहीं है, (किं उ पुच्छधौ असत्) फिर पूंछमें ही क्यों है ? ॥ ८ ॥

भावार्थ— नीचेसे आनेवाले, खुष्की पैदा करनेवाले सांपके या बिच्छूके विषको हम इससे दूर करते हैं और उनको हम मार भी देते हैं ॥ ५ ॥

बिच्छूका बल बाहुओंमें, सिरमें अथवा मध्यभागमें नहीं है। केवल पूंछके अग्रभागमें उसका विष रहता है ॥ ६ ॥

चींटियां, मोरनियां या मुर्गियां उसको (बिच्छू और सांपको भी) खा जाती हैं। इनका विष शुष्कता उत्पन्न करनेवाला है किंवा इस वनस्पतिसे यह निर्बल हो जाता है ॥ ७ ॥

बिच्छू पूंछसे प्रहार करता है, मुखसे भी थोडा बहुत काटता है। परन्तु इसके मुखमें विष नहीं है केवल पूंछमें है ॥८॥

इसमें सर्पविष अथवा बिच्छूका विष दूर करनेके लिये मधुनामक औषधिका उपयोग करनेको कहा है। यह शर्तिया औषध है। परंतु यह कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता। विषबाधासे शरीरपर जो परिणाम होता है, उसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें है। भयंकर सर्पविषसे मनुष्य ऐसा कुरूप और टेढामेढा हो जाता है। इस सूक्तमें कहा हुआ अन्य भाग सुबोध है। इसलिये उस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

*

मनुष्यकी शक्तियां

[५७ (५९)]

(ऋषिः– वामदेवः । देवता– सरस्वती ।)

यदाशसा वदंतो मे विचुक्षुभे यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद्घृतेन ॥ १ ॥
सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् आशसा वदतः ये विचुक्षुभे) जो हिंसासे बोलनेके कारण मेरा मन क्षोभित हो गया है, (यत् जनान् अनुचरतः याचमानस्य) जो लोगोंकी सेवा करते हुए याचना करनेवाली व्याकुलता है, (तत् आत्मनि मे तन्वः विरिष्टं) तथा अपनी आत्मामें और शरीरमें जो हीनता पैदा हो गई है, (तत् सरस्वती घृतेन आ पृणत्) उसको सरस्वती घृतसे भर देवे ॥ १ ॥

जिस प्रकार (पित्रे पुत्रासः ऋतानि अपि अवीवृतन्) पिताके लिये पुत्र सत्य कर्मोंको करते हैं। उसी प्रकार (मरुत्वते शिशवे सप्त क्षरन्ति) प्राणवाले बालकके लिये सात प्राण अथवा सात इन्द्रियशक्तियां जीवनरस देती हैं। (अस्य उभे इत्) इसके पास दो शक्तियां हैं, (अस्य उभे राजतः) इसकी दोनों शक्तियां प्रकाशित होती हैं, (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करती हैं और (उभे अस्य पुष्यतः) दोनों इसका पोषण करती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— वक्तृत्व करनेके समय अथवा जेनसवा करनेके समय किंवा सेवाके लिये प्रार्थना करनेके समय तथा करनेके योग्य हलचलमें जो भी शरीरमें अथवा मनमें या आत्मामें दुःख हुआ हो वह सरस्वती दूर करे ॥ १ ॥

चैतन्यपूर्ण बालकमें सात दैवी शक्तियां कार्य करती हैं। ये शक्तियां उसके लिए ऐसे कार्य करती हैं कि जैसे बालक अपने पिताका कार्य करते हैं। उसके पास दो शक्तियां होती हैं जो तेज बढाती, कार्य कराती और पोषण करती हैं ॥ २ ॥

जनसेवा ।

जनसेवा करनेके समय जो कष्ट होते हैं (जनान् अनुचरतः यद् विचुक्षुभे । मं. १) जनताकी सेवा करनेके समय जो क्षोभ होता है, जो मानसिक क्लेश होते हैं अथवा जो शारीरिक क्लेश भोगने पडते हैं, वे सरस्वती अर्थात् विद्या देवीकी सहायतासे दूर हों। अर्थात् मनुष्यको जनताकी सेवा करनी चाहिये और उस पवित्र कार्यके करनेके समय जो कष्ट हों, उनको आनंदसे सहना चाहिये। विद्याके उत्तम प्रकार प्राप्त होनेके पश्चात् यह सहन शक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानी मनुष्य ऐसे कष्टोंकी परवाह नहीं करता।

मानवी बालकके तथा बडे मनुष्यके शरीरमें सात शक्तियां रहती हैं। बुद्धि, मन और पांच ज्ञानेंद्रियां, ये सात शक्तियां हैं, जो हरएक मानवी बालकमें जन्मसे रहती हैं। मानो ये सातों इसके पुत्र ही हैं। जिस प्रकार पुत्र अपने पिताके कार्य सद्भावनासे करते हैं और कोई कपट नहीं करते, उसी प्रकार ये शक्तियां इसके कार्य अपनी शक्तिके अनुसार निष्कपट भावसे करती हैं।

इसके पास प्राण और अपान ये दो और विशेष प्रकारके बल हैं, इन दोनों बलोंसे इसका तेज बढता है, इन दोनोंके कारण यह प्रयत्न कर सकता है और इन दोनोंकी सहायतासे इसकी पुष्टि होती है।

इन सब शक्तियोंसे मनुष्यकी उन्नति होती है। इनके साथ सरस्वती अर्थात् सारवाली विद्यादेवी है जो मनुष्यकी सहायक देवता है। मानवी उन्नति इनसे होती है यह जानकर मनुष्य इन शक्तियोंकी रक्षा और वृद्धि करे और अपनी उन्नति अपने प्रयत्नसे सिद्ध करे।

बलदायी अन्न

[५८ (६०)]

(ऋषिः- कौरुपथिः । देवता- मन्त्रोक्ता इन्द्रावरुणौ ।)

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥ १ ॥
इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सुतपौ धृतव्रतौ इन्द्रावरुणा) उत्तम तप करनेवाले, नियमके अनुसार चलनेवाले इन्द्र और वरुणो ! (इमं सुतं मद्यं सोमं पिबतं) इस निचोडे हुए आनंद बढानेवाले सोमरसका पान करो। (युवोः अध्वरः रथः) तुम दोनोंका अहिंसावाला रथ (देववीतये, पीतये प्रतिस्वसरं उपयातु) देवप्राप्ति और रक्षा करनेके लिये प्रतिध्वनि करता हुआ जावे ॥ १ ॥

हे (वृषणा इन्द्रावरुणा) बलवान् इन्द्र और वरुण ! (मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषेथां) अत्यन्त मधुर बलकारी सोमरसकी वर्षा करो अथवा इससे बल प्राप्त करो । (वां अन्धः परिषिक्तं इदं) तुम दोनोंका यह अन्न पवित्र करके रखा हुआ है । (अस्मिन् बर्हिषि आसद्य मादयेथां) इस आसनपर बैठकर आनन्द करो ॥ २ ॥

बलदायी अन्न

इस सूक्तमें मनुष्य किस प्रकार रहें और क्या खाएं और किस प्रकार आनंद प्राप्त करें इस विषयमें लिखा है—

१ सुतपौ= मनुष्य उत्तम तप करनेवाले हों, शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अंदर बढावें ।

२ धृतव्रतौ= नियमोंका पालन करें । नियमके विरुद्ध आचरण कदापि न करें। सब अपना आचरण उत्तम नियमानुकूल रखें !

३ वृषणौ= मनुष्य बलवान् बनें, अशक्त न रहें ।

४ इन्द्रावरुणौ= मनुष्य इन्द्रके समान शूरवीर ऐश्वर्यवान, धीर गंभीर, शत्रुओंको दबाने और परास्त करनेवाला बने । वरुणके समान वरिष्ठ और श्रेष्ठ बने । जो जो इन्द्रके और वरुणके गुण वेदमें अन्यत्र वर्णन किये हैं, मनुष्य उन गुणोंको अपने अंदर धारण करें और इन्द्रके समान तथा वरुणके समान बननेका यत्न करें ।

५ अध्वरः रथः= हिंसा रहित, कुटिलतारहित रथ हो । अर्थात् जहां गमन करना हो वहां अहिंसा और अकुटिलताका संदेश स्थापन करनेका यत्न किया जावे ।

६ देववीतये= देवत्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न होता रहे । राक्षसत्वसे निवृत्ति होवे और दिव्य गुणोंका धारण हो ।

७ पीतये= रक्षा करनेका प्रयत्न हो । आत्मरक्षा, समाजरक्षा, राष्ट्ररक्षा, जनरक्षाके लिए प्रयत्न होवे ।

८ इदं वां अन्धः= यह तुम्हारा अन्न है। हे मनुष्यो ! यही अन्न तुम खाओ । यह अन्न कौनसा है ? यह अन्न है– (मद्यं सुतं सोमं) हर्ष उत्पन करनेवाला सोम आदि औषधि वनस्पतियोंसे संपादित रस आदि हे मनुष्यो ! इस (वृष्णः मधुमत्तमस्य सोमस्य वृषेथां) बलवर्धक तथा मधुर सोमादि औषधियोंके रससे तुम सब लोग बलवान् बनो ।

इस प्रकार देवोंका वर्णन अपने जीवनमें ढालनेका प्रयत्न करनेसे वेदका ज्ञान जीवनमें उतरता है और श्रेष्ठ अवस्था मनुष्यको प्राप्त होती है ।

शापका परिणाम

[५९ (६१)]

(ऋषिः- बादरायणिः । देवता- अरिनाशनम् ।)

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

अर्थ— (यः अशपतः नः शपात्) जो शाप न देने पर भी हमें शाप देवे और (यः च शपतः नः शपात्) जो शाप देने पर भी हमें शाप देवे वह (आ मूलात् अनु शुष्यतु) जडसे उसी प्रकार सूख जावे, जैसे (विद्युता आहतः वृक्षः इव) बिजलीसे आहत हुआ वृक्ष सूख जाता है ॥ १ ॥

किसीको शाप देना, गाली देना या बुराभला कहना या निन्दा करना बहुत ही बुरा है । उससे गाली देनेवालेका ही नुकसान होता है ।

रमणीय घर

[६० (६२)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- गृहाः, वास्तोष्पतिः ।)

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥
इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

अर्थ— (ऊर्जं बिभ्रत् वसुवनिः) अन्नको धारण करनेवाला, धनका दान करनेवाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि-मान् (अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा सुमनाः) शान्त और मित्रकी दृष्टि धारण करनेके कारण उत्तम मनवाला होकर तथा (वन्दमानः) सब श्रेष्ठ पुरुषोंको नमन करता हुआ, मैं (गृहान् एमि) अपने घरके पास जाता हूं । यहां तुम (रमध्वं) आनन्दसे रहो, (मत् मा बिभीत) मुझसे मत डरो ॥ १ ॥

(इमे गृहाः) ये हमारे घर (मयो-भुवः ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः) सुखदायी, बलदायक धान्यसे युक्त, और दूधसे युक्त हैं । ये (वामेन पूर्णाः तिष्ठन्तः) सुखसे परिपूर्ण हैं, (ते नः आयतः जानन्तु) वे हम आनेवाले सबको जानें ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं स्वयं उत्तम अन्न, विपुलधन, श्रेष्ठबुद्धि, और मित्रकी दृष्टिको धारण करके उत्तम विचारोंके साथ पूजनीयोंका सत्कार करता हुआ घरमें प्रवेश करता हूं, सब लोग यहां आनन्दसे रहें और किसी प्रकार किसीको भी यहां मुझसे डर उत्पन्न न हो ॥ १ ॥

इन घरोंमें हमें सुख मिले, बल प्राप्त हो, और सब आनन्दसे रहें ॥ २ ॥

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्त्वाय॒तः ॥ ३ ॥
उप॑हूता॒ भूरि॑धना॒ः सखा॑यः स्वा॒दुसं॑मुदः ।
अ॒क्षु॒ध्या अ॑तृ॒ष्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद्बि॑भीतन ॥ ४ ॥
उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अ॒जाव॑यः ।
अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ॥ ५ ॥
सू॒नृता॑वन्तः सु॒भगा॒ इरा॑वन्तो हसामु॒दाः ।
अ॒तृ॒ष्या अ॑क्षु॒ध्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद्बि॑भीतन ॥ ६ ॥
इ॒हैव स्त॒ मानु॑ गात॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पुष्यत ।
ऐष्या॑मि भ॒द्रेणा॑ स॒ह भूया॑सो भवता॒ मया॑ ॥ ७ ॥

अर्थ— (**प्रवसन् येषां अध्येति**) अन्दर रहता हुआ जिनके विषयमें जानता है, कि (**येषु बहुः सौमनसः**) जिनमें बहुत सुख है, ऐसे (**गृहान् उपह्वयामहे**) घरोंके प्रति हम इष्ट मित्रोंको बुलाते हैं; (**ते नः आयतः जानन्तु**) वे आनेवाले हम सबको जानें ॥ ३ ॥

(**भूरिधनाः स्वादुसंमुदः सखायः उपहूताः**) बहुत धनवाले, मीठेपनसे आनन्दित होनेवाले अनेक मित्र बुलाये हैं । हे (**गृहाः**) घरो! तुम (**अक्षुध्याः अ-तृष्याः स्त**) क्षुधावाले और तृषावाले न होवो, तथा (**अस्मत् मा बिभीतन**) हमसे मत डरो ॥ ४ ॥

(**इह गावः उपहूताः**) यहां गौवें बुलाईं गईं तथा (**अज-अवयः उपहूताः**) बकरियां और भेडें भी लाईं गईं। (**अथो अन्नस्य कीलालः**) और अन्नका सत्वभाग भी (**नः गृहेषु उपहूतः**) हमारे घरमें लाया गया है ॥ ५ ॥

हे (**गृहाः**) घरो ! तुम (**सूनृता-वन्तः सुभगाः**) सत्ययुक्त और उत्तम भाग्यवाले, (**इरावन्तः हसा-मुदाः**) अन्नवान् और जहां हास्य विनोद चल रहे हैं ऐसे, (**अतृष्याः अक्षुध्याः**) जहां क्षुधा और तृषाका भय नहीं ऐसे (**स्त**) हो। (**अस्मत् मा बिभीतन**) हमसे मत डरो ॥ ६ ॥

(**इह एव स्त**) यहीं रहो, (**मा अनु गात**) हमसे दूर मत जाओ, (**विश्वा रूपाणि पुष्यत**) विविधरूपवाले प्राणियोंको पुष्ट करो, (**भद्रेण सह आ एष्यामि**) कल्याणके साथ मैं तुम्हें प्राप्त होता हूं । (**मया भूयांसः भवत**) मेरे साथ बहुत हो जाओ ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन घरोंमें रहकर हमें सुखका अनुभव हो, हम यहां इष्टमित्रोंको बुलावें और सब आनन्दसे रहें ॥ ३ ॥

बहुत धनी, आनन्दवृत्तिवाले बहुतमित्र घरमें बुलाये गए हैं, उनको यहां जितना चाहे उतना खानपान प्राप्त हो, यहां सबकी विपुलता रहे और कोई भूखा प्यासा न रहे ॥ ४ ॥

हमारे घरमें गौवें, बकरियां और भेडें रहें, सब प्रकारका सत्ववाला अन्न रहे, किसी प्रकार न्यूनता न रहे ॥ ५ ॥

घर घरमें सत्य, भाग्य, अन्न, आनन्द, हास्य और खान और पानकी विपुलता रहे ॥ ६ ॥

घर सुदृढ हों, अस्थिर न हों, घरमें सबका उत्तम पोषण होता रहे । कल्याण और सुख सबको प्राप्त हो और हमारी वृद्धि होती रहे ॥ ७ ॥

रमणीय घर कैसा होना चाहिये, यह विषय इस सूक्तमें सुबोध रीतिसे कहा गया है । घरमें प्रेम रहे, द्वेष न रहे, सब लोग आनन्दसे रहें, परस्पर भीति न हो, वहां धनधान्यकी सुख समृद्धि हो, गोरस विपुल, हो किसी प्रकार सुखभोगकी न्यूनता न हो । इष्टमित्र आवें, आनन्द करें, कोई कभी भूखा न रहे, अन्नपान सत्ववाला हो, हरएक हृष्टपुष्ट हो, कोई किसी कारण पीडित न हो । इस प्रकारके घर होने चाहिये । यही गृहस्थाश्रम है ।

तपसे मेधाकी प्राप्ति

[६१ (६३)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– अग्निः ।)

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥
अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः ।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (तपसा यत् तपः) तपसे जो तप किया जाता है। उस (तपः उप तप्यामहे) तपको हम करते हैं। उससे हम (श्रुतस्य प्रियाः) ज्ञानके प्रिय (आयुष्मन्तः सुमेधसः भूयास्म) दीर्घायुषी और उत्तम बुद्धिमान हों ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (तपः तप्यामहे) हम तप करते हैं और (तपः उपतप्यामहे) तप विशेष रीतिसे करते हैं। (वयं श्रुतानि शृण्वन्तः) हम ज्ञानोपदेश श्रवण करते हुए (आयुष्मन्तः सुमेधसः) दीर्घायुषी और उत्तम बुद्धिमान् हों ॥ २ ॥

भावार्थ— हम तप करके ज्ञान प्राप्त करें और दीर्घायु, बुद्धिमान् और ज्ञानको चाहनेवाले बनें ॥ १–२ ॥

तप करनेसे यह सिद्धि प्राप्त होती है यह सूक्तका आशय है, अतः जो दीर्घायु और बुद्धिमान् बनना चाहते हैं वे तप करें।

शूरवीर

[६२ (६४)]

(ऋषिः– मरीचिः, काश्यपः । देवता– अग्निः ।)

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजनत्पुरोहितः ।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं अग्निः) यह अग्निके समान तेजस्वी पुरुष (सत्पतिः वृद्ध वृष्णः) सज्जनोंका पालक, महाबलवान्, (पुरः-हितः) सबका अग्रणी (रथी इव पत्तीन् अजयत्) महारथी जिस प्रकार पैदल सैनिकोंको जीतता है, वैसे जीतता है। (पृथिव्यां नाभा निहितः) भूमिपर केन्द्रमें रखा है, (दविद्युतत्) वह प्रकाशता है, वह (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुतां) जो सेना लेकर चढाई करते हैं उनको पांवके नीचे करे ॥ १ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी पुरुष सज्जनोंका पालन करे, बलवान् बने, जनोंका अग्रणी बने, शत्रुसेनाका पराभव करे, महारथी होवे, पृथ्वीके केन्द्र स्थानपर आरूढ होवे, तेजसे प्रकाशित होवे और सैन्य लेकर चढाई करनेवालोंको पांवके तले दबा देवे ॥ १ ॥

मनुष्य इसप्रकार अपने गुण कर्म प्रकाशित करे और अपने राष्ट्रके केन्द्रमें विराजमान रहे।

बचानेवाला देव

[६३ (६५)]

(ऋषिः- मरीचिः, काश्यपः । देवता- जातवेदाः ।)

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात् ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद्देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

अर्थ— (पृतनाजितं सहमानं अग्निं) शत्रुसेनाका पराजय करनेवाले सामर्थ्यवान् तेजस्वी देवको हम (उक्थैः परमात् सधस्थात् हवामहे) स्तोत्रोंसे उत्कृष्ट स्थानसे बुलाते हैं। (सः नः विश्वा दुर्गाणि अति पर्षत्) वह हमें सब दुःखोंसे पार ले जावे। और (वह अग्निः देवः) तेजस्वी देव (दुरितानि अति क्षामत्) दुरवस्थाओंका नाश करे ॥ १ ॥

भावार्थ— शत्रुका पराभव करनेवाला और शत्रुके आक्रमणोंको सहनेवाला तेजस्वी प्रभु है, उसका हम गुणगान करते हैं और उसको अपने श्रेष्ठ स्थानसे यहां अपने पास बुलाते हैं। वह निःसन्देह हमें कष्टोंसे बचावेगा और कठिनताओंसे पार करेगा ॥ १ ॥

इस प्रभुकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना हरएक मनुष्य करे और उसके ये गुण अपनेमें बढावे। अर्थात् उपासक भी शत्रुसेनाका पराभव करे, शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् पीछे न भागे, दूसरोंको कष्टोंसे बचावे और दूरवस्थामें उनका सहायक बने।

पापसे बचाव

[६४ (६६)]

(ऋषिः- यमः । देवता- मन्त्रोक्ता, निर्ऋतिः ।)

इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥ १ ॥
इदं यत्कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

अर्थ— (इदं यः कृष्णः शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (अभि निष्पतन् अपीपतत्) झुकता हुआ गिरता है। (तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् अंहसः) उस सब गिरावटके पापसे (आपः मा पान्तु) जल मेरी रक्षा करें ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (इदं यः कृष्ण शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (ते मुखेन अवामृक्षत्) तेरे मुखके पास आकर गिरता है (गार्हपत्यः अग्नि) गार्हपत्य अग्नि (तस्मात् एनसः) उस पापसे (मा प्रमुञ्चतु) मुझे छुडावे ॥ २ ॥

इन दोनों मन्त्रोंके प्रथम चरण दुर्बोध हैं। दूसरे चरणोंमें बताया है कि जल और अग्नि दोषमुक्त करके पापसे बचाते हैं। पहिले चरणोंसे प्रतीत होता है कि शकुनिपक्षीका गिरना या उडना अशुभ या शुभका सूचक है। परन्तु ये मन्त्र खोजके योग्य हैं।

अपामार्ग औषधी

[६५ (६७)]

(ऋषिः- शुक्रः । देवता- अपामार्गवीरुत् ।)

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥
यद्दुष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया ।
त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥
श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधी ! (त्वं प्रतीचीनफलः हि रुरोहिथ) तू उलटे मोडे हुए फलवाली होकर उगती है। अतः (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब शापोंको (इतः वरीयः अधियावय) यहांसे दूर हटा दे ॥१॥

(यत् दुष्कृतं) जो पाप, (यत् शमलं) जो दोष या कलंक मैंने किया हो अथवा (यत् वा पापया चेरिम) जो पापीके साथ व्यवहार किया हो, हे (विश्वतो-मुख अपामार्ग) सर्वतोमुख अपामार्ग ! (त्वया तत् अप मृज्महे) तेरी सहायतासे उसको हम दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यत् श्यावदता) काले दांतवाले (कुनखिना) जो बुरे नाखूनोंवाले (बण्डेन सह आसिम) विरूपके साथ हम बैठते हैं, हे अपामार्ग ! (तत् सर्वं वयं त्वया अपमृज्महे) वह सब दोष हम तेरी सहायतासे हटा देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— अपामार्ग औषधिके फल उलटी दिशासे बढते हैं, इसलिये इस वनस्पतिसे उलटे आचरणके सब दोष हटाये जाते हैं। दुराचार, पाप, दोष, पापीका सहवास, दन्तदोष, बुरे नाखून तथा रक्तदोषीका सहवास, ये स्वयं आचरित अथवा संगतसे आये दोष अपामार्गके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ १-३ ॥

वैद्योंको इस सूक्तका विशेष विचार करना चाहिये। दन्तदोष अपामार्गका दातून करनेसे दूर होता है, यह अनुभव है। पाठक भी इसका अनुभव लें, अपामार्ग औषधी दोषनिवारक है तथापि इसका विविध रोगोंपर कैसा उपयोग करना चाहिये, यह विषय अन्वेष्टव्य है। महाराष्ट्रमें विशेषतः ऋषिपञ्चमीके पर्वमें अपामार्गके काष्टसे ही दन्तधावन करनेकी परिपाटी इस दिन तक चली आयी है। प्रायः इसका पालन इस समय स्त्रियां ही करती हैं। तथापि इस मन्त्रमें दन्तरोगका दूर होना अपामार्ग प्रयोगसे कहा है और यहांकी परिपाटी भी वैसी ही है। अतः इसकी अधिक खोज करना योग्य है।

ब्रह्म

[६६ (६८)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- ब्रह्म ।)

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदश्रवन्पशव उद्यमानं तद्ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

अर्थ—(यदि अन्तरिक्षे यदि वाते) यदि अन्तरिक्षमें और यदि वायुमें (यदि वृक्षेषु यदि वा उलपेषु) यदि वृक्षोंमें अथवा यदि घासमें आप देखेंगे तो उसमें जो (आस) सदा रह रहा है, (यत् पशवः अस्रवन्) जो प्राणियोंमें चूता है, (तत् उद्यमानं ब्राह्मणं) वह प्रकट होनेवाला ब्रह्म (पुनः अस्मान् उपैति) पुनः हमें प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ— जो ब्रह्म इस अवकाशमें, वायुमें, वृक्षोंमें, घासमें विराजता है, जो पशुओंमें अर्थात् प्राणियोंमें प्रवाहित होता है अर्थात् जो स्थिर चरमें विद्यमान है, वह सर्वत्र प्रकाशित होनेवाला ब्रह्म हमें प्राप्त होता है ॥ १ ॥

ब्रह्म नाम महान् आत्मतत्त्व जो सर्वत्र स्थिर चरमें व्यापक है, वह सर्वत्र प्रकाशित होता है, जिसकी शक्तिसे संपूर्ण जगत्को यह सुंदर रूप मिला है, वह ब्रह्म हम सब मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है। अतः उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य प्रयत्न करे।

आत्मा

[६७ (६९)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- आत्मा।)

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ १ ॥

अर्थ— (मा इन्द्रियं पुनः एतु) मुझे इन्द्रियशक्ति पुनः प्राप्त हो। (आत्मा द्रविणं ब्रह्मणं च पुनः) मुझे आत्मा चेतना और ब्रह्म पुनः प्राप्त हो। (धिष्ण्याः अग्नयः यथा-स्थाम) बुद्धि आदि स्थानकी अग्नियां यथायोग्य स्थानमें (इह एव पुनः कल्पयन्तां) यहीं ही समर्थ हों ॥ १ ॥

भावार्थ— सब इन्द्रियकी शक्तियां, ज्ञान, चेतना, आत्मा, बुद्धि, मन आदिकी सब चैतन्यशक्तियां मुझे प्राप्त हों और यहां उन्नत हों ॥ १ ॥

इंद्रियां ज्ञानेन्द्रियां पांच और कर्मेन्द्रियां पांच मिलकर दस हैं, आत्मा नाम जीवका है, द्रविणका अर्थ यहां मनका उत्साह अथवा चैतन्य है, ब्राह्मणका अर्थ ब्रह्म-आत्माकी ज्ञानशक्ति है। धिषणा-धिष्ण्याका अर्थ बुद्धि अथवा अन्तःकरणकी शक्तियां हैं। ये अग्निस्वरूप चेतन हैं। ये सब आत्माकी शक्तियां यहां स्थिर रहें, उन्नत हों और प्रकाशरूप होकर मुझे सहायक हों।

सरस्वती

[६८ (७०, ७१)]

(ऋषिः- शन्तातिः। देवता- सरस्वती।)

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥
इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं१ यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ २ ॥
शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सरस्वति) सरस्वती देवि (ते दिव्येषु धामसु व्रतेषु) तेरे दिव्य धामोंके व्रतोंमें (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किया हुआ हवन सेवन कर और हे (देवि) देवि! (नः प्रजां ररास्व) हमें प्रजा दे ॥ १ ॥

हे (सरस्वति) सरस्वति! (ते इदं घृतवत् हव्यं) तेरा यह घीवाला हवन है। (इदं पितॄणां हविः यत् आस्यं=आश्यं) यह पितरोंका हवि है जो खाने योग्य है। (ते इमानि उदिता शंतमानि) तेरे ये प्रकाशित कल्याण-कारी सामर्थ्य हैं, (तेभिः वयं मधुमन्तः स्याम) उनसे हम मीठे बनें ॥ २ ॥

हे (सरस्वति) सरस्वती! (नः सुमृडीका शिवा शंतमा भव) हमारे लिये स्तुतिकरने योग्य, शुभ और सुखकारी हो, (ते संदृशः मा युयोम) तेरी दृष्टिसे हम कदापि वियुक्त न हों ॥ ३ ॥ [सरस्वतीके उपासकोंका सदा कल्याण होता है।]

*

सुख

[६९ (७२)]

(ऋषिः– शंतातिः । देवता– सुखम् ।)

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥ १ ॥

अर्थ— (नः वातः शं वातु) हमारे लिये वायु सुखकर रीतिसे बहे । (नः सूर्यः शं तपतु) हमारे लिये सूर्य सुखकारी होकर तपे । (नः अहानि शं भवन्तु) हमारे दिन सुखदायक हों । (रात्री शं प्रतिधीयतां) रात्री सुखकारी हो । (उषा नः शं व्युच्छतु) उषःकाल हमें सुख देवे ॥ १ ॥

वायु, सूर्य, दिन, रात और उषा ये तथा अन्य सब पदार्थ हमें सुखदायक हों। हमारी अन्तरिक्ष अवस्था ऐसी रहे कि हमें बाह्य जगत् सदा सुखकारी होवे और कभी दुःखदायी न हो।

शत्रुदमन

[७० (७३)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– श्येनः, देवाः ।)

यत्किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥
यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत्सं पादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥
अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

अर्थ— (असौ यत् किं च मनसा) यह शत्रु जो कुछ भी मनसे और (यत् च वाचा) जो कुछ वाणीसे करता है तथा जो कुछ (यजुषा हविषा यज्ञैः जुहोति) यजु, हवि और यज्ञोंसे हवन करता है । (अस्य यत् संविदाना निर्ऋतिः) इसका वह उद्देश्य जाननेवाली संहारशक्ति (सत्यात् पुरा मृत्युना आहुतिं हन्तु) यज्ञकी पूर्णता होनेके पूर्वही मृत्युकी सहायतासे आहुति नष्ट करे ॥ १ ॥

(यातुधानाः रक्षः निर्ऋतिः) यातना देनेवाले, राक्षस और विनाशशक्ति ये सब (आत् उ अस्य सत्यं अनृतेन घ्नन्तु) निश्चयपूर्वक इस दुष्टशत्रुके सत्यका भी अनृतसे घात करें । (इन्द्र-इषिताः देवाः) इन्द्र द्वारा प्रेरित देव (अस्य आज्यं मथ्नन्तु) इस दुष्ट शत्रुके घृतको मथें । और (यत् असौ जुहोति तत् मा संपादि) जिस उद्देश्यसे यह हवन करता है वह सिद्ध न हो ॥ २ ॥

(अजिर अधिराजौ संपातिनो श्येनौ इव) शीघ्रगामी पक्षीराज बाज जैसे एक दूसरेपर आघात करते हैं, उस प्रकार (यः कः च नः अभि अघायति) जो कोई हमें पापसे कष्ट देता है उस (पृतन्यतः आज्यं हतां) सेनावाले शत्रुकी हवि नष्ट करें ॥ ३ ॥

अपांश्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥
अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अर्थ— (ते उभौ बाहू अपाञ्चौ) तुझ शत्रुके दोनों बाहू मैं पीछे मोडकर बांधता हूं तथा (आस्यं अपि नह्यामि) तेरा मुंह भी मैं बांध देता हूं । (अग्नेः देवस्य तेन मन्युना) अग्निदेवके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरी हविका मैं नाश करता हूं ॥ ४ ॥

(ते बाहू अपि नह्यामि) तुझ शत्रुके दोनों बाहुओंको बांधता हूं (आस्यं अपि नह्यामि) मुखको भी बांधता हूं । (घोरस्य अग्नेः तेन मन्युना) भयानक अग्निके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरी हविका मैं नाश करता हूं ॥५॥

जो शत्रु अपने (पृतन्यतः) सैन्यसे हमें सताता है, और (नः अघायति) हमें पापी युक्तियोंसे विविध कष्ट देता है, उस दुष्ट शत्रुके अन्य सब यज्ञादि प्रयत्न भी सफल न हों । ऐसे दुष्ट शत्रु जो भी सत्य कर्म करते हैं उसका उद्देश्य इतना ही होता है कि उससे उनकी शक्ति बढे और उस शक्तिका उपयोग हमें दबानेकी युक्तियोंमें वे करें । दुष्ट लोग जो कुछ सत्कर्म करते हैं, वह सत्यके प्रेमसे नहीं करते, अपितु अपनी शक्ति बढानेके लिये करते हैं और वे मनमें यही इच्छा धारण करते हैं कि, इस शक्तिसे हम निर्बलोंको लूटें और अपने भोग बढावें । अतः इस सूक्तमें ऐसी प्रार्थना की है कि ऐसे दुष्टोंके सत्कर्म भी सफल न हों और उनकी शक्ति न बढे; दुष्टोंकी शक्ति घटनेसे जगत्में शान्ति रह सकती है ।

प्रभुका ध्यान

[७१ (७४)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– अग्निः ।)

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सहस्य अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव ! (वयं पुरं विप्रं धृषद्वर्णं) हम सब परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका धर्षण करनेवाले (भंगुरावतः हन्तारं) विनाशकको मारनेवाले (त्वा दिवे दिवे परि धीमहि) तुझ ईश्वरकी प्रतिदिन सब ओरसे स्तुति गाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— परमेश्वर बलवान्, अग्नि समान तेजस्वी, सर्वत्र परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका पराजय करनेवाला, घातपात करनेवालेका विनाश करनेवाला है, अतः उसकी सब प्रकारसे स्तुति करनी चाहिए ॥ १ ॥

मनुष्य ईश्वरके गुणगान गावे, उन गुणोंको अपने अंदर धारण करे और ईश्वरके गुणोंको अपनेमें बढावे । मनुष्य इन गुणोंको धारण करे यह बतानेके लिये ही ईश्वरके गुणोंका वर्णन स्थान स्थानपर किया जाता है । यहां अग्नि नामसे ईश्वरका वर्णन है । अग्नि भी उसी प्रभुकी आग्नेयशक्ति लेकर अग्नि गुणसे युक्त बना है । इसी प्रकार अन्यान्य नाम उसी एक प्रभुके लिये प्रयुक्त होते हैं ।

खानपान

[७२ (७५, ७६)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- इन्द्रः ।)

उत्तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥
श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम् ।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥ २ ॥
श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः ।
माध्यंन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः ॥ ३ ॥

अर्थ— (उत् तिष्ठत) उठो और (इन्द्रस्य ऋत्वियं भागं अवपश्यत) प्रभुके ऋतुके अनुकूल भागको देखो। (यदि श्रातं) यदि अच्छी तरह पका हुआ हो तो (जुहोतन) स्वीकार करो और (यदि अश्रातं ममत्तन) यदि अच्छी तरह न पका हो तो उसके परिपाक होनेतक आनन्द करो ॥ १ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (श्रातं हविः ओ सुप्रयाहि) हवि सिद्ध हो गई है उसके प्रति तू उत्तम प्रकारसे जा, (सूरः अध्वनः मध्यं वि जगाम) सूर्य अपने मार्गके मध्यमें गया है । (सखायः निधिभिः त्वा परि आसते) समान विचारवाले लोग अपने संग्रहोंके साथ तेरे चारों ओर उसी प्रकार बैठते हैं (कुलपाः व्राजपतिं चरन्तं न) जैसे कुल-पालक पुत्र संघपति पिताके विचरते हुए उसके पास आते हैं ॥ २ ॥

(ऊधनि श्रातं मन्ये) गायके स्तनमें पका हुआ दूध है ऐसा मैं मानता हूं । तत्पश्चात् (अग्नौ श्रातं) अग्निपर परिपक्व हुआ है अतः (तत् ऋतं नवीयः सुश्रृतं मन्ये) वह सच्चा नवीन दुग्ध उत्तम प्रकारसे परिपक्व हुआ है ऐसा मैं मानता हूं । हे (पुरुकृत् वज्रिन् इन्द्र) बहुत कर्म करनेवाले वज्रधारी प्रभो ! (जुषाणः) उसका सेवन करता हुआ (माध्यंदिनस्य सवनस्य दध्नः पिब) मध्यंदिन सवनके दहीका पान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— उठो और ईश्वरके द्वारा दिये हुए ऋतुके अनुकूल अन्न भागको देखो । जो परिपक्व हुआ हो उसको लो और यदि कुछ अन्न भाग परिपक्व न हुआ हो, तो उसके परिपाक होने तक आनंदसे रहो ॥ १ ॥

हे प्रभो ! यह अन्नभाग परिपक्व हुआ है, यह सिद्ध है, यहां प्राप्त हो, सूर्य मध्यान्हमें आगया है । सब मित्र अपने अपने संग्रहोंको लिये हुए प्राप्त हुए हैं जैसे पुत्र पिताके पास इकट्ठे होते हैं वैसे ही हम सब तेरे पास इकट्ठे हुए हैं ॥ २ ॥

मैं मानता हूं कि एक तो गायके स्तनोंमें दूध परिपक्व होता है, पश्चात् अग्निपर परिपक्व होता है । नव अन्न इस प्रकार सिद्ध होता है । हे प्रभो ! मध्यदिनके समय इसका सेवन करो और दही पीओ ॥ ३ ॥

खानपान

भोजनका समय

सूर्यके मध्यान्हमें आनेपर भोजन करना चाहिये, यह बात इस सूक्तसे प्रतीत होती है, देखिये—

सूरः अध्वनः मध्यं विजगाम ।
श्रातं हविः सुप्रयाहि । (मं० २)

' सूर्य मार्गके मध्यमें पहुंच चुका है अतः परिपक्व हुए अन्नके प्रति जा । ' यह वाक्य भोजनका समय दोपहरके बारह बजेका या उसके किंचित पश्चात्का है, इस बातको स्पष्ट करता है । हवि नाम अन्नका है । यह अन्न परिपक्व हुआ हो । अन्न एक तो स्वयं (ऊधनि श्रातं) गायके स्तनोंमें परिपक्व होता है, जिसको हम दूध कहते हैं, यह दूध दुहे

जानेके पश्चात् (**अग्नौ श्रातं**) अग्निपर पकाया जाता है। एक स्वभावतः परिपक्कता होती है पश्चात् अग्निपर परिपक्कता होती है, पश्चात् देवताओंको समर्पित करके भोजन करना होता है। दूध पकनेके पश्चात् उसका दही बनाया जाता है। यह दही (**मध्यन्दिनस्य दध्नः पिब**) मध्यान्हके भोजनके समय पीना योग्य है। रात्रीके समय, या सबेरे दही पीना उचित नहीं, क्यों कि दही शीतवीर्य होता है इस कारण वह दोपहरके उष्ण समयमें ही पीना योग्य है।

जैसे गायके स्तनमें दूध परिपक्क होता है, उसी प्रकार '**गो**' नाम भूमिके अंदर धान्य आदिकी उत्पत्ति होती है। इसको भी परिपक्क दशामें लेना चाहिये, पश्चात् अग्निपर पकाकर या भूनकर उसको सेवन करना चाहिये। यह अन्न दूध हो या अन्य धान्यादि हो, वह (**ऋतं नवीयः**) सच्चा नया लेना योग्य है। दूध भी ताजा लेना चाहिये और धान्य भी बहुत पुराना लेना योग्य नहीं। अन्न भी पकने पर ही लेना चाहिये अर्थात् दोचार दिनके बासे पदार्थ लेने योग्य नहीं है। भगवद्गीतामें कहा है कि—

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(भ० गी० १७।१०)

" जिस अन्नको तैयार होकर तीन घण्टे व्यतीत हुए हैं, जो नीरस है, जो दुर्गंधयुक्त है, जो उच्छिष्ट है और अपवित्र है वह तामस लोगोंको प्रिय होता है। " अर्थात् अन्नको पकाकर तीन घंटोंके पश्चात् उसका सेवन करना योग्य नहीं पकनेके तीन घंटेतक उसको (**ऋतं नवीयः**) नया या ताजा कहते हैं, इसी अवस्थामें उसका सेवन करना चाहिए।

परमेश्वर (**ऋत्वियं भागं**) ऋतुके योग्य अन्न भागको देता है। जिस ऋतुमें जो सेवन करने योग्य होता है वह अन्न, फूल, फल, रस आदि देता है। उसको पक्क अवस्थामें प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका सेवन करना चाहिये। यदि कोई फल पका न हो तो उसकी प्रतीक्षा आनंदके साथ करनी चाहिये।

सब परिवारके तथा (**सखायः**) इष्टमित्र अपनी अपनी थालीमें (**निधिभिः**) अपने अन्न संग्रहको लें और साथ साथ पंक्तिमें बैठें, सब अपने अन्नभागसे कुछ भाग देवताओंके उद्देश्यसे समर्पित करें। सब इष्टमित्र ऐसा मानें की ईश्वर हम सबके बीचमें है अथवा हम उसके चारों ओर हैं और इस प्रकार जो अन्न भाग मिले उसका आनंदके साथ सेवन करें।

गाय और यज्ञ

[७३ (७७)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- घर्मः, अश्विनौ।)

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**वृषणौ अश्विनौ**) दोनों बलवान् अश्विदेवों! (**दिवः रथी अग्निः समिद्धः**) प्रकाशके रथ जैसे अग्नि प्रदीप्त हुआ है। यह (**घर्मः तप्तः**) तपी हुई गर्मीही है। यह (**वां इषे मधु दुह्यते**) आप दोनोंके लिये मधुर रसका दोहन करता है। (**वयं पुरु-दमासः कारवः सध-मादेषु वां हवामहे**) हम सब बहुत घरवाले और कार्य करनेवाले पुरुष साथ साथ मिलकर आनंद करनेके समय तुम दोनोंको बुलाते है ॥ १ ॥

भावार्थ— हवनकी अग्नि प्रदीप्त हो चुकी है, गौका दोहन किया जाता है और हम सब ऋत्विज देवताओंको बुलाते हैं ॥ १ ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥ २ ॥
स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥
यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम् ।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥ ४ ॥
तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥
उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो वि राजति ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (वृषणौ अश्विनौ) बलवान् अश्विदेवो ! (अग्निः समिद्धः) अग्नि प्रदीप्त हुआ है, (वां घर्मः तप्तः) आपके लिए हि यह दूध तप रहा है। इसलिए (आगतं) आओ। (नूनं इह धेनवः दुह्यन्ते) निश्चयसे यहां गौवें दुही जाति हैं। हे (दस्रौ) दर्शनीय देवो ! (वेधसः मदन्ति) ज्ञानी आनंद करते हैं ॥ २ ॥

(यः अश्विनोः देवपानः चमसः यज्ञः) जो अश्विदेवोंका देव जिससे रसपान करते हैं ऐसा चमसरूपी यज्ञ है वह (देवेषु स्वाहाकृतः शुचिः) देवोंके लिए स्वाहा किया हुआ होनेसे पवित्र है। (विश्वे अमृतासः तं उ जुषाणाः) सब देव उसीका सेवन हैं और (तं उ गन्धर्वस्य आस्ना प्रत्यारिहन्ति) उसीकी गंधर्वके मुखसे पूजा भी करते हैं ॥ ३ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (यत् उस्रियासु आहुतं घृतं पयः) जो गौओंमें रखा हुआ घृतमिश्रित दूध है, (अयं सः वां भागः) यह वह आपका भाग है, तुम दोनों (आगतं) आओ। हे (माध्वी) मधुरतायुक्त (विदथस्य धर्तारौ) यज्ञके धारक, (सत्पती) उत्तम पालको ! (दिवः रोजने तप्तं घर्मं पिबतं) द्युलोकके प्रकाशमें तपा हुआ यह दूध रूपी तेज पीओ ॥ ४ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (तप्तः घर्मः वां नक्षतु) तपा हुआ तेजरूपी यह दूध तुम दोनोंको प्राप्त होवे। (पयस्वान् स्वहोता अध्वर्युः वां प्रचरतु) दूध लिये हुए हवनकर्ता अध्वर्यु तुम दोनोंकी सेवा करे। (तनायाः उस्रियायाः मधोः दुग्धस्य पयसः) हृष्टपुष्ट गौके दुहे हुए मधुर दूधको (वीतं पातं) प्राप्त करो और पीओ ॥ ५ ॥

हे (गोधुक्) गायका दोहन करनेवाले ! (पयसा ओषं उपद्रव) दूधके साथ अतिशीघ्र यहां आ, (उस्रियायाः पयः घर्मे आसिञ्च) गौका दूध कढाईमें रख, और तपा। (वरेण्यः सविता नाकं वि अख्यत्) श्रेष्ठ सविता सुखपूर्ण स्वर्गधामको प्रकाशित करता है और वह (उषसः अनुप्रयाणं विराजति) उषःकालके गमनके पश्चात् विराजता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे देवो ! अग्नि प्रदीप्त हुई है, दूध तप रहा है, इसलिये यहां आओ, यह गौवें दुही जाती हैं जिससे ज्ञानी आनंदित होते हैं ॥ २ ॥

यह यज्ञ ऐसा है कि जिसमें देवतालोग रसपान करते हैं, और वे इस पवित्र यज्ञका सेवन करते हैं, और सत्कार करते हैं ॥ ३ ॥

गौके दूधमें देवोंका भाग है, इसलिए इस यज्ञमें पधारो। और इस तपे हुए मधुर गोरसको पीओ ॥ ४ ॥

हे देवो ! यह तपा हुआ रस तुम्हें प्राप्त हो। गौके इस मधुर गोरसका पान करो ॥ ५ ॥

हे गौका दोहन करनेवाले ! दूध लेकर यज्ञमें आओ। गायका दूध तपाओ। हवन करो, श्रेष्ठ सविताने यह सुखमय स्वर्ग तुम्हारे लिये खुला किया है ॥ ६ ॥

उप॑ ह्वये सुदुघां॑ धेनुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो॑ घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ७ ॥
हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सुप॒त्नी वसू॑नां व॒त्सम्‌इ॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒ न्याग॑न् ।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ८ ॥
जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान् ।
विश्वा॑ अग्ने अभि॒युजो॑ वि॒हत्य॑ शत्रूय॒ताम् आ भ॑रा॒ भोज॑नानि ॥ ९ ॥
अग्ने॒ शर्ध॑ मह॒ते सौभ॑गाय॒ तव॑ द्यु॒म्नान्यु॑त्त॒मानि॑ सन्तु ।
सं जा॑स्प॒त्यं सु॒यम॒मा कृ॑णुष्व शत्रूय॒ताम॒भि ति॑ष्ठा॒ महां॑सि ॥ १० ॥
सू॒य॒व॒साद्भग॑वती॒ हि भू॒या अधा॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
अ॒द्धि तृण॑मघ्न्ये विश्व॒दानीं॒ पिब॑ शु॒द्धमु॑द॒कमा॒चर॑न्ती ॥ ११ ॥

अर्थ—(**सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये**) उत्तम हाथवाला मैं सुखसे दुहे जाने योग्य इस धेनुको बुलाता हूं। (**उत गोधुक् एनां दोहत्**) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। (**सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्**) सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (**अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्**) प्रदीप्त तेजरूपी दूध यही बतावे ॥ ७ ॥

(**हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी**) रंभानेवाली, ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली यह गाय (**मनसा वत्सं इच्छन्ती नि आगन्**) मनसे बछडेकी कामना करती हुई समीप आई है। (**इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां**) यह गौ दोनों अश्विदेवोंके लिये दूध देवे। और (**सा महते सौभागाय वर्धतां**) वह बडे सौभाग्यके लिये बढे ॥ ८ ॥

(**दमूना अतिथिः दुरोणे जुष्टः**) दमन किये हुए मनवाला अतिथि घरमें सेवित होकर यह (**विद्वान्**) ज्ञानी (**नः इमं यज्ञं उपयाहि**) हमारे इस यज्ञमें आवे। हे अग्ने! (**विश्वा अभियुजः विहत्य**) सब शत्रुओंका वध करके (**शत्रूयतां भोजनानि आभर**) शत्रुता करनेवालोंके अन्न हमारे पास ला ॥ ९ ॥

हे (**शर्ध अग्ने**) बलवान् अग्ने। (**तव उत्तमानि द्युम्नानि महते सौभगाय सन्तु**) तेरे उत्तम तेज बडे सौभाग्य बढानेवाले हों। (**जास्पत्यं सुयमं सं आकृणुष्व**) स्त्रीपुरुष संबंध उत्तम संयमपूर्वक होवे। (**शत्रूयतां महांसि अभितिष्ठा**) शत्रुता करनेवालोंके बलोंका मुकाबला कर ॥ १० ॥

हे (**अघ्न्ये**) न मारने योग्य गौ! तू (**सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः**) उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो! (**अधा वयं भगवन्तः स्याम**) और हम भी भाग्यवान् हों। (**विश्वदानीं तृणं अद्धि**) सदा तृण भक्षक कर और (**आचरन्ती शुद्धं उदकं पिव**) भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ ११ ॥

भावार्थ— मैं दूध दोहनेमें कुशल हूं, और गायको दोहनेके लिये बुलाता हूं। दोहनेवाला इसका दोहन करे। सविताने इस श्रेष्ठ रसको दिया है ॥ ७ ॥

रंभाती हुई, मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली गौ यहां आई है। यह अहननीया गौ देवोंके लिये दूध देवे और बडे सौभाग्यकी वृद्धि करे ॥ ८ ॥

यह इन्द्रियसंयमी अतिथि विद्वान् हमारे यज्ञमें आवे। हमारे सब शत्रुओंका नाश करके, शत्रुओंके भोग हमारे पास ले आवे ॥ ९ ॥

हे देव! जो तेरे उत्तम तेज हैं वह हमारा भाग्य बढावे। स्त्रीपुरुषके संबंधमें उत्तम नियम रहे, अनियमसे व्यवहार न हो। शत्रुता करनेवालोंका पराभव करो ॥ १० ॥

हे गौ! तू उत्तम घास खा, और भाग्यवान् बन। तेरे कारण हम भी भाग्यशाली बनें। गाय घास खावे और इधर उधर भ्रमण करती हुई शुद्ध पानी पीवे ॥ ११ ॥

गाय और यज्ञ

गोरक्षा

गौकी रक्षा कैसे की जावे इस विषयमें इस सूक्तके आदेश स्मरण रखने योग्य हैं। देखिये—

१ सूयवस-अद् = उत्तम घास खानेवाली, अर्थात् बुरा घास अथवा बुरे जौ न खानेवाली गौ हो। गायके दूधमें उसके द्वारा खाये हुए पदार्थका सत्त्व आता है, इसलिये यदि गाय उत्तम घास खावेगी तो दूध भी नीरोग और पुष्टिकारक होगा। इसलिये यह आदेश स्मरण रखने योग्य है। साधारण अनाडी लोग प्रातःकाल गायको भ्रमणके लिये ले जाते हैं, और उस समय गौको मनुष्यकी शौच-विष्ठा-भी खिलाते हैं। पाठक ही विचार कर सकते हैं कि ऐसे पदार्थ खिलानेसे उत्पन्न हुआ दूध कैसा होगा। विष्ठामें जो बुरे पदार्थ होंगे, जो कृमि होंगे, उन सबका परिणाम उस दूधपर होगा, और वैसा दूध रोगकारक होगा। अतः यह वेदका संदेश गोपालन करनेवाले लोग अवश्य ध्यानमें धारण करें। (मं० ११)

२ शुद्धं उदकं पिबन्ती = शुद्ध जल पीनेवाली गौ हो। अशुद्ध, मलिन, गंदा, दुर्गंधयुक्त जल गौ न पीवे। इसका कारण ऊपर दिया हुआ समझना योग्य है। (मं० ११)

३ आचरन्ती = भ्रमण करनेवाली। गौ इधर उधर अच्छी प्रकार भ्रमण करे। गौ केवल घरमें बंधी नहीं रहनी चाहिये। वह सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करनेवाली हो। सूर्यप्रकाश-में घूमनेवाली गौका दूध ही पीने योग्य होता है।

(मं० ११)

४ विश्वदानीं तृणं अद्धि = गौ सदा तृण-घास-ही खावे। दूसरे पदार्थ न खावे। जौके खेतमें भ्रमण करे और जौ खावे। इस प्रकारकी गौका दूध उत्तम होता है। (मं० ११)

५ भगवतीः भूयाः = बलवती, प्रेममयी, शुभगुणयुक्त गौ हो। गायपर प्रेम करनेसे वह भी घरवालों पर प्रेम करती है। इस प्रकार प्रेम करनेवाली गौका दूध पीनेसे पीनेवालेका कल्याण होता है। (मं० ११)

ये शब्द गायका पालन कैसे करना चाहिये, इस बातकी सूचना देते हैं।

६ सुदुघा = जो विना आयास दुही जाती है। दोहन करनेके समय जो कष्ट नहीं देती। (मं० ७)

७ सुहस्तः गोधुक् एनां दोहत् = उत्तम हाथवाला मनुष्य ही गौका दोहन करे। अर्थात् दोहन करनेवाला मनुष्य अपने हाथ पहिले स्वच्छ करे, निर्मल करे और गौको दुहे। हाथ फोडे फुन्सीसे रहित हों, वैसे उत्तम हाथसे दोहन करे। इस आदेशका अत्यन्त महत्व है। जो दोष ग्वालियोंके हाथपर होगा, वह दोष दूधमें उतरेगा और वह सीधा पीने-वालोंके पेटमें जावेगा। अतः हाथ स्वच्छ रखकर गायका दोहन करना चाहिये (मं० ७)

८ अघ्न्या = गाय अवध्य है, अतः उसको मारना भी नहीं चाहिये। अपनी माताके समान प्रेमसे उसका पालन करना चाहिये (मं० ८)

९ सा महते सौभगाय वर्धतां = ऐसी पाली हुई गौ बडे सौभाग्यके साथ बढे। हरएक घरमें ऐसी गोमाता रहे, हमारी भी यही इच्छा है। (मं. ८)

१० वत्सं इच्छन्ती = गौ बछडेवाली हो। मृतवत्सा न हो। मृतवत्सा गौका दूध पीनेसे पीनेवालोंके घरमें भी वही बात बन जायगी। क्योंकि यदि गौके दूधके दोषके कारण उसका बछडा मरा हो, तो वह दोष पीनेवालोंके वीर्यमें भी बढेगा। अतः बछडेवाली गाय हो और बछडेकी इच्छा करती हुई वह प्रेमसे घरमें आये। (मं. ८)

११ गोधुक् पयसा उपद्रव, उस्रियायाः पयः घर्मे सिंच = गायका दोहन करनेवाला मनुष्य दूध लेकर शीघ्र-तासे आवे और वह गायका दूध अग्निपर रखे। इसका मतलब यह है कि बहुत देर तक दूध कच्चा न रखा जावे। चाहे मनुष्य धारोष्ण ही पीवे, निचोडते ही पीवे, परंतु रखना हो तो शीघ्र ही अग्निपर तपाकर रखे। क्योंकि दूधमें नाना प्रकारके क्रिमी हवामेंसे जाकर जम जाते हैं और वहां वे बढते हैं। अतः कच्ची अवस्थामें दूध बहुत देरतक रखना नहीं चाहिये। शीघ्र ही अग्निपर चढाना चाहिये। (मं. ६)

१२ मधु दुह्यते = गायका दोहन करके जो निचोडा जाता है वह मधु अर्थात् शहद ही है। क्योंकि वह बडा मीठा होता है। (मं. १)

१३ तप्तं पिबतं = तपा हुआ दूध पीओ। इसका कारण ऊपर दिया ही है (मं. ४)

देवोंके लिये इसी प्रकारके दूधका समर्पण करना चाहिये। विशेषतः अश्विनी देवोंका भाग गायका दूध और घी ही है,

यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है। अश्विनी देव स्वयं देवोंके वैद्य हैं अतः उनको मालूम है कि कौनसा दूध अच्छा है और कौनसा अच्छा नहीं है। अश्विनी देव दूसरा दूध पीते ही नहीं और दूसरा घी भी नहीं सेवन करते। यह बात हम सबको स्मरण रखनी चाहिए। अतः मनुष्योंको गायका ही दूध और घी पीना चाहिये, और भैंसका नहीं। इसी प्रकार बाजारका दूध भी नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वह दूध इतनी ही स्वच्छतासे रखा हुआ होता है यह कहना कठिन है। अतः घरघरमें गौ पालनी चाहिये और उसका दूध यज्ञमें समर्पित करना चाहिये और हुतशेष भक्षण करना चाहिये।

गण्डमाला-चिकित्सा

[७४ (७८)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः। देवता- मन्त्रोक्ताः, ४ जातवेदाः।)

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥
विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥
त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥
व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥ ४ ॥

अर्थ— (लोहिनीनां अपचितां) लाल गण्डमालाकी (कृष्णा माता इति शुश्रुम) कृष्णा उत्पादक है ऐसा सुना जाता है। (ताः सर्वाः) उस सब गण्डमालाओंको (देवस्य मुनेः मूलेन अहं विध्यामि) मुनि नामक दिव्य वनस्पतिके मूल-जड-से मैं नाश करता हूं॥ १॥

(आसां प्रथमां विध्यामि) इनकी पहिली गण्डमालाको मैं वेधता हूं, (उत मध्यमां विध्यामि) और मध्यमको वेधता हूं। (आसां जघन्यां इदं आ छिनद्मि) इनकी अत्यन्त निकृष्टको भी मैं उसी प्रकार छेदता हूं (स्तुकां इव) जिस प्रकार ग्रंथीको खोलते हैं॥ २॥

(त्वाष्ट्रेण वचसा) सूक्ष्मता उत्पन्न करनेवाली वाणीसे (अहं ते ईर्ष्यां वि अमीमदम्) मैं तेरी ईर्ष्या दूर करता हूं। हे (पते) पते! (अथ यः ते मन्युः) और जो तेरा क्रोध है, (ते तं शमयामसि) तेरे उस क्रोधको हम शान्त करते हैं॥ ३॥

हे (व्रतपते) व्रतपालन करनेवाले! (त्वं व्रतेन समक्तः) तू व्रतसे संयुक्त होकर (इह विश्वाहा सुमनाः दीदिहि) यहां सर्वदा उत्तम मनवाला होकर प्रकाशित हो। हे (जातवेदः) अग्ने! (सर्वे वयं तं त्वा समिद्धं) हम सब उस तुझ प्रदीप्त हुए को (प्रजावन्तः उपसेदिम) प्रजावाले होकर प्राप्त हों॥ ४॥

भावार्थ— लाल रंगवाली गण्डमालाका नाश करनेके लिये मुनि नामक औषधीकी जड बडी उपयोगी होती है॥ १॥

इससे पहिली बीचकी और अन्तकी गण्डमाला दूर होती है॥ २॥

क्रोध और ईर्ष्या सूक्ष्मविचारके द्वारा दूर किये जांयें॥ ३॥

नियमपालनसे सदा उत्तम मन रहता है और मनुष्य प्रकाशमान हो सकता है। इस प्रकार हम सब तेजस्वी होकर, बालबच्चोंको साथ लेते हुए तेजस्वी ईश्वरकी उपासना करें॥ ४॥

*

मुनि नाम " दमनक, बक, पलाश, प्रियाल, मदन ' इत्यादि अनेक औषधियोंका है, उनमेंसे कौनसी औषधि गण्ड-माला दूर करनेवाली है इसका निश्चय वैद्योंको करना चाहिये। क्रोधको मनसे हटाना, पथ्यके नियमोंका पालन करना इत्यादि बातें आरोग्य देनेवाली हैं इससें संदेह नहीं है।

गायकी पालना

[७५ (७९)]

(ऋषिः- उपरिबभ्रवः। देवता- अघ्न्याः।)

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥
पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः। उप मा देवीर्देवेभिरेत ॥
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

अर्थ— (प्रजावतीः) उत्तम बछडोंवाली (सूयवसे चरन्तीः) उत्तम घासके लिये विचरती हुई (सु-प्र-पाने शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम जलस्थानपर शुद्ध जल पान करनेवाली गौवें हों। हे गौवो! (स्तेनः वः मा ईशत) चोर तुमपर शासन न करे। (मा अघशंसः) पापी भी तुमपर हुकूमत न करे। (रुद्रस्य हेतिः वः परि वृणक्तु) रुद्रका शस्त्र तुम्हारी रक्षा करे ॥ १ ॥

हे (रमतयः) आनन्द देनेवाली गौवो ! तुम (पदज्ञाः स्थ) अपने निवास-स्थानको जाननेवाली हो। तुम (संहिताः विश्वनाम्नीः देवीः) इकट्ठी हुई बहुत नामवाली दिव्य गौवो (देवेभिः मा उप एत) दिव्य बछडोंके साथ मेरे पास आओ। (इमं गो-स्थं, इदं सदं) इस गोशालाको और इस घरको तथा (अस्मान्) हम सबको (घृतेन सं उक्षत) घीसे युक्त करो ॥ २ ॥

भावार्थ— गौवें उत्तम घास खानेवाली और शुद्धजल पीनेवाली हों। उनके बहुत बछडे हों। कोई चोर और कोई पापी उनको अपने आधीन न करे। महावीरके शस्त्र उनकी रक्षा करें ॥ १ ॥

गौवें हमें आनंद दें। वे अपने निवासस्थानको पहचानें, मिलकर रहें, अनेक नामवाली दिव्य गौवें अपने बछडोंके साथ हमारे पास आवें। और हमें भरपूर घी देवें ॥ २ ॥

इसमें भी गोपालनके आदेश दिये गए हैं वे स्मरण रखने योग्य हैं।

गण्डमालाकी चिकित्सा

[७६ (८०, ८१)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- १, २ अपचित्भैषज्यं, ३-६ जायान्यः, इन्द्रः।)

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद्विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

अर्थ— (सुस्रसः सुस्रसः आ) बहनेवालीसे भी अधिक बहनेवाली, (असतीभ्यः असत्तराः) बुरीसे भी बुरी, (सेहोः अरसतराः) शुष्कसे भी अधिक शुष्क और (लणवात् विक्लेदीयसीः) नमकसे भी अधिक पानी निकालनेवाली गण्डमाला है ॥ १ ॥

भावार्थ— सब गण्डमालामें बहनेवाली, बुरी, खुष्की उत्पन्न करनेवाली और द्रव उत्पन्न करनेवाली होती हैं ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः ।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥
यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥
पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥
विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥
धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यंदिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

अर्थ— (याः अपचितः ग्रैव्याः) जो गण्डमाला गलेमें होती है, (अथो या उपपक्ष्याः) और जो कन्धों या बगलोंमें होती है तथा (याः अपचितः विजाम्नि) जो गंडमाला गुप्तस्थानपर होती है, ये सब (स्वयं स्रसः) स्वयं बहनेवाली हैं ॥ २ ॥

(यः कीकसाः प्रशृणाति) जो पसलियोंको तोडता है, जो (तलीद्यं अवतिष्ठति) तलवेमें बैठता है, (यः कः च ककुदि श्रितः) जो रोग पीठमें जम गया होता है, (तं सर्वं जायान्यं) उस सब स्त्रीद्वारा आनेवाले रोगको (निः हाः) निकाल दो ॥ ३ ॥

(पक्षी जायान्यः पतति) पक्षीके समान यह रोग स्त्रीसे उत्पन्न होकर उडता है और (सः पुरुषं आविशति) वह मनुष्यके पास पहुंचता है । (तत् आक्षितस्य सुक्षतस्य उभयोः च) वह चिरकालसे रोगग्रस्त न हुए अथवा उत्तम क्षत किंवा व्रणयुक्त बने दोनोंका (भेषजं) औषध है ॥ ४ ॥

हे (जायान्य) स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाले क्षयरोग ! (यतः जायसे) जहांसे तू उत्पन्न होता है, (ते जानं विद्म वै) तेरा जन्म हम जानते हैं । (यस्य गृहे हवि कृण्मः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं (त्वं तत्र कथं हनः) तू वहां कैसे मारा जाता है यह भी हम जानते हैं ॥ ५ ॥

हे (शूर धृषत् इन्द्र) शूर, शत्रुको दबानेवाले इन्द्र ! (कलशे सोमं पिब) पात्रमें रखा हुआ सोमरस पी । तू (वसूनां समरे वृत्रहा) धनोंके युद्धमें शत्रुका पराजय करनेवाला है (माध्यन्दिने सवने आवृषस्व) मध्यदिनके सवनके समय तू बलवान् हो (रयि-स्थानः अस्मासु रयिं धेहि) तू धनके स्थानमें रहकर हमें धन दे ॥ ६ ॥

भावार्थ— कई गण्डमाला गलेमें, कन्धेमें, कई गुप्तस्थानपर होती हैं और ये सब स्राव करनेवाली होती हैं ॥ २ ॥

हड्डीमें, तलवेमें, पीठमें एक रोग होता है वह स्त्रीसंबंधसे रोग होता है ॥ ३ ॥

इसके बीज पक्षीके समान हवामें उडते हैं, ये मनुष्यमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं । जो लोग ऐसे रोगसे चिरकालसे ग्रस्त होते हैं, अथवा जिनमें व्रण होते हैं, ऐसे रोगका भी औषधसे उपचार करना चाहिये ॥ ४ ॥

स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाला क्षयरोग कैसे उत्पन्न होता है यह जानना चाहिये । जिसके घरमें हवन होता है वहांके रोगबीज हवनसे जल जाते हैं ॥ ५ ॥

हे शूर प्रभो ! इस सोमरसका सेवन करो । तुम शत्रुओंका नाश करनेवाले और बलवान् हो । हमें धन दो ॥ ६ ॥

गण्डमाला

इस एक सूक्तमें वस्तुतः भिन्न भिन्न दो सूक्त हैं। और एकका दूसरेके साथ कोई संबंध नहीं। परंतु यदि इन दो सूक्तोंका संबंध देखना हो, तो एक ही विचारसे देखा जा सकता है। पहिले दो मंत्रोंमें जिस गण्डमालाका उल्लेख है, वह गण्डमाला क्षयरोगसे उत्पन्न होती है जो क्षयरोग स्त्रीके विषयातिरेकसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार संबंध देखनेसे ये दो सूक्त विभिन्न होते हुए भी एक स्थानपर क्यों रखे हैं, इसका ज्ञान हो सकता है।

यह गण्डमाला बहनेवाली, खुष्की बढानेवाली, नमक जैसी गीली रहनेवाली, बुरा परिणाम करनेवाली, गलेमें उत्पन्न होनेवाली, पसुलियोंमें उत्पन्न होनेवाली, जिसकी उत्पत्ति गुप्त स्थानके विषयातिरेकसे होती है।

इसके रोगबीज पसलियों और हड्डियोंको कमजोर करते हैं, हाथ पांवके तलवोंमें बैठकर गर्मी पैदा करते हैं, पीठ की रीढमें रहते हैं। इन स्थानोंसे इनको हटाना चाहिये।

इस क्षयके रोगबीज पक्षी जैसे हवामें उडते हैं और वे—

पक्षी जायान्यः पतति। स पूरुष आविशति। (मं० ४)

" पक्षी जैसे क्षयरोगके बीज उडते हैं, और वे मनुष्यमें प्रवेश करते हैं " तथा ये (जायान्यः) स्त्रीसंबंधसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् स्त्रीसे अति संबंध करनेसे शरीर वीर्यहीन होता है और इनको बढनेका अवसर मिलता है।

हवनसे नीरोगता

यस्य गृहे हविः कृण्मः तत्र हनः। (मं० ५)

" जिसके घरमें हवन करते हैं वहां इनका नाश होता है " ये क्षयरोगके बीज हवामें उडकर आते हैं और हवन होते ही इनका नाश होता है। यह हवनका महत्त्व है। पाठक इसका अवश्य स्मरण रखें। हवन आरोग्य देनेवाला है। इस प्रकार नीरोग बने मनुष्य शूर होते हैं, वे सोमरस पान करें, और अपने शत्रुओंका दमन करने द्वारा अपने लिये यश और धन संपादन करें।

बन्धनसे मुक्ति

[७७ (८२)]

(ऋषिः- अङ्गिराः। देवता- मरुतः।)

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥
यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान्प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सां-तपनाः मरुतः=मर्-उतः) अच्छी प्रकार शत्रुको तपानेवाले मरनेके लिये तैयार वीरो! (इदं तत् हविः जुजुष्टन) इस हवि-अन्नका सेवन करो। हे (रिश-अदसः) शत्रुओंका नाश करनेवालो! (अस्माक ऊती) हमारी रक्षा करो ॥ १ ॥

हे (वसवः मरुतः) निवासक मरुतो! (यः नः मर्तः दुर्हृणायुः) हममेंसे जो मनुष्य दुष्टभावसे युक्त होकर (चित्तानि तिरः जिघांसति) हमारे चित्तोंको छिपकर नाश करना चाहता है। (सः द्रुहः पाशान् प्रतिमुञ्चतां) उसपर द्रोहीके पाश छोडो और (तं तपिष्ठेन तपसा हन्तन) उसको तापदायक तपनसे मार डालो ॥ २ ॥

भावार्थ—शत्रुको ताप देनेवाले वीर हमारे द्वारा दिये गए अन्नभागको स्वीकार करके, शत्रुओंका नाश कर, हमारी रक्षा कर ॥ १ ॥

हममें से कोई दुष्ट मनुष्य यदि छिपकर हमारे मनोंका नाश करना चाहे, उसको पाशोंसे बांधकर मार डालो ॥ २ ॥

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।
ते अस्मत्पाशान्प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

अर्थ— (संवत्सरीणाः सु-अर्काः) वर्षभरतक प्रकाशनेवाले (सगणाः उरुक्षयाः) सेनासमूहके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, (मानुषासः) मानवी वीर (सांतपनाः मादयिष्णवः मत्सराः) शत्रुको संताप देनेवाले हर्ष बढाने-वाले प्रसन्न (ते मर्-उतः) वे मरनेतक लडनेवाले वीर (एनसः पाशान् अस्मत् प्रमुञ्चन्तु) पापके पाशोंको हमसे छुडावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सालभर रहनेवाले, तेजस्वी, अनुयायियोंके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, शत्रुको ताप देनेवाले मानवी वीर पापसे हमें बचावें ॥ ३ ॥

इसमें क्षत्रियधर्म बताया है । क्षत्रिय शत्रुको ताप देनेवाला शूरवीर हो, स्वजनोंकी रक्षा करे, अपनेमें यदि कोई दुष्ट मनुष्य निकल आवे, तो उसको भी दण्ड देवे, सबको निर्भय बनावे और पापसे जनोंको दूर रखे ।

बन्धमुक्तता

[७८ (८३)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– अग्निः ।)

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् । इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥
अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन ।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (ते रशनां विमुञ्चामि) तेरी रस्सीको मैं खोलता हूं । तेरे (योक्त्रं वि) बंधन-को भी मैं छोडता हूं । (नियोजनं वि) तेरे खींचकर बांधनेवाले बंधको भी मैं छोडता हूं । (इह एव त्वं अजस्रः एधि) यहीं तू अहिंसित होकर रह ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (अस्मै क्षत्राणि धारयन्तं त्वा) इसके लिये यहां क्षत्रधर्मके धारण करनेवाले तुझको (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्यज्ञानके साथ (युनज्मि) युक्त बनाता हूं । (अस्मभ्यं इह द्रविणा दीदिहि) हमारे लिये यहां धन दे । (इमं देवतासु हविर्दां प्रवोचः) इसके विषयमें देवताओंमें हविसमर्पण करनेवाला करके वर्णन किया जाता है ॥२॥

भावार्थ— पहिला, बीचका और निचला इस प्रकार तीनों बंधनोंको मैं खोलकर तुझे मुक्त करता हूं, इस प्रकार तू मुक्त होकर यहां आ ॥ १ ॥

वीरता धारण कर, दिव्यज्ञानसे युक्त हो, धन समर्पण कर, देवताओंमें हवि अर्पण कर, इसीसे तेरा यश बढेगा ॥ २ ॥

तीन बंधन

बंधन तीन प्रकारके रहते हैं, एक मनका बंधन, दूसरा बीचका अथवा वाणीका और तीसरा निचली देहका । इन तीन बंधनोंसे मनुष्य बंधा हुआ है अर्थात् बद्ध हुआ है । इससे उसको मुक्त होना है । ये बंधन जब खोले जाते हैं तब वह मुक्त होता है, तबतक उसकी बद्ध स्थिति है ऐसा कहते हैं ।

बंधनसे छूटनेके लिये क्षत्र अर्थात् पुरुषार्थ करनेका सामर्थ्य अवश्य होना चाहिये । इसके विना कोई मनुष्य बंधन-मुक्त होनेका यत्न भी नहीं कर सकता । इसके पश्चात् उसको ज्ञान चाहिये । ज्ञानके विना बंधनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो

सकती। ज्ञानका अर्थ (मोक्षे धीर्ज्ञानं) बंधमुक्त होनेका उपाय जानना है। पुरुषार्थ द्वारा धन आदि प्राप्त करना और उस प्राप्त धनका ईश्वरार्पण बुद्धिसे समर्पण करना, ये दो कार्य करना मनुष्यको योग्य है। इसीसे मनुष्यके बंधन दूर होते हैं। विशेष कर अपने धनका समर्पण अर्थात् त्याग, (देवतासु हविर्दा) देवताओंको समर्पण करनेसे मनुष्य बंधनसे मुक्त होता है।

यह सूक्त थोडासा अस्पष्ट है, तथापि उक्त प्रकार इसका विचार करनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है।

अमावास्या।

[७९ (८४)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अमावास्या।)

यत्ते॑ दे॒वा अकृ॑ण्वन्भाग॒धेय॒ममा॑वास्ये सं॒वस॑न्तो महि॒त्वा।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥ १ ॥
अ॒हमे॒वास्म्य॑मावा॒स्या॒३ मामा व॑सन्ति सु॒कृतो॑ मयी॒मे।
मयि॑ दे॒वा उ॒भये॑ सा॒ध्याश्चेन्द्र॑ज्येष्ठाः॒ सम॑गच्छन्त॒ सर्वे॑ ॥ २ ॥
आग॒न्रात्री॑ सं॒गम॑नी॒ वसू॑नामू॒र्जं पु॒ष्टं वस्वा॑वे॒शय॑न्ती।
अ॒मा॒वा॒स्या॒यै ह॒विषा॑ विधे॒मोर्जं॒ दुहा॑ना॒ पय॑सा न॒ आग॑न् ॥ ३ ॥
अमा॑वास्ये॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒भूर्ज॑जान।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यीणा॑म् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (अमावास्ये) अमावास्ये ! (ते महित्वा) तेरे महत्त्वसे (संव सन्तः देवाः) एकत्र निवास करनेवाले देव (यत् भागधेयं अकृण्वन्) जो भाग्य बनाते हैं, (तेन नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे यज्ञकी पूर्णता कर। हे (विश्ववारे सुभगे) सबको वरनेयोग्य उत्तम भाग्यवती देवी ! (सुवीरं रयिं नः धेहि) उत्तम वीरवाला धन हमें दे ॥ १ ॥

(अहं एव अमावास्या अस्मि) मैं ही अमावास्या हूं। (मां इमे सुकृतः मयि आवसन्ति) मेरी इच्छा करते हुए ये पुण्य करनेवाले लोग मेरे आश्रयसे रहते हैं। (साध्याः इन्द्रज्येष्ठाः सर्वे उभये देवाः) साध्य और इन्द्र आदि सब दोनों प्रकारके देव (मयि समगच्छन्त) मुझमें आकर मिलते हैं ॥ २ ॥

(वसूनां संगमनी) सब वसुओंको मिलानेवाली, (पुष्टं ऊर्जं वसु आवेशयन्ती) पुष्टिकारक और बलवर्धक धन देनेवाली (रात्री आगन्) रात्री आगई है। (अमावास्या वै हविषा विधेम) अमावास्याके लिये हम हवनसे यजन करते हैं। क्योंकि वह (ऊर्जं दुहाना पयसा नः आगन्) अन्न देनेवाली दूधके साथ आई है ॥ ३ ॥

हे (अमावास्ये) अमावास्ये ! (त्वत् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि) तेरेसे भिन्न इन सब रूपोंको (परिभूः न जजान) घेरकर कोई नहीं बना सकता। (यत् कामाः ते जुहुमः) जिसकी इच्छा करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त होवे। (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनोंके स्वामी बनें ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब देव जो भाग्य देते हैं वह हमें प्राप्त होवे और उससे हमारा यज्ञ पूर्ण होवे तथा हमें ऐसा धन प्राप्त होवे कि जिसके साथ वीर हों ॥ १ ॥

मैं अमावास्या हूं, अतः साध्य आदि सब देव तथा पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य मेरे आश्रयसे रहते हैं ॥ २ ॥

अमावास्या सब धन देती है, पुष्टि बल और धन भी देती है, अतः इसके लिये हवन किया जावे ॥ ३ ॥

हे अमावास्ये ! तेरेसे भिन्न दूसरा कोई भी नहीं है कि जो इस जगत्को घेरकर बना सकता है। जिस कामनासे हम तेरा यजन करते हैं वह कामना हमारी पूर्ण होवे और हम धनके स्वामी बनें ॥ ४ ॥

अमावास्या

" अमावास्या " का अर्थ है ' एकत्र वास करानेवाली '। सूर्य और चन्द्र एक स्थानपर रहते हैं अतः इस तिथिको अमावास्या कहते हैं। सूर्य उग्रस्वरूप है और चन्द्र शान्त स्वरूप है। उग्र और शान्तको एक घरमें रखनेवाली यह अमावास्या है। इसी प्रकार सब देवोंको एकत्र निवास करानेवाली भी यही है। यह गुण मनुष्योंको अपने अंदर धारण कराना चाहिये। परस्पर विरोधी स्वभाववाले जितने अधिक मनुष्योंको धारण करनेका सामर्थ्य मनुष्यमें हो उतनी उसकी योग्यता होगी। " अमावास्या " से यह बोध मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है।

अमावास्या पर यह सूक्त एक सुंदर काव्य है। यह काव्यरस देता हुआ मनुष्यको उत्तम बोध देता है। विभिन्न प्रकृतिवाले मनुष्योंको एक घरमें, एक जातिमें, एक धर्ममें, एक राष्ट्रमें, एक कार्यमें रखकर, उन सबसे एक ही कार्य कराना और उन सबकी उन्नति सिद्ध करना, यह इस सूक्तका उपदेशविषय है। जो हरएक व्यवहारमें निःसन्देह बोधप्रद होगा।

पूर्णिमा

[८० (८५)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- पौर्णमासी, प्रजापतिः।)

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥
वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पश्चात् पूर्णा) पीछेसे परिपूर्ण, (उत पुरस्तात् पूर्णा) और आगेसे भी पूर्ण तथा (मध्यतः) बीचमेंसे भी परिपूर्ण (पौर्णमासी उत् जिगाय) पूर्णिमा है। (तस्यां देवैः संवसन्तः) उसमें देवोंके साथ रहते हुए हम सब (महित्वा नाकस्य पृष्ठे इषा संमदेम) महिमासे स्वर्गके पृष्ठपर इच्छाके अनुसार आनन्दका उपभोग करें ॥१॥

(वृषभं वाजिनं पौर्णमासं) बलवान् अन्नवान् पौर्णमासका (वयं यजामहे) हम यजन करते हैं। (सः नः) वह हम सबको (अक्षितां अन्-उपदस्वतीं रयिं ददातु) अक्षय और अविनाशी धन देवे ॥ २ ॥

हे (प्रजापते) प्रजापते ! (त्वत् अन्यः) तेरेसे भिन्न (एतानि विश्वा रूपाणि) इन संपूर्ण रूपोंको (परिभूः न जजान) सर्वत्र व्यापकर कोई नहीं उत्पन्न कर सकता। (यत्-कामाः ते जुहुमः) इसकी कामना करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त हो। (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके स्वामी बनें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेसे पौर्णमासीको पूर्णिमा कहते हैं। इस समय जो लोग देवोंकी सभामें-यज्ञमें-लगे होते हैं, वे अपनी महिमासे स्वर्गधाम प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

पूर्णमास बल और अन्नसे युक्त होता है, इसीलिये हम सब उसका यजन करते हैं। इससे हम अक्षय धन प्राप्त करेंगे ॥ २ ॥

इस जगत्के अनन्त रूपोंको उत्पन्न करनेवाला प्रजापतिसे भिन्न कोई नहीं है। जिस कामनासे हम यज्ञ करते हैं वह पूर्ण हो और हम धन संपन्न बनें ॥ ३ ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु ।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

अर्थ— (पौर्णमासी) पूर्णिमा (अह्नां रात्रीणां अतिशर्वरेषु) दिनोंमें तथा रात्रियोंके अंधेरोंमें (प्रथमा यज्ञिया आसीत्) प्रथम पूजनीय है। हे (यज्ञिये) पूजनीय ! (ये त्वां यज्ञैः अर्धयन्ति) जो तुम्हें यज्ञके द्वारा पूजते हैं, (ते अमी सुकृतः नाके प्रविष्टाः) वे ये सत्कर्म करनेवाले स्वर्गमें प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— पूर्णिमा दिनमें और रात्रीमें पूजनेयोग्य है । हे पूर्णिमा ! तेरा यजन हम करते हैं, हमें स्वर्गधाममें प्रवेश प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

ये दोनों सूक्त अमावास्या और पौणमासीके 'दर्श और पूर्णमास ' यज्ञोंके सूचक हैं। अमावास्याके समय जैसा यजन करना चाहिये, उसी प्रकार पूर्णिमाके समय भी करना चाहिये । इससे इह–पर लोकमें लाभ होता है ।

इसीका वर्णन इन सूक्तोंमें पाठक देख सकते हैं । दर्शपूर्णमास यज्ञकी आवश्यकता इन दो सूक्तोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है ।

घरके दो बालक

[८१ (८६)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– सावित्री, सूर्यः, चन्द्रः ।)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥
नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २ ॥

अर्थ— (एतौ शिशू क्रीडन्तौ) ये दोनों बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्र, खेलते हुए (मायया पूर्वापरं चरतः) शक्तिसे आगे पीछे चलते हैं । और (अर्णवं परि यातः) समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं । (अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे) उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है । और (अन्य, ऋतून् विदधत् नवः जायसे) दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनता है ॥ १ ॥

(जायमानः नवः नवः भवसि) प्रकट होता हुआ नया नया होता है । एक (अन्हां केतुः) दिनोंको बतानेवाल है वह (उषसां अग्रं एषि) उषःकालोंके अग्रभागमें होता है । (आयन् देवेभ्यः भागं विदधासि) वह आता हुआ देवोंके लिये विभाग समर्पण करता है । तथा (चन्द्रमः ! दीर्घं आयुः प्र तिरसे) हे चन्द्रमा ! तू दीर्घ आयु अर्पण करता है ॥ २ ॥

भावार्थ— इस घरमें दो बालक हैं, वे एकके पीछे दूसरे अपनी शक्तिसे ही खेलते हैं । खेलते हुए समुद्रतक पहुंचते हैं, उनमेंसे एक सब जगत्को प्रकाशित करता है और दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ वारंवार नवीन नवीन बनता है ॥ १ ॥

इनमेंसे एक दिनके समयका चिन्ह है जो उषःकालके अन्तिम समयमें प्रगट होता है और सब देवोंको योग्य विभाग समर्पित करता है । जो दूसरा बालक है वह स्वयं वारंवार नवीन नवीन बनता है और सबको दीर्घ आयु देता है ॥ २ ॥

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि ।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥
दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः ।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ४ ॥
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व ।
आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥
यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (युधां पते, सोमस्य अंशः) युद्धोंके स्वामी! हे सोमके अंश! (अनूनः नाम वै असि) तू अन्यून यशवाला है। हे (दर्श) दर्शनीय! (मा प्रजया धनेन च अनूनं कृधि) मुझे प्रजा और धनसे परिपूर्ण कर ॥ ३ ॥

(दर्शः असि) तू दर्शनीय है, तू (दर्शतः असि) दर्शनके लिये योग्य हो। तू (सं अन्तः समग्रः असि) सब अन्तोंसे समग्र हो। (गोभिः अश्वैः प्रजया पशुभिः गृहैः धनेन) गौवें, घोडे, संतान, पशु, घर और धनसे मैं (समन्तः समग्रः भूयासं) अन्ततक परिपूर्ण होऊं ॥ ४ ॥

(यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम सबसे द्वेष करता है, (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम सब द्वेष करते हैं, (तस्य प्राणेन आप्यायस्व) उसके प्राणसे तू बढ जा, (गोभिः अश्वैः प्रजया, पशुभिः, गृहैः, धनेन वयं, आप्याशिषीमहि) गौवें, घोडे, संतति, पशु, घर और धनसे हम बढें ॥ ५ ॥

(यं अंशुं देवाः आप्याययन्ति) जिस सोमको देव बढाते हैं, (यं अक्षितं अक्षिताः भक्षयन्ति) जिस अविनाशीको खाते हैं, (तेन) उस सोमसे (अस्मान्) हम सबको (भुवनस्य गोपाः इन्द्रः वरुणः बृहस्पतिः) भुवनके रक्षक इन्द्र वरुण बृहस्पति ये देव (आप्याययन्तु) बढावें ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे युद्धोंके स्वामी! सोमके अंश! तू पूर्ण और दर्शनीय हो, अतः मुझे संतान और धनसे परिपूर्ण बना ॥ ३ ॥

तू दर्शनीय और अत्यन्त परिपूर्ण है, मैं भी गाय, घोडे आदि पशु, संतति, घर, धन आदिसे पूर्ण बनूं ॥ ४ ॥

जो दुष्ट हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसके प्राणका तू हरण कर और हम धनादिसे परिपूर्ण बनें ॥ ५ ॥

जिस सोमको देव बढाते और भक्षण करते हैं उससे हम पुष्ट हों, त्रिभुवनके रक्षक देव हमारी उन्नति करें ॥ ६ ॥

घरके दो बालक

जगत्‌रूपी घर

यह संपूर्ण जगत् एक बडाभारी घर है, इस घरमें हम सब रहते हैं। इस घरमें दो आदर्श बालक हैं, इन बालकोंका नाम 'सूर्य और चन्द्र' है। हमारे घरमें बालक कैसे हों, और माता पिताको प्रयत्न करके अपने घरके बालकोंको किस प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये और बालक कैसे बनने चाहिये, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें दिया है। हरएक घरके मातापिता इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें।

*

खेलनेवाले बालक

घरमें बालक (क्रीडन्तौ शिशू) खेलनेवाले होने चाहिये, रोनेवाले नहीं। बालक कमजोर, बीमार और दोषी होनेपर ही रोते हैं। यदि वे बलवान्, नीरोग और किसी शारीरिक दोषसे दूषित न हों, तो प्रायः रोते नहीं। मातापिताओंको उचित है कि वे गृहस्थाश्रममें ऐसा योग्य और नियमानुकूल व्यवहार करें कि, जिससे सुदृढ, हृष्टपुष्ट, नीरोग और आनंदी बालक उत्पन्न हों।

अपनी शक्तिसे चलना

बालकोंमें दूसरा गुण यह चाहिये कि वे (मायया पूर्वापरं चरन्तः) अपनी आंतरिक शक्तिसे ही आगे पीछे चलते रहें। दूसरेके द्वारा उठानेपर उठें, दूसरेके द्वारा चलाये तो चलें ऐसे परावलंबी बालक न हों। मातापिता बलवान् हों और वे नियमानुकूल चलनेवाले रहें, तो उनको ऐसे अपनी शक्तिसे भ्रमण करनेवाले बालक होंगे। जो मातापिता दुर्व्यसनी नहीं हैं, सदाचारी हैं और ऋतुगामी होकर गृहस्थाश्रमका व्यवहार ऐसा करते हैं कि जिसे धार्मिक व्यवहार कहा जाये तो उनके सुयोग्य बालक ही होते हैं। जो नीरोग और सुदृढ बालक होते हैं वे कितना भी कष्ट हो तो भी अपने प्रयत्नसे आगे बढनेका यत्न करते ही रहते है।

दिग्विजय

ये आगे बढकर विद्वान् और पुरुषार्थी होकर (अर्णवं परियातः) समुद्रके चारों ओरके देशदेशान्तरमें भ्रमण करते हैं, दिग्विजय करते हैं। अपने ही ग्राममें कूपमण्डूकके समान बैठ नहीं रहते, समुद्रके ऊपरसे अथवा अन्तरिक्षमेंसे संचार करते हैं, और देशदेशान्तरमें परिभ्रमण करते हैं और धर्म, सदाचार तथा सुशीलता आदिका उपदेश करते हैं और सब जनताको योग्य आदर्श बताते हैं।

जगत्‌को प्रकाश देना

इस प्रकार परमपुरुषार्थसे व्यवहार करते हुए उनमेंसे एक (अन्यः विश्वानि भुवनानि विचष्टे) सब जगत्‌को प्रकाश देता है, अन्धकारमें डूबी हुई जनताको प्रकाशमें लाता है। सब देशदेशान्तरमें यह भ्रमण करता हुआ जनताको अन्धेरेसे छुडवाकर प्रकाशमें लानेका यत्न करता है।

दूसरा गृहस्थाश्रमी (ऋतून् विधदत्) ऋतुगामी होकर, ऋतुओंके अनुकूल रहकर (नवः जायते) नवीन जैसा होता है। कितनी भी बडी आयु हो तो भी पुनः नवीन तरुण जैसा होता है। ऋतुगामी होना, ऋतुके अनुकूल रहनासहना रखना, सोमादि औषधियोंका उपयोग करने आदिसे वृद्ध भी तरुणके समान नवीन हो सकता है।

सूर्य और चन्द्रपर यह रूपक प्रथम मंत्रमें है। पाठक इसका उचित विचार करें और अपने बालकोंकी शिक्षा आदिके विषयमें योग्य उपदेश प्राप्त करें। एक सूर्य जैसा पुत्र होवे जो जगत्‌को प्रकाश देवे, अथवा एक चन्द्र जैसा पुत्र होवे कि जो (नवः नवः भवति) नवजीवन प्राप्त करनेकी विद्या संपादन करके नवीन जैसा होवे और (दीर्घं आयुः प्रतिरते) दीर्घायु प्राप्त करे और लोगोंको भी दीर्घायु बनावे।

कर्तव्यका भाग

जो जगत्‌को प्रकाश देता है वह (देवेभ्यः भागं विदधाति) देवोंके लिये भाग्य देता है, अथवा देवोंके लिये कर्तव्यका भाग देता है, अर्थात् यह इस कार्यको करे वह उस कार्यको संभाले, इस प्रकार कार्यविभागके विषयमें आज्ञाएं देता है और विभिन्न कार्यकर्ताओंसे विभिन्न कार्य कराकर एक महान् कार्य परिपूर्ण करा देता है। मनुष्योंको भी यह आदर्श सामने रखना चाहिये। इस सृष्टिमें जल शान्ति देनेका कार्य करता है, अग्नि तपानेके कार्यमें तत्पर है, वायु सुखाता है, भूमि आधार देती है, इत्यादि देव विभिन्न कार्योंके भाग सिरपर लेकर अपने अपने कार्यमें तत्पर रहकर सब जगत्‌का महान् कार्य निभा रहे हैं। मानो यह मुख्य देव परमात्मा इन गौण देवोंको करनेके लिये कार्य भाग देता है। इसी प्रकार राष्ट्रमें मुख्य नेता अन्य गौण नेताओंको कर्तव्यका भाग बांट देवे और वे उसको योग्य रीतिसे करें, तो सबके अपने अपने कार्यका भाग करनेसे महान् कार्यकी सिद्धि हो सकती है।

पूर्ण हो

एक 'पूर्ण सोम' होता है जो पूर्णिमाके दिन प्रकाशता है। दूसरा सोमका अंश होता है। अंश भी हुआ तो भी वह पूर्ण बननेकी शक्ति रखता है, इस कारण वह न्यून नहीं है। इसीलिये उसको (अनूनः असि) अन्यून—परिपूर्ण कहा है। यह सोम अंशरूप हो या पूर्ण हो वह अन्यून ही है, क्योंकि यदि वह आज अंशमय हुआ तो कुछ दिनोंके बाद वह पूर्ण होगा ही अतः वह न्यून रहनेवाला नहीं है। न्यून होनेपर भी वह प्रयत्नपूर्वक पूर्ण बनता है, यह पूर्ण बननेका उसका पुरुषार्थ हरएक मनुष्यके लिये अनुकरणीय है। इसलिये उसकी प्रार्थना तृतीय मंत्रमें की गई है कि (अनूनं मा कृधि) 'अन्यून—परिपूर्ण—मुझे कर;' क्योंकि तू परिपूर्ण करनेवाला है, मैं पूर्ण बनना चाहता हूं। धन, आरोग्य, प्रजा, गौएं, घोडे आदिमें भी परिपूर्ण मैं होऊं यह अभिप्राय यहां है।

यही भाव चतुर्थ मंत्रमें कहा है। (समन्तः समग्रः असि) तू सब प्रकारसे समग्र अर्थात् पूर्ण है, मैं भी तेरी उपासनासे (समग्रः समन्तः) पूर्ण और समग्र होऊं।

दुष्टका नाश

जो दुष्ट हम सबसे द्वेष करता है और जिस अकेले दुष्टसे द्वेष हम सब करते हैं, उसके दोषी होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। यदि ऐसा कोई मनुष्य सब संघका घात करे तो उसका नियमन करना आवश्यक होता है। यह द्वेष करनेवाला यहां अल्प संख्यावाला कहा है। 'जिस अकेलेसे हम सब द्वेष करते हैं और जो अकेला हम सबसे द्वेष करता है।' इसमें बहु संख्यांक सज्जन और अल्पसंख्यांक दुर्जन होनेका उल्लेख है। ऐसे दुष्टोंको दबाना और सज्जनोंकी उन्नतिका मार्ग खुला करना, यही, धार्मिक मनुष्यका कर्तव्य है।

दिव्यभोजन

जो देवोंका भोजन होता है उसको देवभोजन अथवा दिव्य-भोजन कहते हैं। यह देवोंका भोजन क्या है इस विषयमें इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कहा है।—

देवाः अंशुं आप्याययन्ति।
अक्षिताः अक्षितं भक्षयन्ति॥ (मं० ६)

"देव लोग सोमको बढाते हैं और ये अमर देव इस अक्षय सोमका भक्षण करते हैं।" सोम एक वनस्पति है। देव इसको बढाते और उसका भक्षण करते हैं क्योंकि यह देवोंका अन्न है। अर्थात् देव शाकाहारी थे। जो लोग देवोंके लिये मांसका प्रयोग करते हैं, उनको वेदके ऐसे मन्त्रों पर विशेष विचार करना चाहिये। सोम देवोंका अन्न है, इस विषयमें अनेक वेदमन्त्र हैं। और सबका तात्पर्य यही है कि जो ऊपर कहा है।
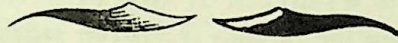
गौ

[८२ (८७)]

(ऋषिः– शौनकः (संपत्कामः)। देवता– अग्निः।)

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ताम् ॥ १ ॥
मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सु-स्तुतिं गव्यं आजिं अभ्यर्चत) उत्तम स्तुति करने योग्य गौ संबंधी प्रगतिकी सीमाका आदर करो। (अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त) हमारे मध्यमें कल्याणकारी धन धारण करो। (नः इमं यज्ञं देवता नयत) हमारे इस यज्ञको देवताओंतक पहुंचाओ। (घृतस्य धाराः मधुमत् पवन्तां) घीकी धाराएं मधुरताके साथ बहें॥ १॥

(अग्रे मयि क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह अग्निं गृह्णामि) पहिले मैं अपने अन्दर क्षात्रशौर्य, ज्ञानका तेज और बलके साथ रहनेवाले अग्निका ग्रहण करता हूं। (मयि प्रजां) अपने अन्दर प्रजाको, (मयि आयुः) अपने अन्दर आयुको, (मयि अग्निं) अपने अन्दर अग्निको (दधामि) धारण करता हूं, (स्वाहा) यह ठीक ही कहा है॥ २॥

भावार्थ— गौओंकी उन्नतिका विचार करो, क्योंकि यही उत्तम प्रशंसाके योग्य कार्य है। घीकी मीठी धाराएं विपुल हों अर्थात् घरमें घी विपुल हो, कल्याण करनेवाला विपुल धन प्राप्त करे और इन सबका विनियोग प्रभुकी संतुष्टताके यज्ञमें किया जावे॥ १॥

मेरे अन्दर शौर्य, ज्ञान, बल, संतति, आयु आदि स्थिर रहें॥ २॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचित्ता निकारिणः ।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ३ ॥
अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ४ ॥
प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत्प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ ५ ॥
घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे ।
घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (इह एव रयिं आधिधारय) यहीं धनका धारण कर । (पूर्वचित्ताः निकारिणः त्वा मा निक्रन्) पूर्वकालसे मन लगानेवाले अपकारी लोग तेरे सम्बन्धमें अपकार न करें । हे (अग्ने) अग्ने ! (क्षत्रेण तुभ्यं सुयमं अस्तु) क्षत्रबलसे तेरा उत्तम नियमन होवे । (उपसत्ता अनिष्टृतः वर्धतां) तेरा सेवक अहिंसित होता हुआ बढे ॥ ३ ॥

(अग्निः उषसां अग्रं अनु अख्यत्) अग्नि-सूर्य-उषःकालोंके अग्रभागमें प्रकाश करता है । (प्रथमः जातवेदाः अहानि अनु अख्यत्) पहिला जातवेद-सूर्य-दिनोंको प्रकाशित करता है । वही (सूर्यः अनु) सूर्य अनुकूलताके साथ (उषसः अनु) उषःकालोंके अनुकूल, (रश्मीन् अनु) किरणोंके अनुकूल, (द्यावापृथिवी अनु आ विवेश) द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीचमें अनुकूलताके साथ व्यापता है ॥ ४ ॥

(अग्निः उषसां अग्रं प्रति अख्यत्) अग्नि-सूर्य-उषाओंके अग्रभागमें प्रकाशता है । (प्रथमः जातवेदाः अहानि प्रति अख्यत्) पहिला जातवेद-सूर्य-दिनोंको प्रकाशित करता है । (सूर्यस्य रश्मीन् पुरुधा प्रति) सूर्यकी किरणोंको विशेष प्रकार प्रकाशित करता है । तथा (द्यावापृथिवी प्रति आ ततान) द्यावापृथिवीको उसीने फैलाया है ॥५॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (ते घृतं दिव्ये सधस्थे) तेरा घृत दिव्य स्थानमें है । (मनुः त्वां घृते अद्य सं इन्धे) मनुष्य तुझे घीसे आज प्रज्वलित करता है । (नप्त्यः देवीः ते घृतं आवहन्तु) न गिरानेवाली दिव्य शक्तियां तेरे घृतको ले आवें । हे (अग्ने) अग्ने ! (गावः तुभ्यं घृतं दुह्रतां) गौवें तेरे लिये घीको देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ— मुझे धन प्राप्त हो । अपकारी लोग अपकार न कर सकें । क्षात्र तेजसे सर्वत्र नियमव्यवस्था उत्तम रहे । प्रभुका भक्त-सेवक-वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

सूर्य उषाके पश्चात् प्रकट होता है और दिनमें प्रकाश करता है । वह प्रकाशसे द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें व्यापता है ॥ ४-५ ॥

मनुष्य घीसे अग्निमें यजन करे, क्योंकि घीही उत्तम दिव्य स्थानमें रहनेवाला है । गौवें हवनके लिये उत्तम घी तैयार करें=देवें ॥ ६ ॥

इस सूक्तमें गोरक्षाकी महिमाका वर्णन है । तथा गौके घृतके हवनका भी माहात्म्य वर्णित है । घृतके हवनसे रोगोंके दूर होनेकी बात इससे पूर्व (अथर्व कां० ७६।५) कही है । अतः रोग दूर होनेके बाद दीर्घ आयु, बल, तेजस्विता, ज्ञान, धन आदिका प्राप्त होना संभव है । इस प्रकार सूक्तकी संगति देखनी चाहिए ।

मुक्ति

[८३ (८८)]

(ऋषिः- शुनःशेपः । देवता- वरुणः ।)

अप्सु ते राजन्वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥
धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥ २ ॥
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ३ ॥
प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (**वरुण राजन्**) वरुण राजन् ! (**ते गृहः अप्सु**) तेरा घर जलोंमें है और वह (**मिथः हिरण्ययः**) साथ साथ सुवर्णमय भी है । (**ततः धृतव्रतः राजा**) वहांसे व्रतपालक वह राजा (**सर्वा धामानि मुञ्चतु**) सब स्थान मुक्त-बंधन-रहित-करे ॥ १ ॥

हे (**वरुण राजन्**) वरुण राजन् ! (**इतः धाम्नः धाम्नः नः मुञ्च**) इस प्रत्येक बंधनस्थानसे हमारी मुक्तता कर । (**यत् ऊचिम**) जो हम कहते हैं कि (**आपः अघ्न्याः इति**) जल अवध्य गौके समान प्राप्तव्य है और (**वरुण इति**) हे वरुण ! तू ही श्रेष्ठ है, हे वरुण ! (**ततः नः मुञ्च**) इस कारणसे हमें मुक्त कर ॥ २ ॥

हे (**वरुण**) वरुण ! (**उत्तमं पाशं अस्मत् उत् श्रथाय**) उत्तम पाशको हमसे जरा ढीला कर, (**अधमं पाशं अवश्रथाय**) अधम पाशको भी दूर कर, तथा (**मध्यमं पाशं विश्रथाय**) मध्यम पाशको हटा दे । हे आदित्य ! (**अधा वयं तव व्रते**) अब हम तेरे नियममें रहकर (**अनागसः अ-दितये स्याम**) निष्पाप बनकर बंधनरहित-मुक्ति-अवस्थाके लिये योग्य हों ॥ ३ ॥

हे (**वरुण**) वरुण ! (**ये उत्तमाः ये अधमाः वारुणाः पाशाः**) जो उत्तम मध्यम और कनिष्ठ वारुण पाश हैं उन (**सर्वान् पाशान् अस्मत् प्रमुञ्च**) सब पाशोंको हमसे दूर कर । (**दुःस्वप्न्यं दुरितं अस्मत् निःस्व**) दुष्ट स्वप्न और पापका आचरण हमसे दूर कर । (**अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकं**) अब पुण्य लोकको हम प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे सबके राजाधिराज प्रभो ! तेरा धाम सुवर्ण जैसा चमकनेवाला आकाशमें है । वह तू इस जगत्का सत्यनियमोंका पालन करनेवाला एकमात्र राजा है । वह तू हमें सब बन्धनोंसे छुडा ॥ १ ॥

हम सबको हरएक बन्धनसे मुक्त कर । मुक्तिकी इच्छासे हम आपके गुणगान करते हैं ॥ २ ॥

हे श्रेष्ठ देव ! हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाश खोल दो । तेरे व्रतमें रहते हुए हम सब निष्पाप होकर बन्धनसे मुक्त होनेके लिये योग्य हों ॥ ३ ॥

हमारे सब पाश मुक्त कर, हमसे पाप दूर कर, जिससे हम पुण्यलोकको प्राप्त हों ॥ ४ ॥

मुक्ति

तीन पाशोंसे मुक्ति

मनुष्यको मुक्ति चाहिये। परंतु वह मुक्ति बंधनकी निवृत्ति होनेके विना नहीं हो सकती। उत्तम, मध्यम और अधम वृत्तिके तीन बंधन मनुष्यको बंधनमें डालते हैं। सात्विक, राजस और तामस वृत्तिके ये बंधन हैं जो मनुष्यको पराधिन कर रहे हैं। तमोवृत्तिके बंधनकी अपेक्षा सात्विक बंधन बहुत अच्छा है इसमें संदेह नहीं, परंतु वह बंधन ही है। लोहेके शृंखलाका बंधन जैसा बंधन है उसी प्रकार सोनेकी शृंखला' भी तो बंधन ही हैं। इसी प्रकार हीन मनोवृत्तियोंके बंधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ मनोवृत्तियोंका बंधन बेशक अच्छा है, परंतु चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेकी अपेक्षासे वह भी बंधन ही है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि उत्तम, मध्यम औ अधम अर्थात् सब वृत्तियोंके पाश हमसे दूर कर।

पापसे बचो

बंधन दूर होनेके लिये मनुष्यको (अन्-आगस्) निष्पाप होना चाहिये। पाप वृत्तिके दूर होनेके विना बंधनका क्षय होना संभव नहीं है। (दुरितं) जो पाप अन्तःकरणमें हो वह दूर होना चाहिये परमेश्वर भी तभी दया करके बंधनसे मुक्त कर सकता है। अतः मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह पापसे बचनेका यत्न करे।

इसके लिये ईश्वरकी भक्ति यह एकमात्र मुक्तिका श्रेष्ठ साधन है। "दिति" नाम बंधनका है, उससे मुक्त होनेका नाम 'अ-दितिकी प्राप्ति' होना है। मुक्तिकी प्राप्ति ही यह है।

परमेश्वर (धृत-व्रतः) हमारे व्रतोंका निरीक्षक है। वह अपने नियमानुकूल रहता है और जो उसके नियमोंके अनुकूल चलता है, उसीपर वह दया करता है और सीधे मार्गपर चलता है। जिससे निर्विघ्न रीतिसे मनुष्य मुक्तिको प्राप्त होता है।

व्रत धारण

व्रत धारण करनेके विना मुक्ति नहीं हो सकती, यह एक उपदेश इस सूक्तसे मिलता है, क्यों कि (धृतव्रत) व्रत धारण करनेवाला ही यहां बंधनमुक्त करनेका अधिकारी है ऐसा कहा है। व्रतधारण और व्रतपालनसे मनोबल और आत्मिक बल बढता है। जो लोग व्रत पालनेमें शिथिल रहते हैं वे उन्नतिको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। सत्य बोलना, सत्यके अनुसार आचरण करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, पवित्रता धारण करना, इत्यादि अनेक व्रत हैं। इन सबकी यहां गिनती नहीं की जासकती। एकबार स्वीकार किए गए व्रतके पालनमें शिथिल न हों। इस प्रकार व्रतका पालन करता हुआ मनुष्य क्रमशः उन्नत हो सकता है।

राजाका कर्तव्य

[८४ (८९)]

(ऋषिः- भृगुः। देवता- जातवेदाः अग्निः, २-३ इन्द्रः।)

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने! तू (जात-वेदाः अनाधृष्यः) ज्ञानसे परिपूर्ण और अजिंक्य (अमर्त्यः विराट्) अमर, विशेष प्रकारका सम्राट् (क्षत्र-भृत् इह दीदिहि) क्षत्रियोंका भरण पोषण करनेवाला होकर यहां प्रकाशित हो। और (विश्वाः अमीवाः प्रमुञ्चन्) सब रोगोंको दूर करता हुआ (मानुषीभिः शिवाभिः) मनुष्यसंबंधी कल्याणोंके साथ (अद्य नः गयं परि पाहि) आज हमारे घरकी रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ— तू ज्ञानी, अजेय, दीर्घायु, क्षात्रबलका पोषणकर्ता, विशेष श्रेष्ठ राजा होकर यहां प्रकाशित हो। अपने राज्यके सब रोग दूर कर और मनुष्योंके कल्याण करनेवाली बातें करके हमारे घरोंकी उत्तम रक्षा कर ॥ १ ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥ २ ॥
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र) इन्द्र ! (चर्षणीनां वृषभ) मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! तू (वामं क्षत्रं ओजः अभि जायथाः) उत्तम क्षात्रबलके लिये प्रसिद्ध हुआ है । तू (अमित्रायन्तं जनं अप नुद) शत्रुता करनेवाले मनुष्यको दूर कर । और (देवेभ्यः उरुं लोकं उ अकृणोः) दिव्य जनोंके लिये विस्तृत स्थान कर ॥ २ ॥

(गिरिस्थाः भीमः मृगः न) पर्वतपर रहनेवाले भयंकर सिंह, व्याघ्र आदि पशुके समान तू शत्रुके ऊपर (परस्याः परावतः आ जगम्यात्) दूरसे दूरके स्थानसे भी हमला करता है । हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू अपने (सृकं पविं संशाय) बाण और वज्रको तीक्ष्ण करके (शत्रून् विताढि) शत्रुओंको मार और (मृधः वि नुदस्व) हिंसक लोगोंको दूर कर ॥३॥

भावार्थ— मनुष्योंमें श्रेष्ठ बन, उत्तम क्षात्रबलकी वृद्धि कर । शत्रुता करनेवालोंको दूर कर, और जो श्रेष्ठ लोग हों उनके लिये विस्तृत कार्यक्षेत्र बना ॥ २ ॥

जिस प्रकार पहाडोंपर रहनेवाला व्याघ्र अपने शत्रुपर हमला करता है, उस प्रकार तू अपने दूरके शत्रुपर भी चढाई कर । अपने शस्त्र तीक्ष्ण कर, शत्रुको मार दे और हिंसकोंको दूर भगा दे ॥ ३ ॥

राजाका कर्तव्य

राजा क्या कार्य करे ?

इस सूक्तमें अग्नि और इन्द्रके मिषसे राजाका कार्य बताया है । राजा अपने राष्ट्रमें क्या कार्य करे, सो देखिये—

१ जातवेदाः— ज्ञान प्राप्त करे और अपने राष्ट्रमें ज्ञानका प्रसार करे ।

२ अनाधृष्यः— राजा ऐसा सामर्थ्यवान् बने कि वह शत्रुका कैसा भी हमला हो पराजित न होवे ।

३ वि-राट्— विशेष प्रकारका श्रेष्ठ राजा बने ।

४ क्षत्रभृत्— क्षत्रियोंका और क्षात्रगुणोंका भरणपोषण और संवर्धन करे ।

५ अमर्त्यः अग्निः इह दीदिहि— अमर अग्निके समान इस राष्ट्रमें प्रकाशित होता रहे ।

६ विश्वाः अमीवाः प्रमुञ्चन्— अपने राष्ट्रसे सब रोग दूर करे, राष्ट्रके सब लोग नीरोग हों, ऐसा प्रबंध करे ।

७ मानुषीभिः शिवाभिः— उत्तम कल्याणपूर्ण मनुष्योंसे युक्त होवे ।

८ गयं परिपाहि— राष्ट्रके हरएक घरकी रक्षा करे ।

९ चर्षणीनां वृषभः— राजा मनुष्योंमें श्रेष्ठ बने ।

१० वामं क्षत्रं ओजः— उत्तम क्षात्रबलसे युक्त राजा होवे ।

११ अमित्रायन्तं जनं अपनुद— शत्रुता करनेवाले मनुष्यको अपने देशसे दूर करे ।

१२ देवेभ्य उरुं लोकं अकृणोः— सज्जनोंके लिये विस्तृत स्थान बनावे ।

१३ परस्याः परावतः आजगम्यात्— दूर दूरसे भी शत्रुके ऊपर प्रचण्ड हमला करे ।

१४ सृकं पविं संशाय— अपने शस्त्रास्त्र उत्तम प्रकार तीक्ष्ण करके तैयार रखे ।

१५ शत्रून् विताढि— शत्रुओंको विशेष ताडन करे ।

१६ मृधः विनुदस्व— हिंसक जनोंको अपने राष्ट्रसे दूर करे । राष्ट्रसे बाहर निकाल देवे ।

इस प्रकार इस सूक्तसे बोध प्राप्त होता है । इस सूक्तसे जैसे राजाके कर्तव्य कहे हैं, उसी प्रकार हरएक मनुष्यको भी आत्मरक्षाका उपदेश इसी सूक्तसे मिल सकता है ।

राजाका कर्तव्य

[८५ (९०)]

(ऋषिः- अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) । देवता- तार्क्ष्यः ।)

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ १ ॥

अर्थ— (त्यं वाजिनं) उस बलवान्, (देवजूतं सहोवानं) दिव्य पुरुषों द्वारा सेवित शक्तिमान् (रथानां तरुतारं) रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाले, (अरिष्ट-नेमिं) सुदृढ हथियारवाले (पृतना-जिं) शत्रुसेनाका पराजय करनेवाले, (आशुं तार्क्ष्यं) शीघ्रकारी महारथीको (स्वस्तये आहुवेम) कल्याणके लिये यहां हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी तार्क्ष्य अर्थात् गरुडके मिषसे राजाके कर्तव्य बताये हैं—

१ वाजिनं— राजा बलवान्, अन्नवाला, धनधान्यका संग्रह करनेवाला हो ।

२ देवजूतं— देवों अर्थात् दिव्यजनोंके द्वारा सेवित अर्थात् जिसके पास, जिसके ओहदेदार, ज्ञानी और सूज्ञ दिव्य लोग होते हैं ।

३ सहोवानं — राजा बलवान् हो ।

४ रथानां तरुतारं— रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाला राजा हो । अर्थात् राजाके पास शीघ्रगामी रथ हों ।

५ अ-रिष्ट-नेमिः— जिसके हथियार टूटे हुए न हों । अटूट शस्त्रास्त्रोंवाला राजा हो । अथवा (अरिष्ट-नेमि) अरिष्ट अर्थात् संकटोंको दबानेवाला राजा हो ।

६ पृतनाजिः— शत्रुसेनाको जीतनेवाला राजा हो ।

७ आशुं— शीघ्रकारी राजा हो, हाथमें लिया हुआ कार्य शीघ्रतासे करनेवाला राजा हो ।

८ तार्क्ष्यः— 'तार्क्ष्य' का अर्थ 'रथ' है । रथ जिसके पास होते हैं उसका यह नाम है । राजा उत्तम रथी हो ।

९ स्वस्तये— प्रजाजनोंका कल्याण करनेके लिये राजा प्रयत्न करे ।

ये शब्द भी हरएक मनुष्यको साधारण आत्मरक्षाका उपदेश दे रहे हैं, उसको ग्रहण करके मनुष्य उन्नत हों ।

राजाका कर्तव्य

[८६ (९१)]

(ऋषिः- अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) । देवता- इन्द्रः ।)

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवा कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— मैं (त्रातारं इन्द्रं) रक्षक प्रभुको (अवितारं इन्द्रं) संरक्षक इन्द्रको, (हवेहवे सुहवं शूरं इन्द्रं) प्रत्येक कार्यमें, बुलाने योग्य उत्तम प्रकार बुलाने योग्य, शूर प्रभुको और (पुरुहूतं शक्रं इन्द्रं हुवे) बहुतों द्वारा प्रार्थित शक्तिमान् प्रभुको बुलाता हूं । वह (मघवान् इन्द्रः न स्वस्ति कृणोतु) ऐश्वर्यवान् प्रभु हमारा कल्याण करे ॥ १ ॥

यह मंत्र परमेश्वरका वर्णन करता हुआ भी राजाके कर्तव्योंका उपदेश करता है—

१ त्राता, अविता— राजा प्रजाकी उत्तम रक्षा करे।

२ शूरः— राजा शूर हो, डरनेवाला न होवे।

३ शक्रः— राजा शक्तिमान् हो, अशक्त न हो।

४ मघवान्— राजा अपने पास धनसंग्रह करे, राजा कभी धनहीन न बने।

५ स्वस्ति कृणोतु— राजा प्रजाका कल्याण करे।

इस प्रकार राजप्रकरणमें इस मंत्रसे बोध प्राप्त होता है।

व्यापक देव

[८७ (९२)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- रुद्रः।)

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

अर्थ— (यः रुद्रः अग्नौ) जो वाणीका प्रवर्तक देव अग्निमें (यः अप्सु अन्तः) जो जलोंके अन्दर (यः ओषधीः वीरुधः आविवेश) जो औषधी और वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हुआ है, (यः इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे) जो इन सब भुवनोंको सामर्थ्ययुक्त बनाता है, (तस्मै अग्नये रुद्राय नमः अस्तु) उस अग्निसमान तेजस्वी, वाणीके प्रवर्तक देवको नमस्कार है ॥ १ ॥

(रुद्र = रुत् + र) रुत् अर्थात् वाणी किंवा शब्द इसका जो प्रवर्तक आत्मा है, वह सब स्थिर चर पदार्थोंमें व्याप्त है, वह जल, अग्नि, औषधि, वनस्पति, सब भुवन आदिमें है, वही सबका रचयिता है। उस तेजस्वी आत्मदेवको मेरा नमस्कार है।

सर्पविष

[८८ (९३)]

(ऋषिः- गरुत्मान्। देवता- तक्षकः।)

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि। विषे विषमपृक्था विषमिद्वा अपृक्थाः।
अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

अर्थ— तू (अरिः वै असि) निश्चयसे शत्रु है। (अरिः असि) शत्रु ही है (अतः अप इहि) यहांसे दूर चला जा। (विषे विषं अपृक्थाः) विषमें विष मिला दिया है। (विषं इत् वै अपृक्थाः) निःसंदेह विष मिला दिया है। अतः (अहिं एव अभि अप इहि) सांपके पास ही जा और (तं जहि) उसको मार ॥ १ ॥

सर्पविष मनुष्यादि प्राणियोंका शत्रु है, अतः उसको मनुष्योंसे दूर रखना चाहिये। विषका उपचार विषसे ही होता है। सांप यदि काट ले तो यदि वह मनुष्य भी उसी सांपको काट ले, तो वह मनुष्य बच जाता है, परंतु मनुष्यमें इतना धैर्य चाहिये। इससे विषके साथ विष मिल जाता है अर्थात् सांपके विषके साथ मनुष्यके शरीरमें आया विष मिल जाता है और वह मनुष्य बच जाता है। इस विषयमें अधिक खोज करना चाहिये और निश्चय करना चाहिये, यह बात कहांतक सत्य है।

वृष्टि जल

[८९ (९४)]

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता- अग्निः ।)

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥
सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥ २ ॥
इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥
एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय । तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥

अर्थ— (दिव्याः आपः सं अचायिषं) दिव्य जलका मैं संचय करता हूं और (रसेन सं अपृक्ष्महि) रसके साथ मिलाता हूं । हे (अग्ने) अग्ने ! (पयस्वान् आगमं) मैं दूध लेकर तेरे पास आया हूं । (तं मा वर्चसा सं सृज) उस मुझको तेजके साथ युक्त कर ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (मा वर्चसा प्रजया आयुषा सं सृज) मुझे तेज, आयु और संततिसे युक्त कर । (देवाः अस्य मे विद्युः) देव यह मेरा हेतु जानें । तथा (ऋषिभिः सह इन्द्रः वियात्) ऋषियोंके साथ इन्द्र मुझे जाने ॥२॥

हे (आपः) जलो ! (इदं अवद्यं मलं च यत्) यह जो कुछ मुझमें पाप और मल है (प्रवहत) बहा डालो । (यत् च अभिदुद्रोह) जो कुछ मैंने द्रोह किया था, (यत् च अनृतं) जो असत्य कहा हो, (यत् च अभीरुणं शेपे) और जो न डरते हुए शाप दिया हो, उसका सब दोष दूर करो ॥ ३ ॥

(एधः असि एधिषीय) तू बडा है, मैं भी बडा होऊं । (समित् असि समेधिषीय) तू प्रकाशमान है मैं भी प्रकाशित होऊं । (तेजः असि, तेजः मयि धेहि) तू तेजस्वी है मुझसें भी तेज स्थापित कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— आकाशसे आनेवाला वृष्टिजल मैं संग्रहित करता हूं, उसमें औषधिरस मिलाता हूं । इसके प्रयोगसे मैं तेजस्वी बनूंगा । इस प्रयोगसें मैं तपा हुआ दूध पीता हूं ॥ १ ॥

इससे मुझे तेजस्विता, दीर्घ आयु और उत्तम संतान होगी । यह देवों और ऋषियोंका बताया मार्ग है ॥ २ ॥

उक्त प्रयोगसे शरीरके मल दूर होंगे और मनकी पापवासना भी दूर होगी । शाप देना आदि भाव भी हटेंगे और मनुष्य निर्दोष और शुद्ध बनेगा ॥ ३ ॥

जो लोग बडे हैं, जो तेजस्वी हैं और जो वीर हैं उनको देखकर इतर लोग भी बडे तेजस्वी और शूर बनें ॥ ४ ॥

वृष्टि जल

दीर्घायु बननेका उपाय

इस सूक्तमें दीर्घायु, तेजस्वी और सुप्रजावान् होनेका उपाय बताया है । उक्त लाभ प्राप्त करनेके लिये निर्दोष बनना चाहिये । मनुष्यमें शरीरके कुछ दोष होते हैं और मन बुद्धिके भी कुछ दोष होते हैं । ये दोष इस प्रकार इस सूक्तमें वर्णन किये हैं—

[१] अभिदुद्रोह, [२] अनृतं,
[३] अभीरुणं शेपे ।
[४] अवद्यं मलं प्रवहत । (मं० ३)

“ [१] दूसरेका घात करना, कपट प्रयोग करना, [२] असत्य भाषण करना, [३] निडरतासे गालियां देना, [४] इत्यादि जो मनके हीन भाव हैं और जो शारीरिक दोष हैं ।”

इनको दूर करना चाहिये। इनमें कुछ दोष मनके हैं, कुछ वाणीके हैं, कुछ शरीरके हैं और कुछ अन्य प्रकारके हैं। ये सब दूर होने चाहिये तब मनुष्यको दीर्घ आयु, तेजस्विता और उत्तम संतति प्राप्त होगी।

दूसरेसे द्रोह करना और गालियां देना आदि जो क्रोधके दोष हैं वे बहुत खराब हैं, क्रोधके कारण मनुष्यके खूनसे जीवनसत्त्वका नाश होता है, और जीवनसत्त्वके नष्ट होनेसे मनुष्यकी आयु घटती है, वीर्य दूषित होनेसे संतति कमजोर होती है और अनेक प्रकारकी हानि होती है। अतः ये दोष दूर होने चाहिये।

मनुष्यका यकृत बिगडनेसे मनुष्य क्रोधी, द्रोही, अविचारी, असत्यभाषणी आदि होता है, इसी कारण अन्य दोष भी होते हैं। शरीरमें नसनाडीमें मलसंचय बढनेसे शारीरिक रोग होते हैं, और इस प्रकार मनुष्यके दुःख बढते जाते हैं। शरीर और मन निर्दोष होनेसे ही इसकी निवृत्ति हो सकती है। इसके लिये दिव्यजलका सेवन करना एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

दिव्यजल सेवन

दिव्यजल वह है कि जो मेघोंसे वृष्टिसे प्राप्त होता है; यहां शुंडा यंत्रद्वारा भापका बना जल भी वैसा ही काम दे सकता है। वृष्टिका जल घरमें शुद्ध पात्रोंमें संग्रहीत करना चाहिये। इस प्रकार संग्रह किया हुआ और बंद पात्रमें रखा हुआ जल एक वर्षतक उत्तम प्रकार रहता है और बिगडता नहीं। यही जल पीनेसे शरीर शुद्ध होता है। उपवास करके यदि यह ही विपुल प्रमाणमें पिया जाये, तथा बस्ति आदिके लिये यही बर्ता जाये तो शरीरकी आन्तरिक शुद्धता उत्तम रीतिसे होती है। यकृत् भी शुद्ध होता है, आतोंके दोष दूर होते हैं और अन्यान्य मल हट जाते हैं। प्रायः इस प्रयोगसे सब रोग दूर हो जाते हैं और मनुष्य तेजस्वी, सुदृढ और वीर्यवान् हो जाता है।

यहां पाठक 'दिव्य जल' से उत्तम जल इतना ही भाव न लें। द्युलोकसे आया हुआ जल ऐसा अर्थ समझें, ऊपरसे द्युलोककी ओरसे आया जल वृष्टिजल ही होता है और वही यहां अपेक्षित है। इस जलमें और **(रसेन अपृणक्षि)** विविध औषधियोंके रस मिलाये जायेंगे तो लाभ विशेष होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। जो दोषोंको धोती हैं उनको ही ओषधी कहते हैं, अतः औषधियोंके रस योग्य प्रमाणमें इसमें मिलानेसे बहुत लाभ होना संभव है। कौनसे औषधियोंके रस मिलाने हैं, यह विचार दोषों और रोगोंके अनुसंधानसे निश्चय करना चाहिए। रोगी मनुष्य जिस जिस दोषसे पीडित होगा, उसके निवारणके लिये उपयोगी औषधियोंके रस उस जलमें मिलाने होंगे। वह विचार साधारण मनुष्य नहीं कर सकता है। उत्तम वैद्य ही इस विषयका विचार करके निश्चय कर सकता है। अतः इस विवरणके संबंधमें इतना कथन पर्याप्त है।

यह वृष्टिजल शरीरका मल दूर करता है, मनके भाव शरीरशुद्धिसे ही पवित्र होते हैं, इस प्रकार वह मनुष्य पवित्र और शुद्ध होता है और तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी और सुपुत्रवाला होता है।

दुष्टका निवारण

[९० (९५)]

(ऋषिः- अङ्गिराः। देवता- मन्त्रोक्ताः।)

अपि वृश्च पुराणवद्व्रततेरिव गुष्पितम्। ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥

अर्थ— **(व्रततेः पुराणवत् गुष्पितं इव)** लताओंकी पुरानी सूखी लकडियोंके समान **(दासस्य ओजः अपिवृश्च दम्भय)** हिंसकके बलको काटो और दबाओ ॥ १ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर! दुष्ट और उपद्रव देनेवाले मनुष्यका बल घटा दो ॥ १ ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भंजामहै ।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥
यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः ।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः
यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

अर्थ— (वयं अस्य तत् संभृतं वसु) हम इसके उस एकत्रित धनको (इन्द्रेण विभजामहै) प्रभुके साथ बांट देते हैं। तथा (वरुणस्य व्रतेन) वरुण देवके व्रतके साथ (ते भ्रजः शिभ्रं म्लापयामि) तेरे तेजके घमंडको मिटा देते हैं ॥ २ ॥

(अवस्थस्य क्नदीवतः) नीच, गाली देनेवाले, (शांकुरस्य नितोदिनः) कंटक जैसे व्यवहार करनेवाले और पीडा देनेवाले दुष्ट मनुष्यका (यत् आततं) जो फैला हुआ दुष्कृत्य है, (तत् अव तनु) वह मिट जावे, (यत् उत्ततं तत् नितनु) जो ऊपर उठा हुआ हो वह नीचा हो जावे। (यथा शेपः स्त्रीषु अपायातै) जिस रीतिसे इनका दुष्कर्म स्त्रियोंके विषयमें न होवे उस प्रकार उनतक ये दुष्ट (अनावयाः असत्) न पहुंचनेवाले हों ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुष्ट मनुष्यका धन लेकर ईश्वरके शुभ कर्ममें लगा दो ॥ २ ॥
पीडा देनेवाले दुष्ट मनुष्य स्त्रियोंको कभी कष्ट न दें ऐसा प्रबंध करो ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसका विशेष विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं। दुष्टोंके आक्रमणसे स्त्रियोंका बचाव करना चाहिये। स्त्रियोंके पास भी कोई दुष्ट मनुष्य न पहुंच सके।

राजाका कर्तव्य

[९१ (९६)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- चन्द्रमाः (इन्द्रः ?) ।)

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— (सुत्रामा स्ववान्) उत्तम रक्षक आत्मविश्वाससे युक्त (विश्ववेदाः इन्द्रः अवोभिः सुमृडीकः भवतु) सब धनोंसे युक्त प्रभु अपनी रक्षाओंसे उत्तम सुखकारी होवे। (द्वेषः बाधतां) शत्रुओंका प्रतिबंध करे (नः अभयं कृणोतु) हमारे लिये निर्भयता करे। (सुवीर्यस्य पतयः स्याम) हम उत्तम धनके स्वामी बनें ॥ १ ॥

भावार्थ— राजा उत्तम रक्षक, अपने सामर्थ्य पर विश्वास रखनेवाला, धनवान्, प्रजाकी रक्षा करके उनको सुख देनेवाला होवे। शत्रुओंको दूर करे और उनको रोक रखे। प्रजाको अभय देवे और प्रजाको धनसंपन्न करे ॥ १ ॥

यहां इन्द्रके वर्णनके मिषसे राजाके गुण वर्णन किये हैं। इसी प्रकार आगेका सूक्त भी इसी विषयका है—

राजाका कर्तव्य

[९२ (९७)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- चन्द्रमाः (इन्द्रः ?) ।)

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— (सः सु-त्रामा स्ववान् इन्द्रः) वह उत्तम रक्षक आत्मशक्तिका विश्वासी प्रभु (द्वेषः) शत्रुओंको (अस्मत् आरात् चित् सनुतः युयोत) हमारे पाससे निश्चयपूर्वक दूर करे । (वयं तस्य यज्ञियस्य सुमतौ स्याम) हम उस पूजनीयकी सुमतिमें रहें । (अपि सौमनसे स्याम) और उसके उत्तम मनोभावमें रहें ॥ १ ॥

भावार्थ— वह उत्तम रक्षक आत्मबलसे युक्त राजा शत्रुओंको प्रजाजनोंसे दूर करे । प्रजा भी उस पूजनीय राजाके विषयमें उत्तम बुद्धि धारण करे और वह भी उनके विषयमें शुभमति धारण करें ॥ १ ॥

राजा प्रजाकी रक्षा करे, प्रजा भी राजनिष्ठ रहे और दोनों एक दूसरेके विषयसे सुबुद्धि धारण करें । यह सूक्त भी प्रभुका वर्णन करते हुए राजाके गुण बता रहा है ।

राजाका कर्तव्य

[९३ (९८)]

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता- इन्द्रः ।)

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्माम पृतन्यतः । घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ १ ॥

अर्थ— (मन्युना इन्द्रेण वयं) उत्साहयुक्त इन्द्रके साथ रहकर हम सब (वृत्राणि अप्रति घ्नन्तः) शत्रुओंको उत्तम रीतिसे मारते हुए (पृतन्यतः अभि-स्याम) सेना लेकर चढाई करनेवालोंको जीतें ॥ १ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके वर्णनके मिषसे राजाका वर्णन पूर्ववत् ही है । उत्साही वीर राजाके आधिपत्यमें रहनेवाले प्रजाजन (वृत्र) आवरक शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होते हैं और सैन्यके साथ चढाई करनेवाले वैरीका भी पराजय करनेमें समर्थ होते हैं ।

स्वावलम्बी प्रजा

[९४ (९९)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- सोमः ।)

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

अर्थ— (ध्रुवेण हविषा) स्थिर हविसे (ध्रुवं सोमं अव नायमसि) स्थिर सोमको प्राप्त करते हैं । (यथा इन्द्रः) जिससे इन्द्र (नः विशः केवलीः संमनसः करत्) हमारी प्रजाओंको दूसरेके ऊपर अवलंबन न करनेवाली और उत्तम मनवाली करे ॥ १ ॥

स्थिर कर प्रदान करनेसे राजा स्थिर रहता है और वह अपनी प्रजाको (केवलीः) स्वतंत्र, स्वावलंबनी अर्थात् दूसरे पर अवलंबन न करनेवाली और (सं-मनसः) उत्तम मनवाली करता है। केवल अपनी ही शक्तिसे रहनेवाली, दूसरेकी शक्तिकी सहायता न लेनेवाली जो प्रजा होती है उसका वेदमें ' केवली प्रजा ' है। यह शब्द प्रजाकी श्रेष्ठतम उन्नतिका सूचक है। जिस राष्ट्रकी प्रजा केवल अपनी शक्तिसे ही रहती है और किसी प्रकार दूसरेपर निर्भर नहीं होती उस राष्ट्रको पूर्ण मानना चाहिए।

हृदयके दो गीध

[९५ (१००)]

(ऋषिः- कपिञ्जलः । देवता- गृध्रौ ।)

उद॑स्य श्या॒वौ वि॑थु॒रौ गृध्रौ॒ द्यामि॑व पेततुः ।
उ॒च्छो॒च॒न॒प्र॒शो॒च॒नाव॒स्योच्छोच॑नौ हृ॒दः ॥ १ ॥
अ॒हमे॑ना॒वुद॑तिष्ठिपं॒ गावौ॑ श्रान्त॒सदा॑विव ।
कु॒र्कु॒रावि॑व॒ कूज॑न्तावु॒दव॑न्तौ॒ वृका॑विव ॥ २ ॥
आ॒तो॒दिनौ॑ नि॒तो॒दि॒ना॒वथो॑ सं॒तो॒दिना॑वु॒त ।
अपि॑ नह्या॒म्यस्य॒ मेढ्रं॒ य इ॒तः स्त्री पु॒मां॑ज॒भार॑ ॥ ३ ॥

अर्थ- (अस्य विथुरौ गृध्रौ) इसकी व्यथा बढानेवाले दो गीध (श्यावौ गृध्रौ इव) श्यामरंगवाले गीधोंके समान (द्यां उत् पेततुः) आकाशमें उडते हैं। ये (उच्छोचनप्रशोचनौ) शोक बढानेवाले और सुखानेवाले हैं। ये (अस्य हृदः उच्छोचनौ) इसके हृदयको सुखानेवाले हैं ॥ १ ॥

(श्रान्तसदौ गावौ इव) थके हुए गौओं या बैलोंके समान (कूजन्तौ कुर्कुरौ इव) चिल्लानेवाले कुत्तोंके समान, (उत्-अवन्तौ वृकौ इव) हमला करनेवाले भेडियोंके समान (अहं एनौ उत् अति ष्ठिपं) मैं इन दोनोंको लांघता हूं ॥ २ ॥

(आतोदिनौ नितोदिनौ) पीडा देनेवाले और व्यथा करनेवाले (अथो उत संतोदिनौ) और दुःख देनेवाले उन दोनोंको (अपि नह्यामि) मैं बांध देता हूं। (यः पुमान्) जो पुरुष या (स्त्री) स्त्री (इतः मेढ्रं जभार) यहांसे प्रजननसामर्थ्य धारण करते हैं, उनका भी संयमन करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ- काम और लोभ ये दो गीधके समान दो भाव मनुष्यमें रहते हैं। ये पीडा बढानेवाले हैं। ये दोनों शोक बढानेवाले और सुखानेवाले हैं। ये हृदयको भी सुखाते हैं ॥ १ ॥

बैलों, कुत्तों या भेडियोंके समान मैं इन दोनों भावोंको लांघकर परे जाता हूं अर्थात् इनको काबूमें रखता हूं ॥ २ ॥

स्त्री या पुरुष इनके इंद्रियोंका इसमें संबंध है अतः इन पीडा देनेवाले दोनों भावोंको मैं बंधनमें रखता हूं ॥ ३ ॥

स्त्रीपुरुषविषयक काम और लोभ ये मनुष्यके अन्तःकरणको सुखानेवाले, पीडा और कष्ट देनेवाले हैं। ये गीधके समान मनुष्यके अन्तःकरणपर हमला करते हैं। अतः इनको बंधनमें-प्रतिबंधमें-रखना चाहिये। अर्थात् इन वृत्तियोंका संयम करना चाहिये। संयम करनेसे ही मनुष्य सुखी होता है।

दोनों मूत्राशय

[९६ (१०१)]

(ऋषिः- कपिञ्जलः । देवता- वयः ।)

असदन्गावः सदनेऽपप्तद्वसतिं वयः ।

आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

अर्थ— (गावः सदने असदन्) गौवें गोशालामें बैठती हैं, (वयः वसतिं अपप्तत्) पक्षी घोंसलेमें आते हैं, (पर्वताः आस्थाने अस्थुः) पर्वत अपने स्थानमें स्थिर हैं, उसी प्रकार (स्थाम्नि वृक्कौ अतिष्ठिपं) सुदृढ स्थानपर दोनों मूत्राशयोंको स्थिर करता हूं ॥ १ ॥

शरीरमें दोनों ओर दो मूत्राशय हैं, वे सुदृढ स्थानपर हैं। उनको उत्तम अवस्थामें रखनेसे शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहता है। ये ही दो अवयव शरीरका विष दूर करते हैं अतः इनको ठीक अवस्थामें रखना हरएक मनुष्यका कार्य है। इंद्रिय-संयमसे ही ये दोनों ठीक अवस्थामें रहते हैं और अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं।
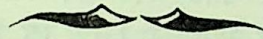
यज्ञ

[९७ (१०२)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- इन्द्राग्नी ।)

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह ।

ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान्यज्ञमुप याहि सोमम् ॥ १ ॥

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।

सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (चिकित्वान् होतः) ज्ञानी हवनकर्ता ! (यत् अद्य इह) जो आज यहां (अस्मिन् प्रयति यज्ञे) इस प्रयत्नपूर्वक करने योग्य यज्ञमें हम (त्वा अवृणीमहि) तुझे स्वीकार करते हैं। हे (शविष्ठ) बलिष्ठ ! तू (ध्रुवं अयः) स्थिरतासे आ (उत ध्रुवं यज्ञं प्रविद्वान्) और स्थिरयज्ञको जाननेवाला तू (सोमं उप याहि) सोमके पास जा ॥ १ ॥

हे (हरिवन् इन्द्र) किरणयुक्त तेजस्वी प्रभो ! (नः मनसा गोभिः सं) हमें मनसे गौओंसे युक्त कर, (सूरिभिः सं) विद्वानोंसे युक्त कर, (स्वस्त्या सं) कल्याणसे युक्त कर और (नेष) ले चल। (यत् देवहित अस्ति) जो देवोंका हितकारी है उस (ब्रह्मणा सं) ज्ञानसे युक्त कर तथा (यज्ञियानां देवानां सुमतौ सं) पूजनीय देवोंकी उत्तम मतिमें हमें ले चल ॥ २ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी होता गण ! तुम्हारा वरण मैंने इस यज्ञमें किया है, यह यज्ञ उत्तम विधिपूर्वक करो। स्थिर-चित्तसे रहो और शान्तिसे यज्ञ समाप्त करो ॥ १ ॥

हे देव ! हमें गौवें दो, ज्ञानियोंकी संगति दो, हमारा सब प्रकार हित करो, जो हितकारी ज्ञान है वह मुझे दो, सब सज्जनोंका मन मेरे विषयमें उत्तम होवे ॥ २ ॥

यानावह उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥ ३ ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥ ५ ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देव अग्ने) देव अग्ने ! (यान् उशतः देवान्) जिन अभिलाषा करनेवाले देवोंको (आ अवहः) यहां ले आया था (तान् स्वे सधस्थे प्रेरय) उनको अपने संघ स्थानमें प्रेरित कर। हे (वसवः) वसुदेवो ! (जक्षिवांसः) अन्न खाते हुए और (मधूनि पपिवांसः) मधुर रस पीते हुए हमारे लिये (वसूनि धत्त) धनोंको प्रदान करो ॥ ३ ॥

हे (देवाः) देवो ! हम (वः सु-गा सदना अकर्म) तुम्हारे लिये उत्तम जाने योग्य घर बनाते हैं। (सवने मा जुषाणाः आजग्म) यज्ञमें मेरे दानको स्वीकार करते हुए आप आये, अब (स्वा वसूनि वहमानाः वसुं भरमाणाः) अपने धनोंको धारण करते हुए और हमारे लिये धनका धारण करनेवाले तुम सब (घर्मं दिवं अनु आरोहत) प्रकाशमान द्युलोकके ऊपर चढो ॥ ४ ॥

हे (यज्ञ) यज्ञ ! तू (यज्ञं गच्छ) यज्ञस्थानके प्रति जा, (यज्ञपतिं गच्छ) यजमानको प्राप्त हो। (स्वां योनिं गच्छ) अपने आश्रयस्थानको प्राप्त हो। (स्वा-हा) स्वकीय वस्तुका त्याग ही यज्ञ है ॥ ५ ॥

हे (यज्ञपते) यज्ञकर्ता यजमान ! (एषः ते यज्ञः) यह तेरा यज्ञ (सह-सूक्त-वाकः) उत्तम सूक्त वचनोंसे युक्त है। अतः (सुवीर्यः) यह वीर्यवान् है। (स्वा-हा) स्वकीय अर्थका त्याग ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

(हुतेभ्यः वषट्) हवन करनेवालोंके लिए अर्पित है और (अहुतेभ्यः वषट्) हवन न करनेवालोंके लिये भी अर्पित है। हे (देवाः) देवो ! आप लोग (गातुविदः) मार्गोंको जाननेवाले हैं, (गातुं वित्त्वा गातुं इत) मार्गको जानकर मार्गसे ही जाओ ॥ ७ ॥

भावार्थ— अग्नि इस यज्ञमें सब देवोंको लाता और वापस पहुंचाता है। सब देव यहां आवें, अन्न खावें, सोमरस पीयें और हमें धन देवें ॥ ३ ॥

हे देवो ! यह यज्ञ मानो तुम्हारा घर ही है। इस सोमाभिषवमें आओ, साथ धन लेते आओ, वह धन हमें अर्पण करो और यज्ञसमाप्तिके बाद स्वर्गमें अपने स्थानमें जाओ ॥ ४ ॥

यज्ञ यज्ञस्थानमें और यजमानके पास ही होता है। स्वार्थका त्याग करना ही यज्ञ है ॥ ५ ॥

सूक्त और मंत्रकथनपूर्वक जो यज्ञ होता है वही वीर्यवान् होता है। स्वार्थत्याग ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

समर्पण तो सबके लिये करना चाहिये। चाहे वे यज्ञ करनेवाले हों या न हों। मार्ग जाननेके पश्चात् उसी मार्गसे जाना उत्तम है ॥ ७ ॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (मनसः-पते) मनके स्वामी! (नः इमं यज्ञं दिवि देवेषु) हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें देवोंके मध्यमें (धां) धारण करत हैं । (दिवि स्वा-हा) द्युलोकमें हमारा समर्पण, (पृथिव्यां स्वाहा) पृथिवीमें हमारा यह समर्पण पहुंचे, और (अन्तरिक्षे स्वाहा) अन्तरिक्षमें तथा (वाते स्वाहा) वायुमें अथवा प्राणमें हमारा समर्पण पहुंचे ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे मनपर अधिकार रखनेवाले यजमान ! जो यज्ञ तुम करो उसे देवोंके लिये समर्पित करो, उसका समर्पण पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें स्थित सबके लिये होवे ॥ ८ ॥

यह सूक्त यज्ञका महत्त्व वर्णन करता है ।

यज्ञ

[९८ (१०३)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- इन्द्रः, विश्वे देवाः ।)

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः ।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ— (घृतेन हविषा बर्हिः सं अक्तं) घी और हवन सामग्रीसे आहुति भरपूर हो, (इन्द्रेण, वसुना, मरुद्भिः सं अक्तं) इन्द्र, वसु, मरुत् इन देवोंके साथ (विश्वदेवेभिः देवैः सं) सब अन्य देवोंके साथ भरपूर हो । (हविः इन्द्रं गच्छतु) यह हवन सब देवोंके मुख्य प्रभुको पहुंचे । (स्वा-हा) यह आत्मसमर्पण ही है ॥ १ ॥

इस सूक्तका संबंध पूर्वसूक्तके साथ है । हवनसामग्री, घी आदि पदार्थ पूर्ण रीतिसे यथाविधि यज्ञमें समर्पित किये जावें । यह सब यज्ञ परमेश्वरको समर्पित हो ऐसी बुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जावे । स्वार्थत्याग-अपनी वस्तुका समर्पण-करनेसे ही यज्ञ सिद्ध होता है ।

यज्ञ

[९९ (१०४)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वेदी ।)

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् ।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥ १ ॥

अर्थ— (वेदिं परिस्तृणीहि) वेदिके चारों ओर अच्छी प्रकार आच्छादित कर और (परि धेहि) उनको धारण कर । (अमुया शयानां जामिं मा मोषीः) इस यज्ञ भूमिमें सोनेवाली इस हमारी बहिन अर्थात् यजमानकी धर्मपत्नीके साथ कपट मत कर । (होतृ-सदनं हरितं हिरण्मयं) यह हवनकर्ताका घर हरियावलसे युक्त और उत्तमवर्ण युक्त है । (यजमानस्य लोके एते निष्काः) यजमानके स्थानपर ये सिक्के, सुनहरी मोहरें, या आभूषण हैं ॥ १ ॥

वेदिके चारों और अत्यंत स्वच्छता रखनी चाहिये और सदा वह स्थिर रखनी चाहिये । किसी स्त्रीके साथ कपट या बुरा वर्ताव नहीं करना चाहिये । घरके साथ हरियावल युक्त उद्यान बना कर उसको उत्तम अवस्थामें रखना चाहिये । घरको उत्तम स्वच्छ अवस्थामें रखना चाहिये । येही गृहस्थीके भूषण हैं ।

*

दुष्ट स्वप्न न आनेके लिये उपाय

[१०० (१०५)]

(ऋषिः- यमः । देवता- दुःस्वप्ननाशनम् ।)

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

अर्थ— मैं (पापात् दुष्वप्न्यात् पर्यावर्ते) पापसे दुष्ट स्वप्नसे पीछे हटता हूं। (अभूत्याः स्वप्न्यात्) अवनतिकारक स्वप्नसे पीछे रहता हूं। (अहं अन्तरं ब्रह्म कृण्वे) मैं बीचमें ज्ञानको रखता हूं (स्वप्नमुखाः शुचः परा) मैं दुःस्वप्न आदि शोकजनक बातोंको दूर करता हूं ॥ १ ॥

पापसे दुष्ट स्वप्न, शारीरिक अवनति, तथा शोकमय स्वभाव बनता है। पाप शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, वाचिक और बौद्धिक मलोंसे होता है अथवा पापसे इनमें मलसंचय होता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार इन स्थानोंके मल दूर करने चाहिये, जिससे पाप कम होनेसे दुष्ट स्वप्नोंका आना दूर होगा। शरीरादिकी शुद्धि करनेके उपाय इससे पूर्व कहे गये हैं। अपने और पापके बीचमें (ब्रह्म) अर्थात् ज्ञान किंवा परमेश्वरका भजन रखना चाहिये। इससे निःसंदेह पाप दूर होगा। मनकी शान्ति प्राप्त होकर बुरे स्वप्न कदापि नहीं आवेंगे।

दुष्ट स्वप्न न आनेके लिये उपाय

[१०१ (१०६)]

(ऋषिः- यमः । देवता- स्वप्ननाशनम् ।)

यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद्दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् स्वप्ने अन्नं अश्नामि) जो स्वप्नमें मैं अन्न खाता हूं वह (प्रातः न अधिगम्यते) सबेरे नहीं प्राप्त होता है। (तत् सर्वं मे शिवं अस्तु) वह सब मेरे लिये शुभ होवे। (तत् दिवा नहि दृश्यते) वह दिनके समय नहीं दीखता॥ १ ॥

स्वप्नमें भोजनादि भोग भोगनेका जो दृश्य दीखता है, वह सबेरे उठनेपर या दिनमें नहीं दिखाई देता। अतः वह असत्य है। वह केवल मनको विकृतिके कारण दीखता है। अतः एसे स्वप्न न आयें इसलिये उत्तम ज्ञानपूर्वक यत्न करना चाहिये। जिसका वर्णन इससे पूर्व किया है।

उच्च बनकर रहना

[१०२ (१०७)]

(ऋषिः- प्रजापतिः । देवता- मंत्रोक्ता नानादेवताः ।)

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन्मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवीभ्यां) द्युलोक और पृथ्वीलोकको तथा (अन्तारिक्षाय मृत्यवे नमस्कृत्य) अन्तरिक्ष और मृत्युको नमस्कार करके (ऊर्ध्वः तिष्ठन् मेक्षामि=मेषामि=मिषामि) ऊंचा खडा होकर निरीक्षण करता हूं। अतः (ईश्वराः मा मा हिंसिषुः) स्वामी – अधिकारी – मेरा नाश न करें ॥ १ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक इनमें रहनेवाले आप्त पुरुषोंको और मृत्युको नमस्कार करके अपनी धर्ममर्यादाके अनुसार मैं रहता हूं। उच्च बनकर, उच्च स्थानमें रहता हुआ, उच्च विचार करता हुआ, उच्च लोगोंके साथ संबंध जोडता हुआ, आंखें खोल कर जगत्का निरीक्षण करता हूं। और योग्य आचरण करता हूं। अतः इस विश्वके अधिकारी मेरी हिंसा न करें, मेरा घात न करें।

उद्धारक क्षत्रिय

[१०३ (१०८)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- आत्मा ।)

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

अर्थ— (कः= प्रजापतिः क्षत्रियः वस्य इच्छन्) प्रजापालक क्षत्रिय प्रजाका धन बढानेकी इच्छा करता हुआ (अस्याः अवद्यवत्याः द्रुहः नः उन्नेष्यति) परस्परके द्रोहरूप इस निंदनीय दुर्गतिसे हमें ऊपर उठावे (कः=प्रजपतिः यज्ञकामः) प्रजापालनरूप यज्ञकर्ता (उ कः पूर्तिकामः) और वही प्रजापालक हमारी पूर्णता करनेवाला है। (देवेषु कः दीर्घं आयुः वनुते) देवोंके अंदर प्रजापालक ही दीर्घ आयु देता है ॥ १ ॥

इस सूक्तमें उद्धार करनेवाले क्षत्रियके गुणोंका वर्णन किया है, अतः इसका विशेष विचार करना योग्य है—

१ कः क्षत्रियः=(कः=प्रजापतिः=प्रजापालकः। क्षत्रियः क्षतात् त्रायते) दुःखोंसे जो प्रजाजनोंका संरक्षण करता है उसको प्रजापालक क्षत्रिय कहते हैं। प्रजारक्षण क्षत्रियका एक मुख्य गुण है। ' कः ' शब्दका अर्थ प्रजापालक है, यही राजा है।

२ वस्य इच्छन्= (वसु इच्छन्) धनकी इच्छा करनेवाला प्रजाजनोंके ऐश्वर्य बढानेकी इच्छा करनेवाला क्षत्रिय हो।

३ अस्याः अवद्यवत्याः द्रुहः नः उन्नेष्यति— इस निंदनीय आपसी कलह और पारस्परिक द्रोह करनेकी अवस्थासे हम प्रजाजनोंका उद्धार करनेवाला क्षत्रिय हो, क्षत्रियका यही कर्तव्य है कि, वह प्रजाजनोंको ऐसी शिक्षा देवे कि, वे आपस में कलह करना छोड देवें, पारस्परिक द्रोह करना छोड देवें।

४ यज्ञकामः क्षत्रियः= सत्कार-संगति-दानात्मक कर्मका नाम यज्ञ है। संगतिकरण रूप यज्ञ करनेवाला अर्थात् प्रजाजनोंका संगठन करनेवाला क्षत्रिय हो। क्षत्रिय कभी प्रजामें फूट न करे और कभी आपसके द्रोहके भावको न बढावे।

५ पूर्तिकामः क्षत्रियः— प्रजाजनोंकी सब प्रकार पूर्णता करनेवाला राजा हो। प्रजाजनोंमें जो जो न्यूनता हो उसको पूर्ण करे, और अपनी प्रजामें कभी अपूर्णता न रहने दे।

६ दीर्घ आयुः वनुते= प्रजाजनोंको दीर्घ आयु प्राप्त हो, ऐसा प्रबंध करनेवाला राजा हो। राजा राज्यशासनका ऐसा प्रबंध करे कि, जिससे प्रजाकी आयु बढे और कभी न घटे।

गौको समर्थ बनाना

[१०४ (१०९)]

(ऋषिः– ब्रह्मा। देवता– आत्मा।)

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

अर्थ— (वरुणेन अथर्वणे दत्तां) वरुणके द्वारा अथर्वा अर्थात् निश्चल योगीको दी हुई (सुदुघां नित्यवत्सां पृश्निं धेनुं) सुखसे दुहनेयोग्य वत्सके साथ रहनेवाली विविध रंगवाली गौको, (बृहस्पतिना सख्यं जुषाणः) ज्ञानीके साथ मित्रता करता हुआ (यथावशं तन्वः कः=प्रजापतिः कल्पयाति) इच्छाके अनुसार शरीरके विषयमें प्रजाका पालन करनेवाला ही समर्थ करता है ॥ १ ॥

[यह सूक्त अभीतक स्पष्ट नहीं हुआ। पर गौका सामर्थ्य बढानेका विषय इसमें है। गायकी दूध देनेकी शक्ति तथा अन्य शक्ति बढानेका उपदेश इसमें है। प्रजाका पालक ज्ञानीके साथ मंत्रणा करता हुआ गायको समर्थ करता है। यह आशय यहां दीखता है। परंतु सब मंत्र ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है।]

दिव्य वचन

[१०५ (११०)]

(ऋषिः– अथर्वा। देवता– मन्त्रोक्ता।)

अपक्रामन्पौरुषेयाद्वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अर्थ— (पौरुषेयात् अपक्रामन्) सामान्य मनुष्योंके करनेयोग्य कर्मोंसे हट कर (दैव्यं वचः वृणानः) दिव्य वचनोंको स्वीकार कर, (विश्वेभिः सखिभिः सह) अपने सब मित्रोंके साथ (प्र-नीतीः अभ्यावर्तस्व) उत्कृष्ट नीतिनियमोंके अनुकूल आचरण कर ॥ १ ॥

सामान्य हीन अशिक्षित असभ्य मनुष्य जैसा हीन व्यवहार करते हैं, उसको छोडना चाहिये। दिव्य उपदेशवचनोंको–वेदवचनोंको–स्वीकार करना चाहिये। और अपने सब इष्टमित्रोंके साथ उस उपदेशके श्रेष्ठ आदेशोंके अनुसार अपना आचरण करना चाहिये। उन्नतिका यही मार्ग है।

अमृतत्वकी प्राप्ति

[१०६ (१११)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- जातवेदा वरुणश्च ।)

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञातवेद प्रकाश देव ! (यत् चरणे किंचित् अस्मृति चकृम) जो आचारमें किंचित् विना स्मरणके हम करें और उसमें (उपारिम) कुछ अशुद्धि करें । हे (प्रचेतः) उत्कृष्ट चित्तवाले देव ! (त्वं नः ततः पाहि) तू हमें उससे बचा और (नः सखिभ्यः) हमारे मित्रोंको (शुभे अमृततत्वं अस्तु) शुभ मार्गमें अमरपन प्राप्त हो ॥ १ ॥

यह उत्तम प्रार्थना है । 'हे प्रभो ! हम जो आचरण करते हैं, उसमें यदि कुछ हमारे नासमझीके कारण कुछ अशुद्धि हो जावे, तो उस अपराधकी क्षमा हो और हमें शुभ मार्गसे अमृतत्वकी प्राप्ति हो ।' यह उत्तम प्रार्थना है और हरएक मनुष्यको प्रतिदिन करनी चाहिए ।

अमृतत्वकी प्राप्ति

[१०७ (११२)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- सूर्यः आपः च ।)

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥ १ ॥

अर्थ— (सूर्यस्य सप्त रश्मयः) सूर्यकी सात किरणें (समुद्रियाः आपः धाराः) समुद्रकी जलधाराओंको (दिवः अव तारयन्ति) द्युलोकसे नीचे लाती हैं । (ताः ते शल्यं असिस्रसन्) वे जलधाराएं तेरे शल्यको हटा देती हैं ॥ १ ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीके ऊपरके जलकी बाष्प बनाकर ऊपर ले जाता है और उसके मेघ बनाता है । पश्चात् उसीकी किरणोंसे उन मेघोंसे वृष्टि होती है और भूमिपर जलप्रवाह बहने लगते हैं । यह जलचक्र इस प्रकार चलता रहता है ।

दुष्टोंका संहार

[१०८ (११३)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- अग्निः ।)

यो नस्तायद्दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान्मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः नः तायत् दिप्सति) जो हमें छिपकर सताता है तथा (यः नः आविः) जो हमें प्रकट रूपसे दुःख देता है । वह चाहे (नः स्वः विद्वान् अरणः) हमारा अपना संबंधी विद्वान् किंवा परकीय भी क्यों न हो (तान् दत्वती अरणी प्रतीची एतु) उनपर दांतवाली सोटी उलटी चले । हे (अग्ने) अग्ने ! (एषां वास्तु मा भूत्) इनका कोई घर न हो और (मा अपत्यं उ) न इनकी कोई सन्तान हो ॥ १ ॥

यो नः सुप्ताञ्जाग्रतो वाभिदासात्तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान्प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) जातवेदः अग्ने ! (यः नः सुप्तान् जाग्रतः वा अभिदासात्) जो हमें सोते हुए या जागते हुए नष्ट करे, (यः तिष्ठतः वा चरतः) जो ठहरे हुए या चलते हुएका नाश करे । हे (जातवेदः) अग्ने ! (वैश्वानरेण सयुजा सजोषाः) विश्वके नेताके साथ मिलकर (तान् प्रतीचः निः दह) उन प्रतिकूल चलनेवालोंको भस्म कर ॥ २ ॥

जो छिपकर हमारा नाश करे, या प्रकट रूपसे हमें सतावे । वह हमारा संबंधी हो, मित्र हो, स्वकीय हो या परकीय हो, उस सतानेवालेका नाश किया जावे ।

सोते, जागते, खडे हुए या चलते हुए किसी अवस्थामें हम हों, जो हमारा घात करता है, उसका भी नाश किया जावे ।

अपने सतानेवाले शत्रुकी उपेक्षा न की जावे, यह इस सूक्तका तात्पर्य है ।

राष्ट्रका पोषण करनेवाले

[१०९ (११४)]

(ऋषिः– बादरायणि । देवता– अग्नि ।)

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥
घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २ ॥

अर्थ— (बभ्रवे उग्राय इदं नमः) भरणपोषण करनेवाले उग्र वीरके लिये यह नमस्कार है । (यः अक्षेषु तनूवशी) जो इंद्रियोंके विषयमें अपने शरीरको वशमें रखनेवाला है, (सः नः ईदृशे मृडाति) वह हमें ऐसी अवस्थामें भी सुख देता है । अतः मैं (घृतेन कलिं शिक्षामि) स्नेहसे कलहको–कलह करनेवालोंको–शिक्षित करता हूं ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं अप्–सराभ्यः घृतं वह) तू जलमें संचार करनेवालोंके लिये घी ले जा । (अक्षेभ्यः पांसून् सिकताः अपः च) आंखोंके लिये धूली, बालूसे छाना जल प्राप्त कर । (यथा भागं हव्यदातिं जुषाणाः देवाः) यथायोग्य प्रमाणसे हव्यभागका सेवन करनेवाले देव (उभयानि हव्या मदन्ति) दोनों प्रकारके हव्य पदार्थ प्राप्त करके आनंदित होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— जो राष्ट्रका भरण और पोषण करनेवाले हैं उनको मैं प्रणाम करता हूं । वे इंद्रियों और शरीरको अपने स्वाधीन करनेवाले हैं । वे ही सब प्रजाओंको सदा सुख देते हैं । हमारे अंदर जो आपसमें कलह हो उसको मैं स्नेहसे शान्त करता हूं ॥ १ ॥

जलमें संचार करनेवालोंको घी दो । आंखोंके लिये रेतसे छाना जल लो । देवताओंको यथायोग्य हवन समर्पण कर, जिससे सब आनंदित हों ॥ २ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥ ३ ॥
आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान्प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥
यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥ ५ ॥
संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥
देवान्यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान्यद्बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

अर्थ— (**सूर्यं च हविर्धानं अन्तरा**) सूर्य और हविष्पात्रके मध्य स्थानमें जो (**सध-मादं**) एक साथ रहनेका स्थान है उसमें (**अप्सरसः मदन्ति**) अप्सराएं आनंदित होती हैं। (**ताः मे हस्तौ**) वे मेरे हाथोंको (**घृतेन संसृजन्तु**) घीसे युक्त करें। और (**मे कितवं सपत्नं रन्धयन्तु**) मेरे जुआरी शत्रुका नाश करें ॥ ३ ॥

(**प्रतिदीव्ने आ-दिनवं**) प्रतिपक्षीके साथ मैं विजयेच्छासे लडता हूं। (**घृतेन अस्मान् अभिक्षर**) घीसे हमें युक्त कर। (**यः अस्मान् प्रतिदीव्यति**) जो हमारे साथ प्रतिपक्षी होकर व्यवहार करता है, उसको (**अशन्या वृक्षं इव जहि**) बिजलीसे वृक्ष नाश होता है, वैसे नष्ट कर ॥ ४ ॥

(**यः नः द्युवे इदं धनं चकार**) जो हमें क्रीडादि व्यवहारके लिये यह धन देता है, (**यः अक्षाणां ग्रहणं शेषणं च**) जो अक्षोंका ग्रहण तथा विशेषीकरण करता है (**सः देवः इदं नः हविः जुषाणः**) वह देव इस हमारे हविका सेवन करे और हम (**गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम**) गन्धर्वोंके साथ एक स्थानमें आनंद करें ॥ ५ ॥

(**सं-वसवः इति वः नामधेयं**) 'सम्यक् रीतिसे वसानेवाले' इस अर्थमें आपका नाम है। आप (**उग्रं-पश्याः**) उग्र दृष्टिवाले (**राष्ट्र-भृतः**) राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले और (**अक्षाः**) राष्ट्रके मानो आंख ही हैं। हे (**इन्दवः**) ऐश्वर्यवानो! (**तेभ्यः वः हविषा विधेम**) उन तुमको हम हवि समर्पण करते हैं। (**वयं रयीणां पतयः स्याम**) हम धनके स्वामी बनें ॥ ६ ॥

(**यत् नाथितः देवान् हुवे**) जो आशीर्वाद प्राप्त करनेवाला मैं देवोंके लिये हवन करता हूं तथा (**यत् ब्रह्मचर्यं ऊषिम**) जो हमने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है। (**यत् बभ्रून् अक्षान् आलभे**) जो भरण करनेवाले अक्षोंको स्वीकार करता हूं, (**ते नः ईदृशे मृडन्तु**) वे हमें ऐसी अवस्थामें सुखी करें ॥ ७ ॥

भावार्थ— सूर्य और हविष्य पात्रके मध्यमें जो स्थान है, उसमें सबका रहनेका स्थान है। इस स्थानमें मुझे घी प्राप्त हो और जुआरीका नाश हो ॥ ३ ॥

प्रतिपक्षीपर मुझे विजय प्राप्त हो। हमें घी बहुत प्राप्त हो। जो हमारा प्रतिपक्षी हो उसका नाश हो ॥ ४ ॥

जो हमें व्यवहार करनेके लिये धन देते हैं, उनके साथ हम आनंदपूर्वक रहें ॥ ५ ॥

राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले वीर बडे उग्र स्वरूपके होते हैं। उनके कारण सब राष्ट्रके लोग अपने राष्ट्रमें सुखसे वसते हैं। उनको हम प्रजाजन करभार देते हैं और उनके प्रबंधसे हम धनके स्वामी बनें ॥ ६ ॥

मैं हवन करके देवोंका आशीर्वाद प्राप्त करता हूं। उसी कारण ब्रह्मचर्यव्रतका मैं पालन करता हूं। जो राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं उनके प्रयत्नसे हम सबको सुख प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

राष्ट्रका पोषण करनेवाले

यह सूक्त बडा दुर्बोध है और कई मंत्रभागोंका भाव कुछ भी ध्यानमें नहीं आता है। अतः इसकी अधिक खोज होना अत्यंत आवश्यक है। बडा प्रयत्न करनेपर भी इस समय इसकी संगति नहीं लग सकी। तथापि इस सूक्तपर जो विचार सूझे हैं, वे नीचे दिये हैं; जो खोज करनेवालोंके कुछ सहायक बनेंगे—

राष्ट्रभृत्

इसमें ' राष्ट्र-भृत् ' किंवा राष्ट्रीय स्वयंसेवक, राष्ट्र-भृत्य, राष्ट्रका भरण पोषण करनेवालोंका वर्णन है। राष्ट्रका (भृत्) भरण पोषण करनेवाले ' राष्ट्रभृत् ' कहलाते हैं। इनका नाम ' संवसवः ' (सं-वसु) है। उत्तम रीतिसे दूसरोंका निवास होनेके लिये जो प्रयत्न करते हैं उनका यह नाम है। ये (उग्र-पश्याः) उग्र रूपवाले होते हैं, जिनका स्वरूप उग्र अर्थात् वीरतायुक्त होता है। इनको (अक्षाः) अक्ष भी कहते हैं अर्थात् ये राष्ट्रके आंख होते हैं। इनके आंखसे मानो राष्ट्र देखता है। ' अक्ष ' का दूसरा अर्थ गाडीके दोनों चक्रोंके मध्यमें रहनेवाली डंडी भी होता है। मानो ये राष्ट्रभृत्य राष्ट्र चक्रका मध्यदण्ड ही है, इन्हींके ऊपर राष्ट्रका चक्र घूमता है। ' अक्ष ' शब्दके अन्य अर्थ ' आत्मा, ज्ञान, नियम, आधारसूत्र ' हैं। पाठक विचार करेंगे तो उनको निश्चय होगा, कि ये अर्थ भी इनके विषयमें सार्थ हो सकते हैं। (मं० ६)

इनको लोग (तेभ्यः हविषा विधेम) अन्नादि दें, उनको राज्यव्यवस्थाके लिये करभार दें और उनके इंतजाममें रहकर (रयीणां पतयः स्याम) हम सब प्रजाजन धन-धान्यके स्वामी होंगे। प्रजा राजप्रबंधके लिये कर देवे और राष्ट्रसेवक राष्ट्रका ऐसा उत्तम इंतजाम करें कि जिस प्रबंधमें रहकर राष्ट्रके लोग धनधान्यसंपन्न हों। (मं० ६)

ये (उग्राय) उग्र वीर राष्ट्रका (बभ्रु) भरण-पोषण करनेवाले हैं किंवा ये भूरे रंगवाले या गन्नमी रंगवाले हैं। इनको (इदं नमः) यह नमस्कार हम करते हैं क्योंकि इनके कारण हमें (सः नः ईदृशे मृडाति) ऐसी बिकट अवस्थामें भी सुख होता है। (यः अक्षेषु तनूवशी) जो इन राष्ट्रके आधारभूत वीरोंमें अपने शरीरको स्वाधीन करनेवाला है वही विशेष प्रभावशाली है और वही सबसे अधिक योग्य है। (मं० १)

आपसी झगडे दूर करनेका उपाय

आपसके झगडोंका नाम ' कलि ' है। यह कलि सर्वथा नाश करनेवाला है। आपसके कलहोंसे एकका दूसरेके साथ संघर्षण होता है, इस घर्षणसे जो अग्नि उत्पन्न होती है वह दोनोंको जलाती है। इन दोनोंके मध्यमें कुछ तेल या घी डालनेसे संघर्षण कम होता है। यंत्रमें दो चक्रोंका जहां संघर्षण होता है वहां वे दोनों तपते हैं, वहां तेल छोडते हैं तो उनका संघर्षण कम होता है और वे तपते नहीं। कलिको दूर करनेका भी यही उपाप है। (घृतेन कलिं शिक्षामि) घीसे आपसी कलह दूर करनेकी शिक्षा मिलती है। यंत्रचक्रोंका संघर्षण जैसा घीसे कम होता है, उसी प्रकार दो मनुष्यों या दो समाजोंका झगडा भी पारस्परिक स्नेहके वर्तावसे कम हो सकता है। अतः स्नेह (तेल या घी) संघर्षण कम करनेवाला है। यह स्नेह बढानेसे आपसका झगडा दूर होता है। (मं० १)

आपसका झगडा दूर करनेका यह अद्वितीय उपाय है। इससे जैसा वैयक्तिक लाभ हो सकता है, उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय शान्तिका भी लाभ हो सकता है।

द्वितीय मंत्र समझमें आना कठीण है (मं० २)। ' अप्सरस् ' शब्दका एक अर्थ प्रसिद्ध है। उससे भिन्न दूसरा अर्थ (अप्-सरः) जलमें संचार करनेवाले, किंवा ' अपस् ' नाम ' कर्म ' का है। कर्मके साथ जो संचार करते हैं वे ' अप्सरस् ' कहे जायंगे। ये कर्मचारी (सध-मादं मदन्ति) एक स्थानपर रहना पसंद करते हैं। कर्मचारियोंके लिये एक सुयोग्य स्थान हो। ऐसा स्थान होनेसे उनको आनंद हो सकता है। इन सबको घी विपुल मिलना चाहिये और उसी प्रमाणसे अन्य खानपानके पदार्थ भी मिलने चाहिये। अर्थात् कर्मचारियोंकी अवस्था उत्तम रहनी चाहिये। सबको कार्य प्राप्त हो और सबको खानपान भी विपुल मिले।

(मे सपत्नं कितवं रन्धयन्तु) मेरा प्रतिपक्षी जुआरी नाशको प्राप्त हो। मेरा शत्रु भी नाशको प्राप्त हो और जुआरी भी न रहे। आपसकी शत्रुता जैसी बुरी है उसी प्रकार जुआ खेलना भी बहुत बुरा है। (मं० ३)

(प्रतिदीव्ने आदिनवं) प्रतिपक्षी होकर युद्ध करनेको कोई खडा हो, तो उसके साथ युद्ध करनेकी तैयारी मैं रखता हूं; ऐसा हरएक मनुष्य कहे। ऐसी तैयारी हरएक मनुष्य रखे। अर्थात् हरएक मनुष्य बलवान् बने जिससे उनको शत्रुसे डरनेका कोई कारण न रहे। (यः प्रतिदीव्यति जहि) जो विरुद्ध पक्षी होकर युद्ध करनेको आवे उसका नाश कर। यह सर्वसामान्य आज्ञा है। शत्रुको दूर करनेकी तैयारी हरएकको करना ही चाहिये। (मं. ४)

(यः नः द्युवे धनं चकार) जो हमें क्रीडादिव्यवहारके लिये धन देता है उसको हम भी कुछ प्रत्युपकारके रूपमें दे दें। इस मंत्रभागमें जो 'द्युवे, दीव्ने' आदि शब्द हैं, उनमें 'दिव्' धातु है इस धातुके अर्थ 'क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति, प्रकाश, दान' इत्यादि हैं। प्रायः लोग पहिला 'क्रीडा' अर्थ लेते हैं और ऐसे शब्दोंका अर्थ 'जूआ' करते हैं। ये लोग 'विजिगीषा व्यवहार' आदि अर्थ देखते नहीं। यदि इन अर्थोंका इस मंत्रमें स्वीकार किया जाय, तो संगति लगनेमें बडी सहायता होगी। इसमें जैसा क्रीडा अर्थ है उसी प्रकार अन्य विजयेच्छा व्यवहार आदि भी अर्थ हैं। ये अर्थ लेनेसे 'यः नः द्युवे धनं चकार' इस मंत्रभागका अर्थ 'जो हमारे विजयके कार्यके लिये हमें धन देता है, जो हमारे विविध व्यवहार करनेके लिये धन देता है' इत्यादि अर्थ हो सकते हैं और ये अर्थ बहुत बोधप्रद हैं। जो व्यवहारके लिये हमें धन दे उसको प्रत्युपकारके लिये हम भी लाभका कुछ भाग दें। (मं. ५)

हम (ब्रह्मचर्य ऊषिम) ब्रह्मचर्यका पालन करें, वीर्यका नाश न करें और बडे लोगोंसे (नाथितः) आशीर्वाद प्राप्त करें जिससे हमारा कल्याण होगा। (मं. ६)

यह सूक्त बडा कठिन है, तथापि ये कुछ सूचक विचार है कि जिससे इस सूक्तकी खोज हो सकेगी।

शत्रुका नाश

[११० (११५)]

(ऋषिः- भृगुः। देवता- इन्द्राग्नी।)

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥
याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥ २ ॥
उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! तू और (इन्द्रः च) इन्द्र मिलकर (दाशुषे) दान देनेवालेके लिये (वृत्राणि अप्रति हतः) शत्रुओंको विना भूले मारो। क्योंकि (उभा) तुम दोनों (हि वृत्रहन्तमा) शत्रुका नाश करनेवाले हैं ॥ १ ॥

(याभ्यां अग्रे एव स्वः अजयन्) जिन दोनोंकी सहायतासे पहिले ही स्वर्गलोकको जीत लिया था। (यौ विश्वा भुवनानि आतस्थतुः) जो जो दोनों संपूर्ण भुवनोंमें व्यापते हैं। (प्र-चर्षणी) मनुष्य श्रेष्ठ, (वृषणा) बलवान्, (वृत्र-हणौ वज्रबाहू) शत्रुका वध करनेवाले शस्त्रधारी (अग्निं इन्द्रं अहं हुवे) अग्नि और इन्द्रको मैं बुलाता हूं ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (बृहस्पतिः देवः त्वा चमसेन उप अग्रभीत्) ज्ञानपति देव तुझे चमससे प्रदान करता है। (सुन्वते यजमानाय) सोमयाजी यजमानके कारण (नः गीर्भिः आविश) हमारे किये हुए स्तुतिके साथ यहां प्रवेश कर ॥ ३ ॥

सन्तानका सुख

[१११ (११६)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- वृषभः।)

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधान आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥ १ ॥

अर्थ— तू (इन्द्रस्य कुक्षिः असि) इन्द्रका पेट है, तू (सोम-धानः) सोमका धारक है। तू (देवानां मानुषाणां आत्मा) देवों और मनुष्योंका आत्मा है। (इह प्रजाः जनय) यहां संतान उत्पन्न कर। (याः ते आसु) जो तेरी प्रजाएं इन भूमियोंमें निवास करती हैं, (याः अन्यत्र) और जो दूसरे स्थानमें निवास करती हैं। (ते ताः रमन्तां) वे तेरी प्रजाएं सुखसे रहें ॥ १ ॥

*

मनुष्य इन्द्र अर्थात् इंद्रियोंको शक्ति देनेवाले आत्माका भोग-संग्रह करनेका मानो पेट ही है, इस पेटमें सोमादि वनस्पतिका संग्रह किया जावे, अर्थात् शाकाहार किया जावे। मांसाहार सर्वथा निषिद्ध है। ऐसा परिशुद्ध मनुष्य इस संसारमें उत्तम संतान उत्पन्न करे, प्रजा अपने देशमें रहे या परदेशमें रहे, वह कहां भी रहे। जहां रहे वहां आनंदसे रहे। सुख और ऐश्वर्य भोगे। सुखपूर्वक रहे।

पापसे छुटकारा

[११२ (११७)]

(ऋषिः- वरुणः। देवता- आपः, वरुणश्च।)

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥

अर्थ— (द्यावा-पृथिवी शुम्भनी) द्युलोक और पृथ्वीलोक ये (महिव्रते अन्ति-सुम्ने) बडा कार्य करनेवाले, और समीपसे सुख देनेवाले हैं। (सप्त देवीः आपः) सात दिव्य नदियां यहां (सुस्रुवः) बहती हैं। (ताः नः अंहसः मुञ्चन्तु) वह हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(मा शपथ्यात्) मुझे शापसे (अथो उत वरुण्यात्) और वरुण देवके क्रोधसे (मुञ्चन्तु) बचावें। (अथो यमस्य पड्वीशात्) और यमके बंधन तथा (विश्वस्मात् देव-किल्बिषात्) सब देवोंके प्रति किये दोषसे मुक्त करें ॥ २ ॥

ये द्युलोक और पृथ्वीलोक बडे सुखदायक हैं। यहां बहनेवाली सात नदियां हमें पापसे और सब प्रकारके वाचिक, शारीरिक दोषोंसे बचावें। आध्यात्मिक पक्षमें सात प्रवाह, पंच ज्ञानेंन्दियां और मन बुद्धि ये हैं। आत्मासे ये सात नदियां इस प्रकार बहती हैं—
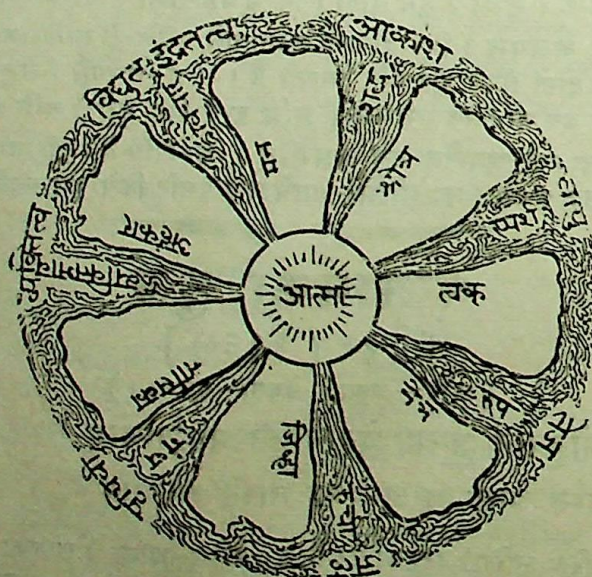
ये सात प्रवाह हमें सब पापोंसे बचावें और पापमुक्त करें। निःसन्देह ये नदियां पापसे बचानेवाली हैं।

तृष्णाका छेद

[११३ (११८)]

(ऋषिः- भार्गवः । देवता- तृष्टिका ।)

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके । यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥
तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि । परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

अर्थ—हे (तृष्टिके तृष्टिके) हीन तृष्णा ! हे (तृष्टवन्दने) लोभमयी ! (अमूं उत् छिन्धि) इसको काटो । (यथा अमुष्मै शेप्यावते) जिससे इस बलशाली पुरुषका (कृत-द्विष्टा असः) द्वेष करनेवाली तू होती है ॥ १ ॥

(तृष्टा तृष्टिका असि) तू तृष्णा, लोभमयी है । (विषा विषातकी असि) तू विषैली और विषमयी हो । (यथा परिवृक्ता अससि) जिससे तू धरने योग्य है (इव ऋषभस्य वशा) बैलके लिये जैसी गाय होती है ॥ २ ॥

तृष्णा लोभवृत्ति बडी विषमयी मनोवृत्ति है । वह सबको काटती है । यह सब बलवानोंका द्वेष करती है । यह एक प्रकारकी विषमयी मनोवृत्ति है, अतः इसको घेरकर दबावमें रखना योग्य है । यह वृत्ति कभी मनुष्य पर सवार न हो, परंतु मनुष्यके आधीनमें रहे ।

दुष्टोंका नाश

[११४ (११९)]

(ऋषिः- भार्गवः । देवता- अग्नीषोमौ ।)

आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद्ददे ।
आ ते मुखस्य संकाशात्सर्वं ते वर्च आ ददे ॥ १ ॥
प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

अर्थ— (ते वक्षणाभ्यः वर्च आददे) तेरी छातीसे मैं बल प्राप्त करता हूं । (अहं हृदयात् आददे) मैं तेरे हृदयसे बल लेता हूं । (ते मुखस्य सङ्काशात्) तेरे मुखके पाससे (ते सर्वं वर्चः आददे) तेरा सब तेज मैं प्राप्त करता हूं ॥ १ ॥

(इतः व्याध्यः प्रयन्तु) यहांसे व्याधियां दूर हो जायँ । (अनुध्याः प्र) दुःख दूर हों, (अशस्तयः प्र उ) अकीर्तियाँ भी दूर हों । (अग्निः रक्षस्विनीः हन्तु) अग्नि राक्षसिनीयोंका वध करे । (सोमः दुरस्यतीः हन्तु) और सोम दुराचारिणीयोंका नाश करे ॥ २ ॥

अपने छाती, हृदय, मुख आदि सब अवयवोंका बल बढाना चाहिये । और व्याधियां, आपत्तियां, पीडाएं और अकीर्तियां दूर करना चाहिये, तथा दुराचारिणी स्त्रियोंको भी दूर करना चाहिये ।
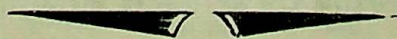
पापी लक्षणोंको दूर करना

[११५ (१२०)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः । देवता- सविता, जातवेदाः ।)

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥
या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥ २ ॥
एकशतं लक्ष्म्योऽ मर्त्यस्य साकं तन्वाऽ जनुषोऽधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥
एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (पापि लक्ष्मि) पापमय लक्ष्मी ! (इतः प्र पत) यहांसे दूर जा । (इतः नश्य) यहांसे चली जा (अमुतः प्रपत) वहांसे भी हट जा । (अयस्मयेन अंकेन) लोहेके कीलसे (त्वा द्विषते आ सजामसि) तुझे द्वेषीके लिये रखते हैं ॥ १ ॥

(या पतयालुः अजुष्टा लक्ष्मीः) जो गिरानेवाली सेवन करने अयोग्य लक्ष्मी (मा अभिचस्कन्द) मेरे उपर आगई है, (वन्दना वृक्षं इव) जैसी वेल वृक्षपर चढती है। हे (सवितः) सविता देव! (तां इतः अन्यत्र अस्मत् धाः) उसको यहांसे हमसे दूसरे स्थानपर रख । (हिरण्यहस्तः नः वसु रराणः) सुवर्णके आभूषण धारण करनेवाला तू हमें धन दे ॥ २ ॥

(मर्त्यस्य तन्वा साकं) मनुष्यके शरीरके साथ (जनुषः अधि) जन्मते ही (एकशतं लक्ष्म्यः जाताः) एकसौ एक लक्ष्मियां उत्पन्न हो गई हैं । तासां पापिष्ठाः इतः निः प्रहिण्मः) उनमें पापी लक्ष्मीको यहांसे हम दूर करते हैं । हे (जातवेदः) ज्ञानी देव ! (शिवाः अस्मभ्यं नि यच्छ) और जो कल्याणमय लक्ष्मी हैं वे हमें प्रदान कर ॥ ३ ॥

(खिले विष्ठिताः गाः इव) चराऊ भूमिपर बैठी गौवोंके समान (एताः एनाः वि-आकरं) इन इन वृत्तियोंको मैं अलग अलग करता हूं । (याः पुण्याः लक्ष्मीः रमन्तां) जो पुण्यकारक लक्ष्मियां हैं, वे यहां आनन्दसे रहें । (याः पापीः ताः अनीनशं) और जो पापी वृत्तियां हैं उनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिस प्रकारके ऐश्वर्यसे पाप होता है, उस प्रकारका ऐश्वर्य मेरे पास न रहे । वह तो बहुत बुरा है, अतः वह हमारे शत्रुके पास जाकर स्थिर होवे ॥ १ ॥

जो गिरानेवाला ऐश्वर्य मेरे पास आगया है वह मुझसे दूर होवे और हमें शुभ ऐश्वर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

मनुष्यको जन्मके साथ एकसौ एक शक्तियां प्राप्त होती हैं, उनमें कई पापमय हैं और कई पुण्ययुक्त हैं। पापी हमसे दूर हों और शुभ हमारे पास आजायं ॥ ३ ॥

मैं इनको पृथक् करता हूं । जो पुण्यकारक हैं वे मेरे पास रहें और जो पापी हों वह मुझसे दूर हो जांय ॥ ४ ॥

मनुष्य उत्पन्न होते ही उसके शरीरमें सैंकडों शक्तियां स्वभावतः रहती हैं। उनमें कुछ बुरी हैं और कुछ अच्छी होती हैं। अच्छी शक्तियां अथवा वृत्तियां जो हों उनको अपने अन्दर रखना और बढाना चाहिये, तथा जो बुरी वृत्तियां हों उनको दूर करना चाहिये। (मं. ३)

चराऊ भूमीमें अनेक गौवें बैठती हैं, उनमें कई श्वेत रंगकी हैं और कई काले रंगकी हैं, यह जैसा पहचाना जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्तियां और वृत्तियां पहचानना चाहिये। और शुभवृत्तियोंकी वृद्धि और अशुभ हीन हानिकारक वृत्तियोंका नाश करना चाहिये। (मं. ४)

' लक्ष्मी ' का अर्थ है ' चिन्ह '। अपने अन्दर कौनसे चिन्ह बुरे हैं और कौनसे अच्छे हैं, इसकी परीक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है। मनुष्यके वर्तावमें ये चिन्ह दिखाई देते हैं। ये देखकर ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे उसमें शुभलक्षणोंकी वृद्धि हो और अशुभ लक्षण घट जांये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है।

ज्वर

[११६ (१२१)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः। देवता- चन्द्रमाः।)

नमो॑ रू॒राय॑ च्य॒वना॑य॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑। नमः॑ शी॒ताय॑ पूर्वकाम॒कृत्व॑ने ॥ १ ॥

यो अ॑न्येद्यु॒रु॑भयद्यु॒र॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॑त्वव्र॒तः ॥ २ ॥

अर्थ— (रूराय) दाह करनेवाले, (च्यवनाय) हिलानेवाले, (नोदनाय) भडकानेवाले, (धृष्णवे) डरानेवाले भयानक, (शीताय) शीत लग कर आनेवाले और (पूर्वकृत्वने) पूर्वकी अवस्थाको काटनेवाले ज्वरके लिये (नमः नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

(यः अन्ये-द्युः) जो एक दिन छोडकर आनेवाला है, (उभय-द्युः) दो दिन छोडकर (अभ्येति) आता है अथवा जो (अव्रतः) नियम छोडकर आता है वह (इमं मण्डूकं अभ्येतु) इस मेंडकके पास जावे ॥ २ ॥

इस सूक्तमें नौ प्रकारके ज्वरोंका वर्णन है इनके लक्षण देखिये—

१ रूरः— जिस ज्वरमें शरीरका दाह होता है। यह संभवतः पित्तज्वर है।

२ च्यवनः— यह ज्वर आनेपर शरीर कांपने लगता है। यह ज्वर अतिशीत लगकर आता है।

३ नोदनः— यह ज्वर आनेपर मनुष्य पागलसा बनता है। मस्तिष्कपर इसका भयानक परिणाम होता है।

४ धृष्णुः— इससे मनुष्य भयभीत होते हैं, रोगी बडा बेचैनसा होता है।

५ शीतः— सर्दीसे आनेवाला यह ज्वर है।

६ पूर्वकृत्वन्— शरीरकी ज्वरपूर्व अवस्थाको काट देनेवाला यह ज्वर है, अर्थात् इसके आनेसे शरीरके सब अवयव बिगड जाते हैं।

७ अन्येद्युः— एकदिन छोडकर आनेवाला ज्वर।

८ उभयद्युः— दो दिन छोडकर आनेवाला ज्वर।

९ अव्रतः— जिसके आनेका कोई नियम नहीं है।

ये नौ प्रकारके ज्वर हैं। इनके शमनके उपाय इससे पूर्व बताये हैं। वेदमें वृत्रके वर्णनसे ज्वर चिकित्सा (वेदे वृत्र-मिषेण ज्वरचिकित्सा) होती है। अर्थात् जैसा वृष्टि होकर वृत्र नाश होता है, उसी प्रकार पसीना आनेसे इस ज्वरका नाश होता है। अतः पसीना लाना इस ज्वरनिवारणका उपाय है।

शत्रुका निवारण

[११७ (१२२)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः । देवता- इन्द्रः ।)

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिद्वि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥ १ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (मन्द्रैः मयूररोमभिः हरिभिः आयाहि) सुन्दर मोरके पंखोंके समान सुंदर पुच्छवाले घोडोंके साथ यहां आ। (पाशिनः विं न) जैसे पक्षिको जालमें पकडते हैं उस प्रकार (त्वा केचित् मा वि यमन्) तुझे कोई न पकडे। (धन्व इव तान् अति इहि) रेतीले स्थानपरसे जैसे गुजरते हैं वैसे उनका अतिक्रमण कर ॥ १ ॥

इन्द्र (इन्+द्र) शत्रुका विदारण करनेवाले वीरका यह नाम है। ऐसे वीर सुंदर घोडोंपर अथवा ऐसे घोडोंवाले रथपर सवार होकर स्थान स्थानमें जांय। उनको प्रतिबंध करनेवाला कोई न हो । येही दुष्टोंको रोके और उनको दबाकर प्रतिबंधमें रखें।

विजयकी प्रार्थना

[११८ (१२३)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः । देवता- चन्द्रमाः, वरुणः, देवः ।)

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

अर्थ— (ते मर्माणि वर्मणा छादयामि) तेरे मर्मस्थानोंको कवचसे मैं ढकता हूं। (सोमः राजा त्वा अमृतेन अनुवस्तां) सोम राजा तुझे अमृतसे आच्छादित करे। (वरुणः ते उरोः वरीयः कृणोतु) वरुण तेरे लिये बडेसे बडा स्थान देवे। (जयन्तं त्वा देवाः अनुमदन्तु) विजय पानेवाले तुझे देखकर सब देव आनन्द करें ॥ १ ॥

युद्धके लिये बाहर जानेके समय वीर लोग अपने शरीर पर कवच धारण करें। इस प्रकार तैयार होकर वीर आनन्दसे शत्रुपर हमला करनेके लिये चलें और विजय प्राप्त करें। मनमें निश्चय रखें कि, सत्पक्षमें रहकर लडनेवाले वीरको सब देव सहाय्य करते हैं और उसके विजयसे आनंदित भी होते हैं। जिनसे विजयके कारण देवोंको आनन्द होगा, ऐसे ही वीर अपनेमें बढाने चाहिये।

॥ सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

अथर्ववेदका स्वाध्याय

सप्तम काण्डकी विषयसूची

मुद्रक और प्रकाशक—
व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसाड]

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

अष्टमं काण्डम् ।

लेखक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार

पारडी [जि. वलसाड]

संवत् २०२८, शक १८९४, सन् १९७२

*

तृतीय आवृत्ति

*

मुद्रक और प्रकाशक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर,
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मण्डल,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)'
पारडी [जि. वलसाड]

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

अष्टम काण्ड।

सूक्तविवरण

इस अष्टम काण्डका प्रारंभ ' दीर्घ आयु ' देवताके सूक्तोंसे हुआ है। संपूर्ण प्राणिमात्रोंके लिये अल्पायु कष्टदायक और दीर्घायु सुखदायक है। अतः यह देवता ' मंगल ' है। अल्पायुताका निवारण करना और दीर्घायु प्राप्त करना मनुष्यके लिये मुख्यतः अभीष्ट है। यही प्रारंभके दो सूक्तोंका विषय है।

काण्ड ८ से काण्ड ११ के अन्ततकके चारों काण्डोंकी प्रकृति बीससे अधिक मंत्रवाले सूक्तोंकी है। प्रायः अनेक सूक्तोंमें बीससे पचीसतक मंत्र हैं। कुछ थोडे सूक्तोंमें थोडेसे अधिक भी मंत्र हैं। इन सूक्तोंको ' अर्थ-सूक्त ' कहते हैं। इन काण्डोंमें तथा आगेभी जो पर्याय सूक्त हैं, उनमें मंत्रोंकी संख्या कम है। परंतु सब पर्याय मिलकर जब एकही सूक्त है ऐसा माना जाता है, तब सूक्तकी मंत्रसंख्या बढ जाती है। इस अष्टम काण्डमें अन्तिम सूक्त इस प्रकारका पर्याय सूक्त है और इस एक सूक्तमें छः पर्याय है, अर्थात् यह छोटे छः सूक्तोंका बडा सूक्त हुआ है। आगेके काण्डोमें इस प्रकार पर्यायसूक्त है—

आठवें काण्डमें	१० वें सूक्तमें	६ पर्याय सूक्त हैं।
नववें ,,	६ ,,	६ ,, ,,
नववें ,,	७ ,,	१ ,, ,,
ग्यारहवें ,,	३ रे ,,	३ ,, ,,
बारहवें ,,	५ वें ,,	७ ,, ,,
तेरहवें ,,	४ थे ,,	६ ,, ,,
पंद्रहवें ,,	—	१८ ,, ,,
सोलहवें ,,	—	९ ,, ,,

आगेके काण्डोंमें ये पर्याय पाठक देखेंगे और शेष अर्थसूक्त भी पाठक देखेंगे। इनका नाम अर्थसूक्त क्यों हुआ है इसका वर्णन आगे योग्य स्थानपर करेंगे। यहां इस स्थानपर इस काण्डके अनुवाकोंमें सूक्तसंख्या और मंत्रसंख्या कैसी है, यह देखिये—

*

अनुवाक	सूक्त	दशति विभाग	पर्यायसंख्या	मंत्रसंख्या
१	१	१० + ११		२१
	२	१० + १० + ८		२८
२	३	१० + १० + ६		२६
	४	१० + १० + ५		२५
३	५	१० + १२		२२
	६	१० + १० + ६		२६
४	७	१० + १० + ८		२८
	८	१० + १४		२४
५	९	१० + १० + ६		२६
	१०		६	३३
				२५९

मंत्रसंख्याकी दृष्टीसे यह काण्ड तृतीय स्थानमें आ सकता है। (१) द्वितीय काण्डकी २०७, (२) तृतीयकी २३०, (३) अष्टमकी २५९ (४) सप्तम काण्डकी २८६, (५) चतुर्थकी ३२४, (६) पञ्चमकी ३७६ और (७) षष्ठकी ४५४ मंत्रसंख्या है। सप्तम काण्डके अन्ततक कुल मंत्रसंख्या २१०७ हो चुकी है, इसमें अष्टम काण्डकी २५९ मिलानेसे अष्टम काण्डके अन्ततक कुल मंत्रसंख्या २३६६ होगी।

अब इस काण्डके ऋषि-देवता-छन्द देखिये—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द

प्रथमोऽनुवाकः। अष्टादशः प्रपाठकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	२१	ब्रह्मा	आयु	त्रिष्टुप्। १ पुरोबृ० त्रिष्टुप्। २, ३, १७-२१ अनुष्टुभः। ४, ९, १५, १६ प्रास्तारपंक्तयः। ७, त्रिपाद्विराड् गायत्री। ८ विराट् पथ्याबृहती। १२ त्र्यव० पञ्चपदा जगती। १३ त्रिपा० भूरिक् महाबृहती। १४ एकाव० द्विपदा साम्नी भु० बृहती।
२	२८	ब्रह्मा	आयुः	त्रिष्टुप्। १, २, ७ भुरिजः। ३, २६ आस्तारपंक्तिः। ४ प्रस्तारपंक्तिः। ६-१५ पथ्यापंक्तिः। ८ पुर० ज्योतिष्मती जगती। ९ पञ्चपदा जगती। ११ विष्टारपंक्तिः। १२, २२, २८ पुर० बृहत्यः। १४ त्र्यव० षट्प० जगती। १९ उप० बृहती। २१ सतः पंक्तिः। ५, १०, १३-१६, २०, २३-२५, २७ अनुष्टुभः। १७ त्रिपाद्।

द्वितीयोऽनुवाकः।

३	२६	चातनः	अग्निः	त्रिष्टुप्। ७, १२, १४, १५, १७, २१ भुरिजः। २५ पञ्चपद बृहतीगर्भा जगती। २२, २३ अनुष्टुभौ। २६ गायत्री
४	२५	चातनः	मंत्रोक्तदेवताः	जगती। ८—१४, १६, १७, १९, २२, २४ त्रिष्टुभः। २०, २३ भुरिजौ। २५ अनुष्टुप्।

तृतीयोऽनुवाकः।

५	२२	शुक्रः	कृत्यादूषणं, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुभ्। १, ६ उपरि० बृहती। २ त्रि० वि० गायत्री। ३ चतु० भु० जगती। ५ संस्तारपंक्तिर्भुरिग्। ३ उपरि० बृहती। ७, ८ ककुम्मत्यौ। ९ चतु० पुरस्कृतिर्जगती। १० त्रिष्टुप्। ११ पथ्यापंक्तिः। १४ त्र्यव० षट्प० जगती। १५ पुरस्ताद्बृहती। १९ जगतीगर्भा त्रिष्टुप्। २० विराड्गर्भा आस्तारपंक्तिः। २१ पराविराट् त्रिष्टुप्। २२ त्र्यव० सप्तप० विराड्गर्भा भुरिक्।

[एकोनविंशः प्रपाठकः]

६	२६	मातृनामा	मंत्रोक्ताः	अनुष्टुभ्। २ पुर० बृहती। १० त्र्यवसा० षट्पदा जगती। ११, १२, १४, १६ पथ्यापंक्तिः ४, १५ त्र्यव० सप्तप० शक्वरी। १७ त्र्य० सप्तप० जगती।

चतुर्थोऽनुवाकः।

७	२८	अथर्वा	ओषधयः	अनुष्टुभ्। २ उप० भुरिग्बृहती। ३ पुरउष्णिक्। ४ पञ्चपदापरा अनु० अतिजगती। ५, ६, १०, २५ पथ्यापंक्तयः। १२ पञ्चप० विराडतिशक्वरी। १४ उप० निचृ० बृहती। २६ निचृत्। २८ भुरिक्।
८	२४	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः इन्द्रः, परसेनाहननम्	अनुष्टुप्। २ उपरि० बृहती। ३ विराड् बृहती। ४ बृ० पुर० प्र० पंक्तिः। ६ आस्तारपंक्तिः। ७ विप० पादलक्ष्मा चतु० अतिजगती। ८–१० उपरि० बृहती। ११ पथ्याबृहती। १२ भुरिक्। १९ वि० पुर० बृहती। २० नि० पु० बृहती। २१ त्रिष्टुप्। २२ चतुष्पदा शक्वरी। २३ उप० बृहती। २४ त्र्यव० उष्णिग्गर्भा शक्वरी पञ्चपदाजगती।

पञ्चमोऽनुवाकः।

९	२६	अथर्वा, कश्यपः, सर्वे वा ऋषयः।	विराट्	त्रिष्टुभ्। २ पंक्तिः। ३ आस्तारपंक्तिः। ४, ५, २३, २५ २६ अनुष्टुभः। ८, ११, १२, २२ जगत्यः। ९ भुरिक्। १४ चतु० जगती।
१० (१)	१३	अथर्वाचार्यः		विराट्। १ त्रिपदार्ची पंक्तिः। (प्र०) २–७ याजुष्यः जगत्यः। जगत्यः। (द्वि.) २,५ साम्न्यनुष्टुभौ। (द्वि.) ३ आर्ची अनुष्टुप्। (द्वि.) ४, ७ विराड् गायत्र्यौ। (द्वि.) ६ साम्नी बृहती।

(२)	१०	,,	,,	१, त्रिपदा साम्नी अनुष्टुप्। २ उष्णिग्गर्भा चतु० उप० विराड्बृहती। ३ एकप० यजुषो गायत्री। ४ एकप० साम्नी पंक्तिः। ५ विराड् गायत्री। ६ आर्ची अनुष्टुप्। ७ साम्नी पंक्तिः। ८ आसुरी गायत्री। ९ साम्नी अनुष्टुप्। १० साम्नी बृहती। १
(३)	८	,,	,,	(१) चतुष्पदा नि० अनुष्टुप्। २ (२) आर्ची त्रिष्टुप्। ३, ५, ७ (१) चतुष्पदः प्राजापत्याः पंक्तयः। ४, ६, ८ (२) आर्च्यो बृहत्यः।
(४)	१६	,,	,,	१, ५ साम्नां जगत्यौ। २, ६, १० साम्नां बृहत्यः। ३, ४, ८ आर्च्यनुष्टुभः। ९, १३ चतुष्पादुष्णिहौ। ७ आसुरी गायत्री। ११ प्राजापत्यानुष्टुप्। १२, १६ आर्च्यौ त्रिष्टुभौ। १४, १५ विराड् गायत्र्यौ।
(५)	१६	,,	,,	१, १३ चतुष्पादे साम्नां जगत्यौ। १०, १४ साम्नां बृहत्यौ। १ साम्नी उष्णिग्। ४, १६ आर्च्यनुष्टुभौ। ९ उष्णिक्। ८ आर्ची त्रिष्टुप्। २ साम्नी उष्णिक्। ७, ११ विराड् गायत्र्यौ। ५ चतुष्पदा प्राजापत्या जगती। ९ साम्नां बृहती त्रिष्टुप्। १५ साम्नी अनुष्टुप्।
(६)	४	,,	,,	१ द्विपदा विराड्गायत्री। २ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्। ३ द्वि० प्राजापत्या अनुष्टुप्। ४ द्वि० आर्ची उष्णिग्।

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके ऋषि-देवता-छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ ब्रह्मा ऋषिके १,२ ये दो सूक्त हैं।
२ चातन ,, ३,४ ,, ,,
३ अथर्वा ,, ७,९ ,, ,,
४ अथर्वाचार्य ऋषिका १० वां एक सूक्त है।
५ शुक्र ,, ५ ,, ,,
६ मातृनामा ,, ६ ,, ,,
७ भृग्वंगिराः ,, ८ ,, ,,
८ कश्यप ,, ९ ,, ,,
९ सर्वे ऋषयः ,, ९ ,, ,,

इस प्रकार नौ ऋषियोंके देखे मंत्र इस अष्टम काण्डमें हैं। तथापि इनमें अथर्वाचार्य नामक एक अलग ऋषि सर्वानुक्रमणीकारने माना है। वस्तुतः देखा जाय तो 'आचार्य' शब्द कभी ऋषिके साथ नहीं आता। अतः यह अथर्वा ऋषि ही होगा। यदि इसे अथर्वा ही माना जाय तो एक ऋषि कम हुआ और आठही शेष रहे। 'सर्वे ऋषयः' यह एक सूक्तका ऋषि माना है। परंतु यह अलग ऋषि नहीं है। क्योंकि इस काण्डके 'ब्रह्मा, चातन, अथर्वा, शुक्र, मातृनामा, भृग्वंगिरा और कश्यप' ये सात ऋषिही 'सर्वे ऋषयः' का यहां इस काण्डमें तात्पर्य है, अतः यह एक नाम कम करना युक्त है। अर्थात् शेष सात ऋषि रहे, जिनके देखे हुए मंत्र इस काण्डमें हैं। 'अथर्वा' और 'अथर्वाचार्य' को यदि एकही माना जाय, तो इस काण्डमें अथर्वा ऋषिके सूक्तही अधिक हैं। इस विषयमें सप्तम काण्डकी भूमिकामें लिखा देखें पाठक अवश्य देखें।

अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

१ मंत्रोक्त देवताके	४—६	ये	३	सूक्त हैं ।
२ आयु ,,	१, २	,,	२	,,
३ विराट् देवताके	९, १०	ये	२ दो	सूक्त हैं ।
४ अग्नि देवताका	३	यह एक सूक्त है ।		
५ कृत्यादूषण ,,	५	,,	,,	
६ ओषधय: ,,	७	,,	,,	
७ वनस्पति ,,	८	,,	,,	
८ इन्द्र ,,	८	,,	,,	
९ परसेनाहनन,,	८	,,	,,	

इस प्रकार नौ देवताके सूक्त इस काण्डमें हैं, तथापि ' मंत्रोक्तदेवता ' यह अनेक देवताओंका सामान्य नाम है । इस लिये इन्द्रादि जो अनेक देवताएं इसमें आगयीं हैं, उन सबको मिलानेसे कई देवताओंका वर्णन इस काण्डमें है, यह बात सिद्ध हो जायगी । इसी प्रकार ' ओषधि और वनस्पति ' ये दोनों संभवत: एकही देवता हैं। देवताओंकी संख्या निश्चित करनेमें इन बातोंका विचार करना आवश्यक है । इस काण्डमें निम्नलिखित गणोंके मन्त्र हैं—

१ आयुष्यगणके १, २ ये दो सूक्त हैं ।
२ स्वस्त्ययनगण का ५ वां सूक्त है ।
३ पुष्टिक मंत्र ५ वें सूक्तमें हैं ।
४ महाशान्ति और रौद्री शान्तिके मंत्र ५ वें सूक्तमें हैं ।

इस प्रकार इन गणोंके मंत्र इस काण्डमें हैं । इन गणोंके अनुसंधानसे पाठक इन सब मंत्रोंका विचार करें ।

ॐ

उन्नतिका सीधा मार्ग

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ ६ ॥

अथर्व० ८ । १ । ६

" हे मनुष्य ! तेरी उन्नतिके पथमें गति होवे, अवनतिके पथमें न होवे। इसी कार्यके लिये तुझे आयुष्य और बल मैं देता हूं। इस सुखदायी अमृतसे परिपूर्ण (शरीररूपी) रथपर चढ। यहां जब तू वृद्ध होगा तब तू विज्ञानका उपदेश करेगा। "

अथर्ववेदका सुबोध-भाष्य।

अष्टम काण्ड।

दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय।

[१]

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - आयुः)

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥ १ ॥
उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान् ।
उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ २ ॥

अर्थ— (मृत्यवे अन्तकाय नमः) मृत्युके रूपमें सबका अन्त करनवाले परमेश्वरको नमस्कार है। हे मनुष्य ! (ते प्राणाः अपानाः इह रमन्ताम्) तेरे प्राण और अपान यहां शरीरमें आनन्दसे रहें। (अयं पुरुषः असुना सह)यह मनुष्य प्राणके साथ (इह अमृतस्य लोके सूर्यस्य भागे अस्तु) इस अमृतके स्थानरूपी सूर्यके प्रकाशके भागमें रहे ॥१॥

अर्थ— (भगः एनं उत् अग्रभीत्) भग देवने इस मनुष्यको उच्च स्थान पर स्थापित किया है, (अंशुमान् सोमः एनं उत्) तेजस्वी सोमने इसको ऊंचा उठाया है, (मरुतः देवाः एनं उत्) मरुतदेवोंने इसको उच्च बनाया है, (इन्द्र-अग्नी स्वस्तये उत्) इन्द्र और अग्निने इसके कल्याणके लिये इसको उच्च बनाया है ॥ २ ॥

भावार्थ— संपूर्ण जगत्का नाश करनेवाले एक ईश्वरको हम प्रणाम करते हैं। मनुष्यके प्राण इस शरीरमें दीर्घकाल तक रहें। मनुष्य दीर्घजीवनके साथ अमृतमय सूर्यप्रकाशमें यथेच्छ विचरता रहे ॥ १ ॥

भग आदि सब देव इसकी उन्नति करनेमें इसकी सहायता करें ॥ २ ॥

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥ ३ ॥
उत् क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ ४ ॥
तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः ।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥ ५ ॥
उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ ६ ॥

अर्थ— (इह ते असुः) यहां इस शरीरमें तेरा जीवन, (इह प्राणाः, इह आयुः) यहां प्राण, यहां आयु और (इह ते मनः) यहां तेरा मन स्थिर रहे । (दैव्या वाचा) दिव्य वाणीके द्वारा (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) अधोगतिके पाशोंसे (त्वा उत् भरामसि) तुझे ऊपर उठाकर मुक्त करते हैं ।। ३ ।।

हे (पुरुष) मनुष्य ! (अतः उत् क्राम) यहांसे ऊपर चढ, (मा अवपत्थाः) नीचे मत गिर । (मृत्योः पड्वीशं अवमुञ्चमानः) मृत्युकी बेडीसे अपने आपको छुडाता हुआ (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे तथा (अग्नेः सूर्यस्य संदृशः) अग्नि और सूर्यके दर्शनसे अपने आपको (मा छित्थाः) दूर मत रख ।। ४ ।।

(मातरिश्वा वातः तुभ्यं पवतां) अन्तरिक्षमें रहनेवाली वायु तेरे लिये पवित्र होकर बहती रहे। (आपः तुभ्यं अमृतानि वर्षन्तां) जल तेरे लिये अमृतकी वृष्टि करें । (सूर्यः ते तन्वे शं तपाति) सूर्य तेरे शरीरके लिये सुखदायक होकर तपता रहे । (मृत्युः त्वां दयतां) मृत्यु तुझपर दया करे इसप्रकार तू (मा प्र मेष्ठाः) मत मर ।। ५ ।।

हे (पुरुष) पुरुष ! (ते उत् यानं) उन्नतिकी ओरही तेरी गति हो । (न अव-यानं) अवनतिकी ओर गति न हो । इसलिये मैं (जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि) दीर्घ जीवनके लिए तुझे बलशाली बनाता हूं । (इमं अमृतं सुखं रथं आरोह) इस अमरत्व देनेवाले सुखकारक शरीररूपी रथपर चढ, (अथ जिर्विः) और जब तू वृद्ध होगा, तब (विदथं आवदासि) विज्ञानका उपदेश करेगा ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य ! इस शरीरमें तेरा प्राण, आयुष्य, मन और जीवन स्थिर रहे । अनारोग्य रूपी दुर्गतिके पाशोंसे हम सब तुझे ऊपर उठाते हैं ॥ ३ ॥

हे मनुष्य । तू ऊपर चढ, नीचे मत गिर । मृत्युके पाशोंसे अपने आपको छुडा । दीर्घायु प्राप्त कर और इस मनुष्य लोकसे तथा इस सूर्यके प्रकाशसे अपने आपको दूर न कर ॥ ४ ॥

वायु, जल और सूर्य तेरे लिये पवित्रता करें और तुझे शान्ति प्रदान करें । मृत्यु तेरे ऊपर दया करे अर्थात् तू दीर्घायु प्राप्त कर और शीघ्र मत मर ॥ ५ ॥

हे मनुष्य ! तू ऊपर चढ, कभी नीचे मत गिर । इसी कार्यके लिये तुझे जीवन और बल दिये हैं । तेरा शरीर एक सुख देनेवाला उत्तम रथ है, इससे अमरपन भी प्राप्त किया जा सकता है । इसमें रहता हुआ मनुष्य दीर्घजीवन प्राप्त करता है और जब वह वृद्ध होता है तब उसको बहुत अनुभव प्राप्त होनेके कारण वह दूसरोंको योग्य उपदेश देनेमें समर्थ होता है ॥ ६ ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मंदो मानु गाः पितॄन्।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥
मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥
श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥
मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥ १० ॥ (१)

अर्थ—(ते मनः तत्र मा गात्) तेरा मन उस निषिद्ध मार्गमें न जावे और वहां (तिरः मा भूत्) लीन न होवे। (जीवेभ्यः मा प्रमदः) जीवोंके संबंधमें तू प्रमाद न कर। (पितॄन् मा अनुगाः) पितरोंके पीछे मत जा अर्थात् मर मत। (इह विश्वे देवाः त्वा अभि रक्षन्तु) यहां सब देव तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

(गतानां मा आदिधीथाः) गुजरे हुओंके लिए विलाप न कर क्योंकि (ये परावतं नयन्ति) वे तो दूर ले जाते हैं। अतः (आ इहि) यहां आ और (तमसः ज्योतिः आरोह) अंधकारको छोडकर प्रकाशपर चढ, (ते हस्तौ रभामहे) तेरे हाथोंको हम पकडते हैं ॥ ८ ॥

(श्यामः च शबलः च) काला और श्वेत अर्थात् अंधकार और प्रकाशवाले (श्वा-नौ) कल न रहनेवाले दिन रात (यमस्य पथिरक्षी प्रेषितौ) नियामक देवके दो मार्गरक्षक बनाकर भेजे गए हैं। (अर्वाङ् एहि) इधर आ। (मा विदीध्यः) विलाप मत कर। (अत्र पराङ्मनाः मा तिष्ठ) यहां विरुद्ध दिशामें मन रखकर मत रह ॥ ९ ॥

(एतं पन्थां अनु मा गाः) इस बुरे मार्गका अनुसरण मत कर, (एषः भीमः) यह मार्ग भयंकर है। (येन पूर्वं न ईयथ) जिनसे पहिले नहीं जाते हैं। (तं ब्रवीमि) उस विषयमें में कहता हूं। हे (पुरुष) मनुष्य ! (एतत् (तमः) यह अन्धकारका मार्ग है, उस मार्गमें (मा प्र पत्थाः) मत जा। (ते परस्तात् भयं) तेरे लिये दूसरी तरफ भय है (अर्वाक् अभयं) और इस तरफ अभय है ॥ १० ॥

भावार्थ— तेरा मन कुमार्गमें न जावे और यदि गया तो वहां कभी न स्थिर रहे। अन्य जीवोंके विषयमें जो तेरा कर्तव्य है उसमें तू प्रमाद न करके शीघ्र मरकर अपने पितरोंके पीछे शीघ्रतासे मत जा। ये सब देवता तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

गुजरे हुओंका शोक न कर, उससे तो मनुष्य दूर चला जाता है। यहां कार्यक्षेत्रमें आ, अन्धकार छोड और प्रकाशमें विचर। इस कार्यके लिये हम तेरा हाथ पकडते हैं ॥ ८ ॥

सबका नियमन करनेवाले ईश्वरके दिन (प्रकाश) और रात्री (अंधकार) ये दो मार्गदर्शक हैं। ये दोनों अशाश्वत हैं, परंतु ये तेरे मार्गकी रक्षा करेंगे। अतः तू आगे बढ, विलापमें समय न गंवा, तथा विरुद्ध दिशामें अपना मन कदापि न जाने दे ॥ ९ ॥

भावार्थ— इस भयानक घोर बुरे मार्गसे न जा। जिससे जाना योग्य नहीं है, उस मार्गपरसे न जानेके विषयमें में तुझे यह आदेश दे रहा हूं। अर्थात् तू इस अन्धकारके मार्गमें कदापि न जा, इससे जानेमें आगे बडा भय है। अतः तू इस ओर रह, यदि इस मार्गपर तू चला तो तेरे लिये यहां अभय होगा ॥ १० ॥

×

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते ।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धांग् विद्युता सह ॥ ११ ॥
मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च ।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥
बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् ।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥
ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥
जीवेभ्यस्त्वा समुद्रे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥

अर्थ— (ये अप्सु अन्तः अग्नयः) जो जलोंमें अग्नियां हैं वे (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें। (यं मनुष्याः इन्धते, त्वा रक्षतु) जिसको मनुष्य प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि तेरी रक्षा करे। (जातवेदाः वैश्वानरः रक्षतु) जातवेद सब मनुष्योंमें रहनेवाली अग्नि तेरी रक्षा करे। (विद्युता सह दिव्यः मा प्रधाक्) बिजलीके साथ रहनेवाली द्युलोककी अग्नि तुझे न जलावे ॥ ११ ॥

(क्रव्यात् त्वा मा अभि मंस्त) कच्चा मांस खानेवाला तेरा वध न करे। (संकसुकात् आरात् चर) नाश करनेवालेसे तू दूर होकर चल। (द्यौः त्वा रक्षतु) द्युलोक तेरी रक्षा करे, (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी रक्षा करे। (सूर्यः च चन्द्रमाः च त्वा रक्षतां) सूर्य और चन्द्रमा तेरी रक्षा करें। (देवहेत्याः अन्तरिक्षं रक्षतु) दैवी आघातसे अन्तरिक्ष तेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

(बोधः च प्रतीबोधः च त्वा रक्षतां) ज्ञान और विज्ञान तेरी रक्षा करें। (अस्वप्नः च अनवद्राणः च त्वा रक्षतां) न सोनेवाला और न भागनेवाला तेरी रक्षा करे तथा (गोपायन् च जागृविः च त्वा रक्षतां) रक्षक और जागनेवाला तेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

(ते त्वा रक्षन्तु) वे तेरी रक्षा करें। (ते त्वा गोपायन्तु) वे तेरा पालन करें। (तेभ्यः नमः) उनको नमस्कार है। (तेभ्यः स्वा-हा) उनके लिये आत्म-समर्पण है ॥ १४ ॥

(त्रायमाणः धाता सविता वायुः इन्द्रः) रक्षक, पोषक, प्रेरक, जीवनसाधक प्रभु (जीवेभ्यः त्वा सं+उद्रे दधातु) सब प्राणियोंके लिये तथा तेरे लिये पूर्ण उत्कृष्टता धारण करे। (त्वा प्राणः बलं मा हासीत्) तेरा प्राण बलको न छोडे। (ते असुं अनु ह्वयामसि) तेरे प्राणको हम अनुकूलताके साथ बुलाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— जलकी उष्णता, अग्नि, विद्युत्, सूर्य तथा मानवी समाज इनमेंसे किसीसे तेरा अकल्याण न हो, इनसे तेरी उत्तम रक्षा होती रहे ॥ ११ ॥

दुष्टता करनेवाले दुष्टोंसे तेरी रक्षा हो। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, चन्द्रमा, सूर्य आदि सब तेरी रक्षा करें ॥ १२ ॥

ज्ञान और विज्ञान, सुस्ती न करना और न भागना, रक्षा करना और जागना तेरी रक्षा करें ॥ १३ ॥

जो तेरी रक्षा और पालना करते हैं, उनको प्रणाम करना और उनके लिये अपनी ओरसे कुछ समर्पण करना योग्य है ॥ १४ ॥

देव सब जीवोंको और तुझको उन्नतिकें पयनें रखे। तेरे पास प्राण और बल पूर्ण आयुतक रहे ॥ ॥ १५ ॥

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥
उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत् ।
उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥
अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।
इमं सहस्र-वीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥
उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्योऽ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

अर्थ— (जम्भः संहनुः त्वा मा विदत्) विनाशक और घातक मनुष्य तुझे कभी न प्राप्त करे । (तमः त्वा मा) अन्धकार तेरे ऊपर कभी न छाये । (जिह्वा मा) जिह्वा अर्थात् किसीके बुरे शब्द तेरे श्रवणपथमें न आवें । भला (बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः) तू यज्ञकर्ता होकर घातक कैसे होगा ? (आदित्याः वसवः इन्द्र-अग्नी) आदित्य वसु, इन्द्र और अग्नि (स्वस्तये) कल्याणके लिये (त्वा उत् भरन्तु) तुझे उन्नतिकी तरफ ले जायें ॥ १६ ॥

(द्यौः उत्) द्युलोक (पृथिवी उत्) पृथिवी और (प्रजापतिः त्वा उत् अग्रभीत्) प्रजापालक देव तुझे ऊपर उठावे, तेरी उन्नति करे । (सोमराज्ञीः ओषधयः) सोम जिनका राजा है ऐसी औषधियां (त्वा मृत्योः उत् अपीपरन्) तुझे मृत्युसे ऊपर उठावें अर्थात् तेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो ! (अयं इह एव अस्तु) यह मनुष्य इस लोकमें ही रहे, (अयं इतः अमुत्र मा गात्), यह इस संसारको छोडकर परलोक न जाये । (सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत् पारयामसि) हजारों बलोंसे युक्त उपायसे इस मनुष्यकी मृत्युसे हम रक्षा करते हैं । ॥ १८ ॥

(मृत्योः त्वा उत् अपीपरं) मृत्युसे तुझको हम पार करते हैं । (वयोधसः सं धमन्तु) अन्न अथवा आयुको धारण करनेवाले देव तुझे पुष्ट करें । (व्यस्तकेश्यः अघ-रुदः) बालोंको खोलकर बुरी तरहसे रोनेवाली स्त्रियां (मा त्वा रुदन्, मा त्वा) तेरे लिये न रोयें, अर्थात् तेरी मृत्युके कारण इन पर रोनेका प्रसंग न आवे, निश्चयसे वे तेरे लिए न रोवें ॥ १९ ॥

भावार्थ— कोई नाशक और घातक मनुष्य तेरे पास न पहुंचे । अज्ञान और अन्धकार तेरे पास न आवे । बुरे शब्दोंका प्रयोग कोई न करे । स्मरण रख कि जो यज्ञ करता है उसके पास नाश नहीं आता और सूर्यादि सब देव तेरा कल्याण करेंगे और तेरी उन्नति होनेमें सहायक होंगे ॥ १६ ॥

प्रजाका पालक देव, द्युलोकसे पृथ्वी-पर्यंतकी औषधियां आदि सब पदार्थ मृत्युसे तेरा बचाव करें ॥ १७ ॥

हे देवो ! इस मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त हो, इसके पाससे मृत्यु दूर हो । सहस्र प्रकारके बलोंसे युक्त औषधियोंकी सहायतासे इसकी मृत्युको हमने दूर किया है ॥ १८ ।

अब यह मृत्युसे पार हो चुका है । आयु देनेवाले देव इसको आयु दें । अब स्त्रियां या पु ष इसके लिये न रोयें, क्योंकि यह जीवित हो गया है ॥ १९ ॥

आहार्षमविंदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥
व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् ।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥

अर्थ—(त्वा आहार्ष) मैं तुझे लाया हूं । (त्वा अविंदं) तुझे पुनः प्राप्त किया है । (पुनः नवः पुनः आगाः) पुनः नया होकर पुनः आ गया है, हे (सर्वांग) संपूर्ण अंगोंवाले मनुष्य ! (ते सर्वं चक्षुः) तेरी पूर्ण दृष्टि और (ते सर्वं आयुः च) तेरी पूर्ण आयु तुझे मैंने (अविदं) प्राप्त करायी है ॥ २० ॥

अब (त्वत् तमः व्यवात्) तेरे पाससे अन्धकार चला गया है वह (अप अक्रमीत्) तुझसे दूर चला गया है। (ते ज्योतिः अभूत्) तेरे चारों ओर प्रकाश फैल गया है । (त्वत् निर्ऋतिं मृत्युं अप नि दध्मसि) तुझसे दुर्गति और मृत्युको हम दूर करते हैं तथा तुझसे (यक्ष्मं अप निदध्मसि) रोगको हम दूर करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ— तुझे रुग्णस्थितिसे मैं आरोग्यस्थितिके प्रति लाया हूं अब तू नवीन जैसा हो गया है । तेरे सब अंग पूर्ण हो गये हैं, तेरे चक्षु आदि इंद्रिये और तेरी आयु तुझे प्राप्त हो गई है, अतः तू अब दीर्घकाल तक जीवित रहेगा ॥ २० ॥

अन्धकार तेरे पाससे भाग गया है और तेरे चारों ओर प्रकाश फैल गया है । दुर्गति और मृत्यु दूर हट गयी है, और रोग दूर भाग गये हैं । इस प्रकार तू नीरोग और दीर्घायु हो गया है ॥ २१ ॥

दीर्घायु किस प्रकार प्राप्त होगी ?

धर्मक्षेत्र

मनुष्यका यह शरीर धर्म करनेका एक साधन है । यही इसका ' कुरुक्षेत्र ' अथवा ' कर्मक्षेत्र ' किंवा ' धर्मक्षेत्र ' है । इसमें रहता हुआ और पुरुषार्थ करता हुआ यह मनुष्य अमरत्व भी प्राप्त कर सकता है, और पुरुषार्थसे हीन होता हुआ यही जीव अधोगति भी प्राप्त कर सकता है । इसलिये इस शरीररूपी साधनको सुरक्षित रखने और इससे अधिकसे अधिक काम लेनेके लिये इसको दीर्घकाल तक जीवित रखना आवश्यक है । इसी कारण दीर्घायु प्राप्त करनेके उपायोंका वर्णन धर्मग्रंथोंमें किया है । इस सूक्तमें इसी शरीरके विषयमें कहा है—

इमं अमृतं सुखं रथं आरोह । (मं. ६)

' इस नष्ट न होनेवाले, सुखकारक (शरीररूपी) रथपर आरोहण कर । ' इसमें ' सु+ख ' शब्द है जिसका अर्थ है ' सु ' अर्थात् उत्तम अवस्थामें ' ख ' अर्थात् इंद्रियां हैं जिसकी ऐसा आरोग्यपूर्ण सुदृढ शरीर । ' सु+खं रथं '.का अर्थ है जिसकी इंद्रियां उत्तम हैं ऐसा यह शरीररूपी रथ, यह रथ मनुष्य प्राप्त करे । इसका दूसरा गुण ' अ+मृत ' शब्दसे बताया है । मरे हुए या मुर्दे जैसे दुर्बल और रोगी शरीरको ' मृत ' कहते हैं, और जो सतेज, तेजस्वी, बलिष्ठ सुदृढ, नीरोग और कार्यक्षम शरीर होता है उसको ' अ-मृत ' कहते हैं । जिस शरीरको देखनेसे जीवनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है, उसीको अमृत शरीर कहते हैं । शरीर कैसा हो ? उसका उत्तर इस मंत्रने दिया है, कि शरीर अमृत और सुखकारक हो । ' बहुतसे लोगोंको मृत और दुःखी शरीर प्राप्त हुए होते हैं । वैसे शरीरोंसे मनुष्यके जीवनकी सफलता हो नहीं सकती ।

दूरका मार्ग ।

यहां शरीरको ' रथ ' कहा गया है । इसको ' रथ ' इसलिये कहा है कि, इसमें बैठकर मनुष्य ब्रह्मलोक तक पहुंच सकता है । मनुष्य इतना लंबा मार्ग इसी शरीरकी सहायतासे उत्तम रीतिसे पार करता है । दूर ग्रामको जानेके लिये जिस प्रकार उत्तम अश्वरथ, जलरथ (नौका), अग्निरथ (आगगाडी), वायुरथ (विमान) आदि विविध रथोंसे जाना पडता है, उसी प्रकार मुक्तिधाम तक पहुंचनेके लिये इस शरीररूपी रथपर बैठकर उसके अश्वस्थानीय इंद्रियोंको सुशिक्षित करके धर्मपथपरसे जाना पडता है । इस विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

रथी और रथ ।
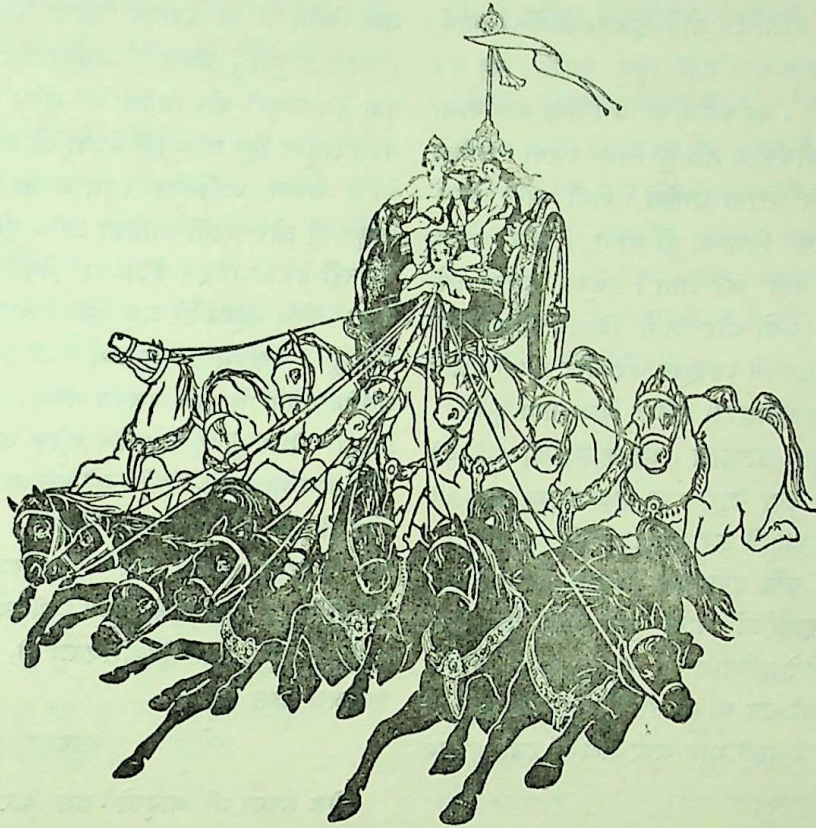
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥
(कठ उ. ३)

' आत्मा रथका स्वामी है, शरीर उसका रथ है, बुद्धि उसका सारथी और मन लगाम है । इंद्रियरूपी घोडे इस रथमें जुडे हुए हैं, जो विषयोंके क्षेत्रोंमें संचार करते हैं । इंद्रियोंसे और मनसे युक्त होनेपर आत्मा भोक्ता कहा जाता है । जो विज्ञानसे हीन और संयमरहित मनसे युक्त है, उसके आधीन इंद्रियरूपी घोडे नहीं रहते, अर्थात् वे रथके स्वामीको जिधर चाहे उधर फेंक देते हैं । परंतु जो विज्ञान-वान् और मनका संयम करनेवाला होता है, उसके आधीन उसकी संपूर्ण इंद्रियां रहती हैं । जो विज्ञानरहित, असंयमी मनवाला और सदा अपवित्र होता है, वह उस स्थानको प्राप्त नहीं होता और बारबार संसारमें आता है, परंतु जो विज्ञानी, संयमी और पवित्र होता है, वह उस स्थानको प्राप्त करता है, जहांसे फिर नहीं आना पडता । विज्ञान जिसका सारथी है और मनरूपी लगाम जिसके स्वाधीन है वही मार्गको पार करके परम स्थानको प्राप्त करता है

वही व्यापक देवका परम स्थान है। '

इसमें इस रथका उत्तम वर्णन है, इसके घोडे, सारथी, उत्तम शिक्षित घोडे, अशिक्षित घोडे, इसका जानेका मार्ग, कौन वहां जाता है और कौन नहीं पंहुच सकता, यह सब वर्णन इस स्थानपर है। यह रथ अमृतकी प्राप्ति करनेवाला है, इसीलिये इसको दीर्घकाल तक सुरक्षित रखना चाहिये और इसको नीरोग भी रखना चाहिये। रोगी और अल्पजीवी होनेसे यह रथ निकम्मा हो जाता है और मनुष्य अपना ध्येय प्राप्त नहीं कर पाता। मनुष्य इसपर चढे, लगामको स्वाधीन रखे, और ज्ञान विज्ञान द्वारा योग्य मार्गसे चले, अर्थात् संयमसे व्यवहार करे और अपनी उन्नति करे। यही भाव इस सूक्तद्वारा सूचित किया गया है—

(हे) पुरुष अतः उत्क्राम। मा अवपत्थाः (मं. ४)
(हे पुरुष) ते उत् यानं। न अवयानम्। (मं. ६)

' हे मनुष्य ! तू यहांसे ऊपर चढ, नीचे न गिर। ' ' हे मनुष्य ! तेरी गति उच्च हो, नीचेकी ओर न हो। ' मनुष्यको यह देह इसीलिये प्राप्त हुआ है कि वह ऊपर चढे और कभी न गिरे। गिरना या चढना इसके आधीन है। यदि यह चाहे तो उठ भी सकता है और यदि यह चाहे तो गिर भी सकता है। यही भाव अन्य शब्दोंमें इसी सूक्तमें प्रकट किया गया है—

ज्योतिकी प्राप्ति।

आ इहि। तमसः ज्योतिः आरोह।
ते हस्तौ रभामहे। (मं. ८)

' हे मनुष्य, इस मार्गसे आ, अंधकारके मार्गको छोड और प्रकाशके मार्गसे ऊपर चढ, यदि तुझे सहारा चाहिये तो हम तेरा हाथ पकडकर तुझे सहायता देनेको तैयार हैं। ' महापुरुष, साधु, सन्त, महात्मा, योगी, ऋषि, उन्नतिके पथमें सहायता देनेके लिये सदा तैयार रहते हैं, उनकी सहायता लेनेके लिये मनुष्य सदा तत्पर रहें। जो निष्ठासे उन्नतिके पथपर चढना चाहता है, उसको सहायता मिलती जाती है। उच्च श्रेणीके पुरुष उन्नत होनेवालोंकी सहायता सदा बिना मांगे ही करते रहते हैं इसी विषयमें आगे कहा है—

अर्वाङ् एहि। अत्र पराङ्मनाः मा तिष्ठ। (मं. ९)

' इस ओर आ। यहां अशुभ विचार मनमें धारण करके मत रह। ' यहां धर्ममार्गपर आनेका आदेश है। इससे भी विशेष महत्त्वका उपदेश यहां कहा है कि ' पराङ्मनाः मा तिष्ठ ' इसमें ' पराङ्मनाः (पर+अञ्च्+मनाः) यह शब्द विशेष रीतिसे ध्यानमें रखने योग्य है। इसका अर्थ (पर) शत्रुकी (अञ्च) अनुकूलतामें जिसका मन हो गया है। शत्रुकी ओर जिसका मन झुका हुआ है अर्थात् जो मनसे शत्रुका हित चाहता है अथवा जो शत्रुके अनुकूल होकर केवल अपना व्यक्तिगत लाभ अथवा स्वार्थपूर्ति करना चाहता है और अपनी जातिका अहित होता है वा नहीं यह भी नहीं देखता। इस प्रकारका हीन विचारवाला कोई न हो। ऐसा मनुष्य तो शत्रुसे भी अधिक घातक है, अतः कहा है, (पराङ्मनाः अत्र मा तिष्ठ) यहां विरोधियोंके आधीन अपने मनको रखकर न रह, अर्थात् स्वकीयोंके अनुकूल होकर ही यहां रह। राष्ट्रीय और जातीय दृष्टीसे भी इसका भाव मननीय है। जो इस प्रकारके हीनवृत्तिवाले लोग होते हैं, जो अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये अपने समाज और राष्ट्रका भी घात करके पाप करते हैं, वे दीर्घजीवी नहीं होते। इसलिये कोई मनुष्य ऐसी स्वार्थकी वृत्ति धारण न करे। मनुष्य सदा वीरवृत्तिवाला हो, और अपना और समाजका हित साधे।

शोकसे आयुष्यनाश।

शोक करना भी आयुको कम करता है। कई मनुष्य गुजरे हुए बुजुर्गोंका नाम स्मरण कर करके शोक करनेमें दिन व्यतीत करते रहते हैं, उनकी यहां अवनति तो होती ही है, परंतु साथ साथ आयु भी क्षीण होती है; अतः इस सूक्तमें कहा है—

गतानां मा आदिधीथाः, ये परावतं नयन्ति। (मं. ८)

' गुजरे हुए मनुष्योंका स्मरण करके उनके लिये शोक न कर, क्योंकि ये शोक अवनतिकी ओर ले जाते है। शोक करनसे अपना मन निर्बल होता जाता है। जिसके लिए शोक किया जाता है वह तो मरा हुआ होता ही है, अतः उसको तो किसी प्रकार लाभ पहुंच नहीं सकता, परंतु जो जीवित रहते हैं उनका समय व्यर्थ जाता है और इसके अतिरिक्त उनका मन सदा उदास रहता है, और उनकी विचार करनेकी और श्रेष्ठतम पुरुषार्थ करनेकी शक्ति कम हो जाती है; इस प्रकार सदा शोकमें मग्न रहनेवाला पुरुष

इस लोक और परलोकके लिये निकम्मा हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि बूढे और बुजुर्गके मरनेपर शोक न करना ठीक है, परंतु जब नवजवान मर जाते हैं तब भी शोक करना योग्य है वा नहीं उसके उत्तरमें वेदका कहना यह है कि—

व्यस्तकेश्यः अघरुदः त्वा मा रुदन्। (मं, १०)

' बालोंको अस्तव्यस्त करके सिर खोलकर, छाती पीट कर बुरी तरहसे रोनेवाले लोग भी न रोयें। ' क्योंकि मरणके पश्चात् रोने पीटनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि, इस वेदके उपदेशके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यकी आयु दीर्घ होगी, अतः रोने पीटनेका कोई कारण ही नहीं रहेगा, दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपदेश इस स्थानपर है और उसके लिये एक उपाय यह है कि ' मनको शोकाकुल न करना। ' यह उपदेश सर्वसाधारण जनोंके लिये भी बडा बोधप्रद है।

हिंसकोंसे बचना

दुष्ट मनुष्योंकी संगतिमें रहनेसे भी आयु घटती है। दुष्ट मनुष्य और दुष्ट प्राणी सदा दुष्टता करनेके ताकमें ही रहते हैं, अतः उनसे दूर रहनेकी आज्ञा वेदने दी है—

क्रव्यात् त्वा मा अभिमंस्त।
संकुसुकात् आरात् चर॥ (मं. १२)
जम्भः संहनुः त्वा मा विदत्। (मं. १६)

' कच्चा मांस खानेवाला प्राणी या मनुष्य तेरी हिंसा न करे। जो घात करनेवाला है उससे दूर हो और जो हिंसा-शील है वह तुझे न जाने। ' इसका तात्पर्य यह है कि हिंसाशील प्राणियोंके आघातसे किसीकी अपमृत्यु न हो। वीरवृत्तिसे युद्धादिमें जो मृत्यु होती है उसका यहां विरोध नहीं है। इसका यह आशय नहीं है कि दीर्घायु प्राप्त करनेवाले मनुष्य धर्मयुद्धमें न जाकर घरमें छिपकर मृत्युसे बचें, वह मृत्यु तो अमरत्व प्राप्त करानेवाली है। यहां जिससे बचनेका आदेश है वह हिंसक जानवरोंके द्वारा होनेवाली मृत्यु है। सिंह, व्याघ्र, सांप आदिके कारण अथवा ऐसे जन्तुओंके कारण जो अपमृत्यु होती है उससे बचनेका तथा कुसंगतिसे बचनेका उपदेश यहां दिया है।

अवनतिके पाश।

जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे अपने आपको मृत्युके और अवनतिके पाशोंसे बचावें। दीर्घायु प्राप्त करनेके उपायका आशय ही यह है, इस विषयमें देखिये—

दैव्या वाचा निर्ऋत्याः पाशेभ्यः त्वा उद्धरामसि। (मं. ३)

मृत्योः पड्वीशं अवमुञ्चमानः। (मं. ४)

' दिव्य वाणी अर्थात् जो शुद्ध वाणी है, उसकी सहायतासे निर्ऋतिके पाशोंसे तुझे हम ऊपर उठाते हैं। मृत्युके पाशको हम खोलते हैं। ' निर्ऋति अर्थात् अधोगतिके पाश बडे कठिन होते हैं। जो उनमें अटक जाते हैं उनकी अवनति अवश्य होती है। निर्ऋति क्या है ? और ऋति क्या है ? इनका स्वरूप इस प्रकार है—

निर्ऋतिः	ऋतिः
एकाकी जीवन	सैन्यसमूह, संघ.
अगति, विरुद्ध गति	गति, प्रगति
युद्धसे भागना, अधर्मयुद्ध	धर्मयुद्ध
अमार्ग	मार्ग
अवनतिं	उन्नति
असत्य, अयोग्यता	सत्य, योग्य,
नाश, विनाश	रक्षण, अमरत्व
अपवित्रता,	पवित्रता
तम, अंधकार,	प्रकाश, स्वच्छता
रोग	नीरोगता,
आपत्ति, विपत्ति	संपत्ति
संकट	अनुकूलता
विरुद्ध परिस्थिति	अनुकूल परिस्थिति
शाप	वर
मृत्यु	मृत्यु दूर करना
असत्य, असत्यमें रमना	सत्य, सत्यका पालन

निर्ऋतिके और मृत्युके पाश कौनसे हैं और उनसे कैसे बचाव करना चाहिये, इसकी कल्पना कोष्टकसे पाठकोंके मनमें सहजहीसें आ सकती है। निर्ऋतिके इन पाशोंको तोडना चाहिये, और ऋतिके साथ अपना 'संबंध' जोडना चाहिये। दीर्घायु प्राप्त करनेवाले इसका अच्छी प्रकार मनन करें, इसी विषयमें और देखिये—

ते मनः तत्र मा गात्। मा तिरः भूत्। (मं. ७)
एतं पन्थानं मा गाः। एष भीमः। (मं. १०)

' तेरा मन इस अधोगतिके, निर्ऋतिके मार्गमें कभी न जावे, तथा यदि कभी चला भी जाए तो वहीं रम न जाये। इस अवनतिके मार्गसे मत जा, क्योंकि यह बडा भयानक मार्ग है।' यह मार्ग बडा भयानक है, इससे जो जाते हैं वे दुर्गतिको प्राप्त करते हैं, अतः कोई मनुष्य इस मार्गसे न जाये। जो दूसरा सत्यका मार्ग है उससे जाकर अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति करें। निर्ऋतिका मार्ग अंधकारका है, अतः जाते समय ठोकरें लगती हैं और गिरावट भी भयानक होती है, अतः कहा है—

एतत् तमः, मा प्रपत्थाः, ते परस्तात् भयं।
अर्वाक् अभयम्। (मं. १०)
तमः त्वा मा विदत्। (मं. १६)

' यह अन्धकार है, इसमें तू न गिर, क्योंकि इस मार्गसे जानेसे तेरे लिये आगें महान् भय है। जबतक तू उस मार्गमें नहीं जाता और सत्यमार्ग परही रहता है, तब तक तू निर्भय है। भय तो उस असत्यके मार्गपर ही है। उस गिरावटके मार्गमें जानेका मोह तुझमें उत्पन्न न हो।'

ये आदेश सर्व साधारणके लिये उपयोगी हैं, अतः इनका मनन सबको करना योग्य है। जिससे आयु क्षीण हो उन बातोंको अपने आचरणमें लाना नहीं चाहिए। मोहके कारण मनुष्य प्रतिक्षण गिरावटके मार्गमें जाता है, अतः उस मोहसे अपने आपका बचाव करना हरएकका कर्तव्य है। इसीसे दीर्घ-आयु प्राप्त होनेमें सहायता मिलती है। मनुष्य गिरावटके प्रलोभनमें न फंसे इस बातको बतानेके लिये निम्न-लिखित मंत्र कहा है—

ज्ञान और विज्ञान।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्। (मं. १३)

' ज्ञान और विज्ञान, फुर्ती और चापल्य, तथा रक्षक और जाग्रत तेरी रक्षा करें।' यहां जो ये छः नाम हैं वे विशेष मनन करने योग्य हैं। विशेष कर जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए तो ये छः शब्द बडेही बोधप्रद हो सकते हैं—

१ इंद्रियोंसे जगत्का जो ज्ञान प्राप्त होता है या जो भी पहिला भास है उसको बोध कहते हैं।

२ प्रतिबोध वह है कि जो विचार और मननके पश्चात् सत्यज्ञान होता है तथा जो अन्यान्य प्रमाणोंकी कसौटीसे भी सत्य प्रमाणित होता है।

यह ज्ञान और विज्ञान मनुष्यको मोहमें गिरानेवाला न हो। सत्य ज्ञान और सत्यविज्ञान कभी गिरानेवाला अथवा मोह उत्पन्न करनेवाला नहीं होता, तथापि शत्रुके द्वारा जो फैलाया जाता है, उसीको ज्ञान विज्ञान मान कर कई भोले लोग उसको अपनाते हैं, और भ्रममें पडते हैं, मोहवश होते हैं और गिरते हैं। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि ' ज्ञान विज्ञान मनुष्यकी रक्षा करनेवाला हो।' जो मनुष्य ज्ञान विज्ञान प्राप्त करते हैं, वे विचार करें कि जो ज्ञान विज्ञान हम सीख रहे हैं, वह सच्चा ज्ञान विज्ञान है वा नहीं और इससे हमारी सच्ची रक्षा होगी या नहीं। शत्रुके दिये हुए भ्रमोत्पादक ज्ञानसे (वस्तुतः अज्ञानसे) आयु, आरोग्य और बल क्षीण हो जाता है और सत्य ज्ञानसे आयु, आरोग्य तथा बल वृद्धिको प्राप्त होता है। इतना महत्त्व ज्ञान और विज्ञानका दीर्घायुकी प्राप्तिमें है। आगे देखिये—

स्फूर्ति और स्थिरता।

(३) अस्वप्न शब्दका अर्थ निद्राका न आना नहीं है, वह तो रोगकी अवस्था है। निद्रा तो मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। यहां ' अ-स्वप्न ' का अर्थ है ' सुस्तीका न होना ' मनुष्यको सुस्त रहना नहीं चाहिये। फुर्ती मनुष्यके अन्दर अवश्य चाहिये। फुर्तीके बिना मनुष्य विशेष पुरुषार्थ कर नहीं सकता। अतः यह गुण मनुष्यकी उन्नतिके लिये सहायक है।

(४) अनवद्राणका अर्थ है न भागना, मंदगति न होना, पीछे न हटना। जो स्थान प्राप्त किया है, उसीपर स्थिर रहना और यदि संभव हो तो आगे बढनेकी तैयारी करना ही अनवद्राण है।

वस्तुतः उन्नतिके पथमें जानेके लिये ये गुण बडे उपयोगी हैं, परंतु कई मनुष्योंमें ऐसी कुछ बेढंगी फुर्ती होती है कि उसीसे उनकी हानि ही होती है। इसलिये यहां यह मंत्र पाठकोंको सावधान कर रहा है कि ऐसे भी हानिकारक फुर्ती और गतिसे बचो और जिससे अपनी निःसंदेह उन्नति हो ऐसी फुर्ती अपनेमें बढाओ। पुरुषार्थी मनुष्यमें स्फूर्ति तो चाहिये परंतु ऐसी चाहिये कि जो विघातक न हो। पहिले

कहे गए ज्ञान और विज्ञान तो गुरु आदिसे प्राप्त करने होते हैं, पर ये स्फूर्ति और गति तो अपनेही अन्दर होते हैं, परंतु विशेष रीतिसे उनको ढालना पडता है। इसके पश्चात् दो और गुण शेष रह गए हैं, उनका विचार अब देखिये—

रक्षा और जाग्रति।

(५) गोपायन् उसका नाम होता है कि जो दूसरोंका संरक्षण करता है, इसका अर्थ रक्षा करनेवाला है।

(६) जागृवि जागता हुआ रक्षा कार्यमें दत्तचित्त होता है। अर्थात् ये दोनों रक्षा-कार्य करनेवाले हैं।

यहां 'जागृविः गोपायन् च त्वा रक्षतां'। (मं. १३) जागता हुआ और रक्षा करनेवाला तेरी रक्षा करे ऐसा कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि कई जागनेवाले रक्षाका कार्य नहीं करते और कई रक्षक भी रक्षाका कार्य नहीं करते। चोर रात्रीको जागता है, परंतु वह जनताकी रक्षा नहीं करता, इसी प्रकार कई रक्षक कार्यपर नियुक्त हुए ओहदेदार भी प्रजाकी रक्षा नहीं करते, अपितु रिश्वतें आदि खा खाकर प्रजाको सताते हैं। इस प्रकारके अनंत लोग हैं जो जागते हैं और रक्षाके कार्यमें नियुक्त भी होते हैं, पर प्रजाकी रक्षा नहीं करतें, अतः लोगोंको इनसे अपने आपका बचाव करना चाहिये। क्योंकि ये स्वार्थ-साधक हैं। अतः लोग विचार करें कि सच्चे रक्षक कौन हैं और जनहित करनेके लिये कौन जागते रहते हैं। जो सच्चे रक्षक हैं उन्हें ही रक्षक मानकर जो स्वार्थसाधक हैं उन्हें दूर करना चाहिये। तभी सच्ची रक्षा होगी, कल्याण होगा जनतामें शान्ति रहेगी और अन्तमें ऐसी सुस्थितिमें आयु भी दीर्घ होगी, और नीरोग अवस्था रहनेसे जनता सुखी होगी। दीर्घायु प्राप्त करनेमें ये सब बातें सहायक हैं, इनके बिना अकेलेके वैयक्तिक प्रयत्नसे पर्याप्त दीर्घायु नहीं प्राप्त हो सकती। अर्थात् सामाजिक और राजकीय परिस्थितिके अनुकूल रहनेसे मनुष्यकी आयु दीर्घ होती है और प्रतिकूल होनेसे आयु घटती है। इसीलिये स्वतंत्र देशके लोग दीर्घजीवी होते हैं, और परतंत्र देशमें प्रजा अल्पायु होती है।

सामाजिक पाप।

दीर्घजीवी मनुष्यके आगे सामाजिक और राजकीय कर्तव्य भी हैं यह दर्शानेके उद्देश्यसे इस सूक्तमें कहा है—

×

जीवेभ्यः मा प्रमदः। (मं. ७)

'संपूर्ण जीवोंके लिये अपना कर्तव्य करनेके समय तू प्रमाद न कर।' इससे स्पष्ट होता है कि हरएक मनुष्यका अन्य प्राणियोंके संबंधमें कुछ विशेष कर्तव्य है, अर्थात् अन्य मनुष्य और अन्य पशुपक्षी जीवजन्तु आदिके संबंधमें कुछ कर्तव्य हैं और उसमें प्रमाद होना नहीं चाहिये। प्रमाद होनेसे इस व्यक्तिका और समाजका भी नुकसान होगा, अतः प्रमाद न करते हुए यह कर्तव्य करना चाहिये। यह कर्तव्य ठीक प्रकार होनेसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। अर्थात् इस सामाजिक कर्तव्यको निर्दोष रीतिसे करनेवाले लोग समाजमें जितने अधिक होंगे, उतनेही दोष उस समाजमें कम होंगे, और उस प्रमाणसे उस देशके मनुष्योंकी आयु दीर्घ होगी। सामाजिक कार्यके विषयमें उदासीन और सामाजिक कार्यको प्रमादसे करनेवाले लोग जिस समाजमें अधिक होंगे उस समाजमें अल्पायु लोगोंकी संख्या अधिक होगी। जबतक संपूर्ण समाज निर्दोष नहीं होता तबतक मनुष्योंकी आयु दीर्घ नहीं होगी। दूषित समाजमें एक व्यक्ति कितना भी निर्दोष हो तथापि सब समाजके दोषोंका परिणाम उस व्यक्तिपर होगा ही। इसलिये सांघिक जीवनको निर्दोष बनाना आवश्यक है।

पितॄन् मा अनुगाः। (मं. ७)

'हे मनुष्य ! तू पितरोंके पीछे न जा।' अर्थात् शीघ्र न मर। यह आदेश मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त करनेकी प्रेरणा देनेके उद्देश्यसे दिया है। यदि मनुष्य प्रयत्न करेगा, तो उसको दीर्घजीवन अवश्य प्राप्त होगा, अन्यथा उसकी आयु अल्प होती जायेगी।

सूर्यप्रकाशसे दीर्घायु।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये सूर्यप्रकाश बडा सहायक है। जो लोग अपनी आयु बढाना चाहते हैं वे इस अमृतपूर्ण सूर्यप्रकाशसे अवश्य लाभ उठावें—

सूर्यः ते तन्वे शं तपाति। (मं. ५)

अस्माल्लोकात् अग्नेः सूर्यस्य संदृशः मा छित्थाः। (मं. ४)

इह अमृतस्य लोके सूर्यस्य भागे अस्तु। (मं. १)

'सूर्य तेरे शरीरको सुख देनेके लिये ही तपता है। अतः सूर्यके प्रकाशसे अपना संबंध न तोड। यहां अमृतपूर्ण स्थान

अर्थात् सूर्यके प्रकाशित भागमें तू रह। ' इसीसे आयु दीर्घ होगी। जो लोग तंग मकानके अंधेरे तंग कमरोंमें रहते हैं, जहां सूर्यप्रकाश उनको नहीं मिलता वे अल्पजीवी होते हैं। शरीरके चमडीपर सूर्यप्रकाशका स्पर्श होना चाहिये। थोडासा भी अधिक सूर्यप्रकाश चमडीपर लगनेपर जिनको कष्ट होते हैं वे दीर्घजीवनके अधिकारी नहीं हैं। मनुष्य सदा कपडोंसे वेष्टित रहते हैं अतः वे सूर्यके जीवनसे वंचित रह जाते हैं। यदि मनुष्य सूर्यातपस्नान करें तो उनके रक्तमें सूर्यकिरणोंसे जीवनविद्युत् प्रविष्ट होगी और उनको अधिक लाभ होगा। सूर्यके विषयमें प्रश्नोपनिषद्में कहा है—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ (प्रश्न उ. १)

' सूर्य ही प्राण है और जो सब अन्य मूर्त अथवा अमूर्त है वह रयि है। यह सूर्य प्रजाओंका प्राण है जो उदयको प्राप्त होता है। ' इतनी सूर्यकी महिमा है, अतः इस सूक्तमें कहा है कि, ' सूर्यके प्रकाशसे अपना संबंध न तोड। क्योंकि यह सूर्यप्रकाश ऐसा है कि, जिससे मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा बढती है। जो जो प्राणी सूर्यप्रकाशसे अपना संबंध तोडते हैं वे अल्पायु होते हैं। सूर्य ही जीवनका समुद्र है, इसलिये इससे दूर होना ठीक नहीं। सूर्यके समान अन्य देव भी मनुष्यका जीवन दीर्घ करते हैं इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग द्रष्टव्य हैं—

भगः अंशुमान्सोमः मरुतः देवाः इन्द्राग्नी स्वस्तये उत्। (मं. २)
मातरिश्वा वातः तुभ्यं पवताम्। (मं. ५)
आपः अमृतानि तुभ्यं वर्षन्ताम्। (मं. ५)
इह विश्वे देवाः तुभ्यं रक्षन्तु। (मं. ७)
अग्नयः जातवेदाः वैश्वानरः दिव्यः विद्युतः ते रक्षन्तु। (मं. ११)
द्यौः पृथिवी सूर्यः चन्द्रमाः अन्तरिक्षं त्वा रक्षताम्। (मं १२)
त्रायमाण इन्द्रः जीवेभ्यः त्वा सं-उदे दधातु। (मं. १५)
आदित्या वसव इन्द्राग्नी स्वस्तये त्वा उद्धरन्तु। (मं. १६)
द्यौः पृथिवी प्रजापतिः सोमराज्ञीः ओषधयः त्वा मृत्योः उदपीपरन्। (मं. १७)

' पृथ्वीस्थानर प्राप्त होनेवाले देवता पृथिवी, जल (आप्), अग्नि, वायु, वसु, (सोमराज्ञीः ओषधयः) सोमादि औषधियां, (प्रजापतिः) प्रजापालक राजा, वैश्वानर, जातवेदा आदि हैं, अन्तरिक्ष स्थानमें रहनेवाले अन्तरिक्ष (आपः) मेघस्थानीय जल, मातरिश्वा वात, (मरुतः) वायु, चन्द्रमा, इन्द्र, विद्युत् (प्रजापतिः) मेघ आदि देवता हैं और द्युलोकमें रहनेवाले द्यौः, सूर्य, आदित्य, भग, प्रजापति (परम आत्मा) आदि देवता हैं, ये सब देवता मनुष्यको दीर्घ आयुष्य देवें। ' इनमेंसे प्रत्येक देवताका संबंध प्राणीकी दीर्घायुके साथ है। प्राणी तृषित होनेपर जलसे प्राणधारण करता है, भूख लगनेपर औषधिवनस्पतियां फूलोंफलों और कन्दोंसे प्राणीको जीवन देती हैं, सूर्यप्रकाश तो सभी पदार्थोंमें जीवन देता ही है इसी प्रकार अन्यान्य देवतासे जीवन लेकर मनुष्यादि प्राणी प्राण धारण करता है।

ये सब देव (वयो-धसः) आयुको धारण करनेवाले हैं, ये (संधमन्तु) मनुष्यको दीर्घजीवन प्रदान करें। इन देवोंसे जीवनशक्ति प्राप्त करनेका ही नाम यज्ञ है, इसीलिये कहा है कि—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (भ गी. ३।११)

' यज्ञसे देवोंको संतुष्ट करो और देव तुम सबको संतुष्ट करेंगे, इस प्रकार परस्परको आनन्द प्रसन्न करते हुए तुम सब परम श्रेय प्राप्त करोगे। ' इस प्रकार मनुष्यसे यज्ञका संबंध है, अतः इस सूक्तमें कहा है कि—

बर्हिः प्रमयुः कथा स्यात् ? (मं. १६)

' यज्ञ विघातक कैसे होगा ? ' सच्चा यज्ञ विधिपूर्वक किया जाये तो वह कभी विघातक नहीं हो सकता, प्रत्युत पोषक ही होगा। इस रीतिसे सूर्यादि देवोंसे शक्ति प्राप्त करके मनुष्य अपनी शक्तिका विकास कर सकता है और यहां आनन्दसे रहकर दीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है। इसी प्राणधारणके विषयमें इस सूक्तमें कहा है—

ते प्राणा अपाना इह रमन्तां।
अयं पुरुषः असुना सह। (मं. १)

इह ते असुः, इह प्राणः, इह आयुः, इह ते मनः। (मं. २)

त्वा प्राणः बलं मा हासीत्। ते असुं अनु ह्वयामसि। (मं. १९)

इस रीतिसे यज्ञद्वारा देवताओंको प्रसन्न करके 'तेरे अन्दर प्राण, अपान, आयु, मन, बल आदि स्थिर रहें।' अर्थात् मनुष्यको दीर्घजीवन प्राप्त हो।

ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि। (मं. ६)

'मनुष्यमें जो जीवन और बल है' वह सब शुभकर्म करनेके लिये ही है, यज्ञके लिये ही है। मनुष्यको जो दीर्घायु प्राप्त करनी है, बहुत बल प्राप्त करना है वह इसी कार्यके लिये है, वह सब श्रेष्ठतम यज्ञरूप कर्मके लिये ही है—

अयं इह अस्तु, अयं इतः अमुत्र मा गात्। (मं. १८)
मृत्योः त्वा उदपीपरम्। (मं. १९)
त्वा आहार्षं, त्वा अविदं, पुनः नवः आगाः। (मं. २०)
हे सर्वांग! ते सर्वं चक्षुः ते सर्वं आयुः च अविदम्॥ (मं. २०)
त्वत् निर्ऋतिं मृत्युं अपनिदध्मसि।
यक्ष्मं अपनिदध्मसि। (मं. २१)
सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत्पारयामसि। (मं. १८)

'यह मनुष्य इस लोकमें रहे, परलोकमें न जावे, अर्थात् न मरे। मृत्युसे तुझे बचाया है। मृत्युसे तुझे लौटा लाया हूं, मानो तू नया होकरही आ गया है, तेरा नयाही जीवन बन गया है। हे सर्वांगसंपूर्ण मनुष्य! चक्षु, आयु आदि सब तुझे प्राप्त हुए हैं। तुझसे दुर्गति, मृत्यु और रोग दूर हो गए हैं। हजारों बलवीर्यवाली औषधियोंके प्रयोग द्वारा तुझे मृत्युसे बचा दिया है।'

इस प्रकार दीर्घजीवन प्राप्त करनेमें मणिमंत्र औषधिके विविध प्रयोग करके यह सिद्धि प्राप्त करनी होती है। दीर्घजीवनकी प्राप्ति उपाय आयुर्वेद, योगसाधन आदिमें विस्तारपूर्वक देखे जा सकते हैं।

तम और ज्योति।

त्वत् तमः व्यवात्, अप अक्रमीत्।
ते ज्योतिः अभूत्। (मं. २१)

'तुझसे अन्धकार दूर हो चुका है और तुझे प्रकाश प्राप्त हुआ है।' इस मंत्रमें जीवनके एक महान् सिद्धान्तको स्पष्ट किया है। मनुष्यका जीवन सचमुच प्रकाशका जीवन है पर बहुत थोडेही लोग इसका अनुभव करते हैं। प्रत्येक मनुष्यके चारों ओर एक एक प्रकाशका वर्तुल स्वतंत्र है, जैसा जिसका सामर्थ्य अधिक होता है, उतना उसका वर्तुळ बडा और प्रभावशाली होता है। जिसका आत्मिक बल कम है उसका प्रकाशवर्तुल भी छोटा होता है। यह प्रकाशवर्तुल भले ही छोटा या कमजोर हो तो भी आकाशतक, नक्षत्रोंतक फैलने योग्य विस्तृत होता है। मनुष्य जब मरने लगता है तब यह प्रकाशवर्तुल छोटा छोटा होता जाता है, जो मनुष्य मरने तक अपने अन्तिम अनुभव बतला सकता है, वह इस बातको प्रत्यक्ष रूपसे कह सकता है। अन्तिम समय क्षणक्षणमें जिसका प्रकाशवर्तुल छोटा होता जाता है वह वैसा कहता भी है। मनुष्यकी आत्मापर (तमः) अन्धकार या अविद्याका आवरण पडना ही मृत्यु है। अन्तसमयमें जब यह प्रकाशवर्तुल केवल अंगुष्ठमात्र रह जाता है तो उस मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। यह अनुभव इस मंत्रद्वारा व्यक्त किया गया है। 'हे मनुष्य! तेरे ऊपर अन्धेरेका आवरण आ रहा था, वह अब दूर हो गया है और पूर्ववत् तेरी ज्योति जगत्में फैल गयी है।' यह २१ वें मंत्रभागका आशय है। यह आत्मप्रकाशका अनुभव है। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है। जितने जगत्का मनुष्यको ज्ञान होता है वहां तक इसका यह प्रकाशवर्तुल फैला रहता है, मरण समयमें वहांसे प्रकाशवर्तुल शनैः शनैः छोटा होता जाता है। बेहोशीका अर्थ ही प्रकाशवर्तुलका संकोच होना है। बेहोश होनेवाला मनुष्य कहता ही है कि मेरा आँखके सामने अंधेरा छा गया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इसका जो प्रकाश फैला हुआ था वह संकुचित हो गया, इसलिये इसकी जीवनशक्ति कम हो गई और वह मूर्च्छित हो गया।

दो मार्गरक्षक।

श्यामश्च शबलश्च यमस्य पथिरक्षी श्वानौ। (मं. ९)

'काला और श्वेत ऐसे वो यमके मार्गरक्षक श्वान हैं।' यहां 'श्वान' शब्दका अर्थ कई लोगोंने 'कुत्ता' किया है और इसका अर्थ ऐसा माना है कि 'यमके वो कुत्ते यमलोकके मार्गमें रहते हैं।' परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। 'श्वान' शब्दका अर्थ यहां '(श्वा-न; श्वः+न) जो कल नहीं रहता' यह है। यह नाम सूर्य अर्थात् कालका है, श्वेत

दिन और कृष्णवर्ण रात्रीका समय दो इसके भाग ' कलतक न रहनेवाले, ' केवल आज ही रहनेवाले हैं। इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा भी है—

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः। (ऋ. ६।९।१)

' एक (अहः) दिन काला होता है और दूसरा श्वेत होता है। ' ये ही दिन और रात हैं। ये ही यमके दो-श्वेत और काले मार्गरक्षक हैं। हरएक मनुष्यके मार्गकी रक्षा ये दोनों करते हैं। इनमेंसे प्रत्येक आज हैं परंतु कल तो निःसन्देह नहीं रहेंगे। ये दोनों यमके रक्षक हैं और हरएकके पीछे ये लगे रहते हैं, कोई भी इनसे छूट नहीं सकता, यह जानकर इन रक्षकोंके सामने कोई पाप कर्म न करे और सदा अच्छा सत्कर्म ही किया करें। पाप कर्म करनेपर ये यमके मार्गरक्षक किसीको नहीं छोडते। पापीको अवश्य दण्ड मिलेगा। यह दण्ड आयुकी क्षीणता ही है। अन्य रोगादि भी हैं। यह यम बडा प्रबल है किसीको नहीं छोडता अतः उसको नम्र होकर रहना चाहिये—

मृत्यवे अन्तकाय नमः। (मं. १)
मृत्युः दयताम्। (मं. ५)

' मृत्युको नमस्कार हो, मृत्यु दया करे ' इस प्रकार मृत्युके सामर्थ्यको हमेशा ध्यानमें रखना चाहिये। और उसका डर मनमें रखना चाहिये। उससे दयाकी याचना करनी चाहिये। इतनी नम्रता मनमें यदि हो तो मनुष्य सहसा पाप नहीं करेगा। कमसे कम इससे पापप्रवृत्ति न्यून तो अवश्य होगी। इसी प्रकार—

गोपायन्ति रक्षन्ति, तेभ्यः नमः स्वाहा च। (मं. १४)

' जो पालन और रक्षा करते हैं, उनको नमस्कार और समर्पण हो। ' इससे पूर्व पालकों और रक्षकोंकी गिनती की है, उन सबके लिये अपनी ओरसे यथायोग्य समर्पण अवश्य होना चाहिये। यही यज्ञ है। जो यज्ञके विषयमें इससे पूर्व लिखा है वह पाठक यहां देखें। यज्ञ और (स्वाहा= स्वा-हा) समर्पण एक ही बात है और नमन भी उसीमें संमिलित है।

इस प्रकार विचारवान् सुविज्ञ मनुष्य वृद्ध अवस्थामें सत्य ज्ञानका उपदेश देनेमें समर्थ होता है—

उपदेशक।

जिर्विः विदथं आवदासि। (मं. ६)

' इस प्रकारका वृद्ध मनुष्य अपने ज्ञानका उपदेश कर सकता है। ' तबतक कोई भी उपदेशक होनेका अधिकारी ही नहीं है। इससे पूर्व जो जो उपदेश दिये गए हैं, उसके अनुसार आचरण करके जो मनुष्य सदाचाररत होकर वृद्ध होता है, वही योग्य उपदेश देनमें समर्थ होता है।

इस सूक्तके स्मरण करने योग्य उपदेश।

(१) इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके। (अ. ८।१।१)

' जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहता है वह सूर्यके प्रकाशमें रहे क्योंकि वहां अमृत रहता है। '

(२) उत्क्रामातः पुरुष, माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः॥ (अ. ८।१।४)

' हे मनुष्य ! ऊपर चढ, मत गिर, और मृत्युके पाश तोड दे। '

(३) सूर्यस्ते शं तपाति। (अ. ८।१।५)

' सूर्य तेरा कल्याण करनेके लिये तपता है। '

(४) उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अ. ८।१।६)

' हे मनुष्य ! तेरी उन्नति हो, अवनति न हो। ' यह वाक्य भगवद्गीता (६।५) के ' उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। ' (अपनी आत्माका सदा उद्धार करना चाहिये, उसकी कभी गिरावट करनी नहीं चाहिये) इस वाक्यके समान है।

(५) मा जीवेभ्यः प्रमदः॥ (अ. ८।१।७)

' प्राणियोंके संबंधमें जो कर्तव्य है उसे करनेमें प्रमाद न कर। '

(६) मा गतानामादीधीथा ये नयन्ति परावतम्। (अ. ८।१।८)

' बीती बातोंके लिए शोक न कर, वे शोक अधोगतिमें दूरतक ले जाते हैं। '

(७) मात्र तिष्ठ पराङ्मनाः। (अ. ८।१।९)

' यहां विरुद्ध दिशामें मन करके खडा न रह। '

दीर्घायु ।

[२]

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – आयुः)

आ रंभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते ।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥ १ ॥
जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥ २ ॥
वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।
यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन् ॥ ३ ॥
प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि ।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (इमां अमृतस्य श्नुष्टिं आरभस्व) इस अमृत रसके पानको प्रारंभ कर। (जरत्-अष्टिः ते अच्छिद्यमाना अस्तु) वृद्धावस्था तक तेरा जीवन-भोग अविच्छिन्न रीतिसे होवे। (ते असुं आयुः पुनः आभरामि) तेरे प्राण और जीवनको तेरे अन्दर में पुनः भरता हूं। (रजः तमः मा उपगाः) भोग और अज्ञानके पास न जा और (मा प्र मेष्ठाः) मत मर ॥ १ ॥

(जीवतां ज्योतिः अर्वाङ् अभि-एहि) जीवित मनुष्योंकी ज्योतिको इस ओरसे प्राप्त हो। (त्वा शत-शारदाय आ हरामि) तुझे सौ वर्षकी आयुके लिये लाता हूं (मृत्युपाशान् अशस्तिं अवमुञ्चन्) मृत्युके पाशों और अकीर्तिको हटाता हुआ (ते प्रतरं द्राघीयः आयुः दधामि) मैं तेरे लिये उत्कृष्ट दीर्घ आयु देता हूं ॥ २ ॥

(अहं वातात् ते प्राणं अविदं) मैंने वायुसे तेरे प्राणको प्राप्त किया है। (सूर्यात् तव चक्षुं) सूर्यसे तेरे नेत्रको प्राप्त किया है। (यत् ते मनः त्वयि धारयामि) जो तेरा मन है उसको मैं तेरे अन्दर स्थापित करता हूं। (अंगैः संवित्स्व) अपने सब अवयवोंको प्राप्त हो। (जिह्वया लपन् वद) जिह्वासे शब्दोच्चार करता हुआ तू बोल ॥ ३ ॥

(जातं अग्निं इव) अभी उत्पन्न हुई अग्निके समान (त्वा द्विपदां चतुष्पदां प्राणेन संधमामि) द्विपाद और चतुष्पादोंके प्राणसे जीवन देता हूं। हे मृत्यो ! (चक्षुषे नमः) तेरी नेत्र-इंद्रियके लिये नमन और (ते प्राणाय नमः अकरं) तेरे प्राणके लिये मैं नमन करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे रोगी मनुष्य ! तू इस अमृतरस रूपी औषधिरसका पान कर। और दीर्घायुसे युक्त बन। तेरे अन्दर प्राण पुनः स्थिर करता हूं। तू भोगमय जीवन और अज्ञानके पास न जा और शीघ्र न मर ॥ १ ॥

जीवित मनुष्योंमें जो एक विलक्षण तेज होता है उसे प्राप्त कर। और सौ वर्ष तक जीवित रह। मृत्युके पाशको तोड। मैं तेरी आयु बढाता हूं ॥ २ ॥

वायुसे प्राण, सूर्यसे नेत्र तुझे देता हूं। तेरे अन्दर मन स्थिर रहे। तेरे सब अवयवोंकी पुष्टि होवे और तेरी जिह्वासे उत्तम वक्तृत्व होवे ॥ ३ ॥

जिसप्रकार अग्निकी छोटी ज्वालाको थोडी थोडी वायु देकर प्रदीप्त करते हैं, ठीक उसप्रकार तेरे अन्दर स्थित थोडेसे प्राणको हम अनेक उपायोंसे प्रदीप्त करते हैं। मृत्युको हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि ।
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥
जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥
अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु ।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥
अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितोऽयमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (अयं जीवतु) यह पुरुष जीवित रहे, (मा मृत) न मरे। (इमं सं ईरयामसि) इसको हम सचेत करते हैं। (अस्मै भेषजं कृणोमि) इसके लिये मैं औषध बनाता हूं। हे (मृत्यो) मृत्यो ! (पुरुषं मा वधीः) इस पुरुषका वध न कर ॥ ५ ॥

(अहं अरिष्ट-तातये) मैं सुखका विस्तार करनेके लिये (जीवलां) जीवन देनेवाली (नघारिषां) हानि न करनेवाली (त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीं) रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली और बल बढानेवाली, (जीवन्तीं अस्मै हुवे) जीवनीय औषधिको इसे देता हूं ॥ ६ ॥

(अधि ब्रूहि) तू उपदेश कर, (मा आरभथाः) बुरा बर्ताव न कर. (इमं सृज) इस पुरुषको जगत्में चला (तव एव सन्) तेराही होकर यह (सर्वहायाः इह अस्तु) पूर्ण आयुतक यहां रहे। (भवा-शर्वौ) हे भव और शर्व ! तुम दोनो (मृडतं) सुखी करो, (शर्म यच्छतं) सुख दो। (दुरितं अपसिध्य) पापको दूर करके (आयुः धत्तं) दीर्घ आयु प्रदान करो ॥ ७ ॥

हे (मृत्यो) मृत्यो ! (अस्मै अधि ब्रूहि) इसको उपदेश कर, (इमं दयस्व) इसपर दया कर। (अयं इतः उत् एतु) यह इस विपत्तिसे ऊपर उठे। और (अ-रिष्टः सर्वाङ्गः) पीडारहित सब अंगोंसे पूर्ण, (सु-श्रुत्) उत्तम ज्ञान या श्रवण शक्तिसे युक्त होकर (जरसा शतहायनः) वृद्धावस्थामें सौ वर्षसे युक्त होकर (आत्मना भुजं अश्नुतां) अपनी शक्तिसे भोगोंको प्राप्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मनुष्य दीर्घजीवी होवे, शीघ्र न मरे। ऐसी शक्ति इसमें संचालित करते हैं। इस रोगीको हम औषध देते हैं। इसकी मृत्यु न हो ॥ ५ ॥

इसके दीर्घजीवनके लिये जीवन्ती औषधिके रसको देता हूं। यह आयुष्य बढानेवाली, बल देनेवाली, दोष हटानेवाली, और रोग दूर करनेवाली है ॥ ६ ॥

इस दीर्घजीवनके उपायका उपदेश जनताको दे, कोई बुरा आचरण न करे, यह पुरुष इससे निर्दोष होकर जगत्में संचार करे। इसको दीर्घजीवन प्राप्त हो। इसको सुखमय शरीर मिले, रोग और दोष दूर हों और पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥ ७ ॥

इसको आरोग्य प्राप्तिका उपदेश दे, मृत्यु इसपर इस समय दया करे, यह सब प्रकार अभ्युदयको प्राप्त होवे, इसके सब अवयव पूर्ण रीतिसे बढें, निर्दोष हों। यह ज्ञानवान् होकर पूर्णायु होवे और अन्ततक अपने प्रयत्नसे अपने लिये आवश्यक भोग प्राप्त करे ॥ ८ ॥

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥ ९ ॥
यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥
कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥ ११ ॥
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥
अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥ १३ ॥

अर्थ— (देवानां हेतिः त्वा परिवृणक्तु) देवोंका शस्त्र तुझे दूर रखे । (त्वा रजसः पारयामि) तुझे रजस्‌से पार करता हूं । (त्वा मृत्योः उत् अपीपरं) तुझे मृत्युसे उठाया है, तू मृत्युसे दूर हो चुका है । (क्रव्यादं अग्निं आरात् निरूहं) मांसभक्षक अग्निको दूर रखता हूं । (ते जीवातवे परिधिं दधामि) तेरे जीवनके लिये मर्यादा निश्चित करता हूं ॥ ९ ॥

हे मृत्यो ! (यत् ते अनवधर्ष्यं रजसं नियानं) जो तेरा अजिक्य रजोमय मार्ग है (तस्मात् पथः इमं रक्षन्तः) उस मार्गसे इस पुरुषकी रक्षा करते हुए हम (अस्मै ब्रह्म वर्म कृण्मसि) इसके लिये ज्ञानका कवच करते हैं ॥ १० ॥

(ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घं आयुः स्वस्ति कृणोमि) तेरे लिये प्राण अपान, बुढापा, दीर्घ आयु और अन्तमें मृत्यु कल्याणमय करता हूं । (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान सूर्यसे उत्पन्न कालके भेजे हुए सर्वत्र संचार करनेवाले सब यमदूतोंको (अपसेधामि) मैं दूर करता हूं ॥ ११ ॥

(अरातिं) शत्रु, (निर्ऋतिं) दुर्गति, (ग्राहिं) रोग, (क्रव्यादः) मांसभक्षक जन्तु, (पिशाचान्) मांस खानेवाले (रक्षः) विनाशक और (यत् सर्वं दुर्भूतं) जो सब अहितकारी है, (तत् तम इव) उसको अन्धकारके समान (परः आरात् अपहन्मसि) दूर हटाता हूं ॥ १२ ॥

(अमृतात् आयुष्मतः जातवेदसः अग्नेः) अमर, आयुवाले जातवेद अग्निसे (ते प्राणं वन्वे) तेरे प्राणको प्राप्त करता हूं । (यथा अमृतः न रिष्याः) जिससे अमर होकर तू न विनष्ट होगा । (सजूः असः) उसके साथ रह, (तत् ते समृध्यतां) वह तेरा कार्य समृद्धियुक्त होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ— देवोंके शस्त्र तुझपर न गिरें । तुझे भोगवृत्तिसे परे ले जाता हूं । मृत्युको हटाता हूं । मुर्दोंको जलानेवाला अग्नि तेरे पाससे दूर होवे और तू पूर्णायुकी अन्तिम मर्यादातक जीवित रह ॥ ९ ॥

मृत्युका अजिक्य मार्ग है, तथापि उससे हम इसकी रक्षा करते हैं । और इसको ज्ञानका कवच देते हैं जिससे इसकी रक्षा होगी ॥ १० ॥

प्राण अपान, वृद्धावस्था, दीर्घ आयु आदिके कारण तुझे सुख प्राप्त हो । तुझे कष्ट देनेवाले जो होंगे उनको मैं दूर करता हूं ॥ ११ ॥

शत्रु, विपत्ति, रोग, विनाशक, घातक, और क्षीणता करनेवाले जो होंगे उनको दूर हटाता हूं ॥ १२ ॥

अमर और आयु देनेवाले अग्नि देवसे मैं तेरे लिये प्राण लाता हूं । इससे तेरी मृत्यु नहीं होगी । तू यहां जीवित रह और समृद्धिसे युक्त हो ॥ १३ ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि रक्षन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥
शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥
यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥ १६ ॥
यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥
शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी ते असन्तापे) द्यौ और पृथ्वी लोक तेरे लिये सन्ताप न करनेवाले, (शिवे अभिश्रियौ) शुभ और श्रीसे युक्त (स्तां) हों। (सूर्यः ते शं आतपतु) सूर्य तेरे लिये सुख देता हुआ प्रकाशित होवे। (ते हृदे वातः शं वातु) तेरे हृदयके लिये वायु सुखदायी होकर बहे। (दिव्याः पयस्वतीः आपः) आकाशके मेघमंडलसे प्राप्त होनेवाले और पृथ्वीपर बहनेवाले जलप्रवाह (त्वा शिवाः अभिरक्षन्तु) तेरे लिये शान्ति देते हुए बहते रहें ॥ १४ ॥

(ते ओषधयः शिवाः सन्तु) तेरे लिये औषधियां शुभ गुणयुक्त हों। (अधरस्याः उत्तरां पृथिवीं) नीचला भूमिसे ऊपरकी ऊंची भूमिपर (त्वा अभि उत् आहार्षं) तुझे मैंने लाया है। (तत्र सूर्याचन्द्रमसौ उभौ आदित्यौ त्वा रक्षतां) वह सूर्य और चन्द्र ये दोनों आदित्य तेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

(यत् ते परिधानं वासः) जो तेरा ओढनेका वस्त्र है, (यां त्वं नीविं कृणुषे) जिस वस्त्रको तू कमरपर बांधता है, (तत् ते तन्वे शिवं कृण्मः) वह तेरे शरीरके लिये सुखदायक बनाते हैं। वह वस्त्र (ते संस्पर्शे अद्रूक्ष्णं अस्तु) तेरे स्पर्शके लिये खुरदरा न होवे अर्थात् मृदु होवे ॥ १६ ॥

(वप्ता मर्चयता सुतेजसा क्षुरेण) तू नापित स्वच्छता करनेवाले तेज धारवाले छुरासे (यत् केशश्मश्रु वपसि) जो बालों और मूंछोंका मुंडन करता है उससे (शुभं मुखं) सुंदर मुख बना और (नः आयुः मा प्रमोषीः) हमारी आयुका नाश न कर ॥ १७ ॥

(व्रीहियवौ ते शिवौ) चावल और जौ तेरे लिये कल्याणकारी और (अ-बलसौ अदो-मधौ स्तां) कफ न करनेवाले और खानेके लिये सुख दायक हों। (एतौ यक्ष्मं वि बाधेते) ये दोनों रोगका नाश करते हैं, और (एतौ अंहसः मुञ्चतः) ये दोनों पापसे मुक्त करते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ— द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, भूलोकमें रहनेवाले सब पदार्थ अर्थात् सूर्य, वायु, जल आदि सब तेरे लिये सुख देनेवाले हों ॥ १४ ॥

औषधियां तुझे अपने शुभगुणोंसे सुख दें। इसको मृत्युकी हीन अवस्थासे नीरोगी उच्च अवस्थामें मैंने लाया है। यहां सूर्यचन्द्रादि तेरी रक्षा करें। जो तेरा ओढने और पहननेका वस्त्र है वह तेरे लिये मृदु सुखकारक स्पर्श करनेवाला हो ॥ १५-१६ ॥

उत्तम तेज छुरेसे जो नापित हजामत बनाता है उससे मुखकी सुंदरता बढती है। यह नापित किसीकी आयुका नाश न करे ॥ १७ ॥

यदुश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥
अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥
शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥
शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥
मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।
तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥ २३ ॥

अर्थ— (यत् कृष्याः धान्यं अश्नासि) जो कृषिसे उत्पन्न होनेवाला धान्य तू खाता है और (यत् पयः पिबसि) जो दूध तू पीता है, (यत् आद्यं यद् अनाद्यं) जो खाने योग्य और जो खाने अयोग्य है (ते तत् सर्वं अविषं कृणोमि) तेरे लिये वह सब विषरहित करता हूं ॥ १९ ॥

(त्वा अह्ने च रात्रये च उभाभ्यां परिदद्मसि) तुझे मैं दिन और रात्री इन दोनों समयोंके लिये सौंप देता हूं। (मे इमं) मेरे इस मनुष्यको (अरायेभ्यः जिघत्सुभ्यः परि रक्षत) अदानी भूखोंसे रक्षा कर ॥ २० ॥

(ते शतं हायनान्) तेरी सौ वर्षकी आयु जिसमें (द्वे युगे) दिन रात्रीके दो संधि हैं, तथा (त्रीणि) सर्दी गर्मी और वृष्टी ये तीन काल और (चत्वारि) बाल्य, तारुण्य, मध्यम और वृद्ध ये चार अवस्थाएं हैं, इस प्रकारकी आयुको (अ-युतं कृण्मः) अटूट अथवा अखंडित करते हैं। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः अहृणीयमानाः) इन्द्र, अग्नि और सब देव विनासंकोच करते हुए (ते अनुमन्यन्तां) तेरी आयुका अनुमोदन करें ॥ २१ ॥

(शरदे हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय) शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म इन ऋतुओंके लिये (त्वा परि दद्मसि) तुझे हम सौंप देते हैं, । (येषु ओषधीः वर्धन्ते) जिस ऋतुमें औषधियां बढती हैं, वह (वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि) वृष्टिका ऋतुभी तुम्हारे लिये सुखकारी हो ॥ २२ ॥

(मृत्युः द्विपदां ईशे) मृत्यु द्विपादोंपर प्रभुत्व करता है, (मृत्युः चतुष्पदां ईशे) मृत्यु चार पांववालोंपर अधिकार चलाता है। (तस्मात् गोपतेः मृत्योः) उस जगत्के स्वामी मृत्युसे (त्वां उद्भरामि) तुझे ऊपर उठाता हूं। (सः मा बिभेः) वह तू अब मृत्युसे मत डर ॥ २३ ॥

भावार्थ— चावल, जौ आदि धान्य तेरे लिये सुखदायी, खानेके लिये स्वादु, कफ आदि दोष न उत्पन्न करनेवाला नीरोगता बढानेवाला और पापवृत्ति हटानेवाला हो ॥ १८ ॥

जो कृषिका धान्य और गौका दूध खाया पीया जाता है वह सब विषरहित हो ॥ १९ ॥

दिन और रात्रीके समय शत्रुओंसे तेरी रक्षा हो ॥ २० ॥

सौ वर्षकी दीर्घ आयु तुझे प्राप्त हो और इस आयुमें दोनों संधिकाल, सर्दी गर्मी और वृष्टीके तीनों समय, सुखकारक हों। तेरी आयुकी बाल्यादि चारों अवस्थाएं एकके पीछे यथाक्रम तुझे प्राप्त हों ॥ २१ ॥

शरत्, हेमन्त, शिशिर और वर्षा ये सब ऋतु तुझे सुखदायी हों। वृष्टिसे जो वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं वह तेरे लिये सुख देवें ॥ २२ ॥

सब द्विपाद, चतुष्पाद प्राणियोंपर मृत्यु अधिकार चलाता है, उस मृत्युके पाससे तुझे ऊपर निकाला है, अब तू मत डर ॥ २३ ॥

×

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥
परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥ २६ ॥
ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥
अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥

अर्थ— हे (अ-रिष्ट) अहिंसित मनुष्य ! (सः न मरिष्यसि) वह तू नहीं मरेगा। (न मरिष्यसि, मा बिभेः) नहीं मरेगा, अतः मत डर। (तत्र न वै म्रियन्ते) वहां नहीं मरते हैं तथा (अधमं तमः नयन्ति) हीन अन्धकारके प्रति भी नहीं जाते हैं ॥ २४ ॥

(यत्र इदं ब्रह्म) जहां यह ज्ञान और (जीवनाय कं परिधिः क्रियते) जीवनके लिये सुखमयी मर्यादा की जाती है (तत्र) वहां (गौः अश्वः पशुः पुरुषः) गाय, घोडा, पशु और मनुष्य (सर्वः वै जीवति) सब कोई जीवित रहता है ॥ २५ ॥

(समानेभ्यः सबन्धुभ्यः) समान बान्धवोंसे होनेवाले (अभिचारात् त्वा परिपातु) हमलेसे तेरी रक्षा होवे। तू (अ-मम्रिः अमृतः वा अतिजीवः) अक्षीण, अमर और दीर्घजीवी हो। (असवः ते शरीरं मा हासिषुः) प्राण तेरे शरीरको न छोडें ॥ २६ ॥

(ये एकशतं मृतवः) जो एकसौ एक मृत्यु हैं, (या अतितार्याः नाष्ट्राः) जो पार करने योग्य नाश करनेवाली हैं (तस्मात्) उससे (देवाः वैश्वानरात् अग्नेः) सब देव वैश्वानर अग्निकी शक्तिसे (त्वां) तुझे (अधिमुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २७ ॥

(अग्नेः पारयिष्णु शरीरं असि) अग्निका पार करनेवाला शरीर तू है (रक्षोहा सपत्नहा असि) घातकों और शत्रुओंका नाशक तू है। (अथो अमीवचातनः) और रोग दूर करनेवाला है। (पू-तु-द्रुःनाम भेषजं) पवित्रता, वृद्धि और गति देनेवाला यह औषध है ॥ २८ ॥

भावार्थ— अब तू नहीं मरेगा। अतः अब डरनेका कारण नहीं है। जहां कोई मरते नहीं और जहां अंधेरा नहीं, ऐसे स्थानमें तुझको लाया है ॥ २४ ॥

जहां यह ज्ञान और दीर्घजीवनकी विद्या है वहां गाय घोडा मनुष्य आदि सब दीर्घायु होते हैं ॥ २५ ॥

अपने बन्धुबान्धवोंके आक्रमणसे तेरी रक्षा करते हैं। तू नीरोग होकर दीर्घायु हुआ है। तेरे प्राण तुझे अब नहीं छोडेंगे ॥ २६ ॥

जो सैंकडों प्रकारसे आनेवाले मृत्यु हैं, और नाशके जो अन्य साधन हैं वे परमेश्वरकी कृपासे दूर हों ॥ २७ ॥

तैजस तत्त्वका शरीर ही तेरा है। अतः तू स्वयं घातकोंका नाश करनेवाला है। तू स्वयं रोगोंको दूर करनेवाला है। तेरेही अन्दर पवित्रता, वृद्धि और गति करनेकी शक्ति है। अतः उससे तू दीर्घायु हो ॥ २८ ॥

दीर्घायु बननेका उपाय।

मृत्युका सर्वाधिकार।

दीर्घायु बननेकी इच्छा हरएक प्राणीके अन्तःकरणमें रहती है। परंतु मृत्युका अधिकार सबके ऊपर एकसा है, इस विषयमें इस सूक्तमें कहा है—

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्। (मं. २१)

"द्विपाद और चतुष्पाद इन सब प्राणियोंपर मृत्युका अधिकार है।" द्विपाद प्राणी दो पाववाले होते हैं जैसे मनुष्य, पक्षी आदि। चतुष्पाद प्राणी चारपाववाले पशु आदि होते हैं। इनसे अन्य भी जो प्राणी हैं जिनको बहुपाद और अपाद भी कहा जा सकता है, इन सब प्राणियोंपर मृत्युका प्रभुत्व है। अर्थात् मृत्युके आधीन ये सब प्राणी हैं। मृत्युके अधिकारके बाहर इनमेंसे कोई नहीं है। सबकी अन्तिमगति मृत्युके आधीन है। मृत्यु जबतक इस लोकमें इन प्राणियोंको रहने देगा तबतक ही वे रहेंगे, और जिस दिन मृत्यु प्राणीको लेना चाहेगा, तब प्राणी यहांसे चल बसेंगे। इसलिये मृत्युसे दयाकी याचना करते हैं—

मृत्यो! इमं दयस्व। (मं. ८)

"हे मृत्यु! इसपर दया कर।" सर्वाधिकारी होता है, वह दया करेगा तो ही अपना कुछ कार्य बनेगा। और यदि उसने प्राणियोंपर क्रोध किया, तो फिर उनकी रक्षा कौन करेगा? परंतु वैसा देखा जाय तो मृत्युके हाथमें सर्वाधिकार रहते हुए भी वह नियमोंके आधीन है। वह भी विशेष नियमसे चलता है, अतः उसकी प्रसन्नता होनेके कुछ नियम हैं। उन नियमोंके अनुसार चलनेवालोंको ही लाभ हो सकता है। अतः इन नियमोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसी ज्ञानका उपदेश करना चाहिये। यही उपदेश करने योग्य विषय है। इस कारण कहा है—

जीवनीय विद्याका उपदेश।

अधिब्रूहि। (मं० ७) अस्मै अधि ब्रूहि। (मं० ८)
अस्मै ब्रह्म वर्म कृण्मसि। (मं० १०)
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ (मं० २५)

"मनुष्योंको इस जीवनीय विद्याका उपदेश कर। मनुष्योंको दीर्घायु बननेके नियमोंका उपदेश दे। जिसमें जीवनकी अवधितक सुखपूर्वक रहनेका और दीर्घजीवनके नियमोंका ज्ञान सबको उपदेशद्वारा दिया जाता है, वहां मनुष्य तो दीर्घजीवी होते ही हैं, परंतु उस देशके गाय घोडे आदि पशु भी दीर्घजीवी होजाते हैं।"

दीर्घजीवनकी विद्या है, उसमें प्राणियोंको दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये विशेष नियम हैं। उन जीवनीय नियमोंका ज्ञान जनताको देनेके लिये उपदेशक नियुक्त करना चाहिये। इनका यही कार्य होगा कि ये ग्रामग्राममें जांय, वहांकी जनताका जीवनक्रम देखें, उनका व्यवहार देखें और उनके रहने सहनेके अनुसार उनका दीर्घजीवन होनेके लिये योग्य उपदेश दें। इस प्रकार हरएक ग्रामके लोगोंको उपदेश दिया जाय। उनसे जो भूलें होती हों, उनके विषयमें उनको समझाया जाय और उनके जीवनमें ऐसा परिवर्तन लाया जाय कि, जिससे दीर्घायु प्राप्त होने योग्य दैनिक व्यवहार वे कर सकें।

ज्ञानका कवच।

इस सूक्तके दसवें मंत्रमें 'ब्रह्म वर्म' अर्थात् 'ज्ञानरूपी कवच' बनानेके विषयमें कहा है। ज्ञान यह बडा भारी कवच है। अन्य कवच ये क्षुद्र कवच हैं। सबसे विशेष प्रभावशाली कवच ज्ञानका कवच है। मानो, ज्ञानके कवचकी निचली श्रेणीपर अन्य कवच होते हैं। इस कारण जिसने ज्ञानका कवच पहन लिया वह सबसे अधिक सुरक्षित होता है। यहां तो यहांतक लिखा है कि जिसने ज्ञानका कवच पहन लिया उसको तो मृत्युकाभी डर नहीं रहता। इतना ज्ञानके इस कवचका सामर्थ्य है। मृत्युका सामर्थ्य सबसे अधिक है, परंतु जो मनुष्य ज्ञानका कवच पहनता है उसपर मृत्युके शस्त्रभी कार्य नहीं कर सकते। ज्ञानका कवच जिसने पहन लिया है वह मृत्युके पाशोंको तोड सकता है, देखिये—

अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्ति। (मं० २)
देवानां हेतिः त्वा परि वृणक्तु। (मं० ९)

"मृत्युके पाशोंको और अवनतिके बन्धनोंको तोड दो।

देवोंके शस्त्र तुझे वर्जित करें । " अर्थात् देवोंके शस्त्र तेरे ऊपर न गिरे । यह अवस्था तब बनती है जब मनुष्य ज्ञानका कवच पहनता है । ज्ञानका कवच पहिने हुए मनुष्यको मृत्युके पाश बांध नहीं सकते, दुर्गति उसके पास नहीं आसकती और देवोंके शस्त्र उसको काट नहीं सकते । इतना सामर्थ्य इनमें होनेसे ही इस जीवनीय विद्याका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये । इसी ज्ञानके बलसे ज्ञानी मनुष्य मृत्युकोभी आदेश देनेमें समर्थ होता है, देखिये—

मृत्यो ! मा पुरुषं वधीः । (मं० ५)
देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु । पारयामि त्वा मृत्योरपीपरम् । आराद्‌ग्निं क्रव्यादं निरूहम् ॥
(मं० ९)
यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।
पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥
(मं० १०)
वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूतांश्चरतोऽपसेधामि सर्वान् । (मं. ११)
तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥
(मं. २३)

' हे मृत्यो ! अब तू इस पुरुषका वध न कर । देवोंके शस्त्रोंसे इसका वध न हो । मैं इस ज्ञानसे इसको रज तमरूपी मृत्युसे पार करता हूं । प्रेतदाहक अग्निसे भी इसको दूर रखता हूं । हे मृत्यो ! जो तेरा रज और तमयुक्त मार्ग है और जो अजेय है, उस मार्गसे हम इसका बचाव करते हैं । क्योंकि हमने ज्ञानरूपी कवच इसके लिये बनाया है । इसी ज्ञानसे हम सब यमदूतोंको भी दूर हटा सकते हैं । मृत्युसे हम इसको ऊपर उठाते हैं, अब डरनेका कोई कारण नहीं है । '

यह ज्ञानरूपी कवचकी महिमा है । ज्ञानी मनुष्य मृत्युको भी कह सकता है कि " हां, इस समय मरनेके लिये फुरसत नहीं है, जब समय मिलेगा, तब देखा जायगा । " ज्ञानीको मृत्युके पाश बांध नहीं सकते । देवोंके शस्त्र उसपर कार्य नहीं करते । मार्गमें मृत्युके भयसे रक्षा करनेवाला एकमात्र ज्ञान ही है । यमदूतोंका भय दूर करनेवाला शुद्ध ज्ञान ही है । इस प्रकार यह ज्ञानका ही चमत्कार है ।

जहां जहां वेदमंत्रोंमें मृत्युका भय हटानेकी बात कही है, वहां इस ज्ञानसेही मृत्युभय दूर होता है ऐसा समझना चाहिये । मृत्युका भय दूर करनेवाला ज्ञान बहुत विस्तृत है । आयुर्वेद इसी जीवनीय ज्ञानको प्रकाशित करता है । इसका सारांशरूपसे वर्णन वेदमंत्रोंमें स्थानस्थानपर है । इस सूक्तमें भी थोडा थोडा वह ज्ञान दिया है देखिये—

रजस्तमः मा उपगाः । मा प्रमेष्ठाः ॥ (मं० १)

" रज अर्थात् भोगजीवन और तम अर्थात् ज्ञानहीन जीवन इन दो हीन जीवनोंको न प्राप्त हो । इनसे दूर रहनेसे तू मरेगा नहीं । " यह मंत्र जीवनीय विद्याका एक प्रधान मंत्र है । रजोगुणी जीवन और तमोगुणी जीवन आयुष्यका नाश करता है । वैसा जीवन नहीं व्यतीत करना चाहिये, जिससे मृत्युसे बचना संभव होगा । रजो और तमोगुणी जीवनका लक्षण और फल भगवद्गीतामें कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
(भ० गी० अ० १७)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥
भ० ग० १४

" कडुवे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले आहार राजस लोगोंको भाते हैं और वे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं । प्रहरतक पडा हुआ, रसरहित, बदबूवाला, रातभरका बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तामस लोगोंको प्रिय होता है । "

" रजोगुण रागरूप होनेसे तृष्णा और आसक्तिका मूल है। वह देहधारीको कर्मपाशमें बांधता है। तमोगुण अज्ञान-मूलक है। वह सब देहधारियोंको मोहमें डालता है और देहीको असावधानी, आलस्य और निद्राके पाशमें बांधता है। तम ज्ञानको ढककर प्रमाद कराता है। जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह पैदा होते हैं। रजोगुणमें मृत्यु होनेसे देहधारी कर्मसंगियोंमें जन्म लेता है और तमोगुणमें मरनेसे मूढयोनिमें पैदा होता है। रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान है। सत्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। सात्विक मनुष्य ऊंचे चढते हैं, राजसिक बीचमें रहते हैं और हीनगुणके कारण तमोगुणी अधोगतिको पाते हैं। "

इस प्रकार रजोगुण और तमोगुणसे अवनति होती है, इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि (रजः तमः मा उपगाः) रजोगुण और तमोगुणके पास न जा। क्योंकि उनसे गिरावट निःसन्देह होगी। रजोगुण और तमोगुणसे रोग भी बढते हैं और अकालमें मृत्यु भी होती है, इसलिये रजोगुण और तमोगुणके पास न जानेके लिये जो इस सूक्तमें कहा है, वह अत्यंत महत्त्वका उपदेश है। दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक इस उपदेशकी ओर विशेष ध्यान दें। इसी उपदेशको दुहराते हुए कहा है—

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः।
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि, मा बिभेः॥
(मं० १४)

"जो हीन तमोगुणको नहीं अपनाते वे मरते नहीं। वह हिंसित नहीं होता, निश्चयसे नहीं मरता, अतः तू मत डर। " यहां कितने बलसे कहा है देखिये। जो तमोगुणके पास नहीं जाता वह मरता नहीं; क्योंकि मरनेका अर्थही यह है कि तमरूप अंधकारसे घेरा जाना। जो तमोगुणको अपने अंदर नहीं बढने देगा वह अंधकारसे कैसा घेरा जायगा ?

अन्धकारका प्रकाशवर्तुलको घेरना, प्रकाशवर्तुलका छोटा होना मृत्यु है, इस विषयमें प्रथम सूक्तमें जो लिखा है वह पाठक इस स्थानपर पुनः पढें। उसको इस मंत्रके साथ पढनेसे ही इस मंत्रका आशय ठीक प्रकार ध्यानमें आसकता है। तमोगुण बढनेसे मृत्युकी संभावना है इसीलिये शास्त्र-कारोंने कहा है कि तमोगुणसे दूर रहना चाहिये। जो बाह्य कारणोंसे मृत्यु होता है उनको भी हटाना चाहिये। वे कारण निम्न लिखित मंत्रोंमें गिने हैं—

अरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि।
(मं० १२)

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात्सबन्धुभ्यः।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम्॥ (मं० २६)

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः।
मुञ्चन्तु तस्मात्त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि॥
(मं० २७)

इन श्लोकोंमें मृत्युके विविध कारण कहे हैं, उनका क्रम-पूर्वक विवरण देखिये—

१ अराति= जो (राति) परोपकार नहीं करता, स्वार्थी जीवन व्यतीत करता है, उसको अराति कहते हैं। कंजूस ही अराति है। जो सब भोग अपने लिये भोगता है वह अराति है; इस वृत्तिसे आयु क्षीण होती है।

२ निर्ऋति= [निर्ऋति के विषयमें प्रथम सूक्तके विवरणमें विस्तारसे लिखा है] इस दुर्गतिसे आयुष्यका क्षय होता है।

३ ग्राहि= ग्राही उन रोगोंका नाम है जो दीर्घकालतक रोगीको पकडे रखते हैं। जो शीघ्र दूर नहीं होते। इन रोगोंसे बचना चाहिये, क्योंकि इससे आयु क्षीण होती है।

४ क्रव्याद्= मांसखानेवाले। ये भी रोगकृमी होते हैं जो शरीरका मांस खाते हैं और मनुष्यको कृश करते हैं। सिंह व्याघ्रादि पशु भी क्रव्याद कहे जाते हैं। नरमांसभक्षक मनुष्य भी क्रव्याद कहे जाते हैं। इस प्रकार क्रव्याद बहुत प्रकारके हैं। इन सबसे बचना चाहिये। दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाले इनके काबूमें न जांय।

५ पिशाच= शरीरके रुधिर और मांसको खानेवाले, रोगक्रिमी और पूर्वोक्त हिंसक प्राणी पिशाच हैं। इनसे भी बचना चाहिये।

६ रक्षः= रक्षा करनेके मिषसे पास आते हैं और कपटसे सर्वस्व अपहरण करते हैं। ये तो रोगकृमि भी हैं और

सामाजिक और राजकीय क्षेत्रमें अत्याचारी शत्रु भी इनमें संमिलित हैं। राक्षस शब्दसे इन सबका बोध होता है।

७ दुर्भूत= जो भी बूरा होना है वह सब दूर करना चाहिये ; हरएक प्रकारकी बुराईको हटाना चाहिये।

८ तमः= अज्ञान, हीनता आदि सब तमोगुणके प्रकार दूर करने चाहिये। इससे हरएक प्रकारकी अवनति होती है और अल्पायु भी होती है।

९ रजः= [के विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है, यह शब्द यहां इन मंत्रोंमें नहीं आया है पीछेके मंत्रसे लिया है।]

१० अभिचार— (समानेभ्यः सबन्धुभ्यः अभिचारः) अपने समान जो अपनी सभ्यतावाले अपने भाई हैं, उनसे हमले होते हैं। ये हमले भी विघातक होनेसे इनके कारण विपत्ति और मृत्युभी होते हैं। अतः अपने बन्धुबांधवोंमें एक विचार होना चाहिये जिससे आयु बढनेमें सहायता होगी। ये एक प्रकारके हमले हैं, इनसे भिन्न दूसरे प्रकारके भी हमले होते हैं वे (विषमेभ्यः अबन्धुभ्यः अभिचारः) अपनी सभ्यतासे विपरीत सभ्यतावाले शत्रुओंसे जो हमले होते हैं वे भी अकाल मृत्यु करनेवाले होते हैं, अतः इस प्रकारके शत्रु सदाके लिये दूर करन चाहिये। कोई किसीके ऊपर हमला न करे और सब आनन्द प्रसन्न रहते हुए सुखसे रहें।

११ शरीरं असवः मा हासिषुः= किसी अन्य प्रकारसे होनेवाले अकाल मृत्यु भी न हों। सब लोग (अ-म्रिः) मरियल न हों, (अ-मृतः) अकालमें न मरें, और (अतिजीवः) अतिदीर्घ कालतक जीवित रहें। मनुष्यको ये तीन बातें साध्य करना है कि मरियल न रहना, अकालमें न मरना और अतिदीर्घ आयु प्राप्त करना। इसके विरुद्ध तीन विघ्न हैं जो ये हैं, एक मरियल होना, रोगादिकोंसे क्षीण होना; दूसरा अकालसे तथा व्रणादिसे पीडित होना और अल्प आयु होना। मनुष्यका प्रयत्न इन विपत्तियोंको हटानेके लिये होना चाहिये।

१२ एकशतं मृत्यवः= एकसौ एक मृत्यु हैं। मृत्यु इतने अनेक प्रकारके हैं। इन सबको हटाना मनुष्यका कर्तव्य है। जीवनविद्याके नियमोंके अनुकूल व्यवहार करनेसे ये सब अपमृत्यु होते हैं। जो महामृत्यु है वह दूर होगा परंतु हटेगा नहीं, अपमृत्यु सौ हों, या अधिक हों, वे सब दूर किये जासकते हैं।

१३ आष्ट्राः= जो अन्य नाशक साधन हैं वे भी (अतितार्याः) दूर करने योग्य हैं। जिस जिस कारणसे मनुष्य आदि प्राणीका नाश होता है, घात होता है, क्षीणता होती है, अवनति होती है, उन्नति रुक जाती है वे सब कारण हटाना अत्यंत आवश्यक है।

१४ तस्मात् मुञ्चतु= पूर्वोक्त विपत्तियोंसे बचाव करनेका नाम मुक्ति है। यह मुक्ति मनुष्य इसी लोकमें प्राप्त कर सकता है और यह प्राप्त करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है। 'वैश्वानर' की कृपासे यह मुक्ति प्राप्त हो सकती है। वैश्वानर उसको कहते हैं कि, जो (विश्व) सब (नर) मनुष्योंका एक अभेद्य संघ होता है। मानव संघने अपना ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे सबका सुख बढे, सबकी उन्नति हो और कोई पीछे न रहे। संघटित प्रयत्नसे सबका भला हो सकता है। संघटना मानवी उन्नतिका मूल मंत्र है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें मानवी विपत्तिके कारण दिये हैं और उनको दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। पाठक इनका विशेष विचार करें।

इससे पूर्व बात ही दिया है कि वेदको तीन बातें सिद्ध करना अभीष्ट है- (१) एक (अ-म्रिः) लोग मरियल न हों, हृष्टपुष्ट नीरोग और सुदृढ बनें, (२) दूसरे लोग (अ-मृतः) अमर जीवनसे युक्त, अर्थात् अमृतरूपी सुखमय जीवनवाले बनें और (३) तीसरे मनुष्य (अतिजीवः) दीर्घजीवी बनें। वेदको अभीष्ट है कि मनुष्य समाज ऐसा बने, यही बात अन्य शब्दोंसे निम्नलिखित मन्त्र भागोंमें कही है—

ते अच्छिद्यमाना जरदष्टिः अस्तु। (मं. १)
द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि। (मं. २)
अयं जीवतु, मा मृत इमं समीरयामि, सर्वहाया इहास्तु। (मं० ७)

"तेरी अविच्छिन्न वृद्धावस्था होवे। दीर्घ आयु उत्कृष्टरूपसे तेरे लिये धारण करता हूं। यह मनुष्य जीवित रहे, मत मरे, इसको सचेत करता हूं यह पूर्ण आयु होकर यहां रहे।"

ये सब मंत्र भाग मनुष्यकी दीर्घ आयु होने योग्य समाजकी रचना करनेके सूचक हैं। दीर्घ आयु प्राप्त करनेके

लिये व्यक्तिके अंदरका तथा समाजके अन्दरका पाप कम होना चाहिये, इसकी सूचना देनेके लिये कहा है—

अपसेध्य दुरितं धत्तमायुः। (मं. ७)

"पापको दूर करके दीर्घ आयुको धारण करिये!" यही दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय है। जबतक अंदर पाप होगा, तबतक आयु क्षीण ही होती जायगी। व्यक्तिका पाप व्यक्तिमें होता है और संघका पाप संघमें होता है, इस पापसे जैसी व्यक्तिकी वैसी संघकी आयु क्षीण होती है। अतः पापको दूर करना दीर्घायु प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक है। जब पाप दूर होगा, तब मनुष्य सौ वर्षकी आयुके लिये योग्य होगा—

जीवतां ज्योतिः अभ्येहि अर्वाङ् त्वा शतशारदाय आहरामि। (मं० २)

ते जीवातवे परिधिं दधामि। (मं. ९)

"जीवित लोगोंकी ज्योतिके पास आ, तुझे सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये मैं धारण करता हूं। तेरे लिये सौ वर्षकी आयुष्यकी अवधी निश्चित करता हूं।" यह सौ वर्षकी आयुष्य मर्यादाका निश्चय उन लोगोंके लिये हो सकता है कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्र किया है, पापरहित किया है और पुण्यसंचयसे युक्त किया है। इस प्रकार दीर्घजीवनके साथ मनुष्यके पापपुण्यका संबंध है। पाठक इस बातका अवश्य विचार करें।

प्राणधारणा

दीर्घायु प्राप्त करनेके लिये शरीरमें प्राण स्थिर रहना चाहिये। प्राण जबतक उत्तम अवस्थामें शरीरमें रहेगा तब-तक दीर्घायु प्राप्त होना असंभव है, यह बात स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

ते असुं आयुः पुनः आभरामि। (मं. १)

"तेरी आयु और प्राणको तेरे अन्दर मैं पुनः भर देता हूं।" यह इस लिये कहा है कि पाठकोंके अन्दर यह विश्वास जमा रहे कि यदि किसीके प्राण अत्यन्त निर्बल हुए हों तो भी उनमें पुनः बल भर दिया जा सकता है। इस कारण निर्बल बना हुआ मनुष्य हताश न होवे, निरुत्साहित न बने; परंतु उत्साह धारण करे कि मैं वेदकी आज्ञाके अनुसार चलकर फिर नवीन बल प्राप्त कर सकता हूं और अपने अन्दर प्राणका जीवन पुनः संचारित करा सकता हूं। यह किस प्रकार साध्य किया जा सकता है? इसकी विधि यह है—

वातात्ते प्राणमाविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि
संवित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥ (मं. ३)

"वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षु तेरे लिये प्राप्त करता हूं, इस प्रकार तू सब अंगोंसे युक्त हो, मन भी तेरे अन्दर स्थापित करता हूं तू जिह्वासे भाषण कर।" यहां जीवनका साधन बताया है। वायुसे प्राण प्राप्त होता है, सूर्यसे आंख प्राप्त होती है। सूर्यदर्शन करनेसे नेत्रके बहुत दोष दूर होते हैं, सुबेशाम प्रतिदिन टकटकी लगाकर सूर्यदर्शन करनेसे कईयोंके आंख सुधर गये हैं, और जिनको आयनकके बिना पढना असंभव था वे उक्त उपायसे बिना आयनक पढने लगे हैं। इसी प्रकार जिनको प्राण स्थानके रोग होते हैं, क्षय राजयक्ष्मा आदि तथा रक्त स्थानके पाण्डुरोग आदि रोग होते हैं, उनको भी शुद्ध वायुके सेवनसे और योग्य प्राणायामादिसे यौगिक उपायोंसे पुनः आरोग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्यप्रकाश, वनस्पति, औषधि, चन्द्रप्रकाश, विद्युत् आदिके योग्य सेवनसे और उत्तम प्रयोगसे पुनः उत्तम जीवनकी और दीर्घआयुकी प्राप्ति हो सकती है। दीर्घजीवन और आरोग्य प्राप्तिका अति संक्षेपसे यह साधन है। मनुष्यके सब अंग, अवयव इंद्रियां आदि सबका सुधार इससे हो सकता है। यह उपाय विना मूल्य बहुत अंशोंमें हो सकता है और युक्तिपूर्वक करनेसे लाभ भी निश्चयसे हो सकता है। यह 'निसर्गचिकित्सा' का मूलमंत्र है। पाठक इसका इस दृष्टिसे विचार करें। यह उपाय किस रीतिसे करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र विशेष मनन पूर्वक देखने योग्य है—

अग्निं जातमिव प्राणेन त्वा संधमामि॥ (मं. ४)

"नवीन उत्पन्न हुए अग्निके समान प्राणसे तुझे बल देता हूं।" हवन कुण्डमें, चूलेमें या किसी अन्य स्थानपर अग्नि प्रदीप्त करनेके समय प्रारंभमें बहुत सावधानीसे अग्निको मंदवायु देना पडता है और सहज जलने योग्य सुखी लकडी अग्निके साथ लगानी पडती है। अन्यथा अग्नि बुझ जानेका भय रहता है। इसी प्रकार बीमार मनुष्यको भी सहज

हाजम होने योग्य अन्न देना चाहिये, प्राणायामादि योगसाधन भी थोडा थोडा करना चाहिये, औषध और पथ्यका सेवन भी योग्य प्रमाणसे करना चाहिये। ऐसा न किया तो लाभके स्थानपर हानी होगी। इसलिये कहा है कि अग्नि सिलगानेके समान प्राणकी शक्ति शनैः शनैः बढानी चाहिये। योगसाधन, औषधिसेवन तथा अन्य उपायोंसे आरोग्यवर्धन या दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है, परंतु सुयोग्य प्रमाणसे यह सब करना चाहिये। शरीरमें भी यह जीवनाग्नि ही है। हवनकी अग्निके समान ही इसको शनैः शनैः बढाना पडता है। यह नियम हरएक पाठकको ध्यानमें धारण करना आवश्यक है। क्योंकि अन्य संपूर्ण साधन उपस्थित होनेपर भी इस नियमका पालन न करनेपर लाभकी आशा करना व्यर्थ है। परंतु इस रीतिसे जो लोग अपना लाभ सिद्ध होनेके लिये साधन करेंगे, उनका निःसन्देह भला हो सकता है, अतः कहा है—

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। (मं. ११)

"मैं तेरे प्राण और अपान सुदृढ करता हूं, तेरा बुढापा, तेरी मृत्यु और तेरी दीर्घ आयुके विषयमें तेरा कल्याण होगा ऐसा प्रबंध करता हूं।" यदि तो कोई मनुष्य अपनी दीर्घ आयु और उत्तम आरोग्यके लिये पूर्वोक्त प्रकार यत्न करेगा, तो नियमपूर्वक चलनेपर उसको लाभ तो अवश्य ही होगा। इस मंत्रसे यह विश्वास हरएकके मनमें उत्पन्न हो सकता है। नियमपूर्वक चलनेवालेकी कभी अधोगति नहीं होगी। जातवेदस् अग्निसे दीर्घजीवन प्राप्त करनेके विषयमें निम्नलिखित मन्त्रमें कहा है—

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि
तदु ते समृध्यताम्॥ (मं. १३)

"तेरा प्राण आयुष्य बढानेवाले जातवेद अग्निसे प्राप्त करता हूं, जिससे तू अमर होकर नहीं मरेगा, यह तेरा अमरत्व प्राप्तिका कार्य सफल होवे।" जातवेद अग्निसे दीर्घायुकी प्राप्तिका संभव इस मंत्रमें बताया है। अग्नि आयु देनेवाला है, ज्ञान और धन देनेवाला है, जीवन देनेवाला है, अमरत्व देनेवाला है। वेदमें अग्निदेवके ये कार्य वर्णन किये हैं। अग्निसे ये गुण किस रीतिसे प्राप्त करने होते हैं, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। हमारे विचारसे आग्नेयधर्म विशिष्ट सुवर्ण पारद आदि पदार्थोंके प्रयोगोंसे तथा भल्लातक, केशर, चित्रक आदि वनस्पति भागोंसे मनुष्य नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त 'अग्नि' शब्दका अर्थ जाठर अग्नि भी है और जिसके देहमें यह अग्नि उत्तम अवस्थामें रहता है उसको नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त होनेमें शंका ही नहीं है। तथा जिन औषधिप्रयोगोंसे जाठर अग्नि उत्तम कार्य करनेवाला होता है वे सब चिकित्साके प्रयोग इसमें संमिलित होते हैं।

जाठर अग्नि

जाठर अग्नि चार प्रकारका होता है। मन्द, तीक्ष्ण, विषम, और सम ये इस जाठर अग्निके चार भेद हैं। इसका वैद्यक ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन आता है—

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥
विषमो वातजान्रोगान्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तकान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान्कफसंभवान्॥
समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः॥
कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिच्च न पच्यते।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते॥ (भा. नि.)

"विषम जाठर अग्नि वातरोगोंको निर्माण करता है, तीक्ष्ण अग्नि पित्त रोग बढाता है, मन्दाग्नि कफविकार उत्पन्न करता है। समाग्नि उत्तम प्रमाणमें भक्षण किया हुआ अन्न योग्य रीतिसे पचन करता है। मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि अथवा विषमाग्नि ये जाठर अग्नि ठीक नहीं। इनके कारण कभी पचन होता है कभी नहीं, परंतु जो समाग्नि है। वह सबसे श्रेष्ठ है।" अर्थात् आरोग्य और दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक लोगोंको यह समाग्नि अपनेमें स्थिर करना चाहिये। इस अग्निका स्थान अपने देहमें देखिये—

वामपार्श्वाश्रितं नाभेः किञ्चित्सोमस्य मण्डलम्।
तन्मध्ये मण्डलं सौर्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः॥
जरायुमात्रप्रच्छन्नः काचकोशस्थदीपवत्॥ (भा.)

तथा—

सूर्यो दिवि यथा तिष्ठन् तेजोयुक्तैर्गभस्तिभिः ।
विशोषयति सर्वाणि पल्वलानि सरांसि च ॥
तद्वच्छरीरिणां भुक्तं ज्वलनेनाभिमाश्रितः ।
मयूखैः पच्यते क्षिप्रं नानाद्व्याअन्नसंस्कृतम् ॥
स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रः प्रमाणतः ।
क्रमिकीटपतङ्गेषु बालमात्रोऽवतिष्ठते ॥

(रस. प्र.)

" नाभिके वाम भागमें सोमका मण्डल है, मध्यमें सूर्य मण्डल है, उसके अन्दर अग्नि व्यवस्थासे रहा है। जैसा शीशेमें दीप होता है " इस अग्निको सम रखना मनुष्यका कार्य है, सब वैद्योंको भी यही कार्य करना चाहिये । इसी प्रकार— " जैसा सूर्य आकाशमें रहता हुआ अपने किरणोंसे सब जल स्थानोंको सुखाता है, उस प्रकार यह जाठर अग्नि प्राणियोंका भक्षण किया अन्न अपने किरणोंसे पकाता है, स्थूल देहवाले प्राणियोंमें यह जौके समान होता है और छोटे कृमियोंमें यह बालके समान सूक्ष्म प्रमाणमें रहता है। " इसीसे सब अन्न पचता है, आरोग्य स्थिर रहता है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। जैसा सूर्यके सामने घने बादल आनेसे और मेघाच्छादित दिन अनेक दिवस रहनेसे सौर शक्ति न प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंकी पाचनशक्ति कम होती है, वर्षात्में इसी कारण पाचनशक्ति क्षीण होती है, इसी प्रकार प्राणियोंके अन्दरका जाठर अग्नि प्रदीप्त स्थितिमें बहुत समय न रहा तो पाचनशक्ति कम होती है, अपचन होता है, रोग बढते हैं और जीवनकी मर्यादा क्षीण हो जाती है। इस प्रकार जाठर अग्निके सम होने और विषम होनेसे प्राणियोंकी जीवन मर्यादा संबंधित है। इसी कारण (मंत्र १३ वेमें) अग्निको अर्थात् जाठर अग्निको (आयुष्मत्) आयुवाला अर्थात् आयु बढानेवाला, जिसके पास आयु है, (अमृतः) अमर, रोगादि कम करनेवाला, जिसके पास रोग और मृत्यु नहीं होते, (अग्नेः प्राणं) इस जाठर अग्निसे प्राणशक्ति-जीवनशक्ति बढती है, इत्यादि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इन सब विशेषणोंकी सार्थकता इसका स्वरूप जाठराग्नि है ऐसा माननेसेही हो सकती है। इसके निम्नलिखित संस्कृत नाम भी शरीरस्थ जाठराग्निके विषयमें कैसे संगत होते हैं यह देखिये—

×

१ तनू-न-पात् = शरीरको न गिरानेवाला, शरीरका पतन न होने देनेवाला,
२ पावकः = पवित्रता करनेवाला,
३ हुतभुक्, हव्यभुक् = अन्न खानेवाला,
४ पाचनः = पचन करनेवाला,
आश्रयाशः, आशयाशः = पेटमें गया अन्न खानेवाला।

ये जाठर अग्निके नाम कितने सार्थ हैं यह भी पाठक यहां देख सकते हैं। यहांतक जाठर अग्निके गुणोंका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है । पाठक इसका यहां विचार करें । अब अग्निके गुण वैद्यशास्त्रमें क्या लिखे हैं सो देखते हैं—

(अग्नितापः) वात कफस्तब्धताशीतकम्पघ्नः ।
आमाशयकरः रक्तपित्तकोपनश्च ॥ (राज. भा.)

" अग्निका ताप वात, कफ, स्तब्धता, शीत और कम्पको दूर करता है, रक्त और पित्तका प्रकोप करता है । आमाशय अर्थात् पेटको ठीक करता है । " यदि अग्नितापसे भी वात, कफ और शीत संबंधके रोगोंमें लाभ होते हैं तो प्रतिदिन हवन करनेवाले लोग और हवनकी अग्निसे शरीरको तपानेवाले लोग कमसे कम इन रोगोंसे तो बच सकते हैं । हवनसे यह एक लाभ वैद्यक ग्रंथोंके प्रतिपादन द्वारा सिद्ध हुआ है। अब औषधि उपायका विचार करते हैं—

औषधिप्रयोग

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके अनेक उपाय हैं, उनमें औषधिका सेवन भी एक उपाय है। योग्य औषधिका सेवन योग्य रीतिसे करनेसे रोग दूर होते हैं, नीरोगता बढती है और दीर्घ आयु भी प्राप्त हो जाती है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है—

इमां अमृतस्य श्नुष्टिं आरभस्व । (मं. १)

" हे मनुष्य! तू इस अमृत रसके पानका प्रारंभ कर। " अर्थात् औषधीका रस जो जीवनवर्धक होगा उसका योग्य रीतिसे सेवन कर । ' अमृत-श्नुष्टि ' का अर्थ अमरत्व देनेवाला रसपान है । ऐसे रसपानका सेवन करना चाहिये कि जो अमरपनको बढानेवाला हो। अमरपनका अर्थ दीर्घ जीवन, दीर्घ आरोग्य और रोगोंसे पूर्णतया दूर रहना है । जो औषधिरस इन गुणोंकी वृद्धि करते हैं उनका सेवन करना योग्य है । अतः कहा है—

कृणोम्यस्मै भेषजं, मृत्यो मा पुरुषं वधीः ।
(मं. ५)

" इस मनुष्यके लिये रोगनिवृत्तिके उद्देश्यसे मैं औषध बनाता हूं, हे मृत्यु ! अब इस पुरुषका वध न कर। " इस मंत्रसे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त प्रकार विविध चिकित्साएं करनेसे मनुष्य पूर्ण रोगमुक्त हो सकता है और उसका मृत्युभय दूर हो जाता है । इसी विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवे स्मा अरिष्टतातये ॥ (मं. ६)

" मैं इस रोगीको सुखका विस्तार करनेके लिये जीवन देनेवाली और कभी हानी न करनेवाली रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली और बल बढानेवाली जीवन्ती नामक औषधीको देता हूं।" इस मंत्रमें जीवन्ती औषधीका उपयोग करनेका विधान है । इस औषधीका नाम जीवन्ती इसलिये है कि यह औषधि मनुष्यको दीर्घ जीवन देती है। (त्रायमाणा) रोगोंसे बचाती है, आरोग्य देती है, (सहस्वती) बल देनेवाली है, मनुष्यको बलशाली करती है इतना ही नहीं परंतु (सहमाना) विविध रोगोंको परास्त करती है, अपने बलसे क्षीणता आदिको हटाती है, इस प्रकार अनेक रीतियोंसे (त्रायमाणा) मनुष्यकी रक्षा करती है। यह औषधी कभी किसीकी हानि नहीं (न घारिषा) करती, सदा किसी न किसी रूपसे लाभ ही पहुंचाती है। इस प्रकार इस जीवन्ती औषधीका वर्णन इस वेदमंत्रमें है । इस जीवन्ती औषधीके विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित बातें मिलती हैं—

इसके फूल अत्यंत मीठे होते हैं अतः इसको 'जीवशाक' कहते हैं। इसके मधुर और अमधुर ये दो भेद हैं। मधुर जीवन्तीसे त्रिदोष हटता है और अमधुर जीवन्तीसे पित्त दूर होता है। मधुर जीवन्तीका रस मीठा, शीत वीर्य और परिपाक भी मधुर होता है । इससे दृष्टिदोष दूर होते हैं और प्रायः सभी रोग दूर होते हैं। वा. सू. अ. १५ में (वरा शाकेषु जीवन्ती) शाकमें जीवन्ती श्रेष्ठ शाक है ऐसा कहा है। वैद्य शास्त्रमें 'जीवन्ती' के अर्थ गुळवेल (गुडूची), हरीतकी, मेदा, काकोली, हरिणी, मधुवृक्ष, शमी, इतने हैं। इसके नाम "जीवनी, जीवनीया, जीवा, जीवना, मंगल्य नामधेया, जीव्या, जीवदा, जीवदात्री, जीवभद्रा, भद्रा, मंगल्या, यशस्या, जीवद्दा, पुत्रभद्रा, जीववृषा, सुखंकरी, जीवपत्री, जीवपुष्पी " संस्कृतमें और वैद्यक ग्रंथोंमें है। इन नामोंसे स्पष्ट हो जाता है कि यह वनस्पति जीवन देनेवाली है । अतः इस विषयमें कहा है—

जीवन्ती स्वर्णवर्णाभा सुराष्ट्रजा च ।
जीवनोद्योगाज्जीवन्ती नाम ॥ (मद. व. १)

" इस जीवन्ती औषधीका सुवर्णके समान वर्ण है, यह (सौराष्ट्र) काठियावाडमें होती है । इससे दीर्घजीवन प्राप्त होता है, इस कारण इसका नाम जीवन्ती है । "

इसके गुण ये हैं— " मधुर; शीत; रक्तपीत्त, वात, क्षय, दाह, ज्वरका नाश करनेवाली, कफ बढानेवाली, वीर्य बढानेवाली, रसायनधर्मवाली और भूतरोग दूर करनेवाली है।"

जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा ।
रसायना बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः । (भा.)
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा ॥
(अत्रि. अ. १६)

इस प्रकार इस जीवन्ती औषधिके गुण हैं। पाठक इस औषधिका सेवन करें। वैद्यकग्रंथोंमें इसके विविध प्रयोग लिखे हैं और सुयोग्य वैद्यके द्वारा इसके सेवनविधिका ज्ञान हो सकता हैं। यह उत्तम औषधि है और आरोग्य बल और दीर्घायु देनेवाली है । इसी प्रकार निम्नलिखित मंत्र यहां देखने योग्य हैं—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे ॥
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥
(मं. १४)

शिवास्ते सन्त्वोषधय उ स्थाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि ।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥
(मं. १५)

" द्युलोक और पृथ्वी लोकके सब पदार्थ तेरा संताप न बढावें, इतना ही नहीं परंतु वे तेरे लिये शोभा और ऐश्वर्य देवें। सूर्य तेरे लिये सुख देवे, वायु तुझे सुख देवे । जलसे तुझे आनन्द प्राप्त होवे । औषधियां तेरा सुख बढावें। ये औषधियां भूमिसे लायी हैं। सूर्य और चन्द्र तेरी रक्षा करें। " इन मंत्रोंमें कहा है कि जगत्के सब पदार्थ अर्थात्

सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, भूमि, औषधि, अन्न, वायु, तेज आदि अनन्त पदार्थ मनुष्यका सुख बढावें। मनुष्यको शान्ति दें। मनुष्यका सन्ताप बढानेवाले न हों। इसका तात्पर्य यह है कि ये सब पदार्थ योग्य रीतिसे बर्ते जानेपर मनुष्यका सुख बढानेवाले होते हैं। इन पदार्थोंका उपयोग करनेकी विधि वैद्यग्रंथोंमें अर्थात् आयुर्वेदमें लिखी है। जो पाठक लाभ प्राप्त करनेके इच्छुक हैं वे इसका अभ्यास करें। इसी संबंधमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है--

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा।
अथो अमीवचातनः पुतुद्रुर्नाम भेषजम्॥ (मं. २८)

"अग्निका शरीर रोगोंसे पार करनेवाला है, वह अग्निका शरीर राक्षसों (रोगजन्तुओं) का नाश करता है तथा अन्यान्य शत्रुओंको दूर करनेवाला है। इसी प्रकार वह आमाशयके सब दोषोंको हटाता है। यह पुतुद्रु नामक औषध है।" अग्निका यह वर्णन हरएकको ध्यानमें धारण करनेयोग्य है। अग्नि रोगोंसे पार करनेवाला है; जहां विविध रोग बढते हैं वहां अग्नि प्रदीप्त करनेसे रोगकी हवा वहांसे हट जाती है और वहां नीरोगता हो जाती है। इसलिये जिस ग्राममें सांसर्गिक रोग बहुत फैलते हैं उस ग्राममें नाके नाके पर और गलीगलीमें बृहत् हवन किये जांय तो लाभकारी होगा। आजकल दूषित ग्रामों और स्थानोंमें इसीलिये आग जलाते हैं।

अग्निको 'रक्षो-हा' अर्थात् राक्षस संहारक कहा है, यहां राक्षस, रक्षस्, तथा रक्षः शब्दका अर्थ रोगबीज है। रोगबीजोंका नाश अग्नि करता है। आरोग्यके जो अन्यान्य शत्रु हैं उनका भी नाश अग्निसे होता हैं। रोगकृमि आदि सब रोगबीजोंका नाम राक्षस है ये राक्षस--

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
(वा. यजु. १६।६२)

"जो अन्नों और पानपात्रों अर्थात् खानपानाके पदार्थोंमेंसे पेटमें जाकर विविध रोग उत्पन्न करते हैं।" यह वर्णन रोगबीजोंका है। रोगबीज अन्न और जल द्वारा पेटमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। इनके नाम रुद्र और रक्षस् आदि अनेक हैं। यहां अग्नि इन रोगबीज रूपी राक्षसोंका नाश करनेवाला कहा है। इसी प्रकार अग्नि आमाशयके रोगोंको दूर करनेवाला (अमीवचातनः) है। इसका वर्णन इसी सूक्तकी व्याख्यामें इससे पूर्व बताया है।

अग्नि यह एक 'पु-तु-द्रु' नामक औषध है। यह पुतुद्रु क्या है इसका विचार करना चाहिये। 'पु' का अर्थ (पवने) 'पवित्र करना, मल दूर करना, शुद्ध करना' है। 'तु' का अर्थ (वृद्धौ) 'वृद्धि, बढना, संवर्धन होना' है और 'द्रु' का अर्थ (गतौ) 'गति, प्रगति' आदि है। जिससे 'पवित्रता, वृद्धि और प्रगति होती है' उसको पुतुद्रु औषधि कहते हैं। चिकित्सामें क्या करना चाहिये इसका विधान इस शब्दमें हुआ है। वैद्य रोगीके शरीरसे रोगको दूर करनेके लिये तीन बातें करे- (१) पु=रोगीका शरीर पवित्र शुद्ध और दोषरहित करे, (२) तु=शरीरकी वृद्धि करे, शरीरको पुष्ट करे, शरीर बलवान् करे और (३) द्रु=शरीरकी नीरोग अवस्थामें प्रगति करे। ये तीन बातें प्रत्येक चिकित्सकको करना चाहिये तभी रोगोंका प्रतिकार होगा। चिकित्साके ये तीन मुख्य कार्य हैं। जो इन कार्योंको करता है, वही उत्तम यश प्राप्त करता है। शरीरशुद्धि, शरीरबलवर्धन और व्याधिप्रतिकार ये तीन भाग हैं जिन भागोंका विचार करनेसे पूर्ण चिकित्सा हो जाती है। 'पु-तु-द्रु' इस एक ही शब्दने वेदकी चिकित्सा-शैलीको उत्तम रीतिसे दर्शाया है। यह सर्वांगपूर्ण चिकित्साकी पद्धति है।

वेदने इस एक शब्दमें चिकित्साकी रीति कैसी उत्तम शैलीसे बतायी है यह देखिये। इस रीतिका अवलंबन करनेवाले वैद्य सुखका विस्तार करते हैं--

मृडतं शर्म यच्छतम्। (मं. ७)

"सुखी करो और शान्ति प्रदान करो" पूर्वोक्त प्रकार "पवित्रता, वृद्धि और प्रगति" करनेसे सब लोग सुखी होंगे और सबको शान्ति प्राप्त होगी इसमें कोई संशय नहीं है। सुख शान्ति और दीर्घ आयुष्य यही मनुष्यका प्राप्तव्य इस जगत्में है। इसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये निम्नलिखित मंत्र है--

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन।
आत्मना भुजमश्नुताम्। (मं. ८)

"इस रीतिसे सब अंगों और अवयवोंसे पूर्ण, अक्षीण अवयववाला, उत्तम ज्ञानी, वृद्धावस्थामें सौ वर्षतक जीवित रहनेवाला होकर अपनी शक्तिसे सब भोग प्राप्त करनेवाला बने।" अर्थात् यह मनुष्य अतिवृद्ध अवस्थातक जीवित रहे और उस वृद्ध अवस्थामें भी अपनी शक्तिसे और अपने

प्रयत्नसे अपने लिये भोग प्राप्त करे। परावलम्बी न बने, जबतक स्वावलम्बनशील रहे। इस स्थानपर वेदका आदेश बताया है। केवल अतिवृद्ध होना वेदको अभीष्ट नहीं है, परन्तु अतिवृद्ध होते हुए नीरोग और बलवान् बनना वेदका साध्य है। प्रत्येक अवयव सुदृढ बने, सब अवयव और इन्द्रिय ठीक अवस्थामें रहें, बल स्थिर रहे और यह सब होते हुए मनुष्य वृद्ध बने यह वेदका आदर्श है। वेद कहता है कि अन्यान्य उपभोगभी मनुष्य लेते रहें; उत्तम कपडे पहनें और सुखसे रहें, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे तत्कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥
(मं. १६)

"जो तेरा ओढनेका वस्त्र तू कमरपर बांधता है वह कपडा तेरे शरीरको सुखदायक हो और वह स्पर्शके लिये मृदु हो।" खुर्दरा न हो। इस मन्त्रका आशय स्पष्ट तो यह दीखता है कि सुंदर और उत्तम कपडे जिनका स्पर्श शरीरको उत्तम सुखकारक होता है, वैसे उत्तमोत्तम कपडे मनुष्य पहने और शरीरका सुख लें। इसी प्रकार हजामत बनवाकर मुखकी सुंदरता बढानेके विषयमें निम्नलिखित मंत्र मनन करने योग्य है—

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥ (मं. १७)

'जो तू नापित स्वच्छता करनेवाले तेजधारवाले छुरेसे जो बालों और मूछोंका मुण्डन करता है, उससे मुख सुन्दर दीखता है, परन्तु यह सुन्दरता किसीकी आयुका नाश न करे।" उत्तम उस्तरेसे हजामत बनाकर मुखकी सुन्दरता बढानेका उपदेश वेदमें इस प्रकार दिया है। हजामत बढनेसे मुख शोभाहीन होता है और हजामत बनानेसे वही मुख सुन्दर होता है, यह कहनेका उद्देश यह है कि मनुष्य हजामत बनावें और अपने मुखकी सुन्दरता बढावें। कोई मनुष्य अपना शोभाहीन मुख न रखे। सब लोग सुन्दर, नीरोग, बलवान्, पूर्णायु और कर्तव्यतत्पर बनें, यह वेदका उपदेश है। इसी प्रकार उत्तम भोजनके विषयमें भी वेदका उपदेश देखने योग्य है—

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥
(मं. १८)

"चावल और जौ कल्याणकारी हैं, कफ दोषको दूर करनेवाले और भक्षण करनेके लिये मधुर हैं। ये यक्ष्म रोगको दूर करेंगे और दोषोंसे मुक्त करेंगे।" भोजनके विषयमें अनेक मंत्र वेदमें हैं, उनका इस समय विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां केवल यही बताना है कि, भोजनके विविध पदार्थ भी वेदने दिये हैं अर्थात् जिस प्रकार वेद बल, आरोग्य और दीर्घ आयु देना चाहता है उसी प्रकार सुंदर वस्त्र और उत्तम भोजन देकर भी मनुष्यकी सुखसमृद्धि बढाना चाहता है। यह भोजन निर्विष होनेकी सूचना भी समय पर वेद देता है, पाठक इसको यहां देखें-

यदश्नासि यत्पिबासि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥
(मं. १९)

"जो कृषिसे उत्पन्न होनेवाला धान्य तू खाता है जो दुग्धादि पेय पदार्थ पीता है वह सब खाने योग्य और जो न खानेकी चीज हो, वह सब निर्विष बनाता हूं," अर्थात् वह सब खानपान विष रहित हो। यहां विषसे बचनेकी सावधानी धारण करनेका उपदेश दिया है। मनुष्यके खानपानमें मद्य, गांजा, भांग, अफीम, तमाखू, चा, काफी, आदि अनेकानेक पदार्थ विषमय हैं, इनका परिपाक भी विषरूप है। ऐसे पदार्थ खानेसे मनुष्यका स्वास्थ्य बिगड जाता है और मनुष्य अल्पायु हो जाता है। अतः मनुष्य विचार करे कि जो पदार्थ मैं खाता और पीता हूं, वे कैसे हैं, वे निर्विष हैं वा नहीं? वे आरोग्य वर्धक और दीर्घायुकारक हैं वा नहीं? ऐसा विचार करके मनुष्य अपने खानपानका सेवन करे। सुयोग्य पदार्थ ही खानेपीनेमें आने चाहियें परंतु मनुष्यको कभी उचित नहीं कि वह विषमय पदार्थोंकी लालचमें फंसे और अपनी हानि करे। अतः मनुष्यको सदा उत्तम उपदेश श्रवण करना चाहिये, अतः कहा है—

उपदेशकका कार्य

अधि ब्रूहि, मा रभथाः, सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु। (मं. ७)

" उत्तम उपदेश कर, बुरा काम न कर, इस मनुष्यको जगत्में भेजो, तेरे नियमानुकूल चलता हुआ यह मनुष्य पूर्णायु होकर यहां रहे । उपदेशक इस प्रकारका उपदेश जनताको करे और जनताको ऐसे मार्गसे चलावे कि सारे लोग उपदेश सुनकर बुरे कार्यसे हटें, जगत्में जाते हुए धर्म-नियमानुकूल चलें और नीरोग बलवान् और पूर्णायु बनें । तथा सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करें—

अस्मै अधिब्रूहि, इमं दयस्व, अयं इतः उत् एतु ।
(मं. ८)

" इस मनुष्यको उत्तम उपदेश कर, इस पर दया कर, और इसको ऐसा मार्ग बताओ कि यह यहांसे उन्नति करे " उच्च अवस्था प्राप्त करे । यह उपदेशकोंकी जिम्मेवारी है कि वेही राष्ट्रके लोगोंपर उत्तम शुभ संस्कार डालें, उनको शुभ मार्ग बतावें और वे सीधे उन्नतिके पथपर ले जावें । जिस देशके और राष्ट्रके उपदेशक इस रीतिसे अपना ज्ञान प्रचारका कर्तव्य उत्तम रीतिसे करते हैं, वहांके लोग नीरोग, सुदृढ, दीर्घायु तथा परम पुरुषार्थी होते हैं । परमपुरुषार्थी मनुष्य अपनी आयुका योग्य उपयोग करे । मनुष्यकी आयुका उत्तरदातृत्व उसीके ऊपर है यह बात कोई न भूले—

समयविभाग

शतं ते युतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
(मं. २१)

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥
(मं. २२)

अह्ने त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि । (मं. २०)

" मैं तेरी सौ वर्षकी आयु अखण्डित करता हूं, उसमें दो संधिकालके जोडे, सर्दी, गर्मी, वर्षा ये तीन काल और बाल्य तरुण मध्यम और वार्धक्य ये चार अवस्थाएं हैं । वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा, शरत्, हेमन्त, आदि ऋतु तेरे लिये शुभ कारक हों । दिन और रात्रीके समयके लिये मैं तुझे सौंप देता हूं । "

दीर्घ जीवनकी आयुष्यमर्यादाका सौ वर्षका समय है, उसमें सौ वर्ष, वर्षमें दो अयन, छः ऋतु और तीन काल अर्थात् सर्दी, गर्मी और वर्षा ये तीन समय होते हैं । प्रत्येक दिनमें दो संधिकाल और दिन तथा रात्रीका समय इतने समयविभाग होते हैं । इन समयविभागोंके लिये मनुष्य सौंपा हुआ होना चाहिये । समय विभागके लिये मनुष्यका सौंपा हुआ होना, इसका अर्थ यह है कि समयविभागके अनुसार मनुष्यने अपना व्यवहार करना । जो समयविभाग बनाया हो उसके अनुसार ही मनुष्यको अपना कामकाज करना चाहिये । इसीसे बहुत कार्य होता है और उन्नतिका निश्चय भी हो जाता है । अतः इन मंत्रोंके उपदेशसे मनुष्य यह बोध लेवे कि मनुष्यको समयविभागके अनुसार कार्य करना चाहिये, व्यर्थ बेकारीमें समय गमाना उचित नहीं । अपने पास जो समय होगा उसका योग्य उपयोग करना चाहिये । समयका व्यय व्यर्थ नहीं होना चाहिये ।

इस सूक्तमें बहुत ही उत्तमोत्तम आदेश दिये हैं, जो पाठक इन आदेशोंके अनुसार चलेंगे वे निःसन्देह लाभ प्राप्त कर सकते हैं । विशेषतः दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक इस सूक्तसे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

दुष्टोंका नाश।

[३]

(ऋषिः— चातनः । देवता— अग्निः ।)

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥
अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥ २ ॥
उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (रक्षो-हणं वाजिनं प्रथिष्टं मित्रं आ जिघर्मि) राक्षसोंका नाश करनेवाले बलवान् प्रसिद्ध मित्रको मैं प्रकाशित करता हूं। और उससे (शर्म उपयामि) सुख प्राप्त करता हूं। (सः क्रतुभिः समिद्धः) वह यज्ञोंसे प्रदीप्त हुआ (शिशानः अग्निः) तीक्ष्ण अग्नि (सः नः दिवा नक्तं रिषः पातुः) हमें दिन रात्र शत्रुओंसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद अग्ने ! (समिद्धः अयोदंष्ट्रः) प्रदीप्त होकर लोहेकी दाढोंसे युक्त होकर (अर्चिषा यातु-धानान् उपस्पृश) अपने प्रकाशसे यातना देनेवालोंको जला। तथा (मूरदेवान् जिह्वया आरभस्व) मूढ-विशेषोंको अपनी जिह्वारूप ज्वालासे ठीक करना आरंभ कर। (वृष्ट्वा) बलयुक्त होकर (क्रव्यादः आसनि अपि धत्स्व) मांस खानेवाले हिंसकोंको अपने मुखमें डाल ॥ २ ॥

हे (उभयाविन् अग्ने) दोनोंको जाननेवाले अग्ने ! तू (हिंस्रः शिशानः) शत्रुओंकी हिंसा करनेवाला तीक्ष्ण बन कर (अवरं परं च उभौ) हमसे निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकारके शत्रुओंको अपने (दंष्ट्रौ उपधेहि) दाढोंमें रख। (उत अन्तरिक्षे परियाहि) और अन्तरिक्षमें तू संचार कर। और वहांसे (जम्भैः यातु-धानान् अभिसंधेहि) अपने जबडोंसे यातना देनेवाले शत्रुओंपर चढाई कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुष्टोंका नाश करनेवाला बलवान् प्रसिद्ध हितकर्ता सदा प्रशंसनीय है। इससे सुख प्राप्त होता है। वह उत्तम प्रशस्त कर्म करनेवाला, तीक्ष्ण अथवा उग्र, प्रयत्न करके हमें दिन रात शत्रुओंसे बचावें ॥ १ ॥

ज्ञानी अपने तेजसे दुष्टोंको निर्बल करे, मूढोंको अपने जिह्वाके उपदेशोंसे सुधारे। मांस भक्षक क्रूरोंको अपने मुखसे अच्छादित करे अर्थात् क्रूरतासे निवृत्त करे ॥ २ ॥

दोनोंको जाननेवाला देव बलवान् और निर्बल हिंसकोंको अपने काबूमें रखे। सब स्थानपर संचार करके कष्ट देनेवाले दुष्टोंको दबावे ॥ ३ ॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥
यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥
यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥
उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान् ।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥
इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यातुधानस्य त्वचं भिन्धि) कष्ट देनेवालेकी त्वचाको छिन्नभिन्न कर । (हिंस्र-अशनिः हरसा एनं हन्तु) हिंसक विद्युत् वेगसे इसका नाश करे । हे (जातवेदः) जातवेद ! शत्रुके (पर्वाणि शृणीहि) पर्वोंको काट । (क्रविष्णुः क्रव्यात् एनं विचिनोतु) मांसभक्षक क्रूर प्राणी इस दुष्टको पकड पकड कर खा जाय ॥ ४ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी अग्ने ! तू (यत्र इदानीं) जहां अब (तिष्ठन्तं चरन्तं उत अन्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं पश्यसि) खडे हुए, भ्रमण करनेवाले और अन्तरिक्षमें संचार करनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको देखता है वहां (शिशानः अस्ता शर्वा) तीक्ष्ण शस्त्र फेंकनेवाला शत्रुहिंसक तू (तं विध्य) उस शत्रुका वेध कर ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (यज्ञैः) सत्कर्मों द्वारा बढता हुआ तू (इषूः संनममानः) अपने बाणोंको ठीक करके (वाचा) वाणीसे उपदेश करता हुआ (शल्यान् अशनीभिः दिहानः) शल्योंको बिजुलीसे तीक्ष्ण करता हुआ (ताभिः प्रतीचः यातुधानान् हृदये विध्य) उनसे शत्रुके संमुख होकर उन दुष्टोंको हृदयपर वेध करके, (एषां बाहून् प्रति भिङ्ग्धि) इनके बाहुओंको तोड डाला ॥ ६ ॥

हे जातवेद ! (उत आरब्धान् उत आरेभाणान्) सत्कार्यका आरंभ करनेवाले और किये हुए लोगोंको (ऋष्टिभिः स्पृणुहि) शस्त्रोंसे सुरक्षित रख । हे अग्ने ! (यातुधानान् पूर्वः शोशुचनः निजहि) दुष्टोंको सबसे प्रथम प्रकाशित होकर नाश कर । (आमादः एनीः क्ष्विङ्काः एनं अदन्तु) मांस खानेवाले लाल पक्षी इनको खा जावें ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! (यः यातुधानः इदं कृणोति) जो दुष्ट यह दुष्ट कार्य करता है (यतमः सः इह प्रब्रूहि) वह कौनसा है यह यहां कह दे । (तं आरभस्व) उसको दण्ड देना आरंभ कर । (तं समिधा आरभस्व) उसको लकडियोंसे जलाना आरंभ कर । (नृचक्षसः चक्षुषे एनं रन्धय) मनुष्योंके हितकी दृष्टिसे इस दुष्टका नाश कर । ॥ ८ ॥

भावार्थ— दुष्टोंको पीटकर उनके चमडेको छिन्नभिन्न कर । बिजुलीके आघातसे दुष्टोंका नाश हो । दुष्टोंके जोडोंको काटो । मांस भक्षक हिंसक और क्रूरको पकड पकडकर नाश करो ॥ ४ ॥

जहां कष्ट देनेवाले हिंसक दुष्ट होंगे वहां उनको दबा दिया जावे ॥ ५ ॥

सत्कर्मोंसे बढो, अपने शस्त्रास्त्र तैयार रखो, वाणीसे उत्तम उपदेश करो, अपने शस्त्रोंको बिजुलीसे तीक्ष्ण करो, और उनसे शत्रुओंके हृदयोंका वेध करो, तथा उनके बाहुका छेदन करो ॥ ६ ॥

शुभ कर्म करनेवालोंकी रक्षा अपने शस्त्रोंसे कर । दुष्टोंका नाश कर । मांस खानेवाले पक्षी दुष्टोंका मांस खावें ॥ ७ ॥

जो दुष्ट है उनकी दुष्टता यहां कहो, उनको दण्ड दो, जनताका हित करनेकी दृष्टिसे उनका नाश कर ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥ १० ॥

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥ ११ ॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥ १२ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (तीक्ष्णेन चक्षुषा प्राञ्चं यज्ञं रक्ष) तू अपने तीक्ष्ण आंखसे श्रेष्ठ यज्ञकी रक्षा कर। हे (प्र-चेतः) ज्ञानी ! तू (वसुभ्यः प्रणय) वसुओंके लिये उसको ले जा। हे (नृ-चक्षः) लोगोंके निरीक्षक (हिंस्रं रक्षांसि अभिशोचन्) हिंसकको और राक्षसोंको तपाते हुए (त्वा) तुझको (यातुधाना मा दभन्) यातना देनेवाले न दबावें ॥ ९ ॥

हे अग्ने ! तू (नृ-चक्षाः विक्षु रक्षः परिपश्य) मनुष्योंका निरीक्षण करता हुआ सब दिशाओंमें राक्षसोंको देख। (तस्य त्रीणि अग्रा प्रति शृणीहि) उसके तीनों अग्रभागोंका नाश कर। (तस्य पृष्टीः हरसा शृणीहि) उसकी पसुलियोंको अपने बलसे तोड। (यातुधानस्य मूलं त्रेधा वृश्च) यातना देनेवालेकी तीनों प्रकारोंसे काट डाल ॥१०॥

हे अग्ने ! (यः अनृतेन ऋतं हन्ति) जो असत्यसे सत्यका नाश करता है, वह (यातुधानः ते प्रसितिं त्रिः एतु) दुष्ट तेरे बन्धनमें तीन प्रकारोंसे प्राप्त होवे। हे जातवेद ! (तं अर्चिषा स्फूर्जयन्) उसको अपने प्रकाशसे प्रभावित करता हुआ तू (एनं समक्षं गृणते नि युङ्धि) इसको अपने सामने ईशस्तुति करनेवालेके हितके लिये प्रतिबन्धमें रख ॥ ११ ॥

हे अग्ने ! (यत् अद्य मिथुना शपातः) जो आज दोनों एक दूसरेको शापते हैं, (यत् रेभाः वाचः तृष्टं जनयन्त) जो आक्रोश करनेवाले वाणीकी कठोरता प्रकाशित करते हैं। (या मन्योः मनसः शरव्या याजते) जो क्रोधी मनसे शस्त्र होता है (तया यातुधानान् हृदये विध्य) उससे पीडकोंको हृदयमें वेध डाल ॥ १२ ॥

भावार्थ— अपनी दृष्टिसे-शक्तिसे-सत्कर्मका संरक्षण कर। और निवासकोंकी ओर उसे ले चल। हिंसकोंको अपने तेजसे हटा और ऐसा कर कि दुष्ट तुझे न दबावें ॥ ९ ॥

जनताकी रक्षा करनेके लिये तू सब दिशाओंसे दुष्टोंको ढूंढ निकाल। और उनके तीनों प्रकारके प्रयत्नोंको प्रतिबंध कर। दुष्टोंकी पीठ तोड और उनकी जड उखाड दो ॥ १० ॥

जो असत्यसे सत्यको दबाता है उस दुष्टको बंधनमें डाल। अपने तेजसे उसको निःसत्व कर और ईश्वर भक्तके सन्मुख उसको प्रतिबंध कर ॥ ११ ॥

जो दुष्ट परस्परको शाप देते हैं और आक्रोश करके कठोर भाषण बोलते हैं, उनके मनके दुष्ट भावोंसे जो घातक परिणाम होता है, उससे दुष्टोंके हृदय जल जावें ॥ १२ ॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥ १३ ॥

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः ।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन्विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः ॥ १४ ॥

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ १५ ॥

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः ।
परैणान्देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥ १६ ॥

अर्थ— (यातुधानान् तपसा परा शृणीहि) यातना देनेवालोंको अपने तपसे दूर करके नाश कर । और हे अग्ने ! (हरसा रक्षः परा शृणीहि) अपने बलसे दूर करके नाश कर । (मूरदेवान् अर्चिषा परा शृणीहि) मूढोंको अपने तेजसे दूर करके नाश कर तथा (असुतृपः शोशुचतः पराशृणीहि) दूसरोंके प्राणों पर तृप्त होनेवाले शोक करनेवाले दुष्टोंको भी दूर करके नाश कर ॥ १३ ॥

(देवाः अद्य वृजिनं परा शृणन्तु) देव आज पाप करनेवाले पापीको दूर करें । (सृष्टाः शपथाः एनं प्रयत्क् यन्तु) भेजी हुई गालियां उनके प्रति वापस जाय । (वाचा स्तेनं शरवः मर्मन् ऋच्छन्तु) वाणीके चोरको शस्त्र मर्मोंमें काटें । (यातुधानः विश्वस्य प्रसितिं एतु) यातना देनेवाला दुष्ट सबके बन्धनमें जाय ॥ १४ ॥

(यः पौरुषेयेण क्रविषा समंक्ते) जो मनुष्यके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है और (यः यातुधानः अश्व्येन पशुना) जो दुष्ट अश्व आदि पशुके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है, हे अग्ने ! (यः अघ्न्यायाः क्षीरं भरति) जो गायका दूध चुराकर ले जाता है (तेषां शीर्षाणि हरसा अपि वृश्च) उनके सिरोंको अपने बलसे तोड डाल ॥ १५ ॥

(यातुधानाः गवां विषं भरन्तां) जो दुष्ट गौओंको विष देते हैं, और (दुरेवाः अदितये आवृश्चन्तां) जो दुष्ट गौको काटते हैं, (सविता देवः एनान् परा ददातु) सविता देव इनको दूर हटावे । (ओषधीनां भागं पराजयन्तां) इनको औषधियोंका भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट लोगोंको कष्ट देते हैं उनको अपने तप, बल और तेजसे दूर कर और उनका नाश कर । मूढोंकी उपासना करनेवालोंको भी दूर कर । जो दूसरेके प्राण लेकर तृप्त होते हैं उनको रुलाते हुए हटा दो ॥ १३ ॥

पापी मनुष्यको और पापको दूर किया जाय । गालियां दीं हुई देनेवालेके पास वापस जांय । वाणीसे चोरी करनेवालेके मर्मस्थान शस्त्रोंसे काटे जांय । जनताको यातना देनेवालेको प्रतिबंधमें रखो ॥ १४ ॥

मनुष्यका घोडे आदि पशुका मांस खा कर जो दुष्ट अपना शरीर पुष्ट करता है और गयका दूध चोरी करके पीता है उसका सिर काट ॥ १५ ॥

जो दुष्ट मनुष्य गौको विष देते हैं और गौ काटते हैं, उनको समाजसे हटाया जावे और उनको धान्यादिका भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

×

संवत्सरीणं पयं उस्रियायास्तस्य माशींद्यातुधानों नृचक्षः ।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥ १७ ॥
सनादग्ने मृणसि यातुधनान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानुनु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥
त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ १९ ॥
पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः ॥ २० ॥
तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ २१ ॥

अर्थ— हे (नृ-चक्षः) मनुष्योंके निरीक्षक ! (उस्रियायाः संवत्सरीणं पयः) गायका वर्षभर प्राप्त होनेवाला जो दूध है (तस्य यातुधानः मा आशीत्) उसका पान यातना देनेवाला दुष्ट न करे। हे अग्ने ! (यतमः पीयूषं तितृप्सात्) उनमेंसे जो दुष्ट दूधरूपी अमृतको पीयेगा, (तं प्रत्यञ्चं अर्चिषा मर्मणि विध्य) उसको सबके संमुख अपने तेजसे मर्मस्थानमें वेध डाल ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! तू (यातुधानान् सनात् मृणासि) यातना देनेवाले दुष्टोंका सदा नाश करता है। (रक्षांसि त्वा पृतनासु न जिग्युः) राक्षस तुझे युद्धोंमें नहीं जीत सकते। (सहमूरान् क्रव्यादः अनुदह) मूढोंके साथ मांस भक्षकोंको जला दे। (ते दैव्यायाः हेत्याः) वे तेरे दिव्य शस्त्रास्त्रसे (मा मुक्षत) न छूट जांय ॥ १८ ॥

हे अग्ने ! (त्वं नः अधरात् उदक्तः पश्चात् उत पुरस्तात् रक्ष) तू हमें नीचेसे ऊपरसे पीछेसे और आगेसे रक्षा कर। (ते त्यं शोशुचतः अजरासः तापिष्ठा) वे सब तेजस्वी, अक्षीण होकर तपानेवाले (अघशंसं प्रति दहन्तु) पापीको जला देवें ॥ १९ ॥

हे अग्ने ! तू (कविः काव्येन) कवि है अतः अपने काव्यसे (पश्चात् पुरस्तात् अधरात् उत् उतरात् परिपाहि) पीछेसे आगेसे नीचेसे और ऊपरसे सब रीतिसे रक्षा कर। (त्वं सखा सखायं) तू मित्र है अतः मुझ जैसे मित्रकी, (अजरः जरिम्णे) तू जरारहित है अतः मुझ जराग्रस्तकी और (अमरः मर्त्यान् नः परिपाहि) तू अमर है अतः हम मरनेवालोंकी रक्षा कर ॥ २० ॥

अग्ने ! (येन शफा- रुजः यातुधानान् पश्यसि) जिससे तू लातोंद्वारा ठोकरें लगानेवाले दुष्टोंका निरीक्षण करता है, (तत् चक्षुः रेभे प्रतिधेहि) वह आंख शोर मचानेवालेपर रख। (अथर्व-वत् दैव्येन-ज्योतिषा) अहिंसक दिव्य तेजसे (सत्यं अचितं धूर्वन्तं) सत्य अचेत नाश करनेवालेको (नि ओष) जला दो ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे मनुष्योंका हित करनेवाले ! गायका दूध दुष्ट मनुष्य न पीवे। जो दुष्ट चुराकर पीयेगा उसको शारीरिक दण्ड दिया जावे ॥ १७ ॥

तू सदा दुष्टोंका नाश करता है, तुझे राक्षस पराभूत नहीं कर सकते। तू मांसभक्षक क्रूरोंको जला, तेरे पाशसे वे दुष्ट न छूटें ॥ १८ ॥

तू सब ओरसे हमारी रक्षा कर। तेजस्वी लोग पापियोंको दण्ड देवें ॥ १९ ॥

तू कवि, मित्र, जरारहित और अमर है अतः तू हमारी रक्षा कर। हम तेरे मित्र बनना चाहते हैं। और हम जराग्रस्त होते हैं और मृत्युसे भी त्रस्त हैं अतः तू हमारी सहायता कर ॥ २० ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ २२ ॥
वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ ष्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभिः॑ ॥ २३ ॥
वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते महि॒त्वा ।
प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्षो॑भ्यो॒ विनिक्षे॑ ॥ २४ ॥
ये ते॒ शृङ्गे॑ अ॒जरे॑ जातवेदस्ति॒ग्महे॑ती॒ ब्रह्म॑संशिते ।
ताभ्यां॑ दु॒र्हार्द॑मभि॒दास॑न्तं किमी॒दिनं॑ प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑ जातवेदो॒ वि नि॑क्ष्व ॥२५॥
अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः ।
शुचिः॑ पाव॒क ईड्यः॑ ॥ २६ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! हे (सहस्य) बलवान् ! (वयं) हम सब (विप्रं पुरं) ज्ञानी और पूर्णता करनेवाले, (धृषद्वर्णं) घर्षण करनेवाले और (भंगुरावतः हन्तारं) विनाशकोंका नाश करनेवाले, (त्वा दिवे दिवे परिधीमहि) तेरा प्रतिदिन ध्यान करते हैं॥ २२॥

हे अग्ने ! (तिग्मेन शोचिषा) तीक्ष्ण तेजसे युक्त (तपुः अग्राभिः अर्चिभिः) तपानेवाले तेजकी दीप्तियोंसे (विषेण भंगुरावतः रक्षसः प्रति जहि स्म) विषसे नाश करनेवाले राक्षसोंका नाश कर। ॥ २३ ॥

(अग्निः बृहता ज्योतिषा विभाति) अग्नि विशेष तेजसे प्रकाशता है। (महित्वा विश्वानि आविः कृणुते) अपने सामर्थ्यसे सब जगत्को प्रकट करता है। (अदेवीः दुरेवाः मायाः प्रसहते) राक्षसोंकी दुःखदायक कपट जालोंको जीतता है। (शृंगे रक्षोभ्यः विनिक्षे शिशीते) अपने दोनों सींग राक्षसोंका नाश करनेके लिये तीक्ष्ण करता है ॥२४॥

हे (जातवेदः) वेदज्ञ ! (ये ते अजरे तिग्म-हेती) जो तेरे तीक्ष्ण हथियारके समान (ब्रह्मसंशिते शृंगे) ज्ञानसे तीक्ष्ण किये हुए सींग हैं, हे जातवेद ! (ताभ्यां) उन दोनों सींगोंसे और (अर्चिषा) अपने तेजसे (दुर्हार्दं किमीदिनं अभिदासन्तं) दुष्ट हृदय भूखे और दूसरेका नाश करनेवाले दुष्टका (प्रत्यञ्चं वि निक्ष्व) सामने नाश कर ॥ २५ ॥

(शुक्रशोचिः अमर्त्यः) शुद्ध प्रकाशवाला अमर (शुचिः पावकः ईड्यः) पवित्र, शुद्धता करनेवाला स्तुत्य अग्नि (रक्षांसि सेधति) राक्षसोंका नाश करता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट लातें मारकर हमारे शरीर तोडते हैं तथा जो विरुद्ध कोलाहल मचाते हैं उनको तू देख। तू अपने तेजसे हमारा नाश करनेवालेका नाश कर ॥ २१ ॥

ज्ञानी, मनकामना पूर्ण करनेवाले, शत्रुका घर्षण करनेवाले, दुष्टोंका नाश करनेवाले तुझ बलवान् देवका हम सब प्रतिदिन ध्यान करते हैं॥ २२ ॥

विष देकर जगत्में नाश करनेवाले दुष्टोंका नाश तू अपने तीक्ष्ण और उग्र तेजसे कर ॥ २३ ॥

अग्नि विशेष तेजसे प्रकाशता है और अपने सामर्थ्यसे जगत्को प्रकाशित करता है। राक्षसोंके कपट जाल दूर करके उनके नाशके लिये अपने दो सींग तीक्ष्ण करता है ॥ २४ ॥

तेरे सींग तीक्ष्ण हथियार जैसे हैं और वे ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए हैं, उनसे और अपने तेजसे दुष्ट हृदयवाले घातकी शत्रुका नाश कर ॥ २५ ॥

शुद्ध, तेजस्वी, अमर, पवित्र, शुद्धता करनेवाला प्रशंसनीय अग्नि राक्षसोंका नाश करनेवाला है। ॥ २६ ॥

दुष्टोंका नाश

दुष्टोंके लक्षण

इस सूक्तमें दुष्ट मनुष्योंका नाश करनेका विषय है। अतः दुष्ट कौन है इसका पहिले निश्चय करना चाहिये। यह निश्चय न हुआ तो कदाचित् दुष्ट बचेगा और सुष्टका ही नाश अज्ञानसे किया जायगा। अतः वेदने इस सूक्तमें दुष्टोंके लक्षण कहे हैं, देखिये—

१ दुर्हार्दः (दुः+हार्द)- दुष्ट हृदयवाला, जिसके अन्तःकरणमें दुष्ट विचार रहते हैं, जो दुष्ट भाव मनमें धारण करता है, जो हृदयमें घातपातकी कल्पनाओंको धारण करता है। (मं. २५)

२ रक्षः, राक्षसः (रक्षति)- जो रक्षण करनेका आविर्भाव बताकर घात करता है। जो बाहरसे रक्षा करनेका ढोंग रचकर अन्दरसे उसीका नाश करता रहता है (मं. ९)

३ असु-तृप्- जो दूसरोंके प्राणोंका बलि लेकर तृप्त होता है, जो दूसरोंका नाश करके अपना स्वार्थसाधन करता है, जो दूसरोंका घात करके अपनी पुष्टि करता है। (१३)

४ धूर्वन्- जो दूसरोंका घात पात और नाश करता है। (२१)

५ भंगुरावत्- जो दूसरोंका सत्यानाश करता है (२२)

६ अभिदासन्- जो दूसरोंका वध करता है, दूसरोंको बंधनमें डालता है, दूसरोंको गुलाम बनाता है, दूसरोंको पारतंत्र्यमें रखकर स्वयं अपने भोग बढाता है, जो दूसरोंको दास बनाता है। (२५)

७ हिंस्रः (३); शरुः (१४)- जो हिंसा करता है, घावपात करता है। दूसरोंका नाश करता है।

८ शफा-रुज्- अपनी लातोंके प्रहारोंसे जो दूसरोंको मारता है, दूसरोंके अवयव लातोंकी मारसे तोड देता है। (२१)

९ रिषः- हिंसक, घात पात करनेवाला, जो दूसरोंका विध्वंस करता है। (१)

१० क्रव्यात् (२), क्रविष्णुः, आमाद (४)- जो मांस खाता है, जो कच्चा मांस खाता है, जो रक्त पीता है, जो दूसरोंके जीवनपर जीवित रहता है।

११ यः पौरुषेयेण अश्व्येन क्रविषा, यः पशुना समंक्ते- जो मनुष्य, अश्व और अन्यान्य पशुओंके मांससे अपना शरीर पुष्ट करता है, जो पशुपक्षियोंके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है, जो अपने पेटके लिये दूसरोंका जीव लेता है। (१५)

१२ दुरेवाः अदितये आवृश्चन्ताः- जो दुष्ट गायको काटता है अथवा कटवाता है। अ-दिति अर्थात् हिंसनीय गौका भी जो वध करता है। (१६)

१३ गवां विषं भरन्ताः-गौवोंको जो विष देते हैं और विषसे गौका वध करते है। (१६)

१४ किमीदिन्- (किं-इदानीं) अब आज क्या खायें, कल उसका वध किया और पेट पाला, आज किसका वध करके पेटपूर्ती करें इसका जो सदा विचार करते हैं। जो कभी दूसरोंका घात किये विना नहीं रहते। (२५)

१५ यातुधानः (यातु+धानाः)- यातना देनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले दूसरोंको पीडा देनेवाले। (२)

१६ दुरेवः- (दुः+एव)- दुष्ट मार्गपर चलनेवाला, बुरे कार्यमें प्रवृत्त होकर दूसरोंको कष्ट देकर अपना सुख बढानेका प्रयत्न करनेवाला। (२४)

१७ अदेवीः मायाः- (अ-दिव्य मायाः)- जो बुराई और कपट करते हैं, जो धोखा देकर दूसरोंको लूटते हैं, धोखेबाजीसे अपना ऐश्वर्य बढाते हैं। (२४)

१८ वृजिनः- जो पाप करता है, पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। (१४)

१९ वाचास्तेनः- (वाचा+स्तेनः)- जो वाणीका चोर है, जिसका भाषण सत्य नहीं होता। जो एक बोलता है और दूसरा ही करता है, जो विश्वास रखने अयोग्य है (१४)

२० मूरदेवः, (२) सहमूरः (१८)- घात पात करनेवाला मूढ, डाकुओंके साथ रहनेवाला, महामूर्ख, महाघातकी, महाहिंसक। (२)

२१ मिथुना शपातः- एक दूसरेको गालियां देते हैं, परस्पर बुरे शब्दोंके प्रयोग करते हैं। अपशब्द बोलते हैं। (१२)

ये सब दुष्ट हैं। ये दुष्टोंके लक्षण हैं। पाठक इन वचनोंका विचार करके अपने समाजमें अथवा इस संसारमें इन लक्षणोंसे युक्त कौन कौन हैं, इसका निश्चय करें और उन

दुष्टोंको दूर करनेका प्रयत्न करें। इन लक्षणोंका विचार करके पाठक श्रेष्ठ सज्जनोंके लक्षण भी जान सकते हैं। जैसा "जो दूसरोंका घात पात नहीं करते, जो किसीकी हिंसा नहीं करते, जो अहिंसा भावसे वर्तते हैं, जो सदा सत्य बोलते हैं, कभी कपट नहीं करते, हृदयमें शुद्ध भाव धारण करते हैं, कभी किसीका नाश करके अपना पेट भरना नहीं चाहते, परंतु अपने प्रयत्नसे दूसरोंका सुख बढाना चाहते हैं, दुष्ट मनुष्योंके साथ कभी नहीं रहते, मुखसे कभी बुरे शब्द नहीं उच्चारते, जो पापकर्ममें प्रवृत्त नहीं होते, जो मांस भोजन नहीं करते, जो दूसरोंको मारपीट नहीं करते, जो दूसरोंको दासभावसे छुडानेके लिये प्रयत्न करते हैं, जो दूसरोंकी रक्षा करते हैं।" जो ऐसा शुद्ध सदाचार रखते हैं वे सज्जन कहे जाते हैं। इन सज्जनोंको पूर्वोक्त दुष्ट दुर्जन सदा कष्ट देते हैं, अतः दुष्टोंको दूर करना धर्म होता है। सज्जनोंका परित्राण करना, दुष्ट दुर्जनोंका नाश करना और धर्मकी व्यवस्था स्थापित करना यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका कर्तव्य है। जो यह कर्तव्य करेंगे वेही आदरके योग्य पुरुष हैं। यही मनुष्यका धर्म है, अतः इस सूक्त द्वारा कहा है कि इन दुष्टोंका नाश करना चाहिये। नाश करनेका भाव यह है- कि उनका दुष्ट भाव दूर करना, उनके स्वभावका सुधार करना, उनको दुष्ट व्यवहारसे निवृत्त करना, उनको समाज या राष्ट्रसे बहिष्कृत करना और इतनेसे भी कार्य न हुआ, तो उनका नाश करना। इस सूक्तका यह कार्य है। अब इन दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो, इस विषयमें देखिये—

दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो ?

पूर्वोक्त विवरणमें दुष्टोंके लक्षण कहे हैं, इन लक्षणोंसे दुष्टोंकी पहचान हो सकती है। इन लक्षणोंसे दुष्टोंका ज्ञान होनेके पश्चात् उनका नाश करनेका कार्य कौन करे, इसका विचार करना चाहिये। हरएक मनुष्य दुष्टोंका नाश करनेका कार्य करनेका अधिकारी नहीं है, यह कार्य विशेष जिम्मेवारीका कार्य है, अतः यह कार्य विशेष सावधानतासे होना चाहिये और विशेष योग्यतावाले मनुष्यके आधीन यह कार्य रहना चाहिये। इस विषयके निर्देश इस सूक्तमें हैं, उनका अब यहां विचार करते हैं—

१ मित्रः (मं. १), सखा (मं. २०)- जो मनुष्य सब मनुष्योंकी ओर मित्रताका वर्ताव करता है, जो सबका सखा अर्थात् हित चाहनेवाला है। जनताका हित करनेमें जो तत्पर रहता है,

२ विप्रः (मं. २२), कविः (मं. २०)- जो विशेष प्राज्ञ अर्थात् ज्ञानी है, जो कवि है अर्थात् क्रान्तदर्शी है, जो दूरदृष्टि है, जो गहराईसे हरएक बातका विचार कर सकता है, जो पवित्र दृष्टिके साथ सब बातोंका आगेपीछेका विचार करनेमें चतुर है,

३ जातवेदः (ज्ञातवेदः)- जो ज्ञानी है, जिसने अध्ययन उत्तम प्रकारसे पूर्ण किया है, जो बहुश्रुत और वेदशास्त्रज्ञ है, जिसके अंदर ज्ञानकी दृष्टि उत्पन्न हुई है, (मं. ३)

४ अथर्ववत् दिव्यज्योतिः (मं. २१)- जो (अ-थर्व) अचञ्चल स्थितप्रज्ञ योगीके समान दिव्य तेजसे युक्त है, जिसने योगसाधनादि द्वारा अपना मन स्थिर किया है, जो चञ्चल वृत्तिवाला नहीं है, जो शान्ति और गंभीरतासे सब बातोंका विचार कर सकता है और शीघ्रता करके जो कार्यका बिगाड नहीं करता है।

५ शुक्रशोचिः, शुचिः, पावकः (मं. २६)- जो पवित्र तेजसे युक्त, स्वयं आचारसे शुद्ध और पवित्रता करनेवाला है, जो स्वयं पवित्र विचार, पवित्र उच्चार और पवित्र आचारसे युक्त है, जिसका मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तरिन्द्रिय तथा जिसके बाह्य इंद्रिय पवित्र हैं और शुद्ध व्यवहार ही करते हैं,

६ ईड्यः (मं. २६), प्रथिष्ठः (मं. १)= पूर्वोक्त कारणसे जो प्रशंसनीय है, स्तुति करने योग्य है, सब लोग जिसके पवित्र आचारकी प्रशंसा करते हैं,

७ वाजी (मं. १), सहस्यः (मं. २२)- जो बलवान् है, कर्तव्य करनेका निश्चय होनेके पश्चात् जो निश्चय-पूर्वक अपने बलसे उसको निभाता है, जो प्रतिपक्षीको परास्त कर सकता है, जो अपने बलसे अपने कर्तव्य कर सकता है,

८ ब्रह्मसंशितः (मं. २५)- ज्ञानसे तीक्ष्ण, ज्ञानसे तेजस्वी, ज्ञानसे सुसंस्कृत, ज्ञानसे प्रशंसायुक्त बना हुआ,

९ अजरः, अमर्त्यः (मं. २०) = जरारहित और मृत्युरहित बना हुआ, क्षीण न होनेवाला और मृत्युसे न डरनेवाला, देवोंके समान जरामृत्युको दूर रखनेवाला दिव्य-जीवन युक्त,

१० क्रतुभिः समिद्धः (मं. १)- विविध सत्कर्मोंसे प्रदीप्त हुआ, श्रेष्ठ प्रशस्ततम कर्मोंसे प्रकाशित, सत्यमय प्रशंसनीय उत्तम कर्म करनेवाला, जिससे उत्तम कर्म ही होते हैं,

११ शिशानः (मं. १)- तीक्ष्ण, तेजस्वी,

१२ शर्वा (मं. ५)- शत्रुओंका नाश करनेवाला,

१३ प्रतीचः (मं. ६)- दुष्टोंका सामना करनेवाला, शत्रुओंके सन्मुख खडा होकर उनका प्रतिकार करनेवाला,

१४ भंगुरावतः हन्ता (मं. २१)- घातकोंका नाश करनेवाला,

१५ रक्षोहा (मं. १)- राक्षसों, क्रूरकर्म करनेवालोंका नाश करनेवाला,

१६ क्रव्यादः अपिधत्स्व (मं. २)- मांसभक्षकों, दूसरोंके जीवनोंपर अपनी पुष्टी करनेवालोंको दबाओ,

१७ अर्चिषा यातुधानान् उपस्पृश (मं. २)- अपने तेजसे दूसरोंको यातना देनेवालोंका नाश कर,

१८ दिवा नक्तं रिषः पातु (मं. १)- दिन रात्र घातकोंसे सज्जनोंकी रक्षा कर,

१९ जम्भैः यातुधानान् संधेहि (मं. ३)- हथियारोंसे दुष्टोंको दण्ड दे।

इस ढंगसे इस सूक्तमें दुष्टोंका नाश कौन करे इस विषयमें कहा है। दुष्टोंका नाश करनेवाला ज्ञानी, शान्त, सम बुद्धि रखनेवाला, गंभीर, विचारवान्, जनताका हित करनेवाला, पवित्र विचारवाला ऐसा सुयोग्य पुरुष होना चाहिये। हरएक मनुष्य यह पवित्र कार्य कर नहीं सकता। जिससे कभी अन्याय होनेकी संभावना नहीं होती, ऐसे सज्जनके आधीन यह अधिकार होना चाहिये। पाठक स्मरण रखें कि जब कभी न्यायाधीश अथवा दण्डविधान करनेके कार्यके लिये किसी मनुष्यको नियुक्त करना हो, तो इस स्थानके लिये इन गुणोंसे युक्त पुरुष नियुक्त किया जावे। और इन गुणोंसे युक्त मनुष्य ही उस स्थानपर जाकर कार्य करे। इस दृष्टीसे इस सूक्तके मंत्र बडे उपयोगी हैं। ऐसे सात्विक पुरुषसे कभी अन्याय नहीं होगा, जो योग्य होगा, वही कार्य वह करेगा, और सब मनुष्योंको इसके कार्यसे संतोष होगा।

इन दुष्टोंको जो दण्ड देना योग्य है वह दण्डोंके विविध प्रकार भी इस सूक्तमें लिखे हैं, जो इन मंत्रोंमें स्पष्ट लिखे हैं, तथापि सुबोधताके लिये वर्णन यहां करते हैं—

दण्डका विधान

इस समयतक जो विवरण किया उससे दुष्टोंके लक्षण और दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षण ज्ञात हुए। दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षणोंमें भी अन्तिम कुछ लक्षण ऐसे हैं कि जिनसे दण्डविधानका भी पता चल सकता है। अब इसी दण्डविधानका अधिक विचार करते हैं—

१ रक्षो-हा- इस शब्दसे राक्षसोंको 'वध' दण्ड योग्य है यह सिद्ध होता है। 'हन्' धातुका दूसरा अर्थ 'गति' है। यह अर्थ लिया जाय तो राक्षसोंको अपने स्थानसे भगा देना अर्थात् 'देशसे निकाल देना' यह अर्थ होगा। 'रक्षस्' (रक्षन्ति यस्मात् इति रक्षः) शब्दका अर्थ जिससे सुरक्षित रहनेकी आवश्यकता होती है, जिससे जनताका बचाव किया जाता है। ऐसे दुष्टोंको ऐसे स्थानमें रखना और उनपर ऐसा पहारा रखना कि ये दुष्ट दूसरोंको यातना न दे सकें, आदि बोध इससे प्राप्त होता है। (मं. १)

२ अयोदंष्ट्रः- लोहेकी दाढें। इस यंत्रमें दुष्टको रख कर उसका नाश करना। ऊपरसे और नीचेसे कील आकर दुष्टके शरीरको काटते हैं। (मं. २)

३ क्रव्यादः अतिधत्स्व- दूसरोंके मांसपर अपने शरीरकी पुष्टी करनेवालोंको बंद करके रख, कैदमें रख, (स्व आसन्) जैसा खाद्य पदार्थ अपने मुखमें बंद रखा जाता है, उस प्रकार उन दुष्टोंको रख। (मं. २)

४ अवरं परं च दंष्ट्रौ उपधेहि- दोनों प्रकारके कनिष्ठ और श्रेष्ठ शत्रुको अपनी दाढोंमें बंद रख। अर्थात् उसको इधर उधर हिलनेका प्रतिबंध कर। (मं. ३)

५ यातुधानान् जंभैः संधेहि- यातना देनेवालोंपर जबडोंके समान शस्त्रोंके साथ चढाई कर। शस्त्रोंसे उनका नाश कर। (मं. ३)

६ यातुधानस्य त्वचं भिन्धि- यातना देनेवाले दुष्टोंकी चमडी छिन्न विच्छिन्न कर। अर्थात् उनको इतना ताडनकर कि उनकी चमडी फट जाय। मं. ४)

७ हिंस्र-अशनिः एनं हरसा हन्तु- हिंसक बिजली इनका वध वेगसे करे। अर्थात् विद्युत्के प्रयोगसे इन दुष्टोंका वध किया जावे। (मं. ४)

८ पर्वाणि प्रशृणीहि- दुष्टके जोडोंको काट दो (मं. ४)

९ क्रविष्णुः क्रव्याद् एनं विचिनोतु- मांसभक्षक सिंह व्याघ्र आदि प्राणियों द्वारा दुष्टोंके शरीरोंका वध किया जावे। (मं. ४)

१० यातुधानं विध्य- यातना देनेवाले दुष्टको बाण आदिसे वेध डाल। (मं. ५)

हृदये विध्य- हृदयपर बाण मार। (मं. ६)

११ एषां बाहून् प्रतिभंग्धि- दुष्टोंके बाहु काट दे। (मं. ६)

१२ यातुधानान् ऋष्टिभिः स्पृणुहि- यातना देनेवालोंका शस्त्रोंसे वध कर। (मं. ७)

१३ यातुधानान् निजहि- दूसरोंको यातना देनेवालोंका नाश कर। (आमादः पक्षीः अदन्तु) दूसरोंका मांस खाकर अपनी पुष्टी करनेवालोंको गीध खा जायं। (मं. ७)

१४ रक्षः प्रति शृणीहि- राक्षसोंका नाश कर (मं १०)

१५ पृष्टीः हरसा शृणीहि- दुष्टोंकी पसलियां वेगसे तोड दे। (यातुधानस्य मूलं वृश्च) यातना देनेवाले दुष्टकी जड काट डाल। (मं. १०)

१६ यातुधानं नियुङ्धि- यातना देनेवालोंको कारागृहमें रख। (मं. ११)

१७ यातुधानान् हृदये विध्य- यातना देनेवाले दुष्टोंका हृदयमें वेध कर। (मं. १२)

१८ असुतृपः पराशृणीहि- दूसरोंके प्राणोंको लेकर अपनी तृप्ती करनेवाले दुष्टोंका नाश कर। उनको दूर करके उनका नाश कर। (मं. १३)

१९ मर्मन् ऋच्छन्तु- दुष्टोंके मर्म स्थान काटे जांय। (मं १४)

२० यातुधानः प्रसितिं एतु- दुष्ट बंधनस्थान-कारागार-को प्राप्त होवें। अर्थात् दुष्टोंको कारागृहमें रखा जावे। (मं. १४)

२१ तेषां शीर्षाणि वृश्च- दुष्टोंके सिर काट जांये (मं. १५)

२२ यातुधानः उस्रियायाः संवत्सरीणं पयः माशीत्- दुष्टको गायका दूध एक वर्षतक पीनेको न दिया जावे। एक वर्ष गायका दूध पीनेको न देना यह एक दण्ड है। आजकल तो जो भैंसका ही दूध पीते हैं, उनको तोय ही दण्ड स्वभावतः हो रहा है, क्योंकि गायका दूध बहुतोंको प्राप्त ही नहीं होता है। आजकल कैदियोंको भैंसका ही दूध दिया जायगा तो उनको कुछ भी बुरा नहीं प्रतीत होगा। परंतु वैदिक कालमें गायका दूध पीनेके लिये न मिलना भी एक दण्ड माना जाता था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कारागृहवासी कैदियोंको भी गायका दूध पीनेको प्रतिदिन मिलता होगा और जो विशेष प्रकारके दुष्ट लोग होंगे, उनको ही वर्षभरतक गायका दूध न देनेका दण्ड होता होगा। इसीलिये आगे इसी मंत्रमें कहा है कि— (यतमः पीयूषं तितृप्सात् तं मर्माणि विध्य)- इन दुष्टोंको गायका दूध न पीनेका दण्ड होनेपर भी जो दुष्ट चोरी करके या अन्य युक्तिसे गायका दूध पीनेकी चेष्टा करेगा, उसके मर्म स्थानको वेध डाल। इससे स्पष्ट होता है कि विशेष प्रकारके घोर अत्याचारी कैदियोंको ही गायका दूध न पीनेका दण्ड होता था, और ऐसे जेली यदि गायका दूध नियम तोडकर पीयेंगे, तो उनको कठोर दण्ड किया जाता था। (मं. १७) इस दण्डकी दृष्टीसे इस मंत्रका विचार पाठक अवश्य करें।

२३ अघशंसं दहन्तु- पापीको जलाया जावे। यह वधदण्ड है। यहां जलाकर वध करना है। (मं १९) यही भाव (धूर्वन्तं न्योष) विनाश करनेवालेका वध कर, नाश कर अथवा जलाकर नाश कर, इस आदेशमें है।

२४ रक्षसः प्रतिजहि- दुष्ट राक्षसोंका नाश कर। (मं. २३)

२५ दुर्हार्दं अभिदासन्तं विनिक्ष्व- दुष्ट हृदयवाले और दूसरोंको दास बनानेवाले दुष्टका नाश कर। (मं. २५)

इस प्रकार विविध प्रकारके दण्डोंका विधान इस सूक्तमें है। विविध प्रकारके अपराधोंके प्रमाणसे ये विविध दंड देना योग्य ही है। जो ज्ञानी और समयज्ञ विद्वान न्यायाधीश होगा वही अपराधोंकी न्यूनाधिकताके अनुसार न्यूनाधिक दण्ड दे सकता है। किस अपराधको कौनसा दण्ड देना योग्य है, इसका विचार करनेवाला शान्त और गंभीर स्वभाववाला न्यायाधीश होना योग्य है, यह विचार इसी विवरणमें इसके पूर्व हो चुका है, उसका हेतु इससे पाठकोंके मनमें अब आ गया होगा।

इस दृष्टीसे पाठक इस सूक्तका विचार करें और न्याय-सभाका कार्य करनेकी रीति जानें।

शत्रुदमन।

[४]

(ऋषिः— चातनः। देवता— इन्द्रासोमौ।)

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥
इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॒ग्निमाँ॑ इव।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ॥ २ ॥
इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृतो॑ व॒व्रे अ॒न्तर॑नारम्भ॒णे तम॑सि॒ प्र वि॑ध्यतम्।
यतो॒ नैषां॒ पुन॒रेक॑श्च॒नोदय॒त्तद्वा॑मस्तु॒ सह॑से म॒न्युम॒च्छवः॑ ॥ ३ ॥
इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वो व॒धं सं पृ॑थि॒व्या अ॒घशं॑साय॒ तर्ह॑णम्।
उत्त॑क्षतं स्व॒र्य१॒॑ पर्व॑तेभ्यो॒ येन॒ रक्षो॑ वावृधा॒नं नि॒जूर्व॑थः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (वृषणा) बलवान् इन्द्र और सोम ! (रक्षः तपतं) राक्षसोंको ताप दो, (उब्जतं) उनको मारो। (तमो-वृधः निअर्पयतं) अन्धकार बढानेवालोंको नीचे हटा दो। (अ-चितः परा शृणीतं) अन्तःकरण रहित दुष्टोंको नाश करो, (वि ओषतं, हतं,) उनका नाश करो, उनका वध करो। उनको (नुदेथां) हकाल दो, (अत्त्रिणः निशिशीतं) दूसरोंको खानेवालोंको निर्बल करो ॥ १ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (अग्निमान् चरुः इव) आगपर चले हुए हाण्डीके समान (अघशंसं अघं अभि) पाप करनेवाले पापीके सन्मुख (तपुः सं ययस्तु) ताप-दुःख-देता रहे। (ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे) ज्ञानके शत्रु, मांसभक्षक, (घोरचक्षसे किमीदिने) क्रूर दृष्टिवाले दुष्टके साथ (अनवायं द्वेषः धत्तं) निरन्तर द्वेषका धारण कीजिये ॥ २ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (अनारम्भणे वव्रे तमसि अन्तः) अगाध आवरक अन्धकारके बीचमें (दुष्कृतः प्रविध्यतं) दुष्कर्म करनेवालोंको वेध डालो, (यतः एषां एकः चन) जिससे इनमेंसे एक भी (न उत् अयत्) न उठ करे। इस प्रकारका (वां मन्युमत् तत् शवः) आपका उत्साहयुक्त वह बल (सहसे अस्तु) शत्रुदमनके लिये होवे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र और सोम ! आप दोनों (अघ-शंसाय) पाप करनेवाले दुष्ट मनुष्यके लिये (दिवः पृथिव्याः) द्युलोक और पृथ्वी लोकके बीचमें (तर्हणं वधं संवर्त्तयतं) विनाशक वध करनेवाले शस्त्रको प्रवृत्त करो। (पर्वतेभ्यः स्वर्यं उत् तक्षतं) पर्वतनिवासी शत्रुओंके लिये अतितीक्ष्ण शस्त्र सिद्ध रखो। (येन वावृधानं रक्षः निजूर्वथः) जिससे बढनेवाले राक्षसोंका तुम नाश करोगे ॥ ४ ॥

भावार्थ— दुष्टोंको दण्ड दो, उनको ताडन करो, अज्ञान फैलानेवालोंको दूर हटा दो, दुष्ट हृदयवालोंको समाजसे बाहर करो, उनका वध भी करो, अथवा उनको बाहर हकाल दो। जो दूसरोंको खाते हैं उनको निर्बल बनाओ ॥ १ ॥

जो सदा पाप करता है उसको कठिन दण्ड दे। ज्ञानका नाश करनेवाले, मांसभक्षक, क्रूर और हिंसकोंका द्वेष करो ॥ २ ॥

गाढ अन्धकारमें रहनेवाले, दुष्कर्मियोंको वेध डालो। ऐसी व्यवस्था करो कि इनमेंसे एक भी फिर कष्ट देनेके लिये न बच जावे। तुम्हारा उत्साहयुक्त बल अपने विजयके लिये ही लग जावे ॥ ३ ॥

पाप करनेवाले दुष्टकी निन्दा करो और वध करो। उनको दूर करनेके लिये अपने शस्त्र सिद्ध रखो जिससे तुम उनका नाश कर सकोगे ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः ।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ ॥
इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥
प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहुः ॥ ७ ॥
यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥ ८ ॥

अर्थ— हे इन्द्र और सोम ! (युवं) तुम दोनों (अग्नितप्तेभिः अश्महन्मभिः) अग्निमें तपे और फौलादसे बने हुए (अजरेभिः तपुर्वधेभिः) क्षीण न होनेवाले और संताप देकर वध करनेवाले शस्त्रोंसे (दिवः अत्त्रिणः परिवर्तयतं) द्युलोकसे भोगी लोगोंको हटा दो और (पर्शाने नि विध्यतं) कठिण स्थानमें इनको वेध करो, जिससे वे (निस्वरं यन्तु) शब्द न करते हुए भाग जाय ॥ ५ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (कक्ष्या वाजिना अश्वा इव) जैसे चर्मपट्टी बलवान् घोडोंसे संबंधित होती है वैसे ही (इयं मतिः) यह हमारी बुद्धि (वां परि भूतु) तुमको सब प्रकार प्राप्त होवे । (यां होत्रां वां मेधया परिहिनोमि) इस आह्वान करनेवाली वाणीको अपनी बुद्धिके साथ तुम्हारे प्रति प्रेरित करता हूं, अतः तुम दोनों (नृपती इव) राजाओंके समान (ब्रह्माणि आ जिन्वतं) इन स्तुति वाक्योंको प्रेमसे स्वीकार करो ॥ ६ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (तुजयद्भिः एवैः प्रतिस्मरेथां) वेगवान् वाहनोंसे दुष्टोंके गतिका पीछा करो । (भंगुरावतः द्रुहः रक्षसः हतं) विनाशक और द्रोहशील राक्षसोंका नाश करो । (दुष्कृते सुगं मा भूत्) उस दुष्कर्म करनेवालेको सुखसे घूमनेका अवकाश न हो । (यः द्रुहुः कदाचित् मा अभिदासति) जो दुष्ट कभी मुझे कष्ट पहुंचायेगा ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! (पाकेन मनसा चरन्तं मा) परिपक शुद्ध मनसे आचरण करनेवाले मुझको (यः अनृतैः वचोभिः अभिचष्टे) जो असत्य वचनोंसे झिडकता है, (काशिना संगृभीताः आपः इव) मुट्ठीद्वारा पकडे जलके समान वह (असतः वक्ता) असत्य वचन बोलनेवाला (अ-सन् अस्तु) न होनेके समान होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— अग्निमें तपाकर फौलादसे बनाये अतितीक्ष्ण और शत्रुका नाश करनेमें समर्थ शस्त्रोंसे अपने दुष्ट शत्रुओंको वेध डालो, जिससे वे न चिल्लाते हुए नाशको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

तुम्हारे अन्दर यह विचार-शत्रुनाश करनेका विचार स्थिर रहे, जिससे तुम प्रशंसाको प्राप्त होंगे जैसे बन्दिजनोंसे राजा-लोक प्रशंसित होते हैं ॥ ६ ॥

वेगवान् वाहनोंमें बैठकर शत्रुओंका पीछा करो । सब दुष्टोंको प्राप्त करके इनका नाश करो । दुष्ट कर्म करनेवाले तुम्हारे समाजमें सुखसे न भ्रमण कर सकें । और किसीको कष्ट न पहुंचावें ॥ ७ ॥

शुद्ध मनसे कार्य करनेवालेको जो विना कारण झूठमूठ गालियां देता है, वह असत्यवादी जीवित न रहनेवालेके समान बन जावे ॥ ८ ॥

×

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥ ९ ॥
यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।
रिपु स्तेन स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वाइ तना च ॥ १० ॥
परः सो अस्तु तन्वाइ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११ ॥
सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥
न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १३ ॥

अर्थ—(ये एवैः पाकशंसं विहरन्ते) जो विशेष गति साधनोंसे परिपक्व बुद्धिवालेको विशेष प्रकारसे हराते हैं, (ये वा भद्रं स्वधाभिः दूषयन्ति) जो अच्छे मनुष्यको अन्नोंसे दूषित करते हैं, (सोमः वा तान् अहये प्रददातु) सोम उन दुष्टोंको सांपके लिये सौंप देवे अथवा (निर्ऋतेः उपस्थे वा आदधातु) विनाशके समीप उनको पहुंचावे ॥९॥

हे अग्ने ! (यः नः पित्वः रसं दिप्सति) जो हमारे अन्नके रसको बिगाडता है, (यः अश्वानां गवां तनूनां) जो घोडों गौओं और अन्य शरीरोंका नाश करता है, वह (स्तेयकृत् रिपुः स्तेनः) चोरी करनेवाला शत्रुरूपी चोर (दभ्रं एतु) नाशको प्राप्त होवे । (सः तन्वा तना च नि हीयतां) वह शरीरसे और पुत्रादिसे हीन बने ॥ १० ॥

हे देवो ! (यः मा दिवा) जो मुझे दिनके समय (यः च नक्तं दिप्सति) और जो रात्रीके समय पीडा देता है, (सः तन्वा तना च परः अस्तु) वह अपने शरीरके साथ और पुत्रके साथ दूर रहे, (विश्वाः तिस्रः पृथिवीः अधः अस्तु) सब तीनों भूविभागोंसे नीचे रहे और (अस्य यशः प्रति शुष्यतु) इसका यश सूख जाय ॥ ११ ॥

(चिकितुषे जनाय सुविज्ञानं) ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्यके लिये यह उत्तम ज्ञान कहा जाता है कि, (सत् च असत् च) सत्य और असत्य (वचसी पस्पृधाते) भाषणोंमें स्पर्धा रहती है । (तयोः यत् सत्यं) उनमें जो सत्य है और (यतरत् ऋजीयः) जो सरल है, (तत् इत् सोमः अवति) उसकी सोम रक्षा करता है और (असत् हन्ति) असत्यका विनाश करता है ॥ १२ ॥

(सोमः वृजिनं न वा उ हिनोति) सोम पापको कभी नहीं सहाय करता, (मिथुया धारयन्तं क्षत्रियं न) मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियको कभी नहीं सहाय करता । (रक्षः हन्ति) वह राक्षसोंको मारता है, (असत् वदन्तं हन्ति) असत्य बोलनेवालेको मारता है, ये दोनों (इन्द्रस्य प्रसितौ शयाते) इन्द्रके बंधनमें रहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट अपने अनेक साधनोंसे सज्जनोंको लूटते हैं, और अच्छे आदमियोंके अन्नोंका बिगाड करते हैं, वे वधके लिये योग्य हैं ॥ ९ ॥

जो अन्नरसोंको बिगाडता है, मनुष्यों और पशुओंका घात करता है, चोरी करता है वह अपने बालबच्चोंके साथ नाशको प्राप्त होवे ॥ १० ॥

जो दुष्ट दिन रात्र दूसरोंको पीडा देता है वह अपने बालबच्चोंके साथ नाशको प्राप्त होवे और उसका यश कम होवे ॥ ११ ॥

सब लोगोंको यह सत्य ज्ञान कहा जाता है कि सत्य और असत्यकी स्पर्धा इस जगत्में चल रही है । जो सत्य और जो सीधा है उसकी रक्षा परमेश्वर करता है और जो असत्य है उसका नाश करता है ॥ १२ ॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने ।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ १४ ॥
अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥ १५ ॥
यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥ १६ ॥
प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं गूहमाना ।
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥ १७ ॥

अर्थ— (यदि वा अहं अनृतदेवः अस्मि) यदि मैं असत्यका उपासक बनूं, (अपि वा देवान् मोघं ऊहे) अथवा देवोंकी व्यर्थ उपासना करूं, तो ही हे (जातवेदः अग्ने) जातवेद अग्ने ! (अस्मभ्यं हृणीषे किं) हमारे ऊपर क्रोध करोगे क्या ? (द्रोघवाचः ते निर्ऋथं सचन्तां) द्रोहका भाषण करनेवाले तो विनाशको प्राप्त होंगे ॥ १४ ॥

(यदि यातुधानः अस्मि) यदि मैं पीडा देनेवाला हूं (यदि वा पूरुषस्य आयुः ततप) और यदि मैं किसी मनुष्यकी आयुको ताप देऊं तो (अद्य मुरीय) आज ही मर जाऊं । (अधा) और (यः मा मोघं यातुधान इति आह) जो मुझे व्यर्थ दुष्ट करके कहता है, (सः दशभिः वीरैः वि यूयाः) वह दसों वीरोंसे वियुक्त हो जाय ॥ १५ ॥

(यः मा अ-यातुं यातुधान इति आह) जो मुझ यातना न देनेवालेको दुष्ट करके कहता है, (यः वा) और जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस होते हुए भी (शुचिः अस्मि इति आह) मैं शुद्ध हूं ऐसा कहता है । (इन्द्रः तं महता वधेन हन्तु) इन्द्र उसको बडे वज्रदण्डसे मारे । और वह (विश्वस्य जन्तोः अधमः पदीष्ट) सब प्राणियोंसे नीचे गिर जावे ॥ १६ ॥

(या नक्तं खर्गला इव) जो रात्रीके समय उल्लुनीके समान (तन्वं गूहमाना) अपने शरीरको छिपाती हुई (प्रजिगाति) जाती है और (द्रुहः अपाजिगाति) द्रोह करके भटकती है, (सा अनन्तं वव्रं पदीष्ट) वह अगाध गढेमें गिर पडे और (ग्रावाणः रक्षसः उपब्दैः घ्नन्तु) पत्थर राक्षसोंको शब्दोंके साथ मारें ॥ १७ ॥

भावार्थ— जो पाप करता है, मिथ्या व्यवहार करता है, असत्य भाषण करता है और घातपात करता है उनको बंधनमें डालना चाहिये अथवा उनका वध करना चाहिये ॥ १३ ॥

यदि हमने असत्य कहा अथवा देवोंकी पूजा कपटसे की, तो हमारी अधोगति होगी । सब द्रोहका भाषण करनेवाले नाशको प्राप्त होंगे ॥ १४ ॥

यदि मैंने किसीको पीडा दी हो अथवा किसीके स्वास्थ्यमें बिगाड किया हो, तो मेरी मृत्यु हो जावे । परंतु मैंने ऐसा कभी नहीं किया है तथापि जो मुझे दुष्ट करके कहता है उसके दशों प्राण दूर हों ॥ १५ ॥

मैं शुद्धाचार होते हुए मुझे दुष्ट करके कहे और जो दुराचारी स्वयं दुष्ट होते हुए अपने आपको पवित्र कहता रहे, उसका वध होवे और वह सबसे अधोगतिको प्राप्त होवे ॥ १६ ॥

जो उल्लूके समान रात्रीके समय छिप छिपकर दुष्टभावसे संचार करती है वह गढेमें पडे और पत्थरोंसे उसका वध किया जावे ॥ १७ ॥

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तो३ऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥

अर्थ — हे (मरुतः) मरुतो ! (विक्षु वि तिष्ठध्वं) प्रजाओंमें विशेष प्रकारसे ठहरो। (इच्छत) अपना कार्य करनेकी इच्छा करो, (रक्षसः गृभायत) राक्षसोंको पकडो और उनको (संपिनष्टन) पीस डालो। (ये वयः भूत्वा) जो पक्षियोंके समान होकर (नक्तभिः पतयन्ति) रात्रियोंमें घूमते हैं, (ये वा) अथवा जो (देवे अध्वरे रिपः दधिरे) यज्ञ देवके विषयमें विनाशक भाव धारण करते हैं ॥ १८ ॥

हे (मघवन् इन्द्र) धनवान् इन्द्र ! (दिवः अश्मानं प्रवर्तय) द्युलोकसे अश्मास्त्रको चला और (सोमशितं संशिशाधि) सोमद्वारा तीक्ष्ण किये हुए शस्त्रको नियमसे प्रेरित कर। (पर्वतेन) पर्वतास्त्रसे (प्राक्तः अपाक्तः अधरात् उदक्तः रक्षसः) सामनेसे, पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे राक्षसोंको (अभिजहि) विनाश कर ॥ १९ ॥

(एते उ त्ये श्व-यातवः) ये वे कुत्तोंके समान बर्ताव करनेवाले दुष्ट (पतयन्ति) हमला चढाते हैं, (दिप्सवः अदाभ्यं इन्द्रं दिप्सन्ति) हिंसक शत्रु न दबनेवाले इन्द्रको सताते हैं। (शक्रः पिशुनेभ्यः वधं शिशीते) इन्द्र इन हीन दुष्टोंको वधदण्ड देता है। (यातुमद्भ्यः अशनिं नूनं सृजत्) यातना देनेवालोंके लिये विद्युत्को भेजता है ॥ २० ॥

(इन्द्रः) इन्द्र (हविर्मथीनां) हवियोंके विनाशक (अभि आविवासतां) समीप स्थित (यातूनां) यातना देनेवाले दुष्टोंको (परा-शरः अभवत्) दूर हटाकर नाश करनेवाला होता है। (यथा वनं परशुः) जैसे वनको कुल्हाडा काटता है, तथा जैसे (पात्रा इव) मिट्टीके बर्तनोंको तोडा जाता है उस प्रकार (शक्रः) समर्थ इन्द्र (सतः रक्षसः भिन्दन्) उपस्थित राक्षसोंको तोडता हुआ (इत् उ अभि एतु) आगे बढे ॥ २१ ॥

भावार्थ— प्रजाजनोंमें दक्षतासे पहारा करो, दुष्टको ढूंढकर निकालनेकी इच्छा करो, दुष्टोंको पकडो, उनको पीस डालो, जो दुष्ट रात्रीके समय संचार करते हैं और ईश्वर तथा यज्ञके विषयमें बुरा भाव धारण करते हैं, उनका नाश किया जावे ॥ १८ ॥

अपने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंसे दुष्टोंको सब ओरसे नाश करो ॥ १९ ॥

जो कुत्तोंके समान दुष्ट हैं, जो दूसरोंकी हिंसा करते हैं, उनका वध और नाश शस्त्रास्त्रोंसे किया जावे ॥ २० ॥

यज्ञोंका नाश करनेवाले, हवनसामग्री बिगाडनेवाले, दूसरोंका सतानेवाले दुष्टोंको हटा दो और जैसे परशुसे वनका नाश किया जाता है वैसा उनका नाश किया जावे ॥ २१ ॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥
मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ २३ ॥
इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥
प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (कोकयातुं) चिडियोंके समान व्यवहार करनेवाले अर्थात् कामी, (शुशुलूकयातुं) भेडियेके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् क्रोधी, (गृध्रयातुं) गीधके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् लोभी, (उलूकयातुं) उल्लूके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् मोहित, (सुपर्णयातुं) गरुडके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् घमंडी, (उत श्वयातुं) और कुत्तेके समान आपसमें झगडा करनेवाले अर्थात् मत्सरी लोगोंको (जहि) मार और (दृषदा इव) जैसे पत्थरोंसे पक्षीको मारते हैं वैसे (रक्षः प्रमृण) राक्षसोंका नाश कर ॥ २२ ॥

(यातुमावत् रक्षः नः मा अभिनट्) यातना देनेवाला राक्षस हमतक न आवे । ये (किमीदिनः) जो भूखे हैं और जो (मिथुनाः अप उच्छन्तु) घातक हैं वे दूर भाग जावें । (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी संबंधी पापसे (पृथिवी नः पातु) पृथिवी हमारी रक्षा करे । तथा (दिव्यात् अंहसः) द्युलोक संबंधी पापसे (अन्तरिक्षं अस्मान् पातु) अन्तरिक्ष हमें बचावे ॥ २३ ॥

हे इन्द्र ! (यातुधानं पुमांसं) यातना देनेवाले पुरुषको तथा (मायया शाशदानां स्त्रियं) कपटसे व्यवहार करनेवाली स्त्रीको (जहि) नाश कर । (मूरदेवाः विग्रीवासः ऋदन्तु) मूर्खोंके उपासक गर्दन रहित होकर नाशको प्राप्त हों । (ते उच्चरन्तं सूर्यं मा दृशन्) वे ऊपर उदयको प्राप्त होनेवाले सूर्यको न देख सकें ॥ २४ ॥

हे सोम ! (इन्द्रः प्रतिचक्ष्व) इन्द्र निरीक्षण करे, (विचक्ष्व) विशेष प्रकारसे देखे । आप दोनों (जागृतं) जाग्रत रहो । (रक्षोभ्यः यातुमद्भ्यः) राक्षस और पीडक इन सबको (वधं अशनिं) मृत्युदण्ड और वज्रदण्ड (अस्यतं) अर्पण करो ॥ २५ ॥

भावार्थ— कामी, क्रोधी, लोभी, अज्ञानी, घमंडी और मत्सरी ये छः प्रकारके दुष्ट हैं, इनका नाश कर ॥ २२ ॥

यातना देनेवाले हमसे दूर हों, सदा भूखे रहनेके समान व्यवहार करनेवाले दुष्ट दूर भाग जावें । पृथ्वी और स्वर्ग संबंधसे होनेवाले सब पापोंसे हम बच जांय ॥ २३ ॥

यातना देनेवाला पुरुष हो या स्त्री हो, उसका नाश हो । मूढोंके अनुयायियोंकी गर्दन काटी जाय । ये दुष्ट सूर्योदय होनेतक भी जीवित न रहें ॥ २४ ॥

निरीक्षण करो और सबका अवलोकन करो, जागते रहो । जो राक्षस अर्थात् घातपात करनेवाले और दूसरोंको सतानेवाले हों, उनको वधका दण्ड दिया जावे ॥ २५ ॥

शत्रुदमन

दुष्टोंका दमन

दुष्ट मनुष्योंका दमन करनेका विषय इस सूक्तमें है। यही विषय पूर्व सूक्तमें भी था। 'चातन' ऋषिके सूक्तोंमें प्रायः ऐसे ही शत्रुदमनके विषय हुआ करते हैं। 'चातन' शब्दका ही अर्थ 'हटाना, हटा देना, निकाल देना, दूर करना, नाश करना' है। यह ऋषिके नामका अर्थ ही इनके नामपर मिलनेवाले सूक्तोंके तात्पर्यमें दिखाई देता है, यह बात विशेष रीतिसे विचार करने योग्य है। शत्रुको हटानेका उपदेश करनेवाले सूक्तोंके ऋषिके नामका भी 'शत्रुको हटाना' ही अर्थ है, ऐसे अर्थवाला यही एक सूक्त और यही ऋषि है ऐसा नहीं है। कई अन्य सूक्तोंमें यह बात ऐसी ही दिखाई देती है। ऋग्वेदमें (ऋ. १० सू. १८६ का) 'उलो वातायनः' ऋषि है और इसमें शुद्ध वायु जीवन देनेवाला है ऐसा विषय आया है। वातायनका अर्थ खिडकी है और खिडकीका संबंध शुद्ध हवा घरमें आनेके साथ है। इस प्रकार कई ऋषियोंके नाम और उनके सूक्तोंके आशय परस्पर संबंधित हैं यह बात विशेष मनन करने योग्य है। अस्तु। इस सूक्तमें दुष्टोंका दमन करनेका उपदेश है। अतः प्रथम दुष्टोंके कुछ लक्षण यहां देखते हैं। पूर्व सूक्तके विवरणके प्रसंगमें जिन लक्षणोंका विचार किया है, उनको यहां नहीं दुहरायेंगे। इस सूक्तमें जो नये लक्षण आ गये हैं वे ही यहां देखेंगे-

दुष्टोंके लक्षण

पूर्वके सूक्तमें 'रक्षः, राक्षसः, भंगुरावत्, क्रव्यात्, किमीदिन्, यातुधान, मूरदेव' ये शब्द दुष्ट वाचक आ गये हैं, इस लिये पाठक इनके अर्थ वहां देखें। जो लक्षण पूर्व सूक्तमें नहीं दिये और इस सूक्तमें विशेष रूपसे कहे हैं, उनका ही विचार यहां अब करते हैं—

१ **तमोवृध्**- अज्ञानको बढानेवाले, अज्ञान फैलानेवाले, ज्ञानप्रसारका प्रतिबंध करनेवाले, ज्ञान देनेवालोंको कष्ट देनेवाले अथवा उनको रुकावट करनेवाले. (मं. १)

२ **अचित्**- जिसको चित्त नहीं है, अर्थात् जिसका अन्तःकरण उत्तम नहीं है, भेड मनुष्यके चित्तके समान जिसका चित्त नहीं, किंवा जिसके मनमें दुष्टताके विचार हैं। (Heartless) (मं. १) पूर्व सूक्तमें इसीका भाव बतानेवाला 'दुर्हार्द्' शब्द है।

३ **अत्त्रिन्**- (अत्ति इति) जो दूसरोंकी जान लेकर अपनी पुष्टी करता है, अपने स्वार्थके लिये जो दूसरोंके गलोंपर छुरी चलाता है। (मं. १)

४ **अघ अघशंसः**- पापकर्मके लिये जिसका नाम विख्यात हुआ है, जिसके पापकर्मके कारण ही जिसको सब लोग जानते हैं। (मं. २)

५ **ब्रह्मद्विष्**- ज्ञानका द्वेष करनेवाला, ज्ञानका प्रतिबंध करनेवाला, ज्ञान प्रसारमें रुकावटें उत्पन्न करनेवाला। (मं. २) तमोवृध (मं. १) यह शब्द इसी अर्थका सूचक है।

६ **दुष्कृत्**- दुष्कर्म करनेवाला, पापी। (मं. ३)

७ **द्रुह्**- द्रोह करनेवाले, जो विश्वासघात करते हैं, जो कपटसे लूटमार करते हैं, जो अत्याचारी हैं। (मं. ७)

८ **अनृतेभिः वचोभिः अभिचष्टे**- असत्य भाषण करता है, असत्य गवाही देकर दूसरोंको कष्ट पहुंचाता है। (मं. ८)

९ **असतः वक्ता**- (मं. ८); **असत् वदन्** (मं. १३)- असत्य वचन बोलनेवाला।

१० **ये एवैः वि-हरन्ते**- जो विविध साधनोंसे दूसरोंके धनादिकोंका विशेष रीतिसे हरण करते हैं। (मं. ९)

११ **स्वधाभिः भद्रं दूषयन्ति**— जो अपनी शक्तियोंसे दूसरोंको दूषण देते हैं। जो अन्नोंके द्वारा भले मनुष्योंको दूषित करते हैं, बुरे अन्न प्रयोगसे सज्जनोंको कष्ट पहुंचाते हैं। (मं. ९)

१२ **स्तेनः, स्तेनकृत्**- चोर और चोरी करनेवाला, अथवा चोरोंका संगठन बनानेवाला बडा डाकू। (मं. १०)

१३ **रिपुः**— जो शत्रुता करता है, छलकपट करनेवाला है। (मं. १०)

१४ **मिथुया धारयन्**— मिथ्या व्यवहार करनेवाला, मिथ्या भावको धारण करनेवाला। (मं. १३)

१५ **अनृतदेवः**— असत्यका उपासक, सदा असत्य विचार, असत्य भाषण और असत्य आचार करनेवाला। (मं. १४)

१६ देवान् मोघं ऊहे (वहति)— जो देवोंको व्यर्थ उठाकर घूमता है, जो कपटसे देवताओंके उत्सव करता है, जो स्वयं भक्तिहीन होता हुआ अपने स्वार्थ साधनके लिये देवताके महोत्सव रचता है। (मं. १४)

१७ द्रोहवाक्— द्रोहयुक्त भाषण करनेवाला, कठोर भाषण करनेवाला, दूसरोंको दुःख देनेके लिये कठोर भाषण करनेवाला। (मं. १४)

१८ रक्षः शुचिः अस्मि इति आह- जो स्वयं राक्षस होता हुआ अपने आपको शुद्ध और पवित्र बताता है। (मं १६)

१९ अयातुं यातुधान इत्याह- जो भलेको बुरा कहके पुकारता है। (मं० १६)

२० तन्वं गूहमाना नक्तं प्रजिगाति-छिपकर रात्रीके समय हमला करती है। (मं० १७)

२१ दिप्सुः- हिंसक, घातक, (मं० २०)

२२ पिशुनः- चुगली करनेवाला (मं० २०)

२३ हविर्मथिन्- हविका नाश करनेवाला (मं. २१)

२४ कोकयातुः- चिडियाके समान काम व्यवहार करनेवाला अर्थात् अत्यंत काम व्यवहारमें आसक्त, (मं० २१)

२५ शुशुलूकयातुः- भेडियेके समान क्रूरता करनेवाला क्रूरतासे दूसरोंका नाश करनेवाला, महाक्रूर,

२६ गृध्रयातुः- गीधके समान दूसरोंके जीवन लेकर तृप्त होनेवाला, लोभी, इसीको पूर्व सूक्तमें ' असु-तृप् ' कहा है,

२७ सुपर्णयातुः- गरुडके समान ऊपरही ऊपर घमंडसे व्यवहार करनेवाला, गर्विष्ठ, घमंडी,

२८ उलूकयातुः- उल्लूके समान दिवाभीत जैसे व्यवहार करनेवाला, अर्थात् महामूढ,

२९ श्वयातुः- कुत्तोंके समान आपसमें लडनेवाला, स्वजातीयोंसे लडना और दूसरोंके सामने लांगूल चालन करना, ऐसे नीच स्वभाववाला, (मं० २२)

३० मायया शाशदानः- कपटसे सब व्यवहार करनेवाला, कपटी छली। (मं. २४)

इतने लक्षण दुष्टोंके हैं ऐसा इस सूक्तमें कहा है। पूर्व सूक्तमें २१ और इस सूक्तमें २९ लक्षण दुष्टोंके कहे हैं, दोनों सूक्तोंके मिलकर पचास लक्षण हुए हैं। इन पचास लक्षणोंसे दुष्टोंकी पहचान हो सकती है। ये दुष्टों और राक्षसोंके लक्षण हैं। इन लक्षणोंकी तुलना श्रीमद्भगवद्गीताके (अ०१६ में कहे) आसुर संपत्तिके लक्षणोंके साथ करनेसे दुष्टोंका निश्चय करनेमें बडी सहायता हो सकती है। ये राक्षस कोई भिन्न योनीके प्राणी नहीं हैं, ये मानवजातीमें ही दुष्ट स्वभावके स्त्री पुरुष हैं, यह बात यहां भूलना नहीं चाहिये। अतः इन राक्षसोंसे अपनी रक्षा करनेका तात्पर्य अपने समाजके अथवा मानव जातीके दुष्ट जनोंसे रक्षा करना है। इसीलिये इस सूक्तमें कहा है—

प्रतिचक्ष्व, विचक्ष्व, जागृतम्। (मं० २५)

"प्रत्येक स्थानपर देख, विशेष रीतिसे देख और जाग्रत रह।" ये तीनों संदेश आत्मरक्षाकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वके हैं, जो इस जनताकी रक्षा करनेके कार्यमें नियुक्त होते हैं, जो स्वयं सेवक होकर जनताकी रक्षा करना चाहते हैं वे पहिले जाग्रत रहें, न सोयें। अपनी रक्षा जाग्रत रहनेसे ही हो सकती है। जो सोते हैं या जो सुस्त हैं वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। जाग्रत रहनेके पश्चात् (प्रतिचक्ष्व) प्रत्येक मनुष्यका व्यवहार देखना चाहिये, अपने और पराये सब मनुष्योंके व्यवहारकी अच्छी प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। और देखना चाहिये कि कौन मनुष्य सहायक है और कौन घातक है। यह निरीक्षण (विचक्ष्व) विशेष रीतिसे करना चाहिये, गहराईके साथ निरीक्षण करना चाहिये, क्यों कि कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो मित्रता करनेके मिषसे पास आते हैं और किस समय कपटसे गला काट देते हैं, इसका पताही नहीं चलता। अतः हरएक बातका विशेष दक्षतासे निरीक्षण करना योग्य है। अपनी रक्षा करनेके इच्छुक पाठक इन तीन आज्ञाओंका अच्छी प्रकार स्मरण रखें। इसी भावका अधिक स्पष्टीकरण करनेवाली आज्ञाएं १८ वे मंत्रमें निम्नलिखित प्रकार आ गई हैं—

विक्षु वितिष्ठध्वं, विक्षु इच्छत, रक्षसः गृभायत, रक्षसः संपिनष्टन। (मं० १८)

" प्रजाजनोंमें विशेष प्रकारसे उपस्थित रहो, प्रजाजनोंमें शान्ति सुख स्थापन करनेकी इच्छा करो, और इस कार्यके लिये राक्षसोंको ढूंढ निकालो, उनको पकडे रखो और उनको पीस डालो।" यहां प्रजाजनोंमें विशेष रीतिसे उपस्थित होनेकी आज्ञा है, साधारण मनुष्य जैसे होते हैं वैसा रहनेकी आज्ञा यहां नहीं हैं, यहां वेद कहता है कि असाधारण रीतिसे प्रजाजनोंमें सर्वत्र संचार करो, विविध रूपोंको धारण करके सब जनोंका विशेष ख्यालके साथ निरीक्षण करो, और पता लगा दो कि कौन मनुष्य राक्षस हैं और कौन देव हैं।

सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये पहिले ये सज्जन हैं और ये दुर्जन हैं इसका निश्चय करना चाहिये। यह निश्चय विशेष निरीक्षणके विना नहीं हो सकता, अतः यह आज्ञा कही है।

(विक्षु इच्छत) प्रजाजनोंमें शांति और सुख स्थापन करनेकी इच्छा धारण करो, इसी उद्देश्यसे विविध प्रकारसे उपस्थित हो जाओ और राक्षस कौन हैं इस बातका पता लगा दो। जो राक्षस हैं ऐसा निश्चित ज्ञान हो जायगा, उन राक्षसोंको (गृभायत) पकड रखो, उनको जनसमाजमें घूमनेसे रोक दो, उनकी हलचलपर बंधन डालो और उनको (संपिनष्टन) पीस डालो। यहां पीसनेका अर्थ चूर्ण करना अभीष्ट नहीं है। उनके संगठन तोड दो, उनके संगठन बढने न दो, उनको अलग अलग करके उनका नाश करो। उनको असफल बनाओ। इसी विषयमें देखिये—

रक्षसः प्राक्तो अपाक्तो अधरात् उदक्तः जहि। (मं. १९)

" इन दुष्टोंको सामनेसे, पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे अर्थात् सब ओरसे प्रतिबंधमें रखकर नष्ट करो। " यहां उनके देहोंको काटनेका तात्पर्य नहीं है। शरीर उनके बेशक जीवित रहें, परंतु उनकी गति (प्राक्तः) सामनेसे रुक जाय, (अपाक्तः) वे पीछे न जा सकें, (अधरात्) वे नीचे न जा सकें, और (उदक्तः) ऊपर भी न हो सकें, अर्थात् चारों ओरसे उनकी हलचल बंद हो जावे और वे ऐसे प्रतिबंधमें रहें कि वे किसी प्रकार दुष्टता न कर सकें। इस प्रकार वे अपनी दुष्टतामें असफल हुए तो उनका मानो पूर्ण नाश ही हुआ। अर्थात् यहां उनको दुष्ट कर्म करनेसे रोकना अथवा उनकी दुष्टताका नाश करना अभीष्ट है, इसीलिये कहा है—

उभौ प्रसितौ शयाते। (मं. १३)

" दोनों प्रकारके दुष्ट बंधनमें सोते रहें। " अर्थात् कारागारमें पडें, जिससे वे आगे पीछे नीचे और ऊपर हिल न सकें। ये दुष्ट पुरुष हों या स्त्रियां हों, दोनोंको समान रीतिसे प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

पुमांसं यातुधानं जहि। मायया शाशदानां स्त्रियं जहि। (मं. १४)

" पुरुष दुष्ट हो, या कपटाचारिणी स्त्री हो, दोनोंको उसी प्रकार असफल करना चाहिये। " स्त्री है इसलिये उसको क्षमा करना योग्य नहीं, क्योंकि एक दुष्ट अनेकोंको कष्ट पहुंचाता है, अतः किसी दुष्टको भी क्षमा नहीं होनी चाहिये। सबही दुष्ट लोग अपनी दुष्टता छोडें और सज्जन बनें, ऐसा प्रबंध होना आवश्यक है। राष्ट्रमें ऐसी व्यवस्था करना चाहिये कि-

दुष्कृते सुगं मा भूत्। (मं. ७)

" दुष्कर्म करनेवाले दुष्ट मनुष्य इधर उधर सुखसे न घूमें। " उनके भ्रमणके लिये प्रतिबंध हो। जब वे अपनी दुष्टता छोड देंगे तब, उनको सब प्रदेशमें भ्रमण करना सुगम होवे। इस उपदेशसे पता लगता है कि वेद चाहता है कि राष्ट्रका प्रबंध करनेवाले अपने राष्ट्रमें अथवा ग्रामके प्रबंधकर्त्ता ग्रामके दुष्ट मनुष्योंकी एक पूर्ण सूची बनावें, और उनके ऊपर निगराणी रखें, वे कहां रहते हैं क्या करते हैं यह देखें, और उनको ऐसे दबावमें रखें कि वे बुराई न कर सकें। सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये दुष्टोंपर इस रीतिसे दबाव रखना अत्यंत आवश्यक है, इसलिये ही कहा है कि-

इयं मतिः विश्वतः परिभूतु। (मं. ६)

" यह आत्मरक्षा और सज्जनरक्षा करनेकी बुद्धि मनुष्योंमें सर्वत्र, अर्थात् सब नगरोंके नागरिकोंमें स्थिर रहे। " कोई मनुष्य इसको न भूलें और—

वां मन्युमत् शवः सहसे अस्तु। (मं. ३)

" तुम्हारा उत्साह युक्त बल अपने विजय और शत्रुकी पराजयके लिये समर्पित हो। " शत्रु तो वेही लोग हैं कि जिनके लक्षण इस सूक्तमें और पूर्व सूक्तमें दुष्ट संज्ञाके साथ कहे हैं। इन दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंकी रक्षा करनेके कार्यके लिये सबका बल लगाना चाहिये। इसके करनेका उद्देश क्या है, इसका ज्ञान पाठकोंको इस सूक्तके मननसे ही हो सकता है। दुष्टोंके संचारके मार्ग बंद हों और सज्जनोंके मार्ग अधिक खुले हों। यह बात अनेक प्रयत्नोंसे साध्य करना चाहिये। हरएक मनुष्य अपने अपने कार्यक्षेत्रमें इस बातकी सिद्धताके लिये परम प्रयत्न करे। इस प्रयत्नका स्वरूप यह है—

असतः वक्ता अ-सन् अस्तु। (मं. ८)

" असत्य भाषण करनेवाला अर्थात् दुष्ट मनुष्य (अ-सन्) न होनेके समान होवे। " न होनेके समान होनेका अर्थ यही है कि वह दुष्ट मनुष्य या तो प्रतिबन्धमें रहे, कारागृहमें रखा जावे, निग्राणीमें रहे, उसके दुष्टताके मार्ग

उसके लिये खुले न रहें, किंवा उसकी ऐसी व्यवस्था की जावे कि वह अपनी दुष्टताके कर्म किसी प्रकार भी कर न सके। यहां तक जो मनन किया है उसका संबंध इस मन्त्र-भागसे पाठक देखें और संगति लगाकर इस दुष्टोंके प्रबंध विषयक बोध प्राप्त कर सकें।

सत्यका रक्षक ईश्वर

इस सूक्तमें एक महत्वपूर्ण बात कही है वह 'सत्यका रक्षक परमेश्वर है' ऐसा कहा है। सत्यमार्गपर जानेवालेके सन्मुख अनन्त आपत्तियां आ खडीं हुईं तो भी वह अब नहीं डरेगा, क्योंकि वह इस आदेशके अनुसार जान जायगा कि उसका रक्षक परमेश्वर है। जब सत्यका रक्षक परमेश्वर है तब उसको डरानेवाला कौन हो सकता है? इस विषयमें देखिये—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ (मं. १२)

"यह उत्तम ज्ञान ज्ञानी बननेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके हितके लिये कहा जाता है कि सत्य और असत्य भाषणकी इस जगतमें स्पर्धा चल रही है। उनमेंसे जो सत्य और जो सीधा होता है, उसकी परमेश्वर रक्षा करता है और जो असत्य और कुटिल होता है उसका नाश करता है।" अर्थात् सत्यका पालन करनेवाले और सरल आचरण करनेवाले मनुष्यकी रक्षा परमेश्वर स्वयं करता है और असत्य भाषणी तथा कुटिल व्यवहार करनेवालेका नाश करता है। हरएक मनुष्य इस ईश्वरके नियमका स्मरण रखें और अपना आचरण सीधा और सत्यके अनुसार रखें। जो अपना आचरण ऐसा रखेंगे वे कभी दोषी नहीं हो सकते और उनको ईश्वरकी ओरसे कभी दण्ड नहीं मिल सकता। परमेश्वरकी रक्षा प्राप्त करनेका यह एक उत्तम उपाय है। आशा है कि पाठक वृंद इस वेदके संदेशसे लाभ उठावेंगे और परमेश्वरकी रक्षामें सुरक्षित रहते हुए सत्य और सरलताके मार्गसे जाकर अपने आपको कृतकृत्य करेंगे।

जो ऐसा आचरण करेंगे और सत्य पालनमें दत्तचित्त होंगे वे कभी दुष्ट नहीं होंगे। परंतु दुष्ट वे बनेंगे जो असत्य और कुटिल व्यवहार करेंगे। इन दुष्टोंको दण्ड देना परमेश्वरका ही कार्य है। इनको विविध दण्ड दिये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—

वधदण्ड

इन दुष्टोंको वध दण्ड देनेके विषयमें निम्नलिखित मंत्र-भाग प्रमाण हैं—

अत्रिणः हतं, न्योषतं,
अघशंसं तर्हणं वधं वर्तयतम्। (मं. ४)
द्रुहः भंगुरावतः रक्षसः हतम्। (मं. ७)
रक्षः हन्ति। असत् वदन्तं हन्ति। (मं. १३)
तं महता वधेन हन्तु। (मं. १९)
पिशुनेभ्यो वधं शिशीते। (मं. २०)
रक्षोभ्यो वधं। (मं. २५)

"भोगी, पापी, द्रोही, नाश करनेवाले, असत्य भाषण करनेवाले, चुगली करनेवाले, जो राक्षसवृत्तीवाले लोग होंगे वे वधदण्डके लिये योग्य हैं। इसी प्रकार—

दुष्कृतः अनारंभणे तमसि वव्रे प्रविध्यतम्।
(मं. ३)
सा अनन्तं वव्रं अव पदीष्ट। (मं. १७)
अग्नितप्तेभिः अश्महन्मभिः तपुर्वधेभिः अत्रिणः विध्यतम्। (मं. ५)

"दुष्ट कर्म करनेवालोंको अन्धकारके स्थानमें रखो और उनपर शस्त्रका वेध करो। अग्निमें तपे, फौलादसे बने, घातक शस्त्रसे भोगी लोगोंका वेध करो।" वेध करनेका अर्थ यह है कि उनपर शस्त्र फेंककर उनके शरीरको घायल करना। बाणोंसे अथवा बंदूककी गोलीसे वेध करना आदि वेध दूरसे ही किया जाता है। इसी प्रकार—

यातुमद्भ्यः अशनिं सृजत्। (मं. २०)
यातुमद्भ्यः अशनिं अस्यतम्। (मं. २५)
मूरदेवा विग्रीवासः ऋदन्तु। (मं. २४)
तान् निर्ऋतेः उपस्थे आदधातु। (मं. ९)
द्रोघवाचः निर्ऋथं सचन्ताम्। (मं १४)

"यातना देनेवालोंपर बिजली छोडी जावे, मूढोंके उपास॰कोंका गला काटा जावे, वे नाशके द्वारपर पहुंचें, द्रोहका भाषण करनेवाले नाशको प्राप्त हों।" इस प्रकार यह करीब वध दण्ड ही है। तथापि इसमें अन्य प्रकारका नाश भी संभवनीय है। पत्थरोंसे दुष्टका वध करनेका भी उल्लेख है—

×

ग्रावाणः रक्षसः उपब्दैः घ्नन्तु। (मं. १७)

दृषदा इव रक्षः प्रमृण। (मं. २२)

"पत्थरोंसे राक्षसोंका वध किया जावे।" जो राक्षस है ऐसा निश्चय हो जाय, उसको किसी स्थानपर खडा करके अथवा वृक्षके साथ रसीसे बांधकर दूरसे उसपर पत्थर मारनेसे उसका वध हो जायगा। इस प्रकारका वधदण्ड इस समय अफगानिस्थानमें है। पाठकोंको विचार करना चाहिये कि यह रीति और इस मंत्रमें कही रीति एक ही है वा भिन्न हैं।

देशसे निकाल देना

यातूनां पराशरः अभवत्। रक्षसः भिन्दन् एतु। (मं. २१)

"यातना देनेवालोंको दूर करनेवाला वीर राक्षसोंको तोडता हुआ चले।" यह वीरका लक्षण है, वह वीर यातना देनेवालोंके कर्तूतोंको सह नहीं सकता। यहां पाठक 'परा+शर' शब्द देखिये कैसे विलक्षण अर्थमें पडा है। (परा) दूर ले जाकर (शर) नाश करनेवाला जो वीर है उसको पराशर कहते हैं। राक्षसोंको समाजसे और ग्रामसे दूर करना चाहिये, वे कभी ग्रामवासियोंको कष्ट देनेके लिये न आवें, इस विषयमें वेदकी आज्ञा देखिये—

अचितः परा शृणीतं, नुदेथाम्। (मं० १)
यतः एषां पुनः एकश्चन न उदयत्। (मं० ३)
यातुमावत् रक्षः नः मा अभिनड्। (मं० २३)
किमीदिनः मिथुना अपोच्छन्तु (मं० २३)

"जिनको सदय अन्तःकरण नहीं है वे दूर हटाये जांय, इनमेंसे एक भी फिर न लौट सके, मिथ्याचारी सब दूर भाग जावें।" ये सब आज्ञाएं दुष्टोंको राज्यसे बहार करनेका ही भाव बताती हैं। इस प्रकार देशसे निकाला हुआ कोई दुष्ट फिर देशमें या ग्राममें न आ सके। ऐसा करनेसे ही प्रजा सुखी रह सकती है।

दुष्टोंको तपाना।

दुष्ट दुर्जनोंको संताप देनेका भी एक दण्ड इस सूक्तमें कहा है, विचार करना चाहिये कि इस तपानेका अर्थ क्या है। इस विषयके मंत्र ये हैं—

रक्षः तपतं, उब्जतं। (मं० १)
अघशंसं अघं तपुः ययस्तु। (मं० २)

"राक्षसों दुष्टों, पापवृत्तिवालोंको ताप दो।" उनको संताप उत्पन्न कर। किन साधनोंसे संताप उत्पन्न करना है, इसका यहां उल्लेख नहीं। तथापि सूक्तका विचार करनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जब दुष्ट अपनी दुष्टताके कार्यसे हटाये जायंगे और चारों ओरसे उनको रोका जायगा, तब उनको संताप होगा और इस प्रकारका संताप ही यहां अभीष्ट होगा।

दुष्टोंका द्वेष।

वस्तुतः देखा जाय तो कोई मनुष्य किसीका कभी द्वेष न करे। परस्पर मित्रदृष्टीसे देखें। यह निःसंदेह धर्म है। परंतु दुष्ट मनुष्य और दुष्टताका द्वेष करनेकी आज्ञा वेद देता है। यदि द्वेष करना हो तो दुष्ट मनुष्योंका और उनकी दुष्टताका द्वेष करना योग्य है देखिये—

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे किमीदिने अनवायं द्वेषो धत्तम्। (मं० २)

"ज्ञानका द्वेष करनेवाले, मांसभोजी, क्रूरदृष्टी, सदा भोगविचार करनेवाले दुष्टके साथ निरंतर द्वेष करो।" यदि द्वेष करना है, तो इससे द्वेष करो, अन्यथा (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु०) मित्रकी दृष्टीसे सबकी ओर देखो और किसीका कभी द्वेष न करो। द्वेष करना हो तो केवल दुष्टोंके साथ ही द्वेष करना चाहिये। स्वयं शुद्धाचारी होकर दुष्टोंसे द्वेष करना योग्य है। मनुष्य स्वयं पापसे बचनेके लिये इस प्रकार प्रार्थना करे—

पार्थिवात् दिव्यात् च अंहसः नः पातु। (मं० २३)

"भूमिके संबंधसे तथा स्वर्गके प्रयत्नमें जो पाप होगा, उससे हमें बचाओ।" इस प्रकार मनुष्य ईश्वरकी प्रार्थना करे। अपने आपको पापसे बचावे। ऐसे मनुष्यको ही अर्थात् स्वयं पापसे बचनेवालेको ही दुष्टका द्वेष करनेका अधिकार है। जो स्वयं पाप करता है उसको दूसरेका द्वेष करनेका अधिकार नहीं है।

पापकी अधोगति।

पापी दुष्ट मनुष्यकी अधोगति होती है, उसकी अकीर्ति होती है, वह बदनाम होता है इस विषयमें इस सूक्तमें निम्न-लिखित मंत्रभाग मिलते हैं—

अस्य यशः प्रतिशुष्यतु।
यः दिवानक्तं दिप्सति स अधः अस्तु। (मं. ११)

स्तेनकृत् स्तेनः रिपुः दभ्रं एतु। स तन्वा तना च निर्हीयताम्। (मं. १०)

स दशभिः वीरैः वियूयाः। (मं. १५)

विश्वस्य जन्तोः अधमः पस्पदीष्ट। (मं. १६)

"इस दुष्टका नष्ट हो जावे, जो दिनरात दुष्टता करता है वह नीचे गिरे, चोर लुटेरा दुष्ट शत्रु तन धनसे हीन होवे, वह बालबच्चोंसे हीन होवे। उसके दसों प्राण दूर हों। ऐसा दुष्ट सब प्राणियोंसे भी सबसे नीचे गिर जावे" अर्थात् जो इस प्रकारका दुष्ट है वह परमेश्वरीय नियमसे अधोगतिको प्राप्त होता है, जब तक वह अपनी दुष्टता नहीं छोडता तबतक उसकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। उन्नतिकी इच्छा है तो दुष्टता छोडनेकी आवश्यकता है, यह बात यहां सिद्ध होती है। सब दुष्टोंको उन्नतिका यह मार्ग खुला है, अर्थात् उन्नतिका साधन करना उनके आधीन है। वे यदि पूर्वोक्त प्रकार 'पापसे बचनेके लिये' ईश्वरकी प्रार्थना करेंगे तो उनमें दुष्टता छोडनेका बल आ जायगा। इसके नियम ये हैं-

आत्मदण्ड

यः अ-यातुं यातुधान इत्याह।

यः रक्षः शुचिः अस्मि इत्याह। (मं. १६)

"भलेको बुरा कहना और अपवित्रको पवित्र समझना" यह दुष्टका लक्षण है। जो उन्नत होना चाहते हैं वे ऐसा न करें, वे तो भलेको भला, बुरेको बुरा, राक्षसको राक्षस, पवित्रको पवित्र, अपवित्रको अपवित्र कहनेका अभ्यास करें। न डरते हुए ऐसा माननेसे और माननेके अनुकूल कहनेसे आत्मिक बल बढता है। इसी रीतिसे हरएक मनुष्य कहे कि-

यदि यातुधानोऽस्मि, यदि वा पुरुषस्य आयुः ततप, अद्या मुरीय। (मं. १५)

"यदि मैं किसीको यातना देनेवाला बनूं अथवा किसी मनुष्यको ताप दूं तो मैं आजही मर जाऊं।" ऐसा उन्नत होनेवाला मनुष्य कहे अर्थात् यदि अपने हाथसे कुछ पाप या दोष हुआ होगा, तो उसका प्रायश्चित लेनेको मनुष्य तैयार रहना चाहिये। अपने द्वारा विशेष दोष होनेपर मरने-तक तैयार होना चाहिये। जिसकी जिस प्रमाणसे इस प्रकारकी तैयारी होगी, वह उस प्रमाणसे उन्नत होगा। पाठक यह उन्नत होनेका मार्ग अपने मनमें धारण करें, इसका बहुत विचार करें और इसको अपने जीवनमें जहांतक हो सके ढालनेका यत्न करें। इस आत्मदण्डके मार्गसे मनुष्य शीघ्र उन्नत हो सकता है।

प्रतिसर मणि

[५]

(ऋषिः— शुक्रः। देवता— कृत्यादूषणं, मन्त्रोक्तदेवताः।)

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं प्रतिसरः) यह शत्रुके ऊपर आक्रमण करनेवाला, (वीर्यवान् वीरः) वीर्ययुक्त वीर (सपत्नहा परिपाणः) शत्रुका नाश करनेवाला और सब प्रकारकी रक्षा करनेवाला, (सुमङ्गलः शूरवीरः) मङ्गल करनेवाला शूरवीरका चिन्हरूप (मणिः वीराय बध्यते) मणि वीर पुरुषके ऊपर बांधा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ— यह मणि (या पदक) शूरवीर पराक्रमी शत्रुनाशक मंगलकारी है, अतः यह वीरके शरीरपर बांधा जाता है ॥ १ ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।
प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥
अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान्पराभावयन्मनीषी।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः। ॥ ३ ॥
अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान्विमृधो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः ॥ ४ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥
अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम्।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ६ ॥

अर्थ— (अयं मणिः) यह मणि (सपत्नहा सुवीरः) शत्रुका नाश करनेवाला उत्तम वीर (सहस्वान् वाजी) शत्रु वेगको सहन करनेवाला बलवान् (सहमानः उग्रः वीरः) शत्रुपराजय करनेवाला उग्र वीर (कृत्याः दूषयन् एति) घातक प्रयोगोंको विफल करता हुआ आता है ॥ २ ॥

(अनेन मणिना इन्द्रः वृत्रं अहन्) इस मणिसे इन्द्रने वृत्रका नाश किया, (अनेन मनीषी असुरान् पराभावयत्) इसीसे संयमी वीरने असुरोंका पराभव किया। (अनेन उभे इमे द्यावापृथिवी अजयत्) इसीसे ये दोनों द्युलोक और पृथिवी लोक जीत लिये, (अनेन चतस्रः प्रदिशः अजयत्) इसीसे चारों दिशाओंको जीत लिया ॥ ३ ॥

(अयं स्राक्त्यः मणिः) यह प्रगति करनेवाला मणि (प्रतिवर्तः प्रतिसरः) शत्रुओंपर हमला करनेवाला और उनपर धावा करनेवाला (ओजस्वान् विमृधः वशी) बलशाली युद्धमें गमन करनेवाला और वशी है, यह (अस्मान् सर्वतः पातु) हम सबकी सब प्रकारसे रक्षा करे ॥ ४ ॥

(अग्निः तत् आह) अग्निने वह कह दिया, (सोमः तत् उ आह) सोमने भी वह कहा, (बृहस्पतिः सविता इन्द्रः तत्) बृहस्पति सविता और इन्द्रने भी वही कहा है। (ते पुरोहिताः देवाः) वे अग्रेसर देव (प्रतिसरैः मे कृत्याः प्रतीचीः अजन्तु) हमलोंसे मेरे ऊपर आनेवाले घातक प्रयोग विरुद्धदिशासे हटा देवें ॥ ५ ॥

(द्यावापृथिवी अन्तः दधे) द्युलोक और पृथ्वी लोकको मैं अपने अन्दर धारण करता हूं (उतः अहः उत सूर्यम्) दिनको और सूर्यको भी अन्दर रखता हूं। वे अग्रेसर देव हमलोंसे मेरे ऊपर होनेवाले घातक प्रयोग विरुद्ध दिशासे हटा देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह मणि बलवान् शत्रुनाशक, उग्र वीर है जो सब शत्रुके घातक प्रयोगोंको दूर करता है ॥ २ ॥

इस मणिसे इन्द्रने वृत्रको मारा, राक्षसोंका पराभव किया, द्यावापृथिवीको जीत लिया, और सब दिशाओंमें विजय किया ॥ ३ ॥

वह शत्रुपर धावा करनेवाला, बलवान् शत्रुको वश करनेवाला मणि हमारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

सब देव इस मणिके द्वारा मेरे ऊपर किये घातक प्रयोग हटा देवें ॥ ५ ॥

द्युलोक, पृथ्वी, सूर्य और दिनकी शक्तियां मैं अपने अन्दर धारण करता हूं। ये सब मेरे ऊपर किये विनाशक प्रयोग हटा देवें ॥ ६ ॥

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥
स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा ।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥
याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः ।
स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः ।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥ ९ ॥
अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः ।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड्वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥ १० ॥
उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—(ये जनाः स्राक्त्यं मणिं) जो लोग प्रगतिशील इस मणिको (वर्माणि कृण्वते) कवचोंके स्थानपर करते हैं, वे (सूर्यः इव दिवं आरुह्य) सूर्यके समान द्युलोकपर चढकर (वशी) सबको वशमें करता हुआ (कृत्याः वि बाधते) घातक प्रयोगोंका नाश करते हैं ॥ ७ ॥

(मनीषिणा ऋषिणा इव) ज्ञानी ऋषिके समान इस (स्राक्त्येन मणिना) प्रगतिशील मणिके द्वारा (सर्वाः पृतनाः अजैषं) सब शत्रुसेनाओंको पराभूत करता हूं और (रक्षसः मृधः वि हन्मि) राक्षसोंको युद्धोंमें मारता हूं ॥ ८ ॥

(याः आङ्गिरसीः कृत्याः) जो आंगिरस घातक प्रयोग हैं, (याः आसुरीः कृत्याः) जो असुरोंके घातक प्रयोग हैं, (याः स्वयंकृताः कृत्याः) जो स्वयं किये हुए घातक प्रयोग हैं, (याः उ अन्येभिः आभृताः) जो दूसरोंके द्वारा भर दिये गये हैं, (उभयीः ताः नवतिं नाव्याः अति) दोनों वे सब नव्वे नदियोंके परे (परावतः परा यन्तु) दूर स्थानको जावें ॥ ९ ॥

इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् और वैश्वानर, ये सब (देवाः) देव तथा (सर्वे च ऋषयः) सब ऋषि (अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु) इस वीरके शरीरपर मणिरूप कवचको बांधें ॥ १० ॥

(ओषधीनां उत्तमः असि) औषधियोंमें तू उत्तम है, (जगतां अनड्वान् इव) जैसे गतिशीलोंमें बैल और (श्वपदां व्याघ्रः इव) श्वापदोंमें वाघ होता है । (यं ऐच्छाम) जिसकी हम इच्छा करें (तं प्रतिस्पाशनं) उस प्रतिस्पर्धीको (अन्तितं अविदाम) मरा हुआ पावें ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो लोग कवचरूप इस मणिका धारण करते हैं वे सूर्यके समान तेजस्वी होकर अपने ऊपर किये हुए घातक प्रयोगोंको हटा देते हैं ॥ ७ ॥

इस मणिके द्वारा सब शत्रुसेनाको जीत लिया है । और दुष्टोंको मार दिया है ॥ ८ ॥

सब प्रकारके घातक प्रयोग इसके द्वारा दूर होते हैं ॥ ९ ॥

सब देव और ऋषि अपनी शक्तियोंसे इस मणिको मेरे शरीरपर बांधें ॥ १० ॥

यह मणि सबसे उत्तम है । इसके धारण करनेपर जिसको चाहे जीत सकते हैं ॥ ११ ॥

स इद्व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥
नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥
कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत्संश्रेषिणेऽजयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥
यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक्त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥
अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अर्थ— (यः इमं मणिं बिभर्ति) जो इस मणीका धारण करता है, (सः इत् व्याघ्र भवति) वह निःसन्देह बाघके समान (अथो सिंहः अथो वृषा) सिंहके समान अथवा बैलके समान (अथो सपत्नकर्शनः) शत्रुका दमन करनेवाला होता है ॥ १२ ॥

(यः इमं मणिं बिभर्ति) जो इस मणिका धारण करता है वह (सर्वाः दिशः विराजति) सब दिशाओंमें शोभता है। (एनं अप्सरसः न घ्नन्ति) इसको अप्सराएं नहीं मारतीं और (न गन्धर्वाः न मर्त्याः) न गन्धर्व और नाहि मनुष्य मार सकते हैं ॥ १३ ॥

(कश्यपः त्वां असृजत) कश्यपने तुझे बनाया है, (कश्यपः त्वा समैरयत) कश्यपने तुझे प्रेरित किया। (इन्द्रः त्वा मानुषे संश्रेषिणे बिभ्रत्) इन्द्रने तुझे मानवी संग्राममें धारण किया और (अजयत्) विजय किया। ऐसे (सहस्रवीर्यं मणिं) सफल सामर्थ्यवान् मणिको (देवाः वर्म अकृण्वत) देवोंने कवच रूप बनाया है ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! (यः त्वा कृत्याभिः) जो तुझे मारक प्रयोगोंसे, (यः त्वा दीक्षाभिः) जो तुझे दीक्षाओंसे, अथवा (यः त्वा यज्ञैः जिघांसति) जो तुझे यज्ञोंसे मारना चाहता है, (तं) उसको (त्वं) तू (शतपर्वणा वज्रेण प्रत्यक् (जहि) सैंकडों पर्वोंवाले वज्रसे प्रत्यक स्थानमें मार ॥ १५ ॥

(अयं इत् वै) यह निश्चयसे (प्रतिवर्तः) शत्रुपर हमला करनेवाला (परिपाणः संजयः) रक्षक और विजय, (सुमंगलः मणिः) उत्तम मंगल करनेवाला मणि है, (प्रजां धनं च रक्षतु) वह हमारी संतान और संपत्तिकी रक्षा करे ॥ १६ ॥

भावार्थ— जो इस मणिको धारण करता है वह बलवान् होकर अपने सब शत्रुओंको जीतता है ॥ १२ ॥

इस मणिका धारण करनेवाला सब दिशाओंमें विराजता है और इसका वध कोई कर नहीं सकते ॥ १३ ॥

कश्यपके द्वारा मणि निर्माण करनेकी कलाका प्रारंभ हुआ। इसको इन्द्रने सबसे पहिले धारण किया था और जगत्में विजय भी किया था ॥ १४ ॥

इस मणिधारणसे सब मारक प्रयोग दूर होते हैं। हर एक प्रकारके मारक प्रयोग इससे हटते हैं ॥ १५ ॥

शत्रुको दूर करके रक्षा करनेवाला यह मणि है। इसका धारण करनेवालेका कल्याण होता है, प्रजा और धनकी रक्षा इससे होती है ॥ १६ ॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥
वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥
ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे ।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि ॥ १९ ॥
आ मारुक्षद्देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥ २० ॥
अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् ।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥ २१ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (नः अधरात् असपत्नं) हमारे नीचेसे अविरोध, (नः उत्तरात् असपत्नं) हमारे ऊपरसे अविरोध, (नः पश्चात् असपत्नं) हमारे पीछेसे अविरोध दर्शक (ज्योतिः पुरः कृधि) हमारे सन्मुख कर ॥ १७ ॥

(द्यावापृथिवी मे वर्म) द्यावापृथिवी मेरे लिये कवच धारण करावें, (अहः वर्म, सूर्यः वर्म) दिन और सूर्य मेरे लिये कवच पहनावें । (इन्द्रः च अग्निः च धाता च) इन्द्र, अग्नि और धाता ये तीनों देव प्रत्येकसे (मे वर्म दधातु) मेरे लिये कवच पहनावें ॥ १८ ॥

(सर्वे विश्वे देवाः) सब देव (यत् न अतिविध्यन्ति) जिसका अतिक्रमण कर नहीं सकते (तत् उग्रं बहुलं ऐन्द्राग्नं बृहत् वर्म) वह उग्र, बडा इन्द्र और अग्निका बडा कवच (मे तन्वं सर्वतः त्रायतां) मेरे शरीरकी रक्षा सब ओरसे करे । (यथा) जिससे मैं (जरदष्टिः) वृद्धावस्था तक कार्य व्याप्ति करनेवाला (आयुष्मान् असानि) दीर्घायु होऊं ॥ १९ ॥

यह (देवमणिः) दिव्य मणि (मा मह्यै अ-रिष्ट-तातये) मुझपर बडी सुख समृद्धिके लिये (आरुक्षत्) आरूढ होवे । (इमं मेथिं) इस शत्रुनाशक (तनूपानं त्रिवरूथं) शरीर रक्षक और तीनों बलोंके रक्षकको (ओजसे अभि संविशध्वं) बलके लिये आश्रित होवे ॥ २० ॥

(अस्मिन् इन्द्रः नृम्णं निदधातु) इसमें इन्द्र बल धारण करे, (देवासः इमं अभि सं विशध्वम्) देव इसमें प्रविष्ट हों (यथा) जिससे (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौवर्षकी दीर्घायुके लिये (आयुष्मान् जरदष्टिः असत्) दीर्घजीवी और वृद्धावस्था तक सुदृढ रहे ॥ २१ ॥

भावार्थ— हमारी रक्षा चारों ओरसे होती रहे और हमारे सन्मुख प्रकाशका मार्ग स्थिर रहे ॥ १७ ॥

सब देव इस कवच धारण करनेमें मुझे सहायक हों । यह दैवी शक्तिसे युक्त हो ॥ १८ ॥

सब दैवी शक्तिसे युक्त इस मणिरूप कवचसे मेरी उत्तम रक्षा होवे और मेरी आयु दीर्घ होवे ॥ १९ ॥

इस दिव्य मणिके शरीरपर धारण करनेसे मेरी रक्षा होवे और मेरे बलकी वृद्धि होवे ॥ २० ॥

इसमें सब देव अपने बलकी स्थापना करें जिससे मुझे शतायुवाला दीर्घजीवन प्राप्त हो ॥ २१ ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा ।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥

अर्थ— (स्वस्तिदा विशांपतिः वृत्रहा) कल्याण करनेवाला, प्रजापालक शत्रुनाशक, (विमृधः वशी) शत्रुओंको वशमें करनेवाला, (जिगीवां अपराजितः सोमपा अभयंकरः) विजयी, अपराजित, सोमरस पीनेवाला, सौम्य (वृषा इन्द्रः) बलवान् इन्द्र (तं मणिं बध्नातु) तेरे शरीरपर मणिको बांधे । (सः सर्वतः दिवा नक्तं) वह सब ओरसे दिनरात (त्वा विश्वतः पातु) तेरी सब ओरसे रक्षा करे ॥ २२ ॥

भावार्थ— शूर वीर शत्रुनाशक बलवान विजयी जेता पुरुष इस मणिको शरीरपर बांधे जिससे उसकी दिनरात रक्षा होवे ॥ २२ ॥

प्रतिसर मणि

मणिधारण

इस सूक्तमें मणिधारणका विषय है। कईयोंका कथन है कि यहां ' मणि ' शब्दसे वीर पुरुषका ग्रहण किया जावे। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। इस प्रकार अर्थका अनर्थ करना किसीको भी योग्य नहीं है। इस सूक्तमें कहा मणि किसी वनस्पतिका बनाया जाता है और उसका धारण शरीर पर किया जाता है। प्रायः गलेमें बान्धा जाता होगा। जिस प्रकार आजकलके सैनिकोंको विशेष शौर्यवीर्य धैर्यके कार्य करनेपर ' पदक ' दिया जाता है और वह पदक छातीपर लटकाया जाता है, उसी प्रकारका यह मणि गलेमें या हाथपर किंवा बाहुपर बांधा जाता है। यह एक शौर्यका अथवा जनहितके कार्य करनेका चिन्ह है। इसके धारण करनेसे वीरकी प्रतिष्ठा बढती है, उसका उत्साह बढता है, और उत्साह बढनेसे वह मनुष्य अधिक पराक्रम करनेके लिये समर्थ होता है।

पहिले किये हुए शौर्यके कार्यके लिये अधिकारी पुरुषोंसे इनाम मिलजानेपर अधिक पराक्रम करनेका साहस मनुष्य करता है, अर्थात् वह इनाम, या पदक, अथवा अन्य प्रकारका सन्मान वीरता बढानेवाला, रक्षाका कार्य करनेवाला, उत्तम वीरता करनेवाला, उग्रता बढानेवाला, इत्यादि गुणविशिष्ट है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है। इसी उद्देश्यसे इस सूक्तमें इस मणिके गुण " सुवीरः, वाजी, उग्र " आदि कहे हैं। अन्य वर्णन भी इसी दृष्टीसे विचार करके जानने योग्य है।

एक शंका

कई लोग कहते हैं कि वृक्षकी लकडीसे बना हुआ वह ' मणि ' वीरता बढानेवाला, मंगल करनेवाला और बल बढानेवाला कैसा हो सकता है, चूंकी लकडीके मणिमें यह सामर्थ्य नहीं होता, अतः यहांके मणिशब्दसे ' वीर सेनापति ' अर्थ लेना योग्य है। यह युक्ति अथवा यह विचारपद्धति विवेकयुक्त नहीं है। सरकारका सिपाही हाथमें एक विशेष प्रकारका काष्ठ लेकर, और विशेष प्रकारका पोशाख धारण करके हजारों लोगोंमें जाता है और निडर होकर उनको धमकाता है और विशेष कार्य करता है। यह सामर्थ्य उसके अन्दर उस सरकारी पोशाख और सरकारी चिन्हके काष्ठधारणसे ही आता है। वस्तुतः देखा जाय तो उसकी शारीरिक शक्ति अन्य लोगोंके समान ही होती है। परंतु सरकारी चिन्ह धारण करनेसे उसकी शक्ति कई गुणा बढ जाती है। इसी प्रकार यह विशेष सन्मानका मणि जब महाराजाके द्वारा किसी वीर पुरुषको दिया जाता, या शरीरपर बांधा जाता है, तो यह राजचिन्ह होनेसे इसके धारणसे उस पुरुषका बल और वीर्य बहुत बढ जाना स्वाभाविक है।

इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार पाठक करें और इसका आशय समझें। यह सूक्त इस दृष्टीसे देखनेसे बहुत सरल है अतः प्रत्येक मंत्रका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

गर्भदोषनिवारणम् ।

[६]

(ऋषिः- मातृनामा। देवताः- मन्त्रोक्ताः, मातृनामा, १५ ब्रह्मणस्पतिः। छंदः- अनुष्टुप् २ पुरस्ताद्बृहती; १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ११, १२, १४, १६, पथ्यापङ्क्तिः; १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती ।)

यौ ते॑ मा॒तोन्म॒मार्ज॑ जा॒तायाः॑ पति॒वेद॑नौ ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑धद॒लिंश॑ उ॒त व॒त्सपः॑ ॥ १ ॥
प॒ला॒ला॒नु॒प॒ला॒लौ शर्कुं॒ कोकं॑ मलिम्लु॒चं प॒लीज॑कम् ।
आ॒श्रेषं॑ व॒व्रिवा॑ससमृ॒क्षग्री॑वं प्रमी॒लिन॑म् ॥ २ ॥
मा सं वृ॑तो॒ मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृपोऽन्त॒रा ।
कृ॒णोम्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॑र्णाम॒चात॑नम् ॥ ३ ॥
दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः ।
अ॒राया॒नप॑ हन्मः सु॒नामा॒ स्त्रैण॑मिच्छताम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (जातायाः ते) उत्पन्न होतेही तेरे (यौ पतिवेदनौ) जो पतिको प्राप्त होनेवाले दोनों भाग तेरी (माता उन्ममार्ज) माताने स्वच्छ किये थे (तत्र) उनमें (दुर्णामा, अलिंशः उत वत्सपः) दुर्णामा, अलिंश तथा वत्सप ये रोगकृमि (मा गृधत्) न पहुंचें ॥ १ ॥

(पलालानुपलालौ) मांस और मांससंबंधी, (शर्कुं) हिंसक, (कोकं) कामसंबंधी अथवा वीर्यसंबंधी, (मलिम्लुचं पलीजकं) मलिन, पलित, रोग, (आश्रेषं) चिपकनेवाले, (वव्रिवाससं) रूपहीनता करनेवाले, (ऋक्षग्रीवं) रीछके समान गर्दन बनानेवाले (प्रमीलिनं) आंखे मूंदनेवाले रोगोंको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

(मा सं वृतः) मत् रह, (मा उप सृप) न पास जा, (ऊरू अन्तरा मा अव सृप) जंघाओंके बीच न रह । (अस्यै भेषजं कृणोमि) इसके लिये औषध बनाता हूं, यह औषध (बजं दुर्णामचातनं) बज नामक है इससे दुर्नाम कृमि दूर होते हैं ॥ ३ ॥

(दुर्णामा च सुनामा च उभौ) दुष्ट नामवाला और उत्तम नामवाला ये दोनों (सं वृतं इच्छतः) संगति करना चाहते हैं, उनमेंसे (अ-रायान् अप हन्मः) निकृष्टोंका हम नाश करते हैं और जो (सुनामा) उत्तम नामवाला है वह (स्त्रैणं इच्छतां) स्त्रीजातिकी इच्छा करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— बच्चा उत्पन्न होते ही स्तनमें तथा अन्यत्र रोग उत्पन्न करनेवाले कृमि न पहुंचें ॥ १ ॥

मांसमें उत्पन्न होनेवाले, हिंसक, वीर्यदोष उत्पन्न करनेवाले, बाल सफेद करनेवाले, कुरूपता बढानेवाले, गर्दनमें रोग बनानेवाले, आखोंमें सुस्ती लानेवाले रोगोंको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

रोगजन्तु पास न रहे, प्रसवस्थानमें जघांओंके मध्यमें न जावे, इसको दूर करनेके लिये यह औषध बनाता हूं, यह बज नामक औषध इस दुष्ट क्रिमिको दूर करता है ॥ ३ ॥

दो प्रकारके क्रिमि होते हैं, एक दुष्ट और दुसरा हितकारी । दोनों पास आते हैं, उनमें दुष्टको हटाते हैं और उत्तमको स्त्री जातीके पास रखते हैं ॥ ४ ॥

×

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽप हन्मसि ॥ ५ ॥
अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥
यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥
यस्त्वां स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥
यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (यः कृष्णः) जो काला (केशी असुरः) बालोंवाला असुर है, (स्तंबजः उत तुण्डिकः) जो शरीर स्तंभमें रहता है अथवा मुखमें रहता है, इन (अरायान्) दुष्टोंको (अस्याः मुष्काभ्यां) इस स्त्रीके दोनों प्रदेशोंसे तथा (भंससः) कटिप्रदेशसे (अप हन्मि) हटा देता हूं ॥ ५ ॥

(अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं) गन्ध लेनेसे नाश करनेवाले, स्पर्श करनेवालेका नाश करनेवाले, (क्रव्यादं उत रेरिहं) मांस खानेवाले और हिंसक (श्वकिष्किणः अरायान्) कुत्तेके समान कष्ट देनेवाले निःसत्त्व करनेवाले रोग-बीजोंको (पिंगः बजः अनीनशत्) पीला बज औषध नाश करता है ॥ ६ ॥

(भ्राता भूत्वा) भाई बनकर (पिता इव च) अथवा पिता बनकर, (त्वा यः स्वप्ने निपद्यते) तेरे पास जो स्वप्नमें आता है, (क्लीबरूपान् तान् तिरीटिनः) क्लीबरूप उन गुप्त रहनेवाले रोजबीजोंको (इतः बजः सहतां) यहांसे बज औषध हटा देवे ॥ ७ ॥

(स्वपन्तीं त्वा यः त्सरति) सोती हुई तेरे पास जो आता है, (यः जाग्रतीं त्वा दिप्सति) जो जागती हुई तेरे पास आकर कष्ट पहुंचाता है, (सूर्यः छायां इव) सूर्य जैसा अन्धकारका नाश करता है, उस प्रकार (परिक्रामन् प्र अनीनशत्) भ्रमण करता हुआ उनका नाश करे ॥ ८ ॥

(यः इमां स्त्रियं) जो इस स्त्रीको (मृतवत्सां अवतोकां कृणोति) मरे बच्चोंवाली अथवा गर्भपात होनेवाली करता है, हे औषधे ! (त्वं अस्याः तं नाशय) तू इसके उस रोगका नाश कर तथा (कमलं अंजिवं) गर्भद्वाररूपी कमलको रोगरहित कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— काला, बालोंवाला, प्राणघातक, मुखवाला, शरीरके स्तंभमें रहनेवाला, घातकी, क्षीणता बढानेवाला कृमि है, उसको स्त्रीके अवयवोंसे हटा देते हैं ॥ ५ ॥

कई क्रिमी सूंघनेसे प्राणघात करते हैं, कई स्पर्शसे नाश करते हैं, कई मांसको क्षीण करते हैं, कई अन्य रीतिसे घात करते हैं, कई कष्ट देते हैं, उन सब रोगबीजोंको पीली बज औषधि हटा देती है ॥ ६ ॥

भाई अथवा पिताके रूपसे स्वप्नमें जो आते हैं, वे निर्बल हैं, परंतु घातक होते हैं, उनको इस बज औषधिसे हटाया जा सकता है ॥ ७ ॥

सोनेकी अवस्थामें अथवा जागनेकी अवस्थामें जो रोगबीज पास आते हैं, उनको सूर्य अन्धकारका नाश करनेके समान नाश करता है ॥ ८ ॥

जो रोगबीज स्त्रीको मृतवत्सा अथवा गर्भपात करनेवाली बनाते हैं, उन रोगबीजोंका नाश कर और उस स्त्रीका गर्भस्थान नीरोग बना ॥ ९ ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान्वि नाशय ॥ १० ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान्बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान्मककान्नाशयामसि ॥ १२ ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

अर्थ— (ये गर्दभनादिनः) जो गधेके समान शब्द करनेवाले (सायं शालाः परिनृत्यन्ति) सायं कालके समय घरोंके चारों ओर नाचते हैं, (कुसूलाः कुक्षिलाः) सूईके समान अग्र भागवाले, बडे पेटवाले, (ककुभाः करुमाः स्रिमाः) वेडे मेढे, बुरा शब्द करनेवाले, छोटे रोगकृमि हैं; हे औषधे ! (त्वं तान् गंधेन) तू उनको अपने गंधसे (विषूचीनान् विनाशय) फैलाकर नाश कर ॥ १० ॥

(ये कुकुन्धाः कुकूरभाः) जो बुरा शब्द करते हैं और थोडेसे चमकते हैं और जो (कृत्तीः दूर्शानि बिभ्रति) काटनेवाले दंश करनेके साधनोंको धारण करते हैं, (ये घोषं कुर्वते) जो शब्द करते हुए (क्लीबा इव वने प्रनृत्यन्तः) क्लीबोंके समान वनमें नाचते हैं, (तान् इतः नाशयामसि) उनको यहांसे नाश करते हैं ॥ ११ ॥

(ये दिवः आपतन्तं अमुं सूर्यं न तितिक्षन्ते) जो द्युलोकसे आनेवाले इस सूर्यको नहीं सहन कर सकते, उन (अरायान् बस्तवासिनः) सत्वहीन करनेवाले चर्ममें रहनेवाले (दुर्गन्धीन् लोहितास्यान्) दुर्गंधवाले रक्त युक्त मुंहवाले, (मककान् नाशयामि) मच्छरोंको यहांसे नाश करो ॥ १२ ॥

(यः आत्मानं अतिमात्रं अंसे आधाय) जो अपने आपको अत्यंत रूपसे कन्धेपर चढाकर (बिभ्रति) धारण करता है, हे इन्द्र ! उन (स्त्रीणां प्रतोदिनः रक्षांसि नाशय) स्त्रियोंके गर्भभागको पीडा करनेवाले रोग कृमियोंका नाश कर ॥ १३ ॥

भावार्थ— गधेके समान बुरा शब्द करनेवाले मच्छर आदि जो सायंकालके समय घरके पास नाचते और गाते रहते हैं, जिनके मुखमें सुईके समान चुभनेवाला शस्त्र रहता है, जिनका पेट बडा, और टेढामेढा होता है और जिनके शब्दसे दुःख होता है, उन रोगकृमी मच्छर आदिकोंको उग्र गंधवाली औषधिसे चारों ओर फैलाकर नाश करो ॥ १० ॥

बुरा शब्द करनेवाले, सब मिलकर बडा आवाज करनेवाले, मुखमें काटने और दंश करनेके साधन रखनेवाले, वनमें नाचनेवाले रोगोत्पादक मच्छर आदि क्रिमियोंको यहांसे हटा दो ॥ ११ ॥

द्युलोकसे प्रकाशनेवाले सूर्यके प्रकाशको जो सह नहीं सकते, दुर्गंधियुक्त चर्म आदि पदार्थोंमें जो रहते हैं, उन रक्त पीनेवाले मच्छरोंका हम नाश करते हैं ॥ १२ ॥

जो अपने आपको कन्धेके सहारे ऊपर ही ऊपर धारण करता है, वह रोगकृमि स्त्रीके गर्भाशयका रोग बनानेवाला है, उसका नाश कर ॥ १३ ॥

ये पूर्वे व॒ध्वो॒३॒ यन्ति॒ हस्ते॒ शृङ्गा॑णि॒ बिभ्र॑तः।
आ॒पा॒के॒स्थाः प्र॑हा॒सिन॑ स्त॒म्बे ये कु॒र्वते॒ ज्योति॒स्तानि॒तो ना॑शयामसि ॥ १४ ॥

येषां॑ प॒श्चात्प्रप॑दानि पु॒रः पार्ष्णीः॑ पु॒रो मु॒खा।
ख॒ल॒जाः श॑कधूम॒जा उरु॑ण्डा॒ ये च॑ म॒ट्म॒टाः कु॒म्भमु॑ष्का अया॒शवः॑।
ता॒नु॒स्या ब्र॑ह्मणस्पते प्रती॒बो॒धेन॑ नाशय ॥ १५ ॥

प॒र्य॒स्ता॒क्षा अप्र॑चङ्कशा अस्त्रै॒णाः स॑न्तु॒ पण्ड॑गाः
अव॑ भेषज पाद॒य॒ य इ॒मां सं॒विवृ॑त्स॒त्यप॑तिः स्वप॒तिं स्त्रिय॑म् ॥ १६ ॥

उ॒द्ध॒र्षिणं॒ मु॒निके॑शं ज॒म्भय॑न्तं मरीमृ॒शम्।
उ॒पेष॑न्तमुदु॒म्बलं॑ तु॒ण्डेल॑मु॒त शा॒लुड॑म् ॥
प॒दा प्र वि॑ध्य॒ पार्ष्ण्या॑ स्था॒लीं गौरि॑व स्पन्दु॒ना ॥ १७ ॥

अर्थ—(ये पूर्वे हस्ते शृंगाणि बिभ्रतः) जो पहिले अपने हाथमें सींगोंको लेकर (वध्वः यन्ति) स्त्रीके पास पहुंचते हैं, (ये आपाकेस्थाः प्रहासिनः) जो पाक स्थानमें रहते हैं और जो हंसाते हैं, (ये स्तंबे ज्योतिः कुर्वते) जो स्तंभमें प्रकाश करते हैं, (इतः तान् नाशयामसि) यहांसे उनको नाश करते हैं ॥ १४ ॥

(येषां प्रपदानि पश्चात्) जिनके पांव पीछे और (पार्ष्णीः पुरः) एडियां आगे हैं और (मुखा पुरः) मुख भी आगे हैं, (खलजाः शकधूमजाः) खलमें उत्पन्न, गोबरके धूमसे उत्पन्न, (उरुण्डा ये च मट्मटाः) जो बडे मुखवाले और कष्ट बढानेवाले (कुम्भमुष्काः अयाशवः) बडे अण्डवाले गतिमान होते हैं उनको हे ब्रह्मणस्पते! (अस्याः तान्) इस स्त्रीके उन रोगबीजोंको (प्रतीबोधेन नाशय) ज्ञानसे नाश कर ॥ १५ ॥

(पर्यस्त अक्षाः) जिनकी आंखें बिगडी हैं, (अ-प्र-चंकशाः) विशेष क्षीण (पण्डगाः) निर्बुद्ध मनुष्य (अ-स्त्रैणाः सन्तु) स्त्रीसुखसे रहित हों। (इमां स्वपतिं स्त्रियं) इस अपने पतिके साथ रहनेवाली स्त्रीको जो (अ-पतिः संविवृत्सति) स्वयं किसीका पति न होता हुआ प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, हे (भेषज) औषध! उसको (अवपादय) नीचे गिरा ॥ १६ ॥

(स्पन्दना गौः स्थालीं इव) कूदनेवाली गाय जिसप्रकार दुग्धपात्रको लातसे ढकेलती है उस प्रकार (पार्ष्ण्या पदा च) एडि और पदसे (उद्धर्षिणं मुनिकेशं) झूठमूठ करनेवाले, मुनियोंके समान केशधारी कपटी, (जम्भयन्तं मरीमृशं) हिंसक और बुरा स्पर्श करनेवाले (उपेषन्तं उदुम्बलं) पास जानेवाले, मारनेवाले, (तुण्डेलं उत शालुडं) भयानक मुखवाले और दुष्टको (प्रविध्य) विशेष रीतिसे वेध डाल ॥ १७ ॥

भावार्थ— जो अपने पास सींग रखते हैं, पाकगृहमें रहते हैं, जो चमकते हैं और स्त्रियोंके पास जाकर रोग उत्पन्न करते हैं, उन कृमियोंको यहांसे नाश करो ॥ १४ ॥

इनके पांव पीछेकी ओर और एडि आगेकी ओर होती है, मुख भी आगेकी ओर होता है, जो गोबर आदिमें उत्पन्न होते हैं ये बडा कष्ट देनेवाले रोगबीज यहांसे हटा दो ॥ १५ ॥

जिनकी आंखें खराब होती हैं, जो विशेष क्षीण हैं, वे स्त्रीसे सम्बन्ध न रखें। जो पुरुष अपनी स्त्रीको छोडकर अन्यकी स्त्रीसे कुकर्म करता है, उसको औषधसे गिरा दो ॥ १६ ॥

जैसी गौ मट्टीका बर्तन तोडती है, उस प्रकार एडी और पांवसे झूठे, मुनिवेषधारी, हिंसक दम्भी आदि सब प्रकारके दुष्ट मनुष्यको वेध डाल ॥ १७ ॥

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥
ये अम्नो जातान्मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।
स्त्रीभागान्पिङ्गो गन्धर्वान्वातो अभ्रमिवाजतु ॥ १९ ॥
परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत्।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥
पवीनसात्तङ्गल्वाइच्छायकादुत नग्नकात्।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥
द्व्यास्याच्चतुरक्षात्पञ्चपादादनङ्गुरेः।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

अर्थ— (यः ते गर्भं प्रतिमृशात्) जो तेरे गर्भका नाश करे, और (ते जातं वा मारयाति) तेरे जन्मे हुए बालकको जो मारता है, (तं) उसको (उग्रधन्वा पिंगः) उग्रधनुर्धारी पीतवर्णवाला (हृदयाविधं कृणोतु) हृदयमें प्रहार करे ॥ १८ ॥

(ये अम्नः जातान् मारयन्ति) जो आधे उत्पन्न गर्भोंको मारते हैं, जो (सूतिकाः अनुशेरते) प्रसूती गृहमें रहते हैं, उन (गंधर्वान् स्त्रीभागान्) गंधर्वान् स्त्रीयोंके भागमें रहेवाले रोगक्रमियोंको (पिंगः) पीली बज औषधि (वातः अभ्रं इव) वायु मेघको हटता है वैसे (अजतु) हटा देवे ॥ १९ ॥

(परिसृष्टं धारयतु) सब प्रकारसे उत्पन्न हुए गर्भका धारण करे। (यत् हितं तत् मा अव पादि) जो गर्भ रखा है वह न गिरे। (नीविभार्यौ उग्रौ भेषजौ) कपडेमें धारण करने योग्य दोनों उग्र औषध (ते गर्भं रक्षतां) तेरे गर्भकी रक्षा करें ॥ २० ॥

(पवीनसात् तंगल्वात्) वज्रसमान नाकवाले, बडे गालवाले, (छायकात् उत नग्नकात्) काले और नंगे (किमीदिनः) भूखे रोगक्रिमीसे (प्रजायै पत्ये) प्रजा और पतिके सुखके कारण (पिंगः त्वा परिपातु) पीला औषध तेरी रक्षा करे ॥ २१ ॥

(द्व्यास्यात् चतुरक्षात्) दो मुखवाले, चार आंखोंवाले, (पञ्चपादात् अनंगुरेः) पांच पांववाले और विना अंगुलियोंवाले (अभिप्रसर्पतः वरीवृतात् वृन्तात्) आगे बढनेवाले घेरे हुए जडोंसे युक्तसे (परिपाहि) रक्षा कर ॥ २२ ॥

भावार्थ— जो गर्भका नाश करेगा, अथवा उत्पन्न हुए बालकको खावेगा, उसके हृदयपर प्रहार कर ॥ १८ ॥

जो जन्मे बालकोंको मारता है, जो सूतिकागृहमें रहते हैं, जो स्त्रियोंके पास रहते हैं उन रोगक्रमियोंको यह पीली औषधि दूर करे ॥ १९ ॥

गर्भाशयमें गर्भकी उत्तम धारणा हो, गर्भ न गिरे, दोनों उग्र औषधियां गर्भकी रक्षा करें ॥ २० ॥

प्रजाकी सुरक्षितताके लिये वज्रनासिकावाले, बडे गालवाले, काले नंगे भूखे रोगक्रमिसे पीली औषधिके द्वारा तेरी रक्षा करते हैं ॥ २१ ॥

दो मुखवाले, चार आंखवाले, पांच पांववाले, अंगुलीरहित, रोगक्रमि जो पास आते हैं, उनसे रक्षा हो ॥ २२ ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दभन्वाधस्वेतः किमीदिनः ॥ २५ ॥

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥

अर्थ— (ये आमं मांसं अदन्ति) जो कच्चा मांस खाते हैं, (ये च पौरुषेयं क्रविः) और जो पुरुषका मांस खाते हैं, (केशवाः गर्भान् खादन्ति) बालोंवाले जो गर्भोंको खाते हैं (तान् इतः नाशयामसि) उनको यहांसे हम हटा देते हैं ॥ २३ ॥

(ये सूर्यात् परिसर्पन्ति) जो सूर्यसे पीछे हटते हैं (श्वशुरात् स्नुषा इव अधि) जैसे श्वशुरसे बहु दूर जाती है । (बजः च पिंगः च) बज और पिंग (तेषां हृदये अधि निविध्यतां) उनके हृदयके ऊपर वेध करें ॥२४॥

हे (पिंग) पीले औषध ! (जायमानं रक्ष) उत्पन्न होनेवाले बालककी रक्षा कर (पुमांसं स्त्रियं मा क्रन्) पुरुष और स्त्रीको न मारें । (आण्डादः गर्भान् मा दभन्) अण्ड खानेवाले गर्भोंका न नाश करें । (इतः किमीदिन) बाधस्व) यहांसे भूखे क्रिमियोंको दूर कर ॥ २५ ॥

(अ-प्रजास्त्वं) वंध्यापन, (मार्त—वत्सं) बच्चोंका मरना, (आत् रोदं) रोना पीटना, (अघं आवयं) पापका भोग (तत्) यह सब दुःख (वृक्षात् स्रजं इव) वृक्षसे फूल गिरनेके समान (अप्रिये प्रतिमुञ्च) अप्रिय स्थानमें छोड दो ॥ २६ ॥

भावार्थ— जो कच्चा मांस खाते हैं, गर्भोंको खाते हैं, उनको यहांसे नाश कर ॥ २३ ॥

जो कृमि सूर्यसे छिपते हैं, सूर्यकिरणोंके सामने ठहर नहीं सकते, उनका नाश जब औषधिसे कर ॥ २४ ॥

उत्पन्न होनेवाले बच्चेकी रक्षा कर । स्त्री पुरुषको दुःख न दो । अण्ड खानेवाले गर्भका नाश न करें । दुष्टोंको यहांसे दूर कर ॥ २५ ॥

वंध्यापन, बच्चे मरना, रोनेकी ओर प्रवृत्ती, पाप प्रवृत्ति, ये सब दोष हट जांय । वृक्षसे फूल गिरनेके समान ये सब दोष मनुष्यसे दूर हों ॥ २६ ॥

गर्भदोषनिवारण

प्रसूतिके दोष

प्रसूतिके समय स्त्रियोंको विविध रोग होते हैं, उसका कारण मलिनता है, अतः इस स्थानकी पवित्रता करके और कुछ औषधियोंका उपयोग करके स्त्रियोंके प्रसूतिके कष्ट दूर करने चाहिये, इस महत्वपूर्ण विषयका वर्णन इस सूक्तमें कहा है। इसका ऋषि ' मातृ-नामा ' है अर्थात् यह माता हि है। माताओंके अनुभव सूक्ष्मरीतिसे देखकर उनका संग्रह करके जो अनुभवज्ञान प्राप्त हो सकता है, वह इस सूक्तमें है। इस सूक्तका विषय इसी सूक्तके ९ वे मन्त्रमें कहा है—

यः स्त्रियं मृतवत्सां अवतोकां करोति।
अस्याः तं नाशय, कमलं अञ्जिवं (कुरु)॥ (मं० ९)

" जिस रोगके कारण स्त्रीके बच्चे मरते हैं, अथवा जिस दोषसे स्त्रीका गर्भ पतनको प्राप्त होता है, उस स्त्रीका वह दोष दूर करना चाहिये और उसके गर्भाशयको निर्दोष बनाना चाहिये।" यह इस सूक्तका साध्य है। स्त्रीका गर्भपात न होवे और बाल बच्चे भी दीर्घायु हों। यह उपाय करना इस सूक्तका वाञ्छित विषय है। यह विषय सब स्त्रीजातिका हित करनेवाला होनेके कारण बडा उपयोगी है। सब कुटुम्बी इससे लाभ उठा सकते हैं। इस सूक्तमें कहा है कि सूतिकागृहमें कुछ रोगबीज होते हैं अथवा बाहरसे घुसते हैं, उनका नाश करनेके लिये ' बज पिंग ' नामक औषधि है, देखिये—

ये अम्नः जातान् मारयन्ति, सूतिकाः अनुशेरते।
स्त्रीभागान् पिङ्गः अजतु॥ (मं० १९)

" जो रोगबीज जन्मे हुए बच्चोंको मारते हैं, वे सूतिका गृहमें रहते हैं, वेही स्त्रियोंके भागोंमें पहुंचते हैं। उनको दूर करनेके लिये पिंग नामक औषधि है।" इस पिंग औषधिका विचार हम आगे करेंगे, यहां इतनाही देखना है कि ये रोगबीज सूतिकागृहके मलोंके कारण उत्पन्न होते हैं। और इसके कारण गर्भस्राव होता है, गर्भपात होता है और बच्चेभी मर जाते हैं। प्रायः सूतिकागृहमें अज्ञानी लोग अन्धेरा रखते हैं, सूर्यप्रकाश वहां नहीं पहुंचता, अतः अन्धेरेके दोषसे ये रोगबीज वहां होते और बढते हैं, ये सूर्यप्रकाशमें नहीं रहते, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
बजः तेषां हृदये अधि निविध्यताम्। (मं० २४)

" ये रोगबीज सूर्यप्रकाशसे दूर भागते हैं जिस प्रकार बहु श्वशुरसे दूर भागती है। उन रोगक्रिमियोंके हृदयोंपर बज औषधि बडा धक्का लगाती है।" यहां उपमा उत्तम रीतिसे विचार करने योग्य है। बहु अर्थात् स्नुषा श्वशुरके पास नहीं ठहरती, वह उसके सन्मुख भी खडी नहीं होती, श्वशुर आते ही पीछे हटकर भागती है उसी प्रकार ये रोगबीज सूर्यप्रकाशके सन्मुख खडे नहीं रह सकते, सूर्यप्रकाशमें जीवित भी नहीं रह सकते, जहां सूर्यप्रकाश पहुंचता है वहां ये नहीं रहते। अतः जहां नीरोगता करनेकी इच्छा हो वहां सूर्यप्रकाश विपुल रखना चाहिये। यदि प्रसूतिगृहके रोगबीज नष्ट करनेकी इच्छा हो तो वहां सूर्यप्रकाश पहुंचानेकी व्यवस्था करनी चाहिये।

बज औषधि इनके हृदयोंपर प्रहार करती है ऐसा यहां कहा है, इससे इनको हृदय है यह बात सिद्ध होती है। अर्थात् ये रोगबीज हृदयवाले होनेसे कृमिरूप हैं, ये निर्जीव नहीं हैं, ये कृमि चूंकि अन्धेरेमें बढते हैं और सूर्यप्रकाशमें नाशको प्राप्त होते हैं, अतः इनसे बचनेका उपाय सूर्यप्रकाश हि है यह बात निश्चित हो गयी है। परमेश्वरने सूर्यप्रकाश एक ऐसी औषधि दी है कि जिससे अनेक रोग दूर होते हैं और मनुष्य नीरोग और दीर्घायु हो सकता है। इसलिये कहा है—

अप्रजास्त्वं मार्तवत्सं रोदं अघं आवयं प्रतिमुञ्च।
(मं० २६)

" संतान न होना, बच्चे पैदा होनेके बाद मरने, उस कारण रोने पीटनेका संभव होना, पापाचरणमें प्रवृत्ति होना, इत्यादि बातोंसे मनुष्यको मुक्त होना चाहिये।" अर्थात् मनुष्यको ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि घरमें संतती पैदा होवे, उत्पन्न हुए बच्चे न मरें दीर्घकाल जीवित रहें, मनुष्यको कुटुंबियोंकी मृत्युके कारण रोने पीटनेका समय न आवे, सब कुटुंबि आनंदसे कालक्रमण करते रहें और किसीकी प्रवृत्ति पापकी ओर न होवे। यह साध्य करनेके लिये विपुल सूर्यप्रकाशमें

रहनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसका कार्यकारणभाव यह है कि सूर्यप्रकाशसे नीरोगता होती है, रोगबीज दूर होते हैं, नीरोग होनेसे शरीर पुष्ट और वीर्यवान् होता है। स्त्रीपुरुषोंके शरीर वीर्यवान् और हृष्टपुष्ट होनेसे ऐसे दोनों पतिपत्नियोंसे होनेवाला गर्भाधान उत्तम होता है, वह स्थिर होता है, संतान नीरोग, बलवान् और सुदृढ होता है, दीर्घजीवी होता है, अर्थात् ऐसे संतान होनेसे अपमृत्युके कारण होनेवाली रोनेपीटनेकी संभावना नहीं होती, इत्यादि लाभ पाठक विचार करके जान सकते हैं। प्रसूतिगृहका आरोग्य रखनेसे ऐसे अनेक लाभ होते हैं। और प्रसूतिगृहका आरोग्य सूर्य-प्रकाशसे स्थिर हो सकता है, अतः कहा है—

यः स्वपन्तीं जाग्रतीं दिप्सति (तं) सूर्यः अनीनशत्॥ (मं. ८)

" जो रोगबीज सोती हुई या जागती हुई स्त्रीके शरीरमें जाकर उनको कष्ट देता है, उस रोगबीजका नाश सूर्य करता है।" सूर्यप्रकाशसे ये सब रोगबीज दूर होते हैं, रोगजन्तु भी सूर्यप्रकाशसे दूर हटते हैं, यह बात आजका नवीन शास्त्र भी कहता है। अब पाठक देखें कि यदि हमारे प्रसूतिगृह इस वेदाज्ञाके अनुसार बनाये जांय, तो कितना कल्याण होगा। परंतु इसका विचार बहुत थोडे लोग करते हैं, इसी सूर्यप्रकाशका महत्त्व निम्नलिखित मंत्रमें विशेष रीतिसे कहा है—

ये सूर्यं न तितिक्षन्ते तान् नाशयामसि। (मं. १२)

" जो सूर्यको नहीं सह सकते उन रोगकृमियोंका नाश हम करते हैं।" यहां कहा है कि ये रोगजन्तु सूर्यप्रकाशको सह नहीं सकते। अन्धकारमें हि ये होते, बढते और रोगोत्पत्ति करते हैं। जो सूर्यप्रकाशको सह नहीं सकते, वे सूर्यप्रकाशसे हि नष्ट होते हैं। सूतिकागृहका आरोग्य इस प्रकार सूर्य प्रकाशसे सहजहीमें प्राप्त हो सकता है अतः कहा है—

यः गर्भं प्रतिमृशात् जातं वा मारयाति।
तं पिंगः हृदयाविधं कृणोतु। (मं० १८)

" जो रोगकृमि गर्भका नाश करता है, जन्मे हुए बच्चोंका नाश करता है, उसको पिंगलवर्णका सूर्य (अथवा पीली औषधि) हृदयमें वेध करके नाश करें।" यहां 'पिंग' शब्दके दोनों अर्थ होना संभव है। सूर्य भी (पिंगल) पीत वर्ण होता है और वह वनस्पति भी वैसीहि पीली होती है। जो रोगकृमि पूर्वोक्त प्रकार प्रसूतिगृहमें अंधेरेमें और मलिनतामें उत्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार नाश करते हैं—

ये आमं मांसं खादन्ति, ये पौरुषेयं च क्रविः।
केशवाः गर्भान् खादन्ति तान् इतः नाशयामसि। (मं० २३)

" ये रोगजन्तु शरीरका कच्चाहि मांस खाते हैं, मानवी शरीरके पुठ्ठे वहांके वहांही खाते हैं, येही गर्भोंको खाते हैं, अतः उनका नाश करना उचित है।" उनका नाश करना सूर्यप्रकाशसेहि हो सकता है। जब ये रोगक्रिमी शरीरमें घुसते हैं तब जहां वे जाते हैं वहां रक्त और मांस खाकर मनुष्यको क्षीण करते हैं, और यदि ये गर्भमें पहुंचे तब गर्भको भी सुखा देते हैं, इसलिये सूर्यप्रकाशकी शरण जाना अत्यन्त योग्य है। अतः कहा है—

पिंग जायमानं रक्ष, पुमांसं स्त्रियं मा क्रन्।
आण्डादः गर्भान् मा दभन्, इतः किमीदिनः बाधस्व॥ (मं० २५)

पिंगलवर्ण सूर्य (अथवा औषध) जन्मे हुए बालककी रक्षा करता है, स्त्री या पुरुषको रोनेका अवसर नहीं देता, गर्भोंको रोगकृमि दबा नहीं सकते, और ये जो भूखे क्रिमी हैं उनको सूर्यप्रकाश ही दूर हटा देता है।" ये सूर्यप्रकाशसे लाभ होते हैं। इस मन्त्रमें इन रोगक्रिमियोंका नाम किमीदिन्' और 'आण्डाद' कहा है। किमीदिन्का अर्थ (किं—इदानीं) अब क्या खायें, अब क्या खायें, ऐसा कहनेवाले ये कृमी होते हैं अर्थात् ये सदा भूखे होते हैं, कभी इनकी भूख शान्त नहीं होती, क्योंकि इनको अनुकूल पदार्थ खानेको मिला, तो वे बहुत संख्यामें बढते हैं और अधिक खानेकी इच्छा करते हैं। इसी प्रकार ये (आण्डाद) अण्डमें स्थित वीर्यको खा जाते हैं और मनुष्यको निर्वीर्य बना देते हैं, इसलिये इनका हमला होनेसे मनुष्य अकालमें मरता है, परन्तु यदि यह मनुष्य सूर्यप्रकाशसे नीरोग बननेका यत्न करेगा, तो इसकी अकालमृत्यु हटती है।

ये रोगबीज प्रसूतिगृहमें स्त्रीके शरीरपर हमला करते हैं और उसके शरीरमें रोग उत्पन्न होता है। रोग उत्पन्न होनेके पश्चात् उसके निवारणका उपाय करनेकी अपेक्षा रोग न होनेका यत्न करना अधिक लाभकारी है, इसलिये कहा है—

जातायाः दुर्णामा अलिंशः वत्सपः मा गृधत्।
(मं० १)

"बालक जन्मतेही दुर्णामा, अलिंश और वत्सप ये रोगबीज स्त्रीपर हमला करनेकी इच्छा न करें।" प्रसूतिगृहमें ये रोगक्रिमी होते हैं और स्त्रीपर हमला करते हैं। अतः ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि, ये कृमि प्रसूतिगृहमें न उत्पन्न हों, उत्पन्न हुए तो स्त्रीके शरीरपर हमला न करें, हमला किया तो रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ न हों। प्रसूतिगृहमें बज नामक औषधि रखनेसे अथवा सूर्यकिरण वहां पहुंचानेसे यह बात सिद्ध हो सकती है, अतः कहा है—

बजं दुर्णामचातनं। (मं० ३)

"बज औषधी इस दुर्णाम नामक रोगबीजको दूर करनेवाली होती है।" यह वनस्पति प्रसूतिगृहमें रखनेसे वहांका आरोग्य स्थिर रह सकता है। सब कृमि रोग उत्पन्न करते हैं ऐसी बात नहीं है, इन कृमियोंमें दो प्रकारके कृमि हैं, उनमेंसे एक अच्छा है और दूसरा बुरा, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

दुर्णामा च सुनामा च उभौ संवृतं इच्छतः।
अरायान् अप हन्मः सुनामा स्त्रैणं इच्छताम्॥
(मं० ४)

"दो प्रकारके ये कृमी हैं, एक (सुनामा) उत्तम नामवाला अर्थात् जो शरीरमें हितकारी है और दूसरा (दुः-नामा) दुष्ट नामवाला, जिससे शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं। ये दोनों शरीरपर आक्रमण करना चाहते हैं। इनमें जो (अ-रायान्) कृपण, अनुदार अथवा दुष्ट होते हैं उनका नाश हम करते हैं; और जो उत्तम हैं वे स्त्रीके पास पहुंचें।" अर्थात् उत्तम कृमि मनुष्यके लिये हितकारक हैं, परन्तु जो रोगजन्तु हैं वेही घातक हैं, अतः ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि ये घातक रोगजन्तु यहां किसीको कष्ट न पहुंचा सकें। ये कृमि किस रूपके होते हैं, इसका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें कहा है—

द्वयास्यात् चतुरक्षात् पञ्चपदात् अनंगुरेः।
अभिसर्पतः परिवृतात् वृन्तात्परिपाहि। (मं. २२)

"इन कृमियोंको दो मुख, चार आंख और पांच पांव होते हैं। इनको अंगुलियां नहीं होती। ये हमला चढाते हैं, और संघशक्तिसे रहते हैं, इनसे बचना चाहिये।" यह इन कृमियोंका वर्णन है, इसके साथ निम्नलिखित वर्णन और देखिये—

येषां प्रपदानि पश्चात्, पार्ष्णी मुखानि च पुरः।
खलजाः शकधूमजाः उरुण्डाः मट्मटाः कुम्भमुष्काः अयाशवः। अस्याः तान् प्रतिबोधेन नाशय। (मं. १५)

"इनके पांव पीछेकी ओर तथा एडी और मुख आगेकी ओर होता है।" इन कृमियोंका वर्णन करनेवाले शब्द इस मंत्रमें 'खलजाः, शकधूमजाः, उरुण्डाः, मट्मटाः, कुम्भमुष्काः, अयाशवः' ये हैं, इनमें 'शकधूमज' शब्दका अर्थ 'गोबरके धूंवेसे उत्पन्न' है, अन्य शब्दोंके अर्थ अभीतक विशेष विचार करने योग्य स्पष्ट नहीं हुए हैं। पाठक इनकी खोज करें और अधिक यत्नके द्वारा इनके अर्थको जानें। इस सूक्तमें ऐसे और भी बहुतसे शब्द हैं कि जिनका अर्थ स्पष्ट खुलता नहीं है। ये कृमि स्त्रियोंके शरीरोंमें रोग उत्पन्न करते हैं, इस विषयमें कहा है—

ये हस्ते शृंगाणि बिभ्रतः बध्नः यन्ति।
ये स्तम्बे ज्योतिः कुर्वते।
ये आ-पाके-स्थाः प्रहासिनः नाशयामसि।
(मं० १४)

"जो हाथोंमें अपने सींगोंको धारण करते हैं और स्त्रीके पास पहुंचते हैं, जो चमकते हैं और पाकशालामें निवास करते हैं, उनका नाश करते हैं।" ऐसे कृमि स्त्रियोंके शरीरमें घुसते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, अतः इनका नाश करना योग्य है। इस वर्णनका 'स्तंबमें ज्योति करनेका' क्या अर्थ है इसका ज्ञान नहीं होता। इसकी भी खोज होनी चाहिये। इस सूक्तमें रोगजंतुओंके दो भेद कहे हैं– एक सूक्ष्म और एक बडे। यहांतक सूक्ष्मकृमियोंका वर्णन हुआ अब बडे मच्छर जैसे कृमियोंका वर्णन देखिये—

मच्छरोंका गायन।

गर्दभनादिनः कुसूलाः कुक्षिलाः करुमाः स्निमाः।
सायं शालाः परिनृत्यन्ति, तान् गन्धेन नाशय॥
(मं० १०)

"गधे जैसा शब्द करनेवाले, जिनके पास चुभानेके लिये सूई जैसे हथियार होते हैं जिनका पेट बडा होता है, जो सायंकालके समय घरके पास नाचते हैं, इनका गन्धसे

×

नाश कर। " यह वर्णन प्रायः मच्छरों अथवा मच्छर जैसे कीडोंका वर्णन है। वे शब्द करते हैं, सायंकाल इनका शब्द सुनाई देता है, इनके काटनेकी सुईयां बडी तीक्ष्ण होती हैं। इनका नाश करनेके लिये उग्रगन्धवाले अथवा सुगन्धवाले पदार्थ जलाना चाहिये। ऊद या धूप जलानेसे और घरमें इसका धूंवां करनेसे मच्छर हटते हैं, यह आजका भी अनुभव है। इसी प्रकार उग्रगन्धवाले पदार्थ भी जलानेसे इन कीटोंको हटाया जा सकता है इन्हींका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें है—

मच्छरोंके शस्त्र।

कुकुन्धाः कुकूरभाः कृतीः दूर्शानि बिभ्रति।
ये घोषं कुर्वतः वने प्रनृत्यतः; तान् नाशयामसि।
(मं० ११)

"(कृतीः) काटनेवाले (दूर्शानि) दंश करनेके साधन अपनेपास धारण करते हैं। ये शब्द करते हैं और जङ्गलमें नाच करते हैं, इनका नाश करते हैं।" यह वर्णनभी पूर्वके समानही मच्छरोंका वर्णन है। मच्छरोंके मुखोंमें जो काटनेके साधन होते हैं, उनका नाम यहां 'दूर्श' दिया है। और काटनेके कारणहि इनकों 'कृती' अर्थात् काटनेवाला कहा है। ये ज्वरादिको बढाते हैं इसलिये इनका उग्रगन्धवाले पदार्थ जलाकर नाश करना उचित है। इस मन्त्रमें और पूर्व मन्त्रमें कई ऐसे शब्द हैं कि जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं ज्ञात होता। ये शब्द खोजके योग्य हैं तथा और देखिये—

मच्छरोंके स्थान।

अरायान् बस्तवासिनः दुर्गन्धीन् लोहितास्यान्
मककान् नाशयामसि॥ (मं० १२)

"ये कृमि वस्त अर्थात् चर्म आदिपर रहते हैं, इनको दुर्गन्ध आती है, इनके मुख लाल होते हैं, इन मशकोंका अर्थात् मच्छरोंका नाश करते हैं।" इस मंत्रमें 'मकक' शब्द बहुत करके मच्छरोंका वाचक है। 'बस्त' शब्दके निश्चित अर्थकी भी खोज करना आवश्यक है। इन कृमियोंको यहां 'अराय' कहा है। इस शब्दका अर्थ 'न देनेवाला' है। ये कृमि आरोग्यको नहीं देते, खूनको नहीं देते, आयुष्यको नहीं देते तथा शरीरकी शोभाको और बलको भी नहीं देते हैं। क्योंकि इनसे अनेक रोग होते हैं और उस कारण उक्त बातोंका क्षय होता है। रोगकृमियोंके कुछ लक्षण निम्नलिखित शब्दोंद्वारा प्रकट होते हैं, अतः वे शब्द अब देखिये, द्वितीय मन्त्रमें निम्नलिखित रोगजन्तुओंके नाम है—

रोगक्रिमियोंके नाम।

१ पलाल-अनुपलालौ— मांस जिनको अनुकूल है, मांस रससे जो बढते हैं, मांस खाकर जिनकी वृद्धि होती है।

२ शर्कुः— हिंसक, जो नाश करते हैं,

३ कोकः— कामको बढाकर वीर्यनाश करनेवाले,

४ मलिम्लुच्— मलीनतासे बढनेवाले, मलीनतामें उत्पन्न होनेवाले,

५ पलीजकः— पलित रोगको करनेवाले,

६ आश्रेषः— किसीके साथ रहनेवाले,

७ प्रमीलिन— सुस्ती लानेवाले,

इस मंत्रके अन्यशब्द " वव्रिवासस्, ऋक्षग्रीव " ये खोज करने योग्य हैं, क्योंकि इनका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ है। पंचम मंत्रमें निम्नलिखित शब्द हैं—

८ कृष्णः = काले रंगवाले, किंवा खींचनेवाले,

९ केशी = बालोंवाले अथवा, तन्तुवाले,

१० अ-सुरः = प्राणघात करनेवाले,

११ तुण्डिकः = छोटे मुखवाले,

१२ अ-रायः = आरोग्यादि न देनेवाले,

इस पञ्चम मंत्रमें 'स्तंबज' शब्द है, इसका अर्थ समझमें नहीं आता है। अतः वह खोजकी अपेक्षा करता है। षष्ठ मंत्रमें निम्नलिखित शब्द हैं—

१३ अनुजिघ्रः = सूंघनेसे शरीरमें प्रवेश करनेवाले, नासिका द्वारा शरीरमें प्रवेश करनेवाले, फेफडोंमें जो जाते हैं,

१४ प्रमृशन् = स्पर्श करनेवाले, स्पर्शसे प्राप्त होनेवाले, स्पर्शजन्य रोगके बीज,

१५ क्रव्यादः = मांस खानेवाले, शरीरका रक्त और मांस खानेवाले,

१६ रेरिह् = हिंसक, घातक, नाशक,
१७ श्वकिष्की = कुत्तेके समान पीडा करनेवाले,

इसी प्रकार अन्य मंत्रोंमें जो शब्द हैं, उनका भी यहां विचार करेंगे तो उनसे इन रोगकृमियोंका ज्ञान हो सकता है।

इन सब रोगबीजोंको ' पिंग बज ' दूर करता है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखने योग्य है—

पिंग बज ।

परिसृष्टं धारयतु, हितं मा अवपादि ।
उग्रौ भेषजौ गर्भं रक्षताम् ॥ (मं. २०)
पवीनसात् तंगल्वात् छायकात् नग्नकात् किमीदिनः ।
प्रजायै पत्ये पिंगः परिपातु । (मं २१)

" गर्भाशयमें आधान किया हुआ गर्भ उत्तम रीतिसे धारण किया जावे, गर्भाशयमें स्थित गर्भ पतनको न प्राप्त हो, यह दोनों तीव्र औषधियां उसकी रक्षा करें। इन रोग-बीजोंसे उत्तम संतान होनेके लिये पिंग वनस्पतिसे गर्भाशयकी रक्षा होवे। "

इक्कीसवे मंत्रके रोगबीजवाचक शब्द बडे दुर्बोध हैं तथा इस सूक्तमें कहे " पिंग बज " वनस्पतिका भी कुछ पता नहीं चलता कि यह वनस्पति कौनसी है। वैद्यक ग्रंथोंमें इसका नाम नहीं है। अतः इसकी खोज होना कठीन है। श्री० सायनाचार्यजीने अपने अथर्वभाष्यमें इस सूक्तपर भाष्य करते हुए इसका अर्थ ' श्वेतसर्षप ' किया है, अर्थात् " सफेद सरीसा, सर्षों, राई। " संभव है यही ' पिंग बज ' का अर्थ होगा इसके गुण वैद्यकग्रंथोंमें निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

पिंगबजके गुण

तिक्तः तीक्ष्णोष्णः वातकफघ्न, उष्णः कृमिकुष्ठघ्नः ।
सितासित भेदेन द्विधा । (राज०)
कटूष्णो वातशूलनुत् । गुल्मकण्डुकुष्ठव्रणापहः ।
वातरक्तग्रहापहः । त्वग्दोषशमनो
विषभूतव्रणापहः ।
सर्षपतैलगुणाः— वातकफविकारघ्नं कृमिकुष्ठघ्नं
चक्षुष्यम् ।

" सरीसा तिक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, वात और कफको हटानेवाला, कृमि और कुष्ठरोगको दूर करनेवाला है। श्वेत और काला ऐसे इसके दो भेद हैं। यह कटु, उष्ण, वातशूलका नाश करनेवाला, गुल्म, कण्डु, कुष्ठ, व्रणका नाश करनेवाला है। वात रक्तदोषको दूर करनेवाला, त्वचाके दोषको दूर करनेवाला, विषसे उत्पन्न व्रणको हटानेवाला है। सरीसके तैलके गुण ये हैं— वात कफ विकारको दूर करता है, कृमि और कुष्टका नाश करता है और आंखके लिये हितकर है "

इस वर्णनमें सर्षोंका गुण कृमिनाशक, कुष्टनाशक दिया है जो पूर्वोक्त सूक्तके उपदेशके साथ संगत है, अतः बहुत संभव है कि यही अर्थ ' पिंग बज ' का होगा। इसकी विशेष खोज होना अत्यंत आवश्यक है। वस्तुतः यह सब सूक्त हि विशेष खोज करने योग्य है क्योंकि इसके कई शब्द और कई दुर्बोध हैं और आधुनिक कोशोंसे इनका अर्थ करनेके लिये कोई विशेष सहायता नहीं मिलती है। जिनके पास खोज करनेके विशेष साधन हैं वे इस दिशासे यत्न करें।

ओषधयः

[७]

(ऋषिः- अथर्वा। देवताः- भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः। छन्दः- अनुष्टुप्; २ उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती; ३ पुर उष्णिक्; ४ पञ्चपदा परानुष्टुबतिजगती; ५-६, १०, २५ पथ्यापङ्क्तिः (६ विराड्गर्भा भुरिक्); ९ द्विपदार्ची भुरिगनुष्टुप्; ११ पञ्चपदा विराडतिशक्वरी; १४ उपरिष्टान्निचृद्बृहती; २६ निचृत्; २८ भुरिक्।)

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः।
असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः॒ सर्वा॑ अ॒च्छाव॑दामसि ॥ १ ॥

त्राय॑न्तामि॒मं पुरु॑षं॒ यक्ष्मा॑द्दे॒वेषि॑ता॒दधि॑।
यासां॒ द्यौष्पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता स॑मु॒द्रो मूलं॑ वी॒रुधां॑ ब॒भूव॑ ॥ २ ॥

आपो॒ अग्रं॑ दि॒व्या ओष॑धयः। तास्ते॒ यक्ष्म॑मेन॒स्य१॒॑मङ्गा॑दङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

प्र॒स्तृ॒ण॒ती स्त॒म्बिनी॒रेक॑शुङ्गाः प्रत॒न्व॒तीरोष॑धी॒रा व॑दामि।
अं॒शु॒मतीः॑ का॒ण्डिनी॒र्या विशा॑खा॒ ह्वया॑मि ते वी॒रुधो॑ वैश्वदे॒वीरु॒ग्राः पु॑रुष॒जीव॑नीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (याः) जो औषधियां (बभ्रवः) पोषण करनेवाली, (याः च शुक्राः) जो वीर्य बढानेवाली (उत रोहिणी) और जो बढानेवाली तथा (पृश्नयः) जो विविध रंगवाली (असिक्नीः कृष्णाः ओषधीः) श्याम, काली औषधियां हैं इन (सर्वाः अच्छा आवदामसि) सबको मुख्यतया पुकारते हैं ॥ १ ॥

(इमं पुरुषं) इस मनुष्यको (देव-इषितात् यक्ष्मात्) देवसे प्रेरित रोगसे (अधि त्रायन्तां) बचावें। (यासां वीरुधां) जिन औषधियोंका (द्यौः पिता) द्युलोक पिता, पृथिवी माता और समुद्र मूल (बभूव) हुआ है ॥ २ ॥

(आपः अग्रं) जल मुख्य है और (ओषधयः दिव्याः) औषधियां भी दिव्य हैं। (ताः ते एनस्यं यक्ष्मं) वे तेरे पापसे उत्पन्न रोगको (अंगात् अंगात् अनीनशन्) अंगप्रत्यंगसे नाश करते हैं ॥ ३ ॥

(प्रस्तृणतीः) विशेष विस्तारवाली, (स्तम्बिनीः) गुच्छोंवाली, (एक शुङ्गाः) एक कोपलवाली, (प्रतन्वतीः) बहुत फैलनेवाली, (ओषधीः आवदामि) औषधियोंको मैं पुकारता हूं। (अंशुमतीः) प्रकाशवाली (काण्डिनीः) पर्वोंवाली (याः शिखायाः) जो शाखारहित हैं (ते आह्वयामि) मैं तेरे लिये उनको पुकारता हूं। ये (वीरुधः वैश्वदेवीः) औषधियां विशेष देवी शक्तिसे युक्त (उग्राः पुरुषजीवनीः) प्रभावयुक्त और मनुष्यका जीवन बढानेवाली हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— कई औषधियां पोषण करनेवाली, कई वीर्य बढानेवाली और कई मांसको भरनेवाली हैं। ये विविध रंगरूपवाली श्याम और काली हैं इनका औषधिप्रयोगमें उपयोग होता है ॥ १ ॥

औषधियां भूमिपर उगती हैं और इनकी रक्षा आकाशस्थ सूर्यादिकोंसे होती है। ये औषधियां जल वायु आदि देवोंके प्रकोपसे होनेवाले रोगोंसे बचाती हैं ॥ २ ॥

मुख्य औषध जल है, औषधियां भी दिव्य वीर्यवाली हैं। ये वनस्पतियां पापसे उत्पन्न होनेवाले हर एक रोगसे बचाती हैं ॥ ३ ॥

कई औषधियां बहुत फैलती हैं, कई गुच्छोंवाली होती हैं, कई कोपलोंवाली रहती हैं, कईयोंका विस्तार बहुत होता है। इन सबकी प्रशंसा आयुर्वेद प्रयोगमें होती है। ये वनस्पतियां अनेक दिव्यशक्तियोंसे युक्त होती हैं और मनुष्यका दीर्घजीवन करती हैं ॥ ४ ॥

यद्वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद्यक्ष्मात्पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥
जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥
इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥
अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥
अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः । व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (सहमानाः औषधीः) रोगनाशक औषधियो ! (यत् वः सहः) जो तुम्हारी सामर्थ्य है, (यत् च वः वीर्यं बलं) और जो वीर्य और बल हैं (तेन इमं पुरुषं) उससे इस पुरुषको (अस्मात् यक्ष्मात् मुञ्चत) इस रोगसे बचाओ । (अथो भेषजं कृणोमि) और मैं औषध बनाता हूं ॥ ५ ॥

(जीवलां जीवन्तीं) आयु देनेवाली (नघारिषां) हानि न करनेवाली (अरुंधतीं) जीवनमें रुकावट न करनेवाली (उन्नयतीं मधुमतीं) बढानेवाली मीठी (पुष्पां ओषधीं) फूलोंवाली औषधीको (इह अस्मै अरिष्टतातये अहं हुवे) यहां इसकी नीरोगता प्राप्तिके लिये मैं बुलाता हूं ॥ ६ ॥

(प्रचेतसः मम वचसः) ज्ञानी मुझ वैद्यके वचनोंसे (मेदिनीः इह आयन्तु) पुष्टिकारक औषधियां यहां आजावें । (यथा) जिससे (इमं पुरुषं) इस पुरुषको (दुरितात् अधि पारयामसि) पापके दुःखरूप भोगसे पार करते हैं ॥ ७ ॥

(याः भेषजीः) जो औषधियां, (अग्नेः घासः) अग्निका अन्न और (अपां गर्भः) जलोंका गर्भरूप (पुनः-नवाः रोहन्ति) पुनः नवीन जैसी बढती हैं वे (सहस्रनाम्नीः) हजार नामवाली (अभृताः ध्रुवाः सन्तु) लायी हुई औषधियां स्थिर होवें ॥ ८ ॥

(अवकोल्बाः उदकात्मानः) शैवालमें उत्पन्न होनेवाली, जल जिनका आत्मा है (तीक्ष्णशृङ्ग्यः ओषधयः) तीखे सींगवाली औषधियां (दुरितं विऋषन्तु) पापरूपी रोगको दूर करें ॥ ९ ॥

भावार्थ— औषधियोंमें जो सामर्थ्य, वीर्य और बल है, उससे इस मनुष्यका यह रोग दूर होवे । इसीके लिये यह औषध बनाया जाता है ॥ ५ ॥

जीवनशक्ति बढानेवाली, दीर्घजीवन देनेवाली, न्यूनता न करनेवाली, शरीरव्यापारमें रुकावट न करनेवाली, शरीरकी सुस्थिति बढानेवाली, मधुरपरिपाकवाली फूलोंवाली औषधि इस प्रकारके औषधियोंको इस मनुष्यके आरोग्य लिये मैं लाता हूं ॥ ६ ॥

मेरे वचनके अनुसार वे सब औषधियां मिलकर इस मनुष्यको नीरोग बनावें । इसका यह रोग पापाचरणसे हुआ है ॥ ७ ॥

ये औषधियां अग्निका भोजनरूप हैं और वे जलका धारण करती हैं, ये वारंवार बढती हैं । इनके नाम हजारों हैं । ये गुणधर्मसे स्थिर हों ॥ ८ ॥

शैवालसे उत्क्रान्त होकर औषधियां बनी, ये सब पापरूपी दोषसे मनुष्योंको बचावें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन्ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य
भक्षो घृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

अर्थ— (उन्मुञ्चन्तीः विवरुणाः) रोगसे मुक्त करनेवाली, विशेष रंगरूपवाली (उग्राः विषदूषणीः) तीव्र, विषनाशक (अथो बलासनाशनीः) और कफको दूर करनेवाली, (कृत्यादूषणीः या ओषधीः) घातक प्रयोगोंका नाश करनेवाली जो औषधियां हैं, (ताः इह आयन्तु) वे यहां प्राप्त हों ॥ १० ॥

(अभिष्टुताः अपक्रीताः) प्रशंसित और मोलसे प्राप्त की हुई (याः सहीयसीः वीरुधः) जो बलवाली औषधियां हैं वे (अस्मिन् ग्रामे) इस नगरमें (गां अश्वं पुरुषं पशुं) गौ, घोडा, मनुष्य और अन्य पशुकी (त्रायन्तां) रक्षा करें ॥ ११ ॥

(आसां वीरुधां) इन औषधियोंका (मूलं मधुमत्) मूल मीठा है, (अग्रं मधुमत्) अग्रभाग मीठा है, (मध्यं मधुमत् बभूव) मध्यभागभी मीठा है। (आसां पर्णं मधुमत्) इनका पत्ता मधु (पुष्पं मधुमत्) फूल भी मीठा है। यह औषधियां (मधोः संभक्ता) मधुसे भरपूर सींची हैं। ये (अमृतस्य भक्षः) अमृतका भक्ष ही हैं। ये औषधियां (गो-पुरो-गवं) गाय जिसके अग्रभागमें रखी होती है ऐसा (घृतं अन्नं दुहतां) घी और अन्न देवें ॥ १२ ॥

(पृथिव्यां यावतीः कियतीः इमाः ओषधीः) पृथ्वीपर जितनी कितनी ये औषधियां हैं (ताः सहस्रपर्ण्यः) वे हजार पत्तोंवाली औषधियां (मा अंहसः मृत्योः मुञ्चन्तु) मुझे पापरूपी मृत्युसे बचावें ॥ १३ ॥

(वीरुधां वैयाघ्रः मणिः) औषधियोंसे बना व्याघ्र जैसा प्रतापी मणि (अभिशस्ति-पाः त्रायमाणः) विनाशसे बचानेवाला संरक्षक है। वह (सर्वाः अमीवाः) सब रोगोंको और (रक्षांसि) रोगकृमियोंको (अस्मत् दूरं अप अधि हन्तु) हमसे दूर ले जाकर मारे ॥ १४ ॥

भावार्थ— रोगको दूर करनेवाली, तीव्र गुणवाली, शरीरसे विषको दूर करनेवाली, कफका दोष दूर करनेवाली, घातपात दूर करनेवाली औषधियां इस स्थानपर उपयोगी हों ॥ १० ॥

वीर्यवती औषधियां इस ग्रामके गौ, घोडे और मनुष्य आदिकोंकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

इन औषधियोंका मूल, मध्य और अग्रभाग, तथा उनके पत्ते और फूल मीठे हैं। यह अमृतका ही भोजन है, इससे गौ आदि प्राणियोंके लिये विपुल घृतादिकी प्राप्ति हो ॥ १२ ॥

पृथ्वीपर जो भी औषधियां हैं उन अनन्त पत्तोंवाली औषधियां हम सबको मृत्युसे बचावें ॥ १३ ॥

औषधियोंसे बना मणि विनाशसे बचानेवाला होता है; वह सब रोगों और रोगबीजोंको हम सबसे दूर करे ॥ १४ ॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः ।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥ १७ ॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ— (आभृताभ्यः) लाई हुई औषधियोंसे रोग (सं विजन्ते) भयभीत होते हैं (स्तनथोः सिंहस्य इव) जैसे गर्जनेवाले सिंहसे और (अग्नेः इव विजन्ते) जैसे अग्निसे घबराते हैं। (वीरुद्भिः अतिनुत्तः) औषधियोंसे भगाया हुआ (गवां पुरुषाणां यक्ष्मः) गौओं और पुरुषोंका रोग (नाव्याः स्रोत्याः एतु) नौकाओंसे जाने योग्य नदियोंसे दूर चला जावे ॥ १५ ॥

(यासां राजा वनस्पतिः) जिनका राजा वनस्पति है, वे (ओषधयः) औषधियां (मुमुचानाः) रोगोंसे छुडाती हुई (वैश्वानरात् अग्नेः अधि) वैश्वानर अग्निके ऊपर स्थित (भूमिं संतन्वतीः इतः) भूमिपर फैलती हुई जांय ॥ १६ ॥

(याः आंगिरसीः) जो अंगोंमें रस बढानेवाली औषधियां (पर्वतेषु समेषु च रोहन्ति) पहाडों और समभूमि पर फैलती हैं (ताः शिवाः पयस्वतीः ओषधीः) वे शुभ, रसवाली औषधियां (नः हृदे शं सन्तु) हमारे हृदयोंमें शान्ति देनेवाली होवें ॥ १७ ॥

(अहं याः वीरुधः वेद) मैं जिन औषधियोंको जानता हूं, (याः च चक्षुषा पश्यामि) और जो मैं आंखसे देखता हूं, (याः अज्ञाताः जानीमः) जो नहीं जानी हुईं औषधियां अब हम जानते हैं, (यासु च संभृतं विद्म) जिनमें वीर्य भरपूर है ऐसा हम जानते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार शेरसे सब प्राणी डरते हैं, उस प्रकार औषधियोंसे रोग डरते हैं। अतः इन औषधियोंसे गौओं और मनुष्योंके रोग दूर हों ॥ १५ ॥

सोम राजाके राज्यमें ये सब औषधियां इस विशाल भूमिपर फैल जांय ॥ १६ ॥

औषधियां अङ्गरस बढानेवाली हैं, वे पहाडों और समभूमिपर उगती हैं वे सब रसदार औषधियां हमारे हृदयोंको शान्ति देवें ॥ १७ ॥

जिन औषधियोंको हम पहचानते हैं और जिनको नहीं पहचानते, उन सबमें स्थितमें वीर्य जानना चाहिये ॥ १८ ॥

सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

अर्थ— (सर्वाः समग्राः ओषधीः) सब संपूर्ण औषधियां (मम वचसः बोधन्तु) मेरे वचनसे जानें, (यथा) जिस रीतिसे (इमं पुरुषं दुरितात् अधि पारयामसि) इस पुरुषको पापरूपी रोगसे छुडाते हैं ॥ १९ ॥

(अश्वत्थः) पीपल, (दर्भः) कुशा, (वीरुधां राजा सोमः) औषधियोंका राजा सोम, (हविः अमृतं) अन्न और जल, (व्रीहिः यवः च) चावल और जौ, (अमर्त्यौ भेषजौ) अमर औषधियां हैं। ये (दिवः पुत्रौ) द्युलोकसे पुत्रवत् पालन करते हैं ॥ २० ॥

(यदा पर्जन्यः स्तनयति अभिक्रन्दति) जब पर्जन्य गर्जता है और शब्द करता है कि हे (पृश्निमातरः ओषधीः) पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाली औषधियों ! (उज्जिहीध्वे) ऊपर उठो, तब (पर्जन्यः रेतसा वः अवति) पर्जन्य अपने जलसे आपकी रक्षा करता है ॥ २१ ॥

(तस्य अमृतस्य इमं बलं) उस अमृतका यह बल (इमं पुरुषं पाययामसि) इस पुरुषको पिलाते हैं। (अथो कृणोमि भेषजं) और औषध बनाता हूं; (यथा शतहायनः असत्) जिससे शतायु होता है ॥ २२ ॥

(वराहः वीरुधं वेद) सूकर औषधीको जानता है, (नकुलः भेषजीं वेद) नेवला औषधीको पहचानता है, (सर्पाः गंधर्वाः याः विदुः) सर्प और गंधर्व जिनको जानते हैं, (ताः अस्मै अवसे हुवे) उनको इसकी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—सब औषधियां मेरे अनुकूल रहकर इस मनुष्यको पापरूप रोगसे बचावें ॥ १९ ॥

पीपल, दर्भ, औषधियोंका राजा सोम, अन्न, जल, चावल और जौ ये सब दिव्य औषधियां हैं। इनसे अमरत्व अर्थात् दीर्घायुष्यकी प्राप्ति हो सकती है ॥ २० ॥

बडी गर्जना करके मेघ औषधियोंसे कहता है कि अब ऊपर उठो ॥ २१ ॥

उसीका बल औषधियोंमें संग्रहित हुआ है जो मनुष्यको पिलाया जाता है और जिससे मनुष्य दीर्घायु बनता है ॥२२॥

सूवर, नेवला, सांप, गन्धर्व ये औषधियां जानते हैं। इन औषधियोंसे प्राणियोंकी रक्षा हो ॥ २३ ॥

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥
यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥
यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥
पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥
उत्त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २८ ॥

अर्थ— (सुपर्णाः याः आंगिरसीः) गरुड जिन अंगरसवाली औषधियोंको (विदुः) जानते हैं, (याः दिव्याः रघटः विदुः) जिन दिव्य औषधियोंको चीडियां जानते हैं, (वयांसि हंसा याः विदुः) पक्षी और हंस जिनको पहचानते हैं, (याः च सर्वे पक्षिणः) जिनको सब पक्षी जानते हैं (याः ओषधीः मृगाः विदुः) जिन औषधियोंको हरिन जानते हैं , (ताः अस्मै अवसे हुवे) उनको इसकी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ २४ ॥

(यावतीनां ओषधीनां) जिन औषधियोंको (अघ्न्याः गावः प्राश्नन्ति) अवध्य गौवें खाती हैं, (यावतीनां अजावयः) जिनको भेड, बकरियां खाती हैं, (तावतीः आभृताः ओषधीः) उतनी लाई औषधियां (तुभ्यं शर्म यच्छन्तु) तुम्हारे लिये सुख देवें ॥ २५ ॥

(भिषजः मनुष्याः) वैद्य लोग (यावतीषु भेषजं विदुः) जितनी औषधियोंमें औषध प्रयोग जानते हैं; (तावतीः विश्वभेषजीः) उतनी सब औषधवाली औषधियां (त्वां अभि आभरामि) तेरे पास सब ओरसे लाता हूं ॥ २६ ॥

(पुष्पवतीः प्रसूमतीः) फूलवाली, पल्लवोंवाली, (फलवतीः उत अफलाः) फलोंवाली और फलरहित औषधियां (अस्मै अरिष्टतातये) इसकी सुखशान्तिके विस्तारके लिये (संमातरः इव दुह्रतां) उत्तम माताओंके समान रस प्रदान करें ॥ २७ ॥

(पञ्चशलात् उत दशशलात्) पांच प्रकारके और दस प्रकारके दुःखोंसे (अथो यमस्य पड्वीशात्) और यमकी बेडियोंसे और (विश्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सब देवोंके संबंधमें किये पापोंसे (त्वा उत् आहार्षं) तुझे ऊपर उठाया है ॥ २८ ॥

भावार्थ- गरुड, चिडियां, पक्षी, हंस, मृग आदिक जिन औषधियोंको जानते हैं उनसे प्राणियोंकी रक्षा की जावे ॥२४॥
जो औषधियां गौवें, भेड और बकरियां खाती हैं उनसे मनुष्योंका कल्याण हो ॥ २५ ॥
मनुष्य जिनसे औषध बनाना जानते हैं, उन सबको यहां लाते हैं ॥ २६ ॥
फूलों, फलों और पल्लवोंवाली औषधियां इसकी नीरोगताके लिये लायी जाती हैं वे उत्तम रस इसके लिये देवें ॥२७॥
पांच और दस प्रकारके दुःख, यमके पाश, देवोंके संबंधमें होनेवाले पाप आदिसे औषधियोंद्वारा हम सब तुझे बचाते हैं ॥ २८ ॥

×

औषधि।

औषधियोंकी शक्तियां।

इस सूक्तमें औषधियोंका वर्णन करते हुए जो विशेष महत्त्वकी बात कही है वह यह है कि रोगका मूल पापमें है। देखिये—

दुरितात् पारयामसि। (मं० ७, १९)
तीक्ष्णशृङ्ग्यः दुरितं व्यूषन्तु (मं० ९)
सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः। (मं० १२)

" ये औषधियां दुरितरूपी रोग अथवा मृत्युसे बचाती हैं। " यहां " दुरित, अंहस्, मृत्यु " ये शब्द " पाप, रोग और मरण " के वाचक हैं। पापसे हि रोग होते हैं और रोगोंसे मनुष्य मरते हैं अर्थात् रोग, दुःख और मृत्यु ये सब पापसे हि होते हैं। यदि मनुष्य काया, वाचा, मन और बुद्धिसे पाप न करेगा, तो उसको कभी रोग न होगा, कभी दुःख न होगा और कभी उसको मृत्युके वश होना नहीं पडेगा। मनुष्यकी पापप्रवृत्ति हि उसके नाशका कारण है। मनुष्य शारीरिक पाप करके शारीरिक कष्ट भोगता है, वाचिक पाप करके वाणीसंबंधी दुःख अनुभवता है, और मनसे जो पाप करता है उस कारण मनके दुःख भोगने पडते हैं। दुःख, कष्ट, रोग और मृत्यु न्यूनाधिक भेदसे एकहि अवस्थाके भिन्न नाम हैं। इसलिये मृत्यु तरनेका तात्पर्य दुःखसे मुक्त होना, रोगोंसे छूटना और मृत्युसे दूर होना हो सकता है। वेद और उपनिषदोंमें यह विषय अनेक बार आगया है अतः इसका विचार पाठक इस ढंगसे करें।

पापसे रोग।

इस सूक्तमें कहा है कि औषधियां पापसे बचाती हैं और पापसे बचनेके कारण मनुष्य रोगसे बचता है और पाप समूल दूर होनेके कारण मनुष्य अन्तमें मृत्युसे भी बचता है। पाठक यहां केवल यह न समझें कि औषधियोंसे रोगोंकी चिकित्सा हि होती है, योग्य औषधिसेवनसे शरीर, वाणी और मनकी पापवृत्ति हट जाती है, रोगोंको दूर करनेसे चिकित्साका कार्य हुआ ऐसा यदि कोई माने तो उसका वह भ्रम है। वास्तवमें रोग एक बाह्य चिन्ह है जिससे मनुष्यकी अन्तःप्रवृत्ति विदित होती है।

पाठक यहां पूछेंगे कि औषधियोंसे पापप्रवृत्ति कैसे हट जाती है? इस विषयमें कहना इतना हि है कि सात्विक, राजसिक और तामसिक अन्नके सेवन करनेसे मनुष्य की वैसी प्रवृत्ति बन जाती है। चावल, दूध, घृत आदि सात्विक पदार्थ खानेसे मनुष्य सात्विक बनता है, मांस और मद्य सेवन करनेसे और प्याज आदि भक्षण करनेसे राजसिक, और तामसिक प्रवृत्ति बनती है। इस विषयमें भगवद्गीताके श्लोक यहां मनन करने योग्य हैं—

तीन प्रकारका भोजन।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः
सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
भ० गी. १७

" आयु, सत्त्व, बल, निरोगता, सुख और रुचीको बढानेवाले रसदार, स्निग्ध, पौष्टिक और मनको प्रसन्न करनेवाले भोजन सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं। कडुवे, खट्टे, खारे, गर्म, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले भोजन राजस लोगोंको प्रिय होते हैं और ये भोजन दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। एक प्रहरतक पडा हुआ बासा, रसरहित, बदबूवाला झूठा अपवित्र अन्न तामस लोगोंको प्रिय होता है। " अर्थात् एक अन्न आयु, बल, नीरोगता और सुख बढानेवाला है और दूसरा इन्हींको घटाता है। अतः जो मनुष्य दीर्घायु चाहता है उसको उचित है कि वह सात्विक भोजन करे। इतना विचार प्रदर्शित करनेके लिये हि पापसे रोग और मृत्यु होते हैं और सात्विक अन्नसे पापप्रवृत्ति हटती है, इत्यादि बातें इस सूक्तमें कहीं हैं, तथा—

अमर्त्य औषध।

व्रीहिर्यवश्च भेषजौ अमर्त्यौ ॥ (मं० २०)

' चावल और जो अमर होनेकी औषधियां हैं। ' ऐसा

कहा है। यह अत्यंत सात्त्विक भोजन है। इसी प्रकार सोम नामक जो अमृत रस है वह भी अमरत्व देनेवाला है ऐसा–

सोमो राजा अमृतं हविः। (मं. २०)

इस मंत्रमें कहा है। तथा—

मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षः। घृतं अन्नं गोपुरोगवं दुहताम्। (मं. १२)

" मधुरतासे संमिश्रित अमृतान्न, घीसे मिश्रित अन्न और गोरस यह श्रेष्ठ अन्न है। "

इस प्रकार इस सूक्तमें जो अनेक बार उपदेश कहा है वह श्रीमद्भगवद्गीताके वचनके साथ देखने योग्य है। मनुष्य इस प्रकारका सात्त्विक अन्न भक्षण करे और दीर्घायु, नीरोगता और सुख प्राप्त करे।

जीवला, जीवन्ती, अरुंधती, रोहिणी, कृष्णा, असिक्नी आदि नाम औषधियोंके वाचक हैं।

१ जीवन्ती= यह औषधि दीर्घजीवन करनेवाली है, क्योंकि इसको (सर्व-दोष-घ्नः) सब दोष दूर करनेवाली वैद्यक ग्रंथोंमें कहा है। इसकी साक भी बडी हितकरी है।

२ कृष्णा= यह नाम उत्तमोत्तम वनस्पतियोंका है, जो विविध औषधियोंमें प्रयुक्त होती हैं।

जीवला– यह नाम सिंहपिप्पलीका है। यह औषधि बडी आरोग्य पद है।

इनमेंसे कई औषधियां दीर्घायु देनेवाले पाकादिमें पडती हैं। कई वैद्यकग्रंथोंमें इसका वर्णन है, पाठक यह वर्णन वहां देखे।

सूक्तकी अन्यान्य बातें सुबोध हैं अतः उनका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। पाठक इस ढंगसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इसका आशय स्पष्ट हो जायगा।

शत्रुपराजयः।

[८]

ऋषिः— भृग्वाङ्गराः। देवताः— इन्द्रः, वनस्पतिः परसेनाहननं च। छन्दः— अनुष्टुप्; २, ८–१०, २३ उपरिष्टाद्बृहती; ३ विराड् बृहती; ४ बृहती पुरस्तात्प्रस्तारपङ्क्तिः; ६ आस्तारपङ्क्तिः, ७ विपरीत पादलक्ष्मा चतुष्पदातिजगती; ११ पथ्या बृहती; १२ भुरिक्; १९ पुरस्ताद्विराड् बृहती; २० पुरस्तान्निचृद्बृहती; २१ त्रिष्टुप्, २२ चतुष्पदा शक्करी; २४ त्र्यवसाना त्रिष्टुबुष्णिग्गर्भा पराशक्करी पञ्चपदा जगती।

इन्द्रो॑ मन्थतु मन्थि॒ता श॒क्रः शूरः॑ पुरंद॒रः।
यथा॒ हना॑म॒ सेना॑ अ॒मित्रा॑णां सहस्र॒शः ॥ १ ॥

अर्थ– (पुरं-दरः शूरः शक्रः मंथिता इन्द्रः) शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला शूर समर्थ शत्रुसैन्यका मन्थनकर्ता इन्द्र (मन्थतु) शत्रुसेनाका मन्थन करे। (यथा) जिसकी शक्तिसे (अमित्राणां सहस्रशः सेनाः) शत्रुओंके हजारों सैनिकोंको (हनाम) हम मारें ॥ १ ॥

भावार्थ— शूरवीर शत्रुओंके किलोंको तोडे और शत्रुसैन्यको मथ डाले। हम भी सहस्रों शत्रुवीरोंको मारें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥
अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून्खदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः ॥ ३ ॥
परुषानमून्परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥
अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥
बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।
तेन शत्रूनभि सर्वान्न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (उपध्मानी पूति-रज्जुः) सिलगाई हुई दुर्गंधयुक्त रस्सी (अमूं सेनां पूतिं कृणोतु) इस सेनाको दुर्गन्धयुक्त करे। (धूमं अग्निं परादृश्य) धूम और अग्निको दूरसे देखकर (अमित्राः हृत्सु भयं आदधतां) शत्रु हृदयोंमें भय धारण करें ॥ २ ॥

हे (अश्व-त्थ) घोडे पर चढे वीर ! (अमून् निः शृणीहि) इनको काटो। हे (खदि-र) शत्रुको खानेवाले वीर ! (अमून् अजिरं खाद) इनको शीघ्र खाओ। (ताजद्-भङ्ग इव) शीघ्र भंजन करनेवालेके समान (भज्यन्तां) भग्न किये जांय। और (वधः वधैः एनान् हन्तु) वध करनेवाला शस्त्रोंसे इनको मारे ॥ ३ ॥

(परुष-आह्वः) कठोर आह्वान करनेवाला वीर (अमून् परुषान् कृणोतु) इनको कठोर बनावे। (वधकः वधैः एनान् हन्तु) वधकर्ता शस्त्रोंसे इनका वध करे। (बृहत्-जालेन संदिताः) बडे जालसे बंधे हुए शत्रु (शर इव क्षिप्रं भज्यन्तां) सरकंडेके समान शीघ्र टूट जांय ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षं जालं आसीत्) अन्तरिक्ष जाल है, और (महीः दिशः जालदण्डाः) विस्तृत दिशाएं जालके दण्डे हैं। (तेन दस्यूनां सेनां अभिधाय) उससे शत्रुकी सेनाको पकड कर (शक्रः अप अवपत्) शूर वीर भगाता है ॥ ५ ॥

(वाजिनीवतः बृहतः शक्रस्य) सेनाके साथ रहनेवाले बडे इन्द्रका (बृहत् हि जालं) बडा जाल है। (तेन सर्वान् शत्रून् अभिमन्युब्ज), उससे सब शत्रुओंको सब ओरसे आधीन कर, (यथा एषां कतमःचन न मुच्यातै) जिससे इनमेंसे एक भी न छूट सके ॥ ६ ॥

भावार्थ— शत्रुसेना पर हमला करनेके लिये सिलगाई हुई बारूदकी बत्ती शत्रुसैन्यमें बदबूवाला धूंवा उत्पन्न करे। जिस धूवेंको और ज्वालाको देखकर शत्रु भयभीत होवें ॥ २ ॥

घुडसवार शत्रुको मारें। हमारे शत्रुको खाजावें, अर्थात् उनका नाश करें। हमारे वीर अपने शस्त्रोंसे शत्रुका नाश करें ॥ ३ ॥

हमारा सेनापति अपने भाषणसे हमारे सैनिकोंको धीरज देकर कठोर बनावें। हमारे वीर शत्रुसेनाका नाश करें। बडे जालके अन्दर शत्रुसैनिकोंको पकडकर नाश करें ॥ ४ ॥

यह अन्तरिक्ष बडा जाल है, इसके दण्ड ये बडी दिशाएं हैं। इस जालसे शत्रुको पकडकर शूर वीर उनका नाश करें ॥ ५ ॥

सेनाके साथ हमला करनेवाले इन्द्रके पास बडा जाल है। उससे शत्रुसैन्य बान्धा जाता है और कोई बच नहीं सकता ॥ ६ ॥

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥
अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥
सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥ ९ ॥
मृत्यवेऽमून्प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान्प्रति नयामि बद्ध्वा ॥ १० ॥
नयतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान्मत्यं भवस्य ॥ ११ ॥

अर्थ— हे (शूर इन्द्र) शूर इन्द्र ! (सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य बृहतः ते) सहस्रों द्वारा पूजित और सैंकडो सामर्थ्यवाले बडे तुझ इन्द्रका (बृहत् जालं) बडा जाल है । (तेन अभिधाय) उस जालसे घेरकर तथा (सेनया) अपनी सेनाके द्वारा (शक्रः) इन्द्र (दस्यूनां शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं अभिधाय जघान) शत्रुओंके सैंकडों हजारों लाखों और करोडों सैनिकोंको मारता है ॥ ७ ॥

(महतः शक्रस्य) बडे इन्द्रका (अयं महान् लोकः) यह बडा लोक (जालं आसीत्) जाल था । (तेन इन्द्रजालेन) उस इन्द्रके जालसे (सर्वान् अमून् तमसा अहं अभिदधामि) सब इन शत्रुवीरोंको अन्धेरेसे मैं घेरता हूं ॥ ८ ॥

(उग्रा सेदिः) बडी थकावट, (व्यृद्धिः) निर्धनता, (अनपवाचना आर्तिः च) अकथनीय कष्ट, (श्रमः) कष्ट परिश्रम, (तन्द्रीः मोहः च) आलस्य और मोह, (तैः अमून् सर्वान् अभिदधामि) उनसे इन सब शत्रुओंको मैं घेरता हूं ॥ ९ ॥

(अमून् मृत्यवे प्रयच्छामि) इन शत्रुओंको मैं मृत्युके लिये सौंप देता हूं (मृत्युपाशैः अमी सिताः) मृत्युके पाशोंसे ये बांधे हैं । (मृत्योः ये अघ-लाः दूताः) मृत्युके जो पापसे मारनेवाले दूत हैं (तेभ्यः एनान् बद्ध्वा प्रति नयामि) उनके पास इनको बांध कर ले जाता हूं ॥ १० ॥

हे (मृत्युदूताः) मृत्युके दूतों ! (अमून् नयत) इनको ले चलो । हे (यमदूताः) यमके दूतों ! (अपोम्भत) इनको समाप्त करो । (परः सहस्राः हन्यन्तां) हजारोंसे अधिक मारे जांय । (एनान् भवस्य मत्यं तृणेढु) इनको ईश्वरके मतानुसार नाश करो ॥ ११ ॥

भावार्थ— अनेक पराक्रम करनेवाले पूजनीय इन्द्रदेवका बडा जाल है उस जालमें शत्रुसैनिक बान्धे जाते हैं और उनके हजारों और लाखों मारे जाते हैं ॥ ७ ॥

बडे इन्द्रका यह विस्तृत लोकहि बडा जाल है । इस इन्द्रजालमें सब शत्रु अन्धकारसे बान्धे जाते हैं ॥ ८ ॥

थकावट, निर्धनता, कष्ट, परिश्रम, आलस्य, अज्ञान इत्यादिसे शत्रुओंको घेरते हैं ॥ ९ ॥

उन शत्रुओंको मृत्युके पास भेजता हूं । मृत्युपाशोंसे ये बान्धे गये हैं । मृत्युके ये मारक दूत हैं उनके पास शत्रुओंको ले जाता हूं ॥ १० ॥

मृत्युके दूत हमारे शत्रुओंको पकडें, यमदूत उनकी समाप्ति करें । इस प्रकार हजारों शत्रु मारे जांय ॥ ११ ॥

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥
विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥
वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥
इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

अर्थ— (साध्याः एकं जालदण्डं उद्यत्य) साध्य देव एक जालके दण्डको उठाकर (ओजसा यन्ति) बलके साथ जाते हैं। (रुद्राः एकं) रुद्रदेव एकको, (वसवः एकं) वसुदेव एकको पकडते हैं और (आदित्यैः एकः उद्यतः) आदित्य देवोंने एक उठाया है ॥ १२ ॥

(विश्वे देवाः उपरिष्टात् उब्जन्तः) विश्वे देव ऊपर हि ऊपरसे दुष्टोंको दबाते हुए (ओजसा यन्ति) बलसे चलते हैं (अंगिरसः मध्येन महीं सेनां घ्नन्तः) आंगिरस बीचमें बडी सेनाका नाश करके (यन्तु) जावें ॥ १३ ॥

(वनस्पतीन् वानस्पत्यान्) वनस्पति और इनसे बने पदार्थ, (ओषधीः उत वीरुधः) औषधियां और लताएं, (चतुष्पाद् द्विपात्) चार पांववाले और दो पांववाले इनको (इष्णामि) मैं प्रेरित करता हूं, (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १४ ॥

(गंधर्वाप्सरसः सर्पान्) गंधर्व, अप्सरा, सर्प (देवान् पुण्यजनान् पितॄन्) देव, पुण्यजन और पितर इन (दृष्टान् अदृष्टान् इष्णामि) देखे और न देखे हुओंको मैं प्रेरित करता हूं (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १५ ॥

(इमे मृत्युपाशाः उप्ताः) ये मृत्युके पाश रखे हैं (यान् आक्रम्य न मुच्यसे) जिनका आक्रमण करके तू नहीं छूटेगा। (अमुष्याः सेनायाः) इस सेनाके (इदं कूटं) इस केन्द्रको (सहस्रशः हन्तु) सहस्र प्रकारसे हनन करे ॥ १६ ॥

भावार्थ— साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य ये इस जालके चारों खंबोंको पकडकर वेगसे दौडते हैं ॥ १२ ॥

विश्वेदेव ऊपरसे हमला चढाते हैं और आंगिरसोंने शत्रुसेनाके मध्यभागमें हमला चढाया है ॥ १३ ॥

वनस्पति, वनस्पतिसे बने पदार्थ, औषधि, लता, द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब मेरे सहायक हों और इनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूं ॥ १४ ॥

गंधर्व, अप्सराएं, सर्प, देव, पुण्यजन, पितर, परिचित और अपरिचित मुझे सहायता करें, जिनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूं ॥ १५ ॥

ये मृत्युपाश लगाये हैं, इनमेंसे कोई नहीं छूटेगा, इस शत्रुसेनाका यह केन्द्र सब प्रकारसे मैं नाश करूंगा ॥ १६ ॥

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥
मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥
पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन्प्रतिधामिषुम् ।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि ॥ २० ॥
सं क्रोशतामेनान्द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥

अर्थ— (अयं घर्मः होमः) यह प्रदीप्त होम (अग्निना सहस्रहः समिद्धः) अग्निद्वारा सहस्रों प्रकारोंसे प्रज्वलित हुआ है। (भवः पृश्निबाहुः शर्वः) भव और विचित्र बाहुवाला शर्व ये तुम दोनों (अमूं सेनां हतम्) इस सेनाको मारो ॥ १७ ॥

(मृत्योः आषं क्षुदं सेदिं वधं भयं) मृत्युसे कष्ट, भूख, बंधन, वध और भयको (आपद्यन्तां) प्राप्त होओ। हे शर्व ! (इन्द्रः च) और इन्द्र तुम दोनों (अमूं सेनां हतं) इस सेनाको मारो ॥ १८ ॥

हे (अमित्राः शत्रुओ ! तुम (पराजिताः प्र त्रसत) पराजित होकर त्रस्त होओ। (ब्रह्मणा नुत्ताः धावत) ज्ञानसे प्रेरित होकर भाग जाओ। (बृहस्पति-प्रणुत्तानां अमीषां) ज्ञानीके द्वारा प्रेरित हुए इनमेंसे (कश्चन मा मोचि) कोइ भी एक न बचे ॥ १९ ॥

(एषां आयुधानि अवपद्यन्तां) इनके शस्त्रास्त्र गिर जांय। (प्रतिधां इषुं मा शकन्) प्रतिपक्षसे आये बाणको ये न सह सकें। (अथ एषां बहु बिभ्यतां) अब इनको बहुत डर लगे। इनके (मर्माणि इषवः घ्नन्तु) मर्मोंमें बाण लगें ॥ २० ॥

(द्यावापृथिवी एनान् संक्रोशन्तां) द्युलोक और पृथिवी इनकी निंदा करें। (अन्तरिक्षं देवताभिः सह सं) अन्तरिक्ष देवोंके साथ इनकी निंदा करें। (ज्ञातारं मा) ज्ञानीको ये न प्राप्त करें (मा प्रतिष्ठां विदन्त) प्रतिष्ठाको भी ये प्राप्त न करें। (मिथः विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु) परस्पर विघ्न करते हुए ये सब मृत्युको प्राप्त हों ॥ २१ ॥

भावार्थ— यह यज्ञ अग्निसे प्रदीप्त हुआ है। इस यज्ञके द्वारा शत्रुसेना नाश होवे ॥ १७ ॥

मृत्युसे कष्ट, क्षुधा, बंधन, वध और भय शत्रुको प्राप्त होवे। और इस प्रकार भयभीत हुए शत्रुका नाश होवे ॥ १८ ॥

शत्रु पराजित हों, वे भाग जांय। हमारे ज्ञानी वीर द्वारा प्रेरित हुए शत्रु किसी प्रकार भी न बचें ॥ १९ ॥

शत्रुके शस्त्र गिर जांय, वे हमारे शस्त्रास्त्रोंको न सह सकें, वे डर जांय और इनके मर्म वेधे जांय ॥ २० ॥

सब लोग इन शत्रुओंकी निंदा करें, हमारे शत्रुको किसी ज्ञानीकी सहायता न प्राप्त हो, वे किसी स्थानपर न ठहर सकें। वे आपसमें एक दूसरेको टकराते हुए मर जांय ॥ २१ ॥

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः ।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक्परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् ।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥

अर्थ - (चतस्रः दिशः) चार दिशाएं (देवरथस्य अश्वतर्यः) देवरथकी घोडियां हैं (पुरोडाशाः शफाः) पुरोडाश खुर हैं। (अन्तरिक्षं उद्धिः) अन्तरिक्ष ऊपरका भाग है। (द्यावापृथिवी पक्षसी) द्युलोक और पृथिवी ये दोनों पासे हैं। (ऋतवः अभीशवः) ऋतु रसियां हैं। (अन्तर्देशाः किंकराः) बीचके प्रदेश रथरक्षक हैं और (वाक् परिरथ्यं) वाणी रथका अन्य भाग है ॥ २२ ॥

(संवत्सरः रथः) वर्ष रथ है, (परिवत्सरः रथोपस्थः) परिवत्सर रथमें बैठनेका स्थान है, (विराड् ईषा) विराड जोतनेका दण्ड है, (अग्निः रथमुखं) अग्नि रथका मुख है। (इन्द्रः सव्यष्ठाः) इन्द्र बाईं ओर बैठनेवाला है और (चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है ॥ २३ ॥

(इतः जय) यहांसे जय प्राप्त कर (इतः विजय) यहांसे विजय हो। (संजय जय) अच्छी प्रकार जय प्राप्त कर (स्व-आहा) आत्मसमर्पण कर (इमे जयन्तु) ये हमारे वीर जय प्राप्त करें। (अमी पराजयन्तां) ये शत्रुसैनिक पराभवको प्राप्त हों। (एभ्यः स्वाहा) इनके लिये शुभवचन (अमीभ्यः दुराहा) इन शत्रुओंके लिये बुरा वचन। (नीललोहितेन अमून् अभि अवतनोमि) नील और लोहित-रक्तसे इन शत्रुओंको सब प्रकार गिराता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ— देवरथकी घोडियां चारों दिशाएं हैं, उस रथके विविध भाग पुरोडाश, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवी, ये हैं। छः ऋतु घोडियोंके लगाम हैं, बीचके स्थान-संरक्षक नौकर हैं और वाणी ही मध्यस्थान है ॥ २२ ॥

संवत्सर, परिवत्सर, विराट्, अग्नि ये क्रमशः रथ, बैठनेका स्थान, दण्ड और रथमुख हैं, इन्द्र इस रथमें बाईं ओर बैठता है और चन्द्रमा सारथ्य करता है ॥ २३ ॥

इस प्रकार जय प्राप्त कर, विजय संपादन कर। आत्मसमर्पणसे हि जय मिलता है। ये हमारे वीर जय प्राप्त करें। शत्रुका पराजय हो। अपने लोगोंको शुभ आशीर्वाद। शत्रुको शाप। सब शत्रुओंकी गिरावट हो ॥ २४ ॥

पराक्रमसे विजय

युद्धकी नीति।

युद्धनीतिका वर्णन करनेवाले सूक्त वेदमें अनेक हैं, परंतु इस सूक्तमें 'जाल-युद्ध' का वर्णन है, यह इस सूक्तकी विशेषता है। जालमें शत्रुसैन्यको पकडकर सब सैनिक जालमें बंधे जानेके पश्चात् उनका उचित शस्त्रास्त्रोंसे वध करनेका नाम जालयुद्ध है। पाठकोंने जाल देखेहि होंगे। प्रायः मछलियां पकडनेवाले धीवरलोग सूत्रके जाल बनाते हैं और उसमें मछलियां पकडते हैं। ये सूत्रके जाल युद्धमें उपयोगी नहीं

होते, क्योंकि शत्रुके सैनिक यदि इस सूत्रके जालमें पकडे गये, तो वे अपने तीक्ष्ण शस्त्रोंसे जाल काटकर बाहर आसकते हैं। अतः यहांका युद्धका जाल ऐसा होना चाहिये कि, जो सहजहीमें काटा न जासके।

आजकलके युद्धोंमें तारोंके जाल, अथवा कंटकित तारोंके जाल बर्तते हैं। बहुत संभव है कि जिस इन्द्रजालका वर्णन इस सूक्तमें किया है, वह इसी प्रकारके लोहेके कंटकित अथवा अन्य तारोंका ही जाल होगा। इन्द्रके शत्रु राक्षस हैं, वे बलाढ्य और शस्त्रास्त्रसंपन्न होते हैं, वे कदापि सूत्रके जालसे बांधे जायगे और सहजहीमें मारे जांयगे यह संभव नहीं है। इस सूक्तमें इन्द्रने इस जालके द्वारा हजारों और लाखों शत्रुओंको बांधा और मारा ऐसा वर्णन है, अतः यह जाल निःसन्देह लोहेका होना योग्य है। इसका वर्णन इस प्रकार है—

बृहज्जालेन संदिताः क्षिप्रं भज्यन्ताम् (मं० ४)
शक्रस्य अन्तरिक्षं जालं आसीत्। महीदिशः जालदण्डाः।

तेन अभिधाय दस्यूनां सेनां अपावत्। (मं० ५)
वाजिनीवतः शक्रस्य बृहत् जालम्। तेन सर्वान् शत्रून् न्युब्ज, यथा एषां कतमश्चन न मुच्याते॥ (मं० ६)

हे शूर इन्द्र! शतवीर्यस्य ते बृहत् जालम्। तेन सहस्रं अयुतं जघान दस्यूनां॥ (मं० ७)

'इन्द्र स्वयं बडा शूर है, उसके पास सैन्यभी बहुत है। वह स्वयं सैंकडों प्रकारके पराक्रम करता है। उसका बडा भारी जाल है। मानो उसका जाल इस अन्तरिक्ष जैसा विस्तृत है। चारों दिशाओंमें उसके जालके स्तंभ खडे किये होते हैं। इस विस्तृत जालमें शत्रुकी सेना पकडी जाती है, और एकवार सेना इस जालमें पकडी गयी, तो उनमेंसे एकभी नहीं बच सकता। इस रीतिसे इस ढंगके जालयुद्ध द्वारा इन्द्र हजारों और लाखों शत्रुओंका संहार करता है।'

इन मंत्रभागोंमें यह वर्णन बडा मनोरम है और जालयुद्धका महत्त्व भी इससे प्रकट होता है, एकवार शत्रु जालमें बान्धे गये, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी हलचल भी बन्ध हो जाती है। इस प्रकार जालसे बान्धे गये शत्रुओंका वध करना बडा सहज कार्य होता है, क्योंकि इन्द्र एक वार शत्रुको जालमें पकडकर पश्चात् अपने सैनिकोंसेहि उनका वध कराता है, ऐसा इसी सूक्तमें कहा है—

शक्रः सेनया तेन (जालन बद्धं) दस्यूनां सहस्रं जघान। (मं० ७)

"इन्द्र अपनी सेनाद्वारा उस जालसे बान्धे गये शत्रुके हजारों सैनिकोंको मारता है।" इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि जालमें बन्धे शत्रुसैन्यका वध करना सहज बात है। यह जाल पृथ्वीपर बहुत बडा फैलाया जाता है इसविषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

अयं महान् लोकः शक्रस्य जालं आसीत्।
तेन इन्द्रजालेन सर्वान् तमसा अभिदधामि॥
(मं. ८)

साध्याः रुद्राः वसवः जालदण्डं उद्यम्य ओजसा यन्ति। आदित्यैः एकः (दण्डः) उद्यतः॥
(मं. १२)

विश्वेदेवाः ओजसा उपरिष्टात् यन्तु।
अंगिरसः मध्येन सेनां घ्नन्तः यन्तु॥ (मं. १३)

"इस पृथ्वीभर इन्द्रका जाल फैला है। इस इन्द्रके जालसे सब शत्रुओंको अन्धेरेसे घेरते हैं। साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य ये सब देव जालका एक एक स्तंभ पकडकर वेगसे दौडते हैं। विश्वेदेव और आंगिरसभी शत्रुसेनाके बीचमें और ऊपरसे हमला करते हैं।" इतना विस्तार इस जालका होता है। इस जालसे सब पृथ्वी और अन्तरिक्ष भर जाता है, अर्थात् शत्रुका सब सैन्य चारों ओरसे इस जालके द्वारा घेरा जाता है। इन मंत्रोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार शत्रुका सैन्य घूमता है, उसी रीतिसे यह जालभी घुमाया जाता है। इसीलिये जालके दण्ड पकडकर वसु, रुद्र, आदित्य और साध्य वेगसे भ्रमण करते हैं। विश्वेदेव अपने सैन्यसे ऊपरके भागसे हमला करते हैं और आंगिरसोंकी सेना बीचमें हमला चढाती है। इस प्रकार शत्रुसैन्यको युद्धमें रखकर वसु, रुद्र और आदित्य जालदण्डोंको पकडकर दौड दौड कर शत्रुके हर्द गिर्द जालको दण्डोंके आधारपर ऐसे ढंगसे जाल रचते हैं, कि शत्रु न जानते हुए स्वयंहि जालमें आकर फंस जांय। यह युद्धकौशलकी बात है और जो युद्धविद्या जानते हैं उनके

×

ही समझमें यह बात आसकती है । यहां मन्त्रोंद्वारा उक्त विषय प्रकट हुआ है । इन मंत्रभागोंका विचार करके पाठक भी इस विषयका थोडासा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । यहां साध्य, वसु, रुद्र आदित्य, विश्वेदेव और आंगिरस ये सेनाविभागों और सेनाध्यक्षोंके नाम हैं । इनके विशेष कार्य युद्धभूमिमें होते हैं, अतः ये अलग अलग नाम इनके होते हैं । इन सबका मुख्य इन्द्र है, इसका कार्य (इन्+द्र) शत्रुका विदारण करना है । इसका कार्य प्रथम मन्त्रने इस प्रकार कहा है—

मन्थिता शूरः शक्रः पुरंदरः इन्द्रः मन्थतु । (मं. १)

" शत्रुसैन्यका मन्थन करनेवाला इन्द्र शूर और समर्थ होकर (पुरं-दरः) शत्रुके किलोंका भेदन करे । " इसमें प्रत्येक शब्द इन्द्रका कार्य बता रहा है । शत्रुके किलोंको तोडनेका कार्य इन्द्र करता है, किलोंसे शत्रुसैन्यको बाहर निकालकर, उनको अपने जालोंसे बान्धकर मारता है । इस प्रकार यह जालयुद्धकी नीति है ।

इस रीतिके जालयुद्धके सामान अपने पास रहे तो शत्रुपर विजय प्राप्त करनेका विश्वास अपने सैनिकोंमें आता है और वे कह सकते हैं—

अमित्राणां सहस्रशः सेनाः हनाम । (मं. १)
वधकः वधैः एनान् हन्तु । (मं. ३; ४)
अमून् निः शृणीहि । अमून् अजिरं खाद । (मं. ३)
मृत्यवे अमून् प्रयच्छामि । अमी मृत्युपाशैः सिताः ।
मृत्योः ये अघला दूताः तेभ्यः एनान् बद्ध्वा प्रतिनयामि । (मं. १०)
मृत्युदूता अमून् नयत । यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्ताम् ॥ (मं. ११)
यथा अमुं सेनां हनन् । (मं. १४, १५)
उताः मृत्युपाशाः यान् आक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्याः सेनायाः इदं कूटं सहस्रशः हन्तु । (मं. १६)

" शत्रुके हजारों सैनिकोंको हम मारेंगे । वधके साधनोंसे इनको मारें । इन शत्रुसैनिकोंको निःशेष मारो । इनको मृत्युको सौंप देता हूं । ये मृत्युके पाशसे बांधे हैं । इन शत्रुओंको बांधकर मैं मृत्युके दूतोंके हवाले करता हूं । यमदूत इनको ले चलें, यमदूत इनको खींच लें और हजारोंका वध किया जावे । इस संपूर्ण सेनाका नाश किया जावे । ये मृत्युके पाश फैलाये हैं, इनसे नहीं छूटोगे, इस शत्रुसेनाके इस केन्द्रको प्राप्त करके उनके हजारों सैनिक मारे जांय ॥ "

इस प्रकारकी भाषा तभी बोली जा सकती है कि जब शत्रुको पकडकर उसका वध करना निश्चित सा हो । जालमें पकडे शत्रुका वध करना निश्चित और सहज होता है इसी लिये जालयोधी वीर इस प्रकारके निश्चयात्मक वाक्य बोल सकते हैं । इसी प्रकारके वाक्य और देखिये—

पराजिताः अमित्राः प्र त्रसन्तां,
ब्रह्मणा नुत्ताः धावत ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां अमीषां कश्चन मा मोचि ॥ (मं. १९)

" पराजित हुए शत्रु त्रासको प्राप्त हों, भगाये शत्रु भागते हुए दौड जावें । भगाये इन शत्रुओंमेंसे भी कोई न बचे । " ये शब्द शत्रुपराजयका निश्चय बता रहे हैं । जालयुद्धका यह महत्त्व है कि एक बार उसमें फंसा शत्रु बचना असंभव है । जालमें फंसे शत्रुकी अवस्था कैसी बनती है देखिये—

एषां आयुधानि अवपद्यन्ताम् । इषुं प्रतिधां मा शकन् ।
एषां बहु बिभ्यतां इषवः मर्माणि घ्नन्तु । (मं० २०)

" इन शत्रुओंके आयुध गिर जांय । हमारे शस्त्रोंको ये सह न सकें । इन बहुत घबराये शत्रुओंके मर्मोंमें हमारे शस्त्र आघात करें । " तथा और देखिये—

ज्ञातारं प्रतिष्ठां मा विदन्त । मिथो विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु । (मं० २१ ॥

" शत्रु भयभीत होकर किधर भी आश्रयको न प्राप्त हों, उनको कोई उत्तम सलाह देनेवाला न मिले । वे आपसमें एक दूसरेको विघ्न करते हुए मृत्युको प्राप्त हों । " यह अवस्था शत्रुकी तब होगी जब की अपने निश्चित विजयकी संभावना हो ।

इन्द्रः शर्वः च अक्षुजालाभ्यां अमूं सेनां हतम् । (मं. १८)

" इन्द्र और शर्व अक्षु और जालोंके द्वारा इस सेनाको मारे । " इस मंत्रमें जालयुद्धकी शक्ति बताई है । संपूर्ण शत्रुसेनाको मारना केवल जालयुद्धसे हि संभवनीय है । जालमें पकडे गये शत्रुसेनापर कितनी भयानक आपत्ति आती है इसकी कल्पना अगले मंत्रभागसे हो सकती है—

मृत्योः आषं क्षुधं सेदिं वधं भयं आपद्यन्ताम्।
(मं. १८)

जालमें पकडे गये शत्रुओंपर ' मृत्युके समान कष्ट, भूख, बंधन, वध और भय ' आपडते हैं। शत्रुका कोई मनुष्य इनसे बच नहीं सकता। शत्रुसेनापर ऐसी भयानक आपत्ति आती है इसलिये यह जालयुद्ध शत्रुको बहुत डर उत्पन्न करनेवाला होता है। इसी मंत्रके साथ निम्नलिखित मंत्र देखिये—

सेदिः उग्रा व्यृद्धिः आर्तिः अनपवाचना श्रमः तन्द्री
मोहः च तैः अमून् सर्वान् अभिदधामि। (मं. ९)

" बंधन, उग्र विपत्ति, न कहने योग्य कष्ट, श्रम, आलस्य, मोह इनसे ये सब हमारे शत्रु जर्जर हो जांय। " इसकी सिद्धि होनेके लिये युद्धमें जालप्रयोग निःसन्देह उपकारक है। जालमें बंधा वीर कितना भी बलवान हुआ तो भी वह कुछ प्रतिकार करनेमें असमर्थ होजाता है। इसलिये युक्तिसे शत्रुको जालमें बांध देनेसे उनका पूर्णतया नाश हो जाता है। इस युद्धमें और एक दुर्गन्धास्त्रका प्रयोग वर्णन किया है वह भी बडा घोर प्रयोग है देखिये—

दुर्गंधयुक्त धूँवां।

पूतिरज्जुः उपध्मानी अमूं सेनां पूतिं कृणोतु। (मं. २)

" दुर्गंधयुक्त रस्सी जलाकर इस सेनामें सर्वत्र दुर्गंधीको फैला देवे। " कुछ विशेष रासायनिक पदार्थोंसे यह रस्सी भियोगी रहती है। इस रस्सीको जलाकर-सिलगाकर उसको शत्रुसेनामें फेंकनेसे शत्रुसेनामें ऐसी दुर्गंधी फैलती है कि उससे त्रस्त हुए शत्रुके सैनिक युद्ध करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इससे कितना भय प्राप्त होता है देखिये—

धूममग्निं परादृश्य अमित्रा हृत्स्वादधतां भयं।
(मं. २)

" पूर्वोक्त धूममय अग्नि दूरसे देखकर शत्रुके सब लोग हृदयोंमें भय धारण करते हैं। " इतना यह दुर्गन्धास्त्र महाभयंकर है। एकवार यह (पूतिरज्जु) दुर्गन्धकी रस्सीका जलना प्रारंभ होकर दुर्गन्ध फैलने लगा तो सब सैनिक किसी भी कार्यके लिये बडे निकम्मे हो जाते हैं और मानने लगते हैं कि अब अपने नाशका समय आपडा है। यदि जाल प्रयोग और यह दुर्गन्ध प्रयोग ये दोनों प्रयोग किये जांय, तो शत्रुका शीघ्र नाश करना बिलकुल आसानीसे होसकता है। इस प्रकार ये दोनों प्रयोग करनेसे अपना विजय होता है अतः कहा है—

विजय।

इतो जय विजय संजय जय स्वाहा।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो
दुराहामीभ्यः॥ (मं. २४)

" इस पूर्वोक्त युक्तिसे जय और विजय प्राप्त करो, वह तुम्हारा उत्तम जय हो। ये तुम्हारे सैनिक विजयी हों, तुम्हारे शत्रु पराजित हों। तुम्हारा उत्तम कल्याण हो, तुम्हारे शत्रुओंका अकल्याण हो। " इस प्रकार अन्तमें इस जालयुद्ध करनेवालोंको शुभ आशीर्वाद दिया है।

इस प्रकार वेदमें उपदेश किये जालयुद्धका वर्णन है। पाठक इसका विचार करके वेदकी युद्धनीति जानें।

" इन्द्र जाल " शब्द आध्यात्मिक बन्धनका भी भाव बताता है। इस दृष्टीसे इस सूक्तका विचार कोई करे। यह विषय अन्वेषणीय है।

एकही उपास्य देव !

विराट्

[९]

ऋषिः— अथर्वा। देवताः— कश्यपः, सर्वे ऋषयः, छन्दांसि च; विराट्। छन्दः— त्रिष्टुप्; २ पङ्क्तिः; ३ आस्तारपङ्क्तिः; ४-५, २३, २५, २६ अनुष्टुप्; ८, ११-१२, २२ जगती; ९ भुरिक्; १४ चतुष्पदातिजगती।

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥
यो अक्रन्दयत्सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥
यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैनद्विद्यात्तपसा विपश्चिद्यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥
बृहतः परि सामानि षष्ठात्पञ्चाधि निर्मिता।
बृहद्बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

अर्थ— (तौ कुतः जातौ) वे दोनों कहांसे प्रकट हुए ? (सः अर्धः कतमः) वह कौनसा अर्धभाग है ? और वह (कस्मात् लोकात्) कौनसे लोकसे और (कतमस्याः पृथिव्याः) कौनसे भूविभागके ऊपर (सलिलात् विराजः) आप तत्वसे विराजके (वत्सौ उत् ऐतां) दोनों बच्चे प्रकट होते हैं ? (तौ त्वा पृच्छामि) उन दोनोंके विषयमें तुझे मैं पूछता हूं। उनमेंसे वह गौ (कतरेण दुग्धा) किससे दोही जाती है ? ॥ १ ॥

(त्रिभुजं योनिं कृत्वा) तीन भुजावाला आश्रयस्थान बनाकर (शयानः यः) विश्राम करनेवाला जो अपने (महित्वा सलिलं अक्रन्दयत्) महत्वसे जलको प्रक्षुब्ध बनाता है। (विराजः कामदुघः स वत्सः) विराज रूपी कामधेनुका वह बच्चा (पराचैः गुहा) दूर और गुप्त (तन्वः चक्रे) शरीरोंको बनाता है ॥ २ ॥

(यानि बृहन्ति त्रीणि) जो बडे तीन हैं और (येषां चतुर्थं वाचं वियुनक्ति) जिनका चौथा वाणीको प्रकट करता है। (विपश्चित् तपसा) ज्ञानी तपसे (एनत् ब्रह्म विद्यात्) इसको ब्रह्म जाने। (यस्मिन् एकं युज्यते) जिसमें एकका योग किया जाता है और (यस्मिन् एकं) जिसमें एकका होता है ॥ ३ ॥

(बृहतः षष्ठात् परि.) बडे षष्ठके ऊपर (पञ्च सामानि अधि निर्मिता) पांच सामोंका निर्माण हुआ है। (बृहत्याः बृहत् निर्मितं) बडीसे बडा बनाया है। (बृहती कुतः अधि निर्मिता) बडी कहांसे निर्माण हुई है ? ॥ ४ ॥

भावार्थ— (स्त्रीत्व और पुरुषत्व) ये दोनों कहांसे प्रकट होगये हैं ? इसमें वह आधा भाग कहांसे माना जाता है ? कौनसी पृथ्वीके ऊपर कौनसे स्थानसे किस जलतत्त्वसे विराट् उत्पन्न होकर उसके (रयि और प्राण ये) दोनों बच्चे किस प्रकार उत्पन्न हुए ? उस विराट् रूपी गौका दोहन किस बच्चेके साथ हुआ ? ये प्रश्न मैं तुझसे पूछता हूं ॥ १ ॥

त्रिगुणमयी प्रकृतिमें व्यापनेवाला अपनी शक्तिसे ही उसमें गति उत्पन्न करता है। उससे विराट् नामक कामधेनु होती है, उसीका वह बच्चा है, जो दूरकी गुहामें अपने शरीरोंको बनाता है ॥ २ ॥

तीन बडे तत्त्व हैं। जो चौथा है वह वाणीको प्रेरित करता है। ज्ञानी तपसे इस ब्रह्मको जानता है, जिसमें एक (मन) का योग किया जाता है ॥ ३ ॥

बडे छठे तत्त्वके आधारपर पांच सामोंकी रचना हुई है। बडीसे ही बडेका निर्माण होता है। परंतु पहिली बडी कहांसे होती है ? ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥
वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥
षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च ।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥ ७ ॥
यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥
अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (मातुः मात्रायाः परि) माताकी तन्मात्राके आधारपर (बृहती मात्रा अधिनिर्मिता) बडी मात्रा निर्माण हुई है। (माया ह मायायाः जज्ञे) माया निश्चयसे मायासे उत्पन्न होती है। और (मायायाः परि मातली) मायाके ऊपर मातली है ॥ ५ ॥

(उपरि द्यौः वैश्वानरस्य प्रतिमा) ऊपर जो द्युलोक है वह वैश्वानरकी प्रतिमा है। (यावत् अग्निः रोदसी विबबाधे) जहांतक अग्नि द्युलोक और पृथिवीको बाधित करता है। (ततः अमुतः षष्ठात् स्तोमाः आयन्ति) वहांसे दूरके छठे स्थानसे स्तोम आते हैं। और वे (इतः अह्नः षष्ठं अभि उत् यन्ति) यहांसे छठे दिन ऊपर उठते हैं ॥ ६ ॥

हे कश्यप ! (इमे षट् ऋषयः त्वा पृच्छामः) ये हम छः ऋषि तुझसे प्रश्न पूछते हैं क्योंकि (त्वं हि युक्तं योग्यं च युयुक्षे) तू ही युक्त और योग्यको संयुक्त करता है। (विराजं ब्रह्मणः पितरं आहुः) विराजको ब्रह्माका पिता कहते हैं। (तां नः सखिभ्यः) उसको हम मित्रोंको (यतिधा विधेहि) जितने प्रकारोंसे हो उतने प्रकारोंसे वर्णन करो ॥ ७ ॥

हे (ऋषयः) ऋषिगण ! (यां प्रच्युतां) जिसके स्थानसे चलनेपर (यज्ञाः अनु प्रच्यवन्ते) यज्ञ चलते हैं। और जिसके (उपतिष्ठमानां उपतिष्ठन्ते) उपस्थित होनेसे उपस्थित होते हैं। (यस्याः प्रसवे व्रते) जिसके प्रकट होनेके नियममें (यक्षं एजति) यजनीय देव हलचल करता है। (सा विराट्) वह विराट् (परमे व्योमन्) परम आकाशमें है ॥ ८ ॥

(अ-प्राणा प्राणतीनां प्राणेन एति) स्वयं बिना प्राण होकर भी प्राणवालोंके प्राणके साथ चलती है। पश्चात् (विराट् स्वराजं अभ्येति) विराट् स्वयं प्रकाशके पास पहुंचती है। (विश्वं मृशन्तीं अभिरूपां विराजं) सबको स्पर्श करनेवाली अनुरूप विराट्को (त्वे पश्यन्ति) वे कई देखते हैं, परंतु (त्वे एनां न पश्यन्ति) वे इसको नहीं देखते ॥ ९ ॥

भावार्थ— प्रकृतिमातासे तन्मात्राकी उत्पत्ति होती है और उससे पृथिवी आदिकी उत्पत्ति होती है। मायासे इस प्रकार माया की उत्पत्ति होती है, और इस मायाके ऊपर मायाका निरीक्षक भी है ॥ ५ ॥

वैश्वानर उतना है कि जितनी द्यौ है। जहांतक द्युलोकसे पृथ्वीतक अन्तर है उसमें वैश्वानरकी व्याप्ति है। वैश्वानर छठवां है, जिससे स्तोम और यज्ञ प्रचलित होते हैं, और ये सब फिर उसीमें जा मिलते हैं ॥ ६ ॥

हे कश्यप ! ये हम छः ऋषि तुझसे पूछते हैं। तू सबको योग्य स्थानमें नियुक्त करता है। अतः इसका उत्तर दो। विराट् ब्रह्माका पिता कहते हैं उस विषयमें हम सबको सब प्रकारसे कहो ॥ ७ ॥

हे ऋषिगण ! जिसके चलनेसे यज्ञ चलते और जिसके स्थिर होनेसे यज्ञ स्थिर होते हैं, जिसकी प्रेरणासे आत्मा प्रेरणा करता है वही विराट् देवता है ॥ ८ ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून्क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान्को अस्याः कतिधा विदुग्धान्को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥
इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ११ ॥
छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा ॥ १२ ॥
ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः ।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥ १३ ॥

अर्थ— (विराजः मिथुनत्वं कः प्रवेद) विराट्के स्त्रीत्व और पुरुषत्वको कौन जानता है ? (कः ऋतून्) कौन ऋतुओंको और (कः अस्याः कल्पं उ) कौन इसके कल्पको जानता है ? (अस्याः क्रमान् कः) इसके क्रमोंको कौन जानता है ? (कतिधा विदुग्धान्) कितनी वार दोही गयी यह कौन जानता है ? (कः अस्याः धाम) कौन इसका स्थान जानता है और (कतिधा व्युष्टीः) कितनी प्रकारसे इसके प्रभात समय होते हैं ? ॥ १० ॥

(इयं एव सा या प्रथमा व्यौच्छत्) यही वह है कि जो पहिली होकर प्रकाशित होती है, जो (आसु इतरासु प्रविष्टा चरति) इनमें और अन्योंमें प्रविष्ट होकर चलती है । (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसमें बडी शक्तियां हैं । (नवगत् जनित्री वधूः जिगाय) नूतन जननी वधूके समान सबको जीतती है ॥ ११ ॥

(छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने) छन्दके दो पक्ष उषासे सुन्दर बनते हुए (समानं योनिं अनु संचरेते) एक स्थानको लक्ष्य करके चलते हैं । (प्रजानती केतुमती सूर्यपत्नी) जानती हुई केतुवाली सूर्यपत्नी प्रभा (अजरे भूरि-रेतसा संचरतः) अजर बहुत वीर्यवाली संचार करती हैं ॥ १२ ॥

(तिस्रः ऋतस्य पन्थां अनु आगुः) तीनों सत्यके मार्गको अनुकूल होती हैं । (त्रयः घर्माः रेतः अनु आगुः) तीनों यज्ञ वीर्यको अनुकूल होते हैं । (एका प्रजां जिन्वति) एक प्रजा-संततिको तृप्त करती है । (एका ऊर्जं) दूसरी बलकी रक्षा करती है और (एका देव-यू-नां राष्ट्रं रक्षति) तीसरी देवके साथ योग करनेवालोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

भावार्थ— यह विराट् स्वयं प्राणवाली न होती हुई प्राणियोंके प्राणके साथ चलती है । तथा यह विराट् स्वयंप्रकाश आत्माके पास भी पहुंचती है । सबको स्पर्श करनेवाले इस विराट्को कई देखते हैं और कई इसको देख नहीं सकते ॥ ९ ॥

इस विराट्के अन्दर स्त्रीत्व और पुरुषत्व किस प्रकार रहता हैं । इसके ऋतु और कल्प किस क्रमसे होते हैं ? और कौन इसको यथावत् जानता है । इस विराट्का धाम किसने देखा है, और इसके प्रभातसमयका किसको पता है ? इस विराट्का कितने प्रकारोंसे दोहन किया है अर्थात् कितने रस इससे निकाले जाते हैं ॥ १० ॥

यही विराट् पहिली प्रकाशित हुई है, जो अन्योंमें प्रविष्ट होकर विचरती है । इसके अन्दर बडी बडी शक्तियां हैं । यह नववधूके समान सब पर प्रभाव डालती है ॥ ११ ॥

छन्दके दो पक्ष हैं, जो एकही छन्दमें अनुकूलतासे कार्य करते हैं । जैसी सूर्यपत्नी प्रभा उषःकालसे प्रकाशित होनेका प्रारंभ होता है, उसी प्रकार ये दोनों छन्दके पक्ष अक्षीण होकर विशेष बलके साथ सर्वत्र संचार करते हैं ॥ १२ ॥

तीनों शक्तियां सत्यके अनुकूलताके साथ होती हैं तथा तीनों यज्ञ वीर्यके साथ चलते हैं । एक संतानकी रक्षा, दूसरी बलकी रक्षा और तीसरी देवके उपासकोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद्यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥
पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥ १५ ॥
षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति ।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥ १६ ॥
षडाहुः शीतान्षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः ।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥ १७ ॥

अर्थ— (अग्नीषोमौ यज्ञस्य पक्षौ) अग्नि और सोम ये दो यज्ञके दो पंख हैं ऐसा (ऋषयः कल्पयन्तः) ऋषियोंने माना है। (या तुरीया आसीत्) जो चतुर्थ अवस्था है, उसको और (गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीं अनुष्टुभं) गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् रूपसे (यजमानाय स्वः आभरन्तीं बृहदर्कीं) यजमानको प्रकाश देनेवाली बडी उपासनाको वे (अदधुः) धारण करते हैं ॥ १४ ॥

(पञ्च व्युष्टीः) पांच उषाएं, (पञ्च दोहाः अनु) पांच अनुकूल दोहन समय (पञ्चनाम्नीं गां अनु) नामवाली पांच अनुरूप गौ, (पञ्च ऋतवः) पांच ऋतु, (पञ्चदशेन पञ्च दिशः क्लृप्ताः) पंदरहवेने पांच दिशाओंको अनुकूल किया है, (ताः एकमूर्ध्नीः) वे सब एक सिरवाले होकर (एकं लोकं अभि) एक लोकके चारों ओर हैं ॥ १५ ॥

(ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यका पहिला प्रवर्तक (षट् भूताः जाताः) छः भूत बने हैं। (षट् उ सामानि) छः साम (षट्-अहं वहन्ति) छः दिनोंको ले जाते हैं। (षट्-योगं सीरं अनु साम-साम) छः बैल जोते हुए हलको साम साम कहते है, (द्यावापृथिवीः षट् आहुः) द्युलोकसे पृथ्वीपर्यंत छः केन्द्र हैं, जिनको (षट् उर्वीः) छः भूमि कहते हैं ॥ १६ ॥

(षट् शीतान् आहुः) छः शीतकालके महिने हैं, (षट् उष्णान् मासः) छः उष्णताके महिने हैं। (नः ऋतुं ब्रूहि) इनके ऋतु हमें बतलाओ, (यतमः अतिरिक्तः) इनमें कौनसा विशेष रिक्त है? (सप्त सुपर्णाः कवयः) सात उत्तमपर्णवाले कवि (निषेदुः) निवास करते हैं। (सप्त छन्दांसि) सात छन्द हैं (अनु सप्त दीक्षाः) इनके अनुकूल सात दीक्षा भी हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ— अग्नि और सोम ये यज्ञके दो पक्ष हैं यह बात ऋषियोंने मानी है। और वे ऐसा भी मानते हैं कि जो चतुर्थ अवस्था है वह त्रिष्टुभ् जगती अनुष्टुप् रूपसे यजमानके लिये स्वर्गका सुख भर देती है ॥ १४ ॥

एक गौके अनुकूल पांच उषाएं, पांच दोहन समय हैं, पांच ऋतु, पांच दिशाएं, इनके ऊपर एकका अधिकार है। इस एकके पास सबको पहुंचना है ॥ १५ ॥

सत्यमार्गका प्रथम प्रवर्तक आत्मा है, उससे छः तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। छः साम छः दिनोंका यज्ञ समाप्त करते हैं। जिस प्रकार छः बैल जोते हुए हलको किसान चलाते हैं, वैसा ही यह साम छः दिनोंवाले यज्ञको चलाता है। जगत्में द्युलोक और पृथिवीके अंदर भी छः पृथ्वी सरीखे गोल हैं ॥ १६ ॥

शीतकालके छः मास हैं, उष्ण कालके भी छः मास हैं। इनके ऋतु हमें बताओ और यह भी बताओ कि इनमें रिक्त कौन है ? सात कवि उत्तम पत्र लेकर यहां बैठे हैं, उनके साथ सात छन्द हैं और सात दीक्षाएं भी है ॥ १७ ॥

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥ १८ ॥

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥ १९ ॥

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप्पञ्चदशेन कल्पते ।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप्कथमेकविंशः ॥ २० ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥ २१ ॥

अर्थ— (सप्त होमाः) सात यज्ञ हैं, (समिधः ह सप्त) समिधाएं सात हैं, (मधूनि सप्त) सात मधु और (सप्त ऋतवः ह) सात ऋतु हैं। (सप्त आज्यानि भूतं परि आयन्) सात प्रकारके घृत सब जगत्में प्राप्त हैं, (ताः सप्तगृध्राः) वे सात गीध हैं (इति वयं शुश्रुम) ऐसा हम सुनते हैं ॥ १८ ॥

(सप्त छन्दांसि) सात छन्द हैं, (उत्तराणि चतुः) उनसे श्रेष्ठ चार हैं। ये (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरेमें (अधि आ अर्पितानि) समर्पित हैं। (स्तोमाः तेषु कथं प्रति तिष्ठन्ति) स्तोम उनमें कैसे रहते हैं? (तानि स्तोमेषु कथं अर्पितानि) वे स्तोमोंमें कैसे समर्पित हुए हैं? ॥ १९ ॥

(गायत्री त्रिवृतं कथं व्याप) गायत्री त्रिवृत्को कैसे व्यापती है? (कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते) कैसे त्रिष्टुप् पंदरहसे होता है? (त्रयस्त्रिंशेन जगती कथं) तैतीससे जगती कैसी होती है और (अनुष्टुप् एकविंशः कथं) अनुष्टुप् इक्कीसका कैसे होता है? ॥ २० ॥

(ऋतस्य प्रथमजाः अष्ट भूताः जाताः) सत्यके पहिले प्रवर्तकसे आठ भूत उत्पन्न होगये हैं। हे इन्द्र! (ये दैव्याः ऋत्विजः अष्ट) जो दिव्य ऋत्विज हैं वे भी आठ हैं। (अदितिः अष्टयोनिः अष्टपुत्रा) अदिति आठ उत्पत्तिस्थानवाली है और उसको आठ पुत्र भी हैं। (अष्टमीं रात्रिं) अष्टमी रात्रिको (हव्यं अभि एति) हव्य प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ— सात होम, सात समिधाएं, सात शहद, सात ऋतु और सात घृत भूतमात्रके चारों ओर हैं। उनके साथ सात गीध भी हैं ऐसा हम सुनते हैं ॥ १८ ॥

सात छन्द, उनके चार उत्तर पक्ष, एक दूसरेके साथ मिले हुए होते हैं। ये स्तोमोंमें कैसे रहते हैं और ये स्तोम उनमें कैसे रहते हैं? ॥ १९ ॥

गायत्रीने त्रिवृत्को कैसे व्यापा है? त्रिष्टुप् पञ्चदशके साथ कैसा युक्त हुआ है? तैतीसके साथ जगती कैसी व्यापती है और अनुष्टुप् इक्कीससे कैसे संबंध रखता है? ॥ २० ॥

सत्यके पहिले प्रवर्तकसे आठ तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। ये आठ दिव्य ऋत्विज हैं। अदितिके भी ये आठ पुत्र हैं। आठवीं रात्रीसे वही अदिति हवनीय पदार्थोंको प्राप्त होती है ॥ २१ ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥
अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्याँ३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ २३ ॥
केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान्मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥
को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥
एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

अर्थ— (इत्थं श्रेयः मन्यमाना) इस प्रकार कल्याणको माननेवाली (इदं युष्माकं सख्ये) इस प्रकार तुम्हारी मित्रतामें (आगमं) आगयी हूं (अहं शेवा अस्मि) मैं सेवनीय हूं । (समान-जन्मा वः क्रतुः) तुम्हारे साथ उत्पन्न हुआ तुम्हारा यज्ञ (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे । (सः प्रजानन्) वह जानता हुआ (वः सर्वाः संचरति) तुम सबमें संचार करता है ॥ २२ ॥

(इन्द्रस्य अष्ट) इन्द्रके आठ, (यमस्य षट्) यमके छः (ऋषीणां सप्तधा सप्त) ऋषियोंके सात प्रकारके सात हैं । (पञ्च आपः) पांच प्रकारके जल (तान् मनुष्यान् ओषधीः) उन मनुष्यों और ओषधियोंके प्रति (उ अनु सेचिरे) अनुकूलतासे सिंचन करते हैं ॥ २३ ॥

(केवली गृष्टिः) केवल गौहि (पीयूषं प्रथमं दुहाना) अमृतरूपी दूध सबसे प्रथम देनेवाली (इन्द्राय वशं दुदुहे) इन्द्रके लिये अनुकूलताके साथ दुहती है । (अथ) और (चतुरः) चारों देव मनुष्य असुर और ऋषियोंको (चतुर्धा अतर्पयत्) चार प्रकारसे तृप्त करती है ॥ २४ ॥

(कः नु गौः) कौन गौ है ? (कः एकः ऋषिः) कौन एक ऋषि है ? (किं उ धाम) कौनसा धाम है ? (काः आशिषः) कौनसे आशीर्वाद हैं ? (पृथिव्यां एकवृत् यक्षं) पृथ्वीमें एकहि व्यापक पूजनीय देव है । (सः एकऋतुः कः नु) वह एक ऋतु कौनसा है भला ? ॥ २५ ॥

(एकः गौः) एकहि गौ है, (एकः एकऋषिः) एकहि एक ऋषि है । (एकं धाम) एकहि धाम है, (आशिषः एकधा) आशीर्वाद एकहि प्रकार दिया जाता है । (पृथिव्यां एकवृत् यक्षं) पृथ्वीपर एकहि व्यापक पूज्य देव है । (एकः ऋतुः) एकहि ऋतु है । (न अतिरिच्यते) उससे बढकर दूसरा कोई नहीं है ॥ २६ ॥

भावार्थ— इस प्रकार अपना कल्याण है यह जानकर आपकी मित्रतामें मैं प्राप्त हुई हूं । मैं सेवनीय हूं । आपका यज्ञ सबके सम प्रयत्नसे होनेवाला है । वह आपके लिये कल्याणकारी होवे । वह यज्ञ आप सबमें प्रचलित रहे ॥ २२ ॥

इन्द्रके आठ, यमके छः, ऋषियोंके सात प्रकारके सात हैं । पांच प्रकारके जल औषधियोंमें प्रविष्ट होकर सब मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ २३ ॥

केवल एक गौ अमृतरूपी दूध देती हुई इन्द्रके लिये अपना दुग्ध अर्पण करती है । और यही देव, मनुष्य, असुर और ऋषियोंको चारों प्रकारसे तृप्त करती है ॥ २४ ॥

यह एक गौ कौन है ? वह एक ऋषि कौन है, उसका धाम कहां है ? उसके आशीर्वाद कौनसे हैं ? इस पृथ्वीपर एक उपास्य कौन है ? और एक ऋतु कौनसा है ? ॥ २५ ॥

एकहि गौ है, और एकही ऋषि है, उसका धाम भी एकहि है, आशीर्वाद भी एकहि रीतिसे होता है । पृथ्वीभर एकहि पूज्य देव है । सबका ऋतु भी एकहि है । उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकते ॥ २६ ॥

×

एकही उपास्य देव।

एक उपास्य देव।

संपूर्ण पृथ्वीपर जितने मनुष्य हैं, उन सबका एकहि उपास्य देव है यह बात इस सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है, देखिये—

पृथिव्यां एकवृत् यक्षम् न अतिरिच्यते (मं २१)

" इस संपूर्ण पृथ्वीपर एक ही सर्वव्यापक सबका उपास्य देव है। इसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता। " क्योंकि इसकी शक्ति सर्वतोपरी है। इसी उपास्य देवकी महिमा इस सूक्तमें वर्णन की है, परंतु वर्णनकी रीति ऐसी गूढ है कि कई मंत्रोंका अर्थ विचार करनेपर भी पूर्णतया समझमें नहीं आता। तथापि इस समयतक जितनी खोज हुई है उसके अनुसार कुछ स्पष्टीकरण यहां करते हैं। इसके पश्चात् पाठक अधिक खोज करनेका यत्न करें।

इस सूक्तके पहिले मंत्रमें " कुतः तौ जातौ ? " वे दो कहांसे प्रकट हुए, यह प्रश्न पूछा है। अर्थात् किसी एक पदार्थसे ये जगत्में सुप्रसिद्ध दो पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए यह प्रश्नका तात्पर्य है। स्त्री और पुरुष, रयि और प्राण, इन दोनोंका सांकेतिक नाम चन्द्र और सूर्यभी है। यहां ये चांद और सूरज अपेक्षित नहीं हैं, परंतु जगत्की सोमशक्ति और अग्निशक्ति अपेक्षित है। इसी सूक्तके चौदहवे मंत्रमें 'अग्नी-षोमौ' शब्द है। यह शब्द इस जगत्की आग्नेयी शक्ति और सोमशक्तिका वाचक है। इस जगत्को 'अग्नी-षोमीयं जगत्' कहते हैं क्योंकि इसमें येहि दो पदार्थ हैं। जो रसात्मक शान्त शक्ति है वह सोमकी है और जो उग्र तीव्र तथा उष्ण है वह आग्नेयी शक्ति है। इन दोनोंको रयि प्राण, चन्द्र सूर्य, इडा पिंगला, प्रकृति पुरुष, जड चैतन्य, अनात्मा आत्मा, इस प्रकारके अनेक नाम हैं। इन अनेक द्वन्द्वसूचक नामोंसे दो तत्वोंका ज्ञान होता है। जिसको स्त्री और पुरुष कहा जाता है, ये दो उत्पन्न होनेके पूर्व एकही तत्त्व विद्यमान था, इस एकसे ये दो तत्त्व कैसे उत्पन्न हुए ? मनुष्यको इसी प्रश्नका विचार करके जानना चाहिये कि इन दोनोंका मूल कहां है।

मूल एक तत्त्व था, उसके एक अंशसे प्रकृतिपुरुषकी उत्पत्ति हुई; शेष जो रहा, उसके विषयमें ' कतमः सः अर्धः ' वह अर्ध कौनसा है, जिसमें स्त्रीपुरुषशक्ति विभिन्न नहीं हुई वह मूलतत्त्वका आधा भाग कहां रहा है ? इसी विषयमें वेदमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः॥
(ऋ० १०।९०।४)

" इसके तीन हिस्से ऊपर हैं और इसका एक भाग हि यहां वारंवार बनता है। " अर्थात् मूलतत्त्वका थोडासा हिस्सा इस जगत्में विविधरूपोंका धारण करता है किंवा स्त्रीपुरुषरूपसे दिखाई देता है। यह विभाग—

कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः। (मं. १)

" किस लोकसे कौनसी पृथ्वीके किस विभागपर प्रकट हुआ है ? " अर्थात् इस जगत्में अनंत पृथ्वीलोक हैं, उनमेंसे किस भूमिपर और उस भूमिके किस विभागपर यह प्रकट हुआ है और यह आया कहांसे ? तत्त्वज्ञानकी दृष्टीसे ये सब प्रश्न विचार करने योग्य हैं। इस अपने भूविभागपर भी सर्वत्र एक समय प्राणियोंकी उत्पत्ति नहीं हुई। किसी स्थानपर होगई और अन्यत्र फैली। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये और कई ग्रहोपग्रह ऐसे हैं कि जहां इस प्रकारके प्राणी अभीतक बने भी नहीं हैं।

गौके दो बच्चे।

ये स्त्रीपुरुष दो बच्चोंके समान हैं। ये अपनी माताका दूध पीते हैं, ये दोनों—

वत्सौ विराजः सलिलादुदैताम्। (मं. १)

" ये विराट् रूपी गौके दोनों बच्चे जगत् बननेके पूर्व जो सर्वत्र प्राकृतिक समुद्र था, उससे उदयको प्राप्त हुए। " प्रायः प्रथम जल प्रकट होता है और तत्पश्चात् उत्पत्ति होती है, बच्चा उत्पन्न होनेके पूर्व भी जल उत्पन्न होता है, इस भूमिपर भी प्रारंभमें जल था, उसमें वनस्पतियां उत्पन्न हुई उसी जलमें जलजन्तु उत्पन्न हुए। इस प्रकार सबका उदय जलसे हि है। जन्मसे लेकर लयतक यह 'ज-ल' हि साथ देनेवाला है। इस स्त्रीपुरुषका जलसे हि उदय हुआ है। ये दोनों बच्चे इस एकहि धेनुके हैं। इनमेंसे

कौन अपनी माताका दूध पीता है यह प्रश्न निम्न मंत्रभागमें पूछा है—

तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा । (मं. १)

" उन दोनोंके विषयमें मैं पूछता हूं कि उनमेंसे किसने अपनी माताका दूध पीया है ? " और किसने नहीं पीया? यहां प्रकृति पुरुष इन दोनों बच्चोंमें कौन प्रकृति माता गौके दूधसे पुष्ट होता है और कौन नहीं होता है यह प्रश्नका भाव है। सबको इस प्रश्नका विचार करना चाहिये । अपने हि अंदर देखिये, अपने अंदर देह और आत्मा है, येहि प्रकृति पुरुष हैं । इनमेंसे प्राकृतिक पुष्टिसाधनोंसे देहकी पुष्टि की जाती है, आत्माकी नहीं, अर्थात् देहहि अपनी प्रकृतिमाताका दूध पीकर पुष्ट होता है । आत्मा सदा एकरस रहता है । इस प्रकार विचार करके प्रश्नका भाव और उसका उत्तर जानना चाहिये ।

इस विश्वकी रचना होनेके पूर्व कैसी अवस्था थी ? यह एक प्रश्न तत्त्वज्ञानका विचार करनेवालोंके सन्मुख आता है, इसका उत्तर वेदने ' सलिल अवस्था ' थी ऐसा दिया है। अगाध, अपरंपार, अति शान्त और गंभीर महासागरकी जो अवस्था होती है उसके समान प्राकृतिक परमाणुओंका समुद्र अति शांत था । उसमें कुछ भी हलचल न थी, कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं थी, सर्वत्र शान्तता थी । यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि ऐसी शान्तिकी स्थितिमें चञ्चलता किसने उत्पन्न की । यदि चञ्चलता उसी समुद्रका स्वतः सिद्ध धर्म माना जाय, तो उसमें शान्ति कैसे हो सकती है? यदि न माना जाय, तो यह अशान्ति किसने उत्पन्न की ? इसका उत्तर इस प्रकार द्वितीय मंत्रने दिया है—

त्रि-भुजं योनिं कृत्वा शयानः । (मं. २)

" सत्त्व रज और तम रूपी तीन गुणोंसे युक्त प्राकृतिक बिछोनेपर सोनेवाला यह एक देव है । " जबतक यह (शयानः) सोया हुआ रहता है, तब तक इस प्राकृतिक समुद्रमें बिलकुल हलचल नहीं होती, इसकी निद्रा समाप्त होनेतक सर्वत्र शान्ति फैली रहती है । जब यह जागने लगता है तब इसमें हलचल होती है ।

यः महित्वा सलिलं अक्रन्दयत् । (मं. २)

' जो अपनी महिमासे इस सलिल अवस्थामें बडी हलचल शुरू करता है । " यह तीन गुणोंपर सोता है इस कारण वे हलचल कर नहीं सकते, परंतु जब वह जागता है तब वे हलचलके लिये खुले होते हैं और सत्त्वगुण समता चाहता, रजोगुण खिलबिली मचाना चाहता, और तमोगुण स्तब्धता चाहता है । इस प्रकार उस एकहि सलिलके ये तीनों परमाणु एक दूसरेपर अपने अपने विभिन्न गुणोंके कारण आपसमें हमला करते हैं और इस कारण उसका शान्त सलिल प्रक्षुब्ध होता है । और इस प्रक्षोभका कारण उस उपास्य देवकी ' महिमा ' ही है। शान्त सलिलमें क्षोभ करना और क्षोभमें फिर शान्ति स्थापन करना, यही उसकी महिमा है ।

विराजः कामदुघः सः वत्सः गुहा तन्वः चक्रे ।
(मं. २)

" इस विराट् रूपी कामधेनुका वह बच्चा गुहाके अंदर अपने रहनेके लिये तीन शरीर बनाता है । " ये तीन शरीर (गुहा) गुप्त हैं, प्रकट नहीं हैं, प्रकट होते तो गुहाके अन्दर न होते । ये सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और महाकारण शरीर हैं । किंवा प्राण शरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर ये तीन शरीर हैं । ये शरीर गुह्य हैं और इनके कारणहि इस जगत्की स्थिति है । यह आत्मदेव ये शरीर (गुहा) अति गुप्त रीतिसे करता है, इस कारण इनकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदिका पता साधारण लोगोंको नहीं लगता ।

यानि त्रीणि बृहन्ति, चतुर्थं वाचं नियुनक्ति ।
(मं. ३)

" ये तीनों शरीर बडे विलक्षण शरीरसे युक्त हैं, इनमें बडी शक्ति है । जो चौथा शरीर है उस चतुर्थ शरीरके साथ वाणीका योग होता है । यही स्थूल शरीर है । " यह स्थूल शरीर भाषण करता है, वक्तृत्व करता है, आत्माके अंदरके भाव प्रकट करता है । इसके अन्दर गुप्त तीन शरीर हैं, परंतु उनमेंसे एक भी इस प्रकार वक्तृत्व करनेमें समर्थ नहीं है । जिससे यह सब जगत् निर्माण होता है उसको ब्रह्म कहते हैं, इस ब्रह्मका ज्ञान तपसे होता है, देखिये—

विपश्चित् तपसा एतत् ब्रह्म विद्यात् । (मं. ३)

" ज्ञानी मनुष्य तपसे इस ब्रह्मको जानता है । " अर्थात् अज्ञानी मनुष्य इसको जाननेमें असमर्थ है, तपके बिना कोई भी इसे जान नहीं सकता । विपश्चित् (वि-पश्-चित्) का अर्थ " जो जगत्को विशेष सूक्ष्म दृष्टीसे देखता है " ऐसा है। वही इस ब्रह्मको जान सकता है, जो साधारण

दृष्टीसे इस जगत्‌का निरीक्षण करता है, वह नहीं जान सकता। इसके जाननेकी रीति यह है—

यस्मिन् एकं (मनः) युज्यते। (मं. ३)

" जिसमें एक मनका योग किया जाता है। " जिस तपमें एक अपने मनका योग किया करते है, इस मनके योगसे हि अर्थात् चित्तवृत्ति निरोधसे जब यह जाग्रतिका मन शान्त और स्तब्ध होता है, तब उस विज्ञानी पुरुषको ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। सबसे पहिले—

बृहत्याः बृहत् निर्मितम्। (मं. ४)

" बडी प्रकृतिसे महत् तत्त्व निर्माण हुआ। " पहिले प्रथम मंत्रकी व्याख्या प्रसंगमें कहा है कि सबसे पूर्व प्राकृतिक शान्त समुद्र था। इस महती देवी प्रकृतिसे (बृहत्) महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। यही सबसे पहिला सर्ग है। यहां (बृहती) देवी महती मूल प्रकृतिसे यह महत्तत्त्वकी उत्पत्ति बताई। परंतु यहां शंका होती है कि यह मूल प्रकृति—

बृहती कुतः अधिमिता ? (मं. ४)

" महती देवी प्रकृति कहांसे बनी ? " इस प्रकार प्रश्न पूछे जांय तो अनवस्थाप्रसंगहि होगा। अतः द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि एक सलिल अवस्था सबसे प्रथम थी। यही सबसे पहिली अवस्था है, यह कैसी बनी ऐसा प्रश्न कोई न करे। क्योंकि यह सबसे प्रथम अवस्था है। इसी महती प्रकृतिके साथ एक आत्मा शयन करता था। इससे भी पूर्व कोई नहीं है। इस प्रकार सबसे पूर्वके ये दोनों हैं। अतः ये कहांसे उत्पन्न हुए ऐसा प्रश्न कोई न पूछे। तत्त्वज्ञानमें इस प्रकार अनवस्थाप्रसंग करना बडा दोष गिना है। अस्तु।

बृहतः परि पञ्च सामा अधिनिर्मितानि। (मं. ४)

" इस महत्तत्त्वके ऊपर, अर्थात् इस महत्तत्वका मसाला लेकर पांच सामोंकी रचना हुई है। " महत्तत्त्वसे पांच तन्मात्रोंकी उत्पत्ति यहां कही है। यहां तक जो सृष्टिका वर्णन हुआ वह इस प्रकार बताया जाता है—

१	मूलप्रकृति, सलिल, माता, बृहती, विराट्, कामधेनु		पुरुष, ब्रह्म, स्वराट्, यक्ष, वैश्वानर, विराट्
२	महत्तत्त्व बृहत्, कारण मात्रा	कारणदेह	जीव, वत्सः, ब्रह्मा
३	पंच तन्मात्र, पञ्च साम,	पञ्च सूक्ष्म इंद्रिय	
४	शरीर स्थूल	,, स्थूल इंद्रियां	,, निरीक्षक

यहांतक सृष्टिरचनाका तीसरा युग यहां वर्णित हुआ है, इनसे जीवात्माको शान्ति प्राप्त होती है इस लिये इनका नाम यहां साम है। और इस शरीरधारी आत्माके जीवनको आगे 'यज्ञ' का रूपक बताना है, उस विशेषकार्यके लिये भी यहां इनको साम नामसे दर्शाया है यह बात स्पष्ट है। यही बात अगले मंत्रमें अन्य शब्दोंसे कही है—

मात्राया परि बृहती। मातुः मात्रा अधिनिर्मिता। (मं. ५)

" बृहती प्रकृति तन्मात्राके ऊपर है। वह आदिमाता है। इस मातासे तन्मात्रा निर्माण होगई। " यहां माता, आदिमाता, जगन्माता, बृहती ये मूलप्रकृतिके हि नाम हैं। उससे पंच तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। यहां एक प्रकृतिके पांच विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ तत्त्व बने यह इसकी विशेषता है। इसीको कहते हैं—

मायायाः माया जज्ञे। मायायाः परि मातली। (मं. ५)

" आदिमायासे दूसरी माया बनी, और मायाके ऊपर निरीक्षक भी तैयार हुआ। " मूल आदिमायासे यह प्राकृतिक शरीर बना और उसका अधिष्ठाता या निरीक्षक जीवात्मा भी बना। यह चतुर्थ अवस्थाकी सृष्टि है, इसीका नाम जगत् है। आदिमायासे यह माया रची गयी है। इसका निरीक्षक यहां आत्मा है। यहां तक अविकृत मूल प्रकृतीसे विकृत जगत्‌का निर्माण होनेका वर्णन इन पांच मंत्रोंमें किया गया। अब इसमें व्यापक देवका वर्णन करते हैं—

वैश्वानरकी प्रतिमा।

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः। (मं. ६)

" वैश्वानरकी प्रतिमा उतनी है कि जितना द्युलोक ऊपर विस्तृत है और जहांतक अग्निका तेज फैला है। " अर्थात्

यह वैश्वानर भूलोकसे द्युलोक तक फैला है, यही विश्वका नेता अतः इसको वैश्वानर कहते हैं। यह वैश्वानर प्रकृतिके साथ रहता हुआ जगत्‌के सब रचनादि कार्य करता है। संपूर्ण जगत्‌का यदि कोई प्रमुख नेता है तो वह यही है। यह छठा है। पूर्वोक्त कोष्टकमें (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण, (४) मूल प्रकृति, (५) जीव ये पांच और यह (६) वैश्वानर छठवां है। पहिले चार जड हैं और अन्तके दो चेतन हैं। इस छठे वैश्वानरसे—

ततः षष्ठात् अमुत उदितः स्तोमाः आयन्ति।
(मं. ६)

"उस छठे वैश्वानरसे प्रकाशित होनेवाले यज्ञ यहां मनुष्यलोकमें आते हैं।" यही मुख्य देव सब यज्ञोंका प्रकाशक है। मनुष्यकी उत्पत्तिके साथ जो यज्ञ उत्पन्न होता है वह यही है। और वेहि यज्ञकर्म (अह्नः षष्ठं अभि यन्ति) दिनके षष्ठ भागकी समाप्तिके समय पुनः उसीके पास पहुंचते हैं। उसीसे ज्ञान और कर्मकी प्रेरणा होती है और उसीमें वह अन्तमें जा मिलती है। इसको सबका द्रष्टा कहते हैं, इसलिये इसको कश्यप (पश्यकः) देखनेवाला सबका द्रष्टा किंवा निरीक्षक कहा है। यह—

त्वं हि युक्तं योग्यं च युयुक्षे। (मं. ७)

"युक्त और योग्यका संयोग करता है।" जो पदार्थ जहां रखना योग्य है और जैसा संयुक्त करना उचित है उसी प्रकार वह सबकी योजना यथायोग्य करता है, उसमें कोई गलती नहीं करता। इसीलिये उससे इस प्रकार सुयोग्य सृष्टिकी रचना निर्दोष होती है। यह उत्तम द्रष्टा होनेसे भी जहां जो पदार्थ जैसा चाहिये वह उसको ठीक प्रकार ज्ञात होता है और वैसा वह बनाता है। यदि वह योग्य द्रष्टा न होता तो सुयोग्य संसारका बनाना उसके लिये अशक्य हो जाता। उससे ऋषिगण प्रश्न करते हैं—

इमे षट् ऋषयः (वयं) त्वां पृच्छामः। (मं. ७)

"हम छः ऋषि तुझे प्रश्न पूछते हैं।" वैश्वानरसे प्रश्न करनेका अधिकार ऋषियोंकाहि है। कौन दूसरा उसको प्रश्न पूछ सकता है? और वह भी किस दूसरेको उत्तर क्यों देगा। उससे प्रश्न पूछनेके लिये भी चित्तकी शुद्धता चाहिये और उससे उत्तर लेनेकी भी तयारी चाहिये। वैसी तैयारी ऋषिमुनियोंकी होती है, इस कारण वे वैश्वानरसे प्रश्न पूछते हैं और उससे उत्तर लेते हैं। धन्य हैं उनकी कि जो परमात्मासे अपना इस प्रकार संबंध जोड सकते हैं। वस्तुतः हरएक मनुष्य जो यहां आया है वह इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये हि आया है। परंतु बहुत थोडे लोग इस अवस्था तक अपनी उन्नति कर सकते हैं। ऋषियोंका प्रश्न इस प्रकार है—

विराजं ब्रह्मणः पितरं आहुः तां नः सखिभ्यः यतिधा विधेहि। ((मं. ७)

"विराट्‌को ब्रह्माका पिता कहते हैं, वह किस प्रकार होता है यह बात हम सबको कहिये।" यहां "आत्मा–परमात्मा, ब्रह्मा-ब्रह्म, पुरुष-पुरुषोत्तम, इन्द्र-महेन्द्र" ये पुत्र और पिताके संयुक्त नाम हैं। यह पिता-पुत्रसंबंध किस प्रकार है यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। हरएक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये और अपना और अपने पिताका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। मनुष्य को तो अपना भी ज्ञान नहीं है और न अपने पिताका ज्ञान उसको है। जहां अपना भी ज्ञान नहीं वहां पिताका ज्ञान कहांसे संभवनीय है।

पूर्वोक्त कोष्टकमें 'विराज् अथवा विराट्' ये शब्द प्रकृति और पुरुषके लिये समानतया लिखे हैं। इन मंत्रोंमें भी विराज् शब्द पुल्लिंगमें है और स्त्रीलिंगमें भी है। जो तो पुल्लिंगमें वह आत्मा, परमात्मवाचक है और जो स्त्रीलिंगमें है वह प्रकृति, आदि शक्ति आदिका वाचक है परंतु सर्वत्र यह नियम भी नहीं है क्योंकि पितामाता वही होनेसे दोनों प्रयोग उस एकके लिये भी होते हैं। 'वि–राज्' शब्दका अर्थ 'विशेष तेजस्वी' है, इस कारण यह शब्द दोनोंके लिये प्रयुक्त होता है।

यहां 'ब्रह्मा' पुराण पुरुषसे उत्पन्न होनेके कारण जीवात्माका नाम है, उसका पिता पुरुष या परमात्मा है। पाठक यहां देखें कि सर्वत्र वेदमें पितापुत्रोंके नाम एक जैसे हैं, दोनोंको 'इन्द्र, आत्मा, पुरुष, विराट्' आदि नाम है। पिताकी शक्ति बडी और पुत्रकी शक्ति अल्प है। तथापि गुणधर्म और कर्म समान हैं। इससे पुत्रको पता लग सकता है कि यद्यपि मेरी शक्ति आज अल्प है तथापि मैं उसको बढाकर अपने पिताके समान 'समर्थ' बन सकता हूं। यही विश्वास दिलानेके हेतुसे इस मंत्रके प्रश्नकी प्रवृत्ति

हुई है। इसका विशेष उत्तर अगले मंत्रमें दिया है वह अब देखिये—

हे ऋषयः यां प्रच्युतां यज्ञाः अनु प्रच्यवन्ते, (यां) उपतिष्ठमानां (यज्ञा) उपतिष्ठन्ते, यस्याः व्रते प्रसवे यक्षं एजति, सा परमे व्योमन् विराट् (अस्ति)। (मं. ८)

"हे ऋषि लोगो ! जिसकी प्रेरणासे सब यज्ञ चलते और जिसकी प्रेरणा बन्द होनेसे सब यज्ञ स्तब्ध होते हैं, जिसके प्रकट होनेके लिये पूजनीय देवकी गति कारण होती है वह परम आकाशमें सर्वत्र व्यापक विशेष प्रकाशमान देवता है।" यह परमात्माका वर्णन है, यही सबका पिता और माता है। सभी जगत् इसकी प्रेरणासे चल रहा है, इसीके नियममें रहता है इसने चलाया तो चलता है और नहीं चलाया तो स्तब्ध होता है। ऐसी इसकी अगाध शक्ति है। इसी शक्तिका चिन्तन करना चाहिये। सर्वत्र इसकी शक्ति हि फैल रही है और इस जगत्का सब चमत्कार इसकी शक्तिसे हि हो रहा है। जितना परम आकाश सर्वत्र व्याप्त है उतनी इसकी व्याप्ति है, अर्थात् यह सर्वत्र भरकर भी अवशिष्ट है। अगले मंत्रका वर्णन इससे भी और विचारणीय है—

अप्राणा प्राणतीनां प्राणेन एति। (मं. ९)

"जो स्वयं प्राणसे जीवित नहीं रहती परंतु अपनी शक्तिसेहि जीवित रहती है, ऐसी विराट् प्राणियोंके प्राणको साथ लेकर जाती है।" मुख्य देवके लिये प्राणकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, वह तो अपनीहि सत्तासे स्वयं है। इसलिये उसको स्वयंभू कहते हैं। अन्य प्राणियोंके लिये जीवनधारणके अर्थ प्राणकी आवश्यकता होती है। यह प्राण उसीके साथ रहकर प्राणियोंके जीवनका हेतु बनता है। पश्चात् यह—

विराट् स्वराजं अभ्येति। (मं. ९)

"विराट् स्वराज्के पास पहुंचती है।" इस वाक्यमें एक राजनैतिक भावभी है। (वि-राज्) जहां राजा नहीं है ऐसा राजसंस्थाहीन समाज (स्व-राजं) स्वराज्यशासन अर्थात् स्वसंमत राजशासनको प्राप्त करता है। जहां राजा रूप संस्था उत्पन्न नहीं हुई वहांकी जनता स्वयंशासित होती है, वे अपनी राज्यव्यवस्था स्वयं करते हैं। यह राजनैतिक भाव विचारणीय है।

इस मंत्रभागका दूसरा और एक अर्थ बनता है, वह यह है- (वि-राज्) राज्का अर्थ है प्रकाश, जिसके पास प्रकाश नहीं उसको वि-राज् कहते हैं। जो स्वयंप्रकाशी नहीं है वह (स्वराजं) अपने तेजसे जो प्रकाशता है उसके पास (अभ्येति) जाता है, और उससे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होता है।

परंतु यहांका अर्थ इस प्रकार दीखता है- विराट् अर्थात् जो आत्मा जगद्व्यवहारमें लगा है वह शुद्धात्माके पास जाता है। जो त्रिपाद आत्मा अवशिष्ट है। उसको "स्वराट्" कहते हैं क्योंकि वह अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है। उसकी अपेक्षा जो एकपाद आत्मा जगत्में वारंवार आता-जाता है, वह वैसा स्वयंप्रभावान् नहीं दिखाई देता। यह भाव केवल लक्षणासेहि समझना चाहिये। इस प्रकार यह आत्मा है—

त्वे विश्वं स्पृशन्तीं अभिरूपां विराजं पश्यन्ति, त्वे एनां न पश्यन्ति। (मं. ९)

"कई लोग इस सर्व जगत्को सुंदरताके साथ प्रकाशित करनेवाले आत्माको देखते हैं, परंतु कई उसको देख नहीं सकते।" वह सर्वत्र उपस्थित है, परंतु कई तो उसका साक्षात्कार कर सकते हैं और कई ऐसे अन्धे होते हैं कि वे सब जगत्के प्रकाशकको भी नहीं देख सकते ! ! प्रायः सब प्राणी ऐसे ही अन्धे होते हैं, विरलाहि कोई उसको देख सकते हैं।

विराजः मिथुनत्वं कः प्रवेद ? कः ऋतून् वेद ? कः अस्याः कल्पं वेद। (मं. १०)

"इस विराट्से उत्पन्न होनेवाले स्त्री पुरुषभेदको कौन जानता है ? कौन ऋतुओंकी उत्पत्तिको जानता है और कौन कल्पके समयको जानता है।" तत्त्वज्ञानकी दृष्टीसे इन बातोंका ज्ञान मनुष्यको होना चाहिये। तथा—

अस्याः कतिधा विदुग्धान् क्रमान् कः वेद ? अस्याः धाम कः वेद ? अस्याः कतिधा व्युष्टिः ? (मं. १०)

"इसके अन्नादि रस देनेवाले ऋतु आदिके क्रमोंको कौन जानता है, इसका मूल स्थान किसने जाना है और इस सृष्टीके प्रभातकालको कौन जानता है ?" तत्त्वविचारकको इन प्रश्नोंका विचार करना योग्य है और इनका ज्ञानभी

प्राप्त करना चाहिये। इसमेंसे कुछ प्रश्नोंका उत्तर आगे आवेगा—

इयं एव सा या प्रथमा व्यौच्छत् । (मं. ११)

" यही वह है कि जो पहिले प्रकाश करती है। " पहिली उषा यही करती है, जगत्में प्रकाशका संचार इसीसे होता है। यह—

आसु इतरासु प्रविष्टा चरति । (मं. ११)

" इसमें और अन्योंमें व्यापकर यह चलती है। " यह सर्वत्र व्यापक है और सर्वत्र संचार करती हुई सब जगत्का कार्य करती है। इसकी शक्तिसेहि संपूर्ण जगत्के कार्य सुव्यवस्थित रीतिसे हो रहे हैं। तथा—

अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः । (मं. ११)

" इसके अन्दर बडी बडी महत्वपूर्ण शक्तियां हैं। " और इन शक्तियोंसेहि इस जगत्के संपूर्ण कार्य करनेमें यह समर्थ होती है। (नवगत् जनित्री वधूः जिगाय) घरमें नवीन आयी पुत्रका प्रसव करनेवाली जैसी सुंदर कुल-वधू घरमें स्वामिनी होती है, उसी प्रकार यह विराट् इस जगत्में सर्वोपरि विराजमान है, जानते हुए या न जानते हुए सभी इसपर प्रेम करते हैं।

जिस प्रकार एकहि छन्दमें पूर्व और उत्तर ऐसे दो चरण (छन्दःपक्षे) होते हैं, और वे एकहि छन्दमें समान अधिकारसे रहते हुए परस्परकी अनुकूलताके साथ छन्दकी शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार इस जगत्में स्त्री और पुरुष ये इस संसाररूपी छंदके दो पक्ष हैं, दोनों परस्परकी सहायता और पूर्तीके लिये हैं, अलग होनेके लिये नहीं हैं। वे इस गृहस्थके संसारमें समान अधिकारसे रहते हुए (समानं योनिं) अपने समान अधिकारके गृहस्थानके अन्दर (अनुसंचरेते) अनुकूलतासे रहते हुए इस जगत्में संचार करते हैं। इसके लिये उदाहरण सूर्यपत्नीका है—

सूर्यपत्नी प्रजानती केतुमती अजरा भूरिरेतसा संचराति । (मं० १२)

" जैसी सूर्यकी धर्मपत्नी प्रभा ज्ञान प्राप्त करके, विज्ञान-युक्त होकर, क्षीण न होती हुई, विशेष पराक्रमी बनकर इस जगत्में संचार करती है। " ठीक इस प्रकार गृहस्थकी धर्मपत्नी ज्ञानविज्ञानयुक्त, बलयुक्त, पराक्रमयुक्त होकर अपने संसारके कार्य दक्षताके साथ करे। गृहस्थका गृहस्थाश्रम धर्मपत्नीके होनेसे हि होता है, इसलिये धर्म-पत्नीका निर्देश यहां किया है। परंतु वेही शब्द धर्मपतिका भी कर्तव्य बताते हैं। पतिभी ज्ञानविज्ञानयुक्त बने, हृष्टपुष्ट होकर विशेष पराक्रमके कार्य करता हुआ इस संसारमें विविध कार्य करे और अपने गृहस्थधर्मकी उन्नति करे। पति और पत्नीके धर्म साधारण तथा पूर्वोक्त विषयोंमें समानहि हैं, इसलिये एकका निर्देश करनेसे दूसरेके धर्मकाभी ज्ञान हो जाता है। पूर्वोक्त स्थानमें इनके सामान्य धर्मका उल्लेख है, न कि विशेष धर्मोंका। अस्तु। अब इस गृहस्थधर्मका प्रसंग प्राप्त थोडासा वर्णन अगले मंत्रमें करते हैं—

तिस्रः ऋतस्य पन्थां अनु आगुः ।
त्रयो धर्माः रेतः अनु आगुः । (मं० १३)

" तीनों शक्तियां सत्यकी अनुकूलताके साथ रहती हैं और तीनों धर्म वीर्यकी अनुकूलताके साथ होते हैं। " यह सिद्धांत गृहस्थीको सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। शरीरकी, अन्तःकरणकी और आत्माकी ये तीनों शक्तियां सत्यके आधारसे प्राप्त होती हैं। जो सत्यका पूजक नहीं है उसके पास कोई शक्ति नहीं रह सकती। तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थके तीनों धर्म वीर्य-बल-पराक्रमके साथ सिद्ध किये जा सकते हैं। अशक्त मनुष्य इनको सिद्ध नहीं कर सकता। हरएक मनुष्यके लिये ये दोनों उपदेश सदा चित्तमें धारण करने योग्य हैं। संन्यास धर्म तो विशेष योग्यतावाले मनुष्यके लिये सिद्ध होनेवाला है, अतः सर्व साधारणके लिये उसका निर्देश यहां नहीं किया है। इसीका आगे और स्पष्टीकरण किया है—

एका प्रजां जिन्वति । एका ऊर्जं जिन्वति ।
एका देवयूनां राष्ट्रं रक्षति । (मं० १३)

" एक प्रजाकी रक्षा, दूसरी बलकी वृद्धि और तीसरी देवोपासकोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है " इस प्रकार सन्तानरक्षा, बलरक्षा और राष्ट्ररक्षा करनेका भार गृहस्थियों पर है, यह गृहस्थधर्म है। जो अपना प्रजाका संवर्धन, पालन, पोषण और उत्तम शिक्षादि प्रबंध नहीं करता, वह अपने गृहस्थ-धर्मसे भ्रष्ट होता है, जो अपना बल नहीं बढाता और उससे अपने राष्ट्रकी रक्षा नहीं करता, वह भी वैसाहि गृहस्थधर्मसे च्युत होता है। गृहस्थमें जो तीन शक्तियां हैं, उन शक्तियोंका उपयोग यह है। हरएक गृहस्थको इनका उपयोग करके

अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। सत्य और वीर्यके अनुकूल जो गृहस्थके धर्म हैं, वे ये धर्म हैं।

अग्नीषोमौ यज्ञस्य पक्षौ। (मं० १४)

" अग्नि और सोम ये दो यज्ञके पक्ष है " जिस प्रकार पक्षीके दो पंख होते हैं उसी प्रकार ये यज्ञके दो पंख हैं। हवन रूप यज्ञमें अग्नि मुख्य है क्यों कि अग्निके विना यज्ञ हो नहीं सकता और सोमरस भी प्रधान द्रव्य है। इस रीतिसे हवनरूप यज्ञमें ये दो पदार्थ मुख्य हैं। परंतु यही केवल यज्ञ नहीं है। मनुष्यका जीवन एक महान् यज्ञ है, इसमें भी अग्नि और सोम मुख्य हैं। यहां सोमका रूप मनुष्यमें मन है और अग्निका रूप वाणी है। मनुष्यमें मन और वाणीहि सब कुछ है। इस ढंगसे इसका और भी विचार हो सकता है। सोम एक शान्ति और अहिंसा की सूचना देता है और अग्नि उग्रता और प्रतापकी सूचना देता है। मनुष्यके व्यवहार इनसे हो रहे हैं। यह यज्ञ जहांतक हो सके, वहांतक पूर्ण और उत्तम हो ऐसा करना हरएक मनुष्यका कर्तव्य है।

पूर्व स्थानमें तीन शक्तियोंका वर्णन है। यहां एक (तुरीया आसीत्) चतुर्थ शक्ति कही है वह पारमार्थिक विश्वव्यापिनी शक्ति है। जिस शक्तिको ऋषि लोग प्राप्त करते हैं और जिससे यजमानको (स्वः) स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इस मंत्रमें तथा इस सूक्तमें अन्यत्र जो छन्दोंके नाम हैं वे वेदमंत्रोंके उपासनायोग्य छन्द हैं। यह मंत्रोक्त उपासन मनुष्यको (स्वः आभरन्ती) स्वर्ग स्थानको पहुंचाती है। " स्वः " का अर्थ (स्व-र) आत्मप्रकाश है। इस उपासनासे आत्माका प्रकाश अधिकाधिक उज्वल होता है।

आगे मंत्र १५ से मंत्र २१ तक पांच, छः, सात और आठ संख्याके गण कहे हैं। ये गण वारंवार वैदिक मंत्रोंमें आते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, छः ऋतु, सप्त ऋषि, अष्ट वसु आदि इन गणोंकी गणना अनेक स्थानपर है। इनमेंसे कई गण मनुष्यशरीरमें हैं, कई कालविभाग हैं, कई बाह्य देवताओंके हैं। ये सब मिलकर संपूर्ण जगत् होता है और एक दूसरेके साथ अनुकूलतासे रहकर उन्नति करनेसे सबकी उच्च अवस्था होती है। अलग होनेसे हानि और मिलकर रहनेसे उन्नति यह नियम साधारणतया सर्वत्र है।

सात गीध।

अठारहवें मन्त्रमें ' सप्त गृध्राः ' पद है। ये सात गीधभी मानवी शरीरमें हि हैं। जैसे सप्त ऋषि यहां हैं वैसेहि सात गीध हैं। जो ऋषि हैं वे हि गीध बनते हैं। दो नाक, दो कान, दो आंख और एकमुख ये अच्छे कर्ममें प्रवृत्त हुए तो ऋषि कहलाते हैं और येही स्वार्थलिप्त हुए तो येही गीध या राक्षस बनते हैं। पाठक अपने शरीरमें देखें कि ये ऋषि हैं वा गीध हैं। और यदि गीध हों तो उनको ऋषि बनानेका यत्न करें।

जब मनुष्य अनासक्तिभावसे बर्तता है, तब सब संसार या प्रकृति उसकी सेवाके लिये तत्पर रहती है, वह कहती है—

श्रेयः मन्यमाना युष्माकं सख्ये आगमं,
अहं शेवा अस्मि। (मं० २२)

" तुम्हारा कल्याण करनेकी इच्छासे आपके पास मैं आगयी हूं, मैं आपकी सेवा करनेवाली दासी हूं। " जब प्रकृति इस प्रकार अनुकूल होती है, तब समझना चाहिये कि इसका योग सफलताको पहुंचने लगा है। जो प्रकृति प्रारंभमें जीवपर अधिकार चलाती थी, वही उदासीनभावके कारण कैसी सेविका बनकर अनुकूल होती है यह यहां देखने योग्य है। उसका वशीभूत होनेका और एक कारण है —

वः समानजन्मा क्रतुः शिवः अस्तु स वः
सर्वाः संचरति। (मं० २२)

" तुम्हारे साथ जन्मा हुआ यज्ञ तुम्हारे लिये कल्याण करनेवाला होवे और वह तुम्हारे अंदर संचार करे। " भगवद्गीतामें " सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा (भ० गी० ३।१०)" कहा है। प्रजाके साथ यज्ञ उत्पन्न होनेका वर्णन वहां है। यही बात इस मंत्रके " समानजन्मा क्रतुः " शब्दोंके द्वारा कही है। मनुष्यके साथ यज्ञ उत्पन्न हुआ है, उसके करनेसे मनुष्यकी उन्नति व न करनेसे उसका नाश निःसंदेह होना है।

गोमहिमा।

केवली गृष्टिः प्रथमं इन्द्राय पीयूषं दुदुहे।
अथ देवान् ऋषीन् मनुष्यान् असुरान् अतर्पयत्॥
(मं० २४)

" अकेली गाय सबसे पहिले अपना अमृतरूपी दूध इन्द्रके यज्ञकर्मके लिये देती है। और पश्चात् जो दूध बचता है उससे देव, ऋषि, मनुष्य और असुरोंकी तृप्ति करती है। "

यज्ञके लिये इस प्रकार गौकी उत्पत्ति है। इस हवनरूपी यज्ञसे वायुशुद्धि, जलशुद्धि, नीरोगता आदि होती है और मनुष्यका जीवन सुखपूर्ण होता है। इस कारण यज्ञयाग होमहवन करना मनुष्यका धर्म है और वह उसकी उन्नतिका एक एक उत्तम साधन है। आगेके दो मंत्रोंमें—

को नु गौः कः एक ऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमोऽनु सः ॥ २५ ॥

एको गौरेक ऋषिरेकं धामैका आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

यहां एकही प्रकृतिरूप गौ है, जो जीवात्माओंकी पुष्टि करनेके लिये दूध देती है। इस सबका निरीक्षक एकहि ऋषि सबका एक मात्र निरीक्षक-परमात्मा ही परम ऋषि है। इस पृथ्वीपर सर्वव्यापक एकहि परमात्मादेव सबका उपास्य है। और उसका सबके लिये उत्तम आशीर्वाद है। इस प्रकार विचार करके इन मंत्रोंका आशय जानना चाहिये।

एक प्रकृतिरूपी गौ, एक दिव्यदृष्टिरूप ऋषि, एक परमात्माका धाम, एक स्वस्तिरूप आशीर्वाद, और इस भूमिपर व्यापक एकहि पूज्य देव है ये बातें यहां कहीं हैं। पूर्वोक्त वर्णनसे इनका सहज बोध हो सकता है।

इस सूक्तमें पञ्च, षष्ठ, सप्त और अष्ट शब्दों द्वारा वेदोक्त अनेक कोष्टक बनते हैं, परंतु वे अभीतक पूर्ण नहीं हुए, इस लिये यहां नहीं दिये। जब पूर्णतासे तैयार होंगे तब उनका प्रकाशन किया जायगा।

विराट्

[१०]

ऋषिः— अथर्वाचार्यः। देवताः— विराट्।

[१]

विराड्वा इदमग्र आसीत्तस्यां जातायां सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥
सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ— (विराट् वै) विराट् निश्चयसे (अग्रे इदं आसीत्) प्रारंभमें यह जगत् था। (तस्याः जातायाः) उसके होनेपर (इयं एव इदं भविष्यति इति) यही ऐसा यही होगा इस कारण (सर्वं अबिभेत्) सब भयभीत होगये ॥ १ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्) वह गृहपतिसंस्थामें परिणत होगई, (यः एवं वेद) जो ऐसा जानता है वह (गृहमेधी) गृहयज्ञ करनेवाला होकर (गृहपतिः भवति) गृहपालक होता है ॥ २-३ ॥

×

सोदक्रामत्साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥
सोदक्रामत्सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
सोदक्रामत्सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
सोदक्रामत्सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥
सोदक्रामत्सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥

[२]

सोदक्रामत्सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥
तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद्वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

अर्थ— (सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा आहवनीये न्यक्रामत्) वह आहवनीय अग्नि-संस्थामें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है वह (देवानां प्रियः भवति) वह देवोंका प्रिय बनता है और (देवाः अस्य देवहूतिं यन्ति) सब देव इसकी देवोंकी पुकारके स्थानपर जाते हैं ॥ ४-५ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्) वह दक्षिणाग्नि संस्थामें परिणत हुई। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह (यज्ञर्तः दक्षिणीयः वासतेयः भवति) योग्य रीतिसे यज्ञ करनेवाला, संमानयोग्य और दूसरोंको रहनेका स्थान देनेवाला होता है ॥ ६-७ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सभायां न्यक्रामत्) वह सभामें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सभ्यः भवति) सभाके योग्य होता है और लोग (अस्य सभां यन्ति) इसकी सभामें जाते हैं ॥ ८-९ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा समितौ न्यक्रामत्) वह समितिमें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सामित्यः भवति) समितिके योग्य होता है और लोग (यस्य समितिं यन्ति) इसकी समितिमें जाते हैं ॥ १०-११ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा आमन्त्रणे न्यक्रामत) वह मन्त्रिसभामें परिणत होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (आमंत्रणीयः भवति) वह मन्त्रीमण्डलके योग्य होता है और लोग (अस्य आमन्त्रणं यन्ति) इसकी मंत्रणाको जाते हैं ॥ १२-१३ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उत्क्रान्त होगई और (सा अन्तरिक्षे चतुर्धा) वह अन्तरिक्षमें चार प्रकारसे (विक्रान्ता अतिष्ठत्) विभक्त होकर ठहरी ॥ १ ॥

(देवमनुष्याः तां अब्रुवन्) देव और मनुष्य उसके विषयमें बोले कि, (इयं एव तत् वेद) यही वह जानती है, (यत् उभये उपजीवेम) जिससे हम दोनों जीवित रहते हैं। अतः (इमां उप ह्वयामहे इति) इसको हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥
ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥ ४ ॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीद्गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥
बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥
ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुहन्व्यचो बृहता ॥ ७ ॥
अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥
ओषधीरेवास्मै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥
अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥

[३]

सोदक्रामत्सा वनस्पतीनागच्छत्तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥
तस्माद्वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥
सोदक्रामत्सा पितॄनागच्छत्तां पितरोऽघ्नत सा मासि समभवत् ॥ ३ ॥
तस्मात्पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— (तां उपाह्वयन्त) उसको उन्होंने बुलाया, पुकारा ॥ ३ ॥

(ऊर्जे एहि) हे बल, आ। (स्वधे एहि) हे अपनी धारण शक्ति, आ। (सूनृते एहि) हे सत्य, आ। (इरावति एहि) हे अन्नवाली, आ। ॥ ४ ॥

(तस्याः वत्सः इन्द्रः आसीत्) उसका बछडा इन्द्र था, (गायत्री अभिधानी) गायत्री रस्सी थी और (अभ्रं ऊधः) मेघ दुग्धस्थान था ॥ ५ ॥

(बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर (द्वौ स्तनौ आस्तां) ये दो स्तन थे। और (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो स्तन थे ॥ ६ ॥

(देवाः रथन्तरेण ओषधीः अदुहन्) देवोंने रथन्तरसे औषधियाँ दोहन करके निकालीं और (बृहता व्यचः) बृहत्से विस्तारयुक्त आकाशको निकाला ॥ ७ ॥

(वामदेव्येन अपः) वामदेव्यसे जल निकाला और (यज्ञायज्ञियेन यज्ञं) यज्ञायज्ञियसे यज्ञको निकाला ॥ ८ ॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्मै रथन्तरं एव ओषधीः दुहे) उसके लिये रथन्तर औषधियां देता है, (बृहत् व्यचः) बृहत् अवकाश देता है, (वामदेव्यं अपः) वामदेव्य जल देता है और (यज्ञायज्ञियं यज्ञं) यज्ञायज्ञिय यज्ञ देता है ॥ (९-१०) ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हो गई और (सा वनस्पतीन् आगच्छत्) वह वनस्पतियोंके पास आगई। (तां वनस्पतयः अघ्नत) उसको वनस्पतियोंने मारा, परंतु (सा संवत्सरे समभवत्) वह वर्षमें पुनः होगयी। (तस्मात् वनस्पतीनां वृक्णं अपि रोहति) इसलिये वनस्पतियोंके व्रण भर जाते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य अप्रियः भ्रातृव्यः वृश्चते) उसका अप्रिय शत्रु काटा जाता है ॥ १-२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई, (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितरोंके पास आगई, (तां पितरः अघ्नत) उसको पितरोंने मारा, परंतु (सा मासि समभवत्) वह प्रतिमास उत्पन्न होने लगी। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) पितृयाण मार्ग जानता है और (तस्मात्) इसलिये (पितृभ्यः मासि उपमास्यं ददति) पितरोंको प्रतिमास दान दिया जाता है ॥ ३-४ ॥

सोदक्रामत्सा देवानागच्छत्तां देवा अघ्नत साऽर्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥
तस्माद्देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥
सोदक्रामत्सा मनुष्याइनागच्छत्तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥
तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

[४]

सोदक्रामत्सासुरानागच्छत्तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥
तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥ २ ॥
तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक्तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥
सोदक्रामत्सा पितॄनागच्छत्तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥
तस्या यमो राजा वत्स आसीद्रजतपात्रं पात्रम् ॥ ६ ॥
तामन्तको मार्त्यवोऽधोक्तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥
तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थ—(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा देवान् आगच्छत्) वह देवोंके पास आगई। (तां देवा अघ्नत) उसको देवोंने मारा, (सा अर्धमासे समभवत्) वह आधे मासमें होने लगी। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (देवयानं पन्थां प्रजानाति) देवयान मार्गको जानता है। और (तस्मात्) इसीलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवोंके लिये अर्धमासमें वषट् कर्म करते हैं ॥ ५-६ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्योंके पास आगई। (तां मनुष्याः अघ्नत) उसको मनुष्योंने मारा (सा सद्यः समभवत्) वह तत्काल उत्पन्न होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) उसके घरमें लोग उपहार लाते हैं। और (तस्मात्) इस कारण (मनुष्येभ्यः उभयद्युः उपहरन्ति) मनुष्योंके लिये दोनों दिन-दिनमें दोवार-अन्न करते हैं ॥ ७-८ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा असुरान् आगच्छत्) वह असुरोंके पास आगई, (तां असुराः उपाह्वयन्त) उसे असुरोंने पुकारा कि (माये एहि इति) 'हे माये! आ' इस प्रकार। (तस्याः प्राह्रादिः विरोचनः वत्सः आसीत्) उसका प्रल्हाद पुत्र विरोचन बच्चा था। उनका (अयस्पात्रं पात्रं) लोहेका पात्र था। (तां द्विमूर्धा आर्त्व्यः अधोक्) उसका ऋतु पुत्र द्विमूर्धाने दोहन किया, (तां मायां एव अधोक्) उससे माया ही दोहन करके मिली। (तां मायां असुराः उपजीवन्ति) उस मायापर असुरोंका जीवन होता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (उपजीवनीयः भवति) वह जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितरोंके पास आगई। (तां पितरः उपाह्वयन्त) उसे पितरोंने इस प्रकार बुलाया कि (स्वधे एहि इति) 'हे अपनी धारकशक्ति! यहां आ' (तस्याः यमः राजा वत्सः आसीत्) उसका यम राजा बछडा था और उसका (रजतपात्रं पात्रं) चांदीका पात्र था। (तां अन्तकः मार्त्यवः अधोक्) उसका मृत्युसंबंधी अन्तकने दोहन किया। (तां स्वधां एव अधोक्) उससे अपनी धारक शक्तिका हि दोहन हुआ इसलिये। (तां स्वधां पितरः उपजीवन्ति) उस अपनी धारक शक्तिसे पितरोंका जीवन होता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

सोदक्रामत्सा मनुष्याइनागच्छत्तां मनुष्याङ्ग उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥
तां पृथी वैन्योऽधोक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ ११ ॥
ते कृषिं च सस्यं च मनुष्याङ्ग उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥
सोदक्रामत्सा सप्तऋषीनागच्छत्तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥
तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥
तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक्तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥ १५ ॥
ते ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

[५]

सोदक्रामत्सा देवानागच्छत्तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥
तां देवः सविताधोक्तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— (सा उद्क्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्योंके पास आगई, (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त) उसको मनुष्योंने इस प्रकार बुलाया, कि (इरावति एहि इति) 'हे अन्नवाली! यहां आ'। (तस्याः मनुः वैवस्वतः वत्सः आसीत्) उसका विवस्वान्‌का पुत्र मनु बछडा था। उसका (पृथिवी पात्रं) पृथिवी पात्र था। (तां पृथी वैन्यः अधोक्) उसका वेन पुत्र पृथिने दोहन किया। (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उस दोहनसे कृषि और धान्य हुआ। इस कारण (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) मनुष्य कृषि और धान्यपरहि जीवन करते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (कृष्ट-राधिः) कृषिमें सिद्धि प्राप्त करनेवाला होकर (उपजीवनीयः भवति) दूसरोंकी जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९-१२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा सप्तऋषीन् आगच्छत्) वह सप्तऋषियोंके पास आगई। (तां सप्त ऋषयः उपाह्वयन्त) उसको सप्त ऋषियोंने इस प्रकार बुलाया कि (ब्रह्मण्वति एहि इति) 'हे ब्रह्मज्ञानवाली! यहां आ।' (तस्याः सोमः राजा वत्सः आसीत्) उसका सोम राजा बछडा था और (छन्दः पात्रं) छन्द पात्र था। (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसका अंगिरसकुलोत्पन्न बृहस्पतीने दोहन किया, (तां ब्रह्म च तपः च अधोक्) उससे ज्ञान और तप मिला। (तत् ब्रह्म च तपः च) इसलिये ज्ञान और तप पर (सप्त ऋषयः उपजीवन्ति) सप्त ऋषि अपना जीवन धारण करते हैं, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी) ज्ञानवान होकर (उप-जीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १३-१६ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हो गई (सा देवान् आगच्छत्) वह देवोंके पास आगई (तां देवा उपाह्वयन्त) उसको देवोंने इस प्रकार बुलाया कि (ऊर्जे एहि इति) 'हे बलवति! यहां आ।' (तस्या इन्द्रः वत्सः आसीत्) उसका बछडा इन्द्र था, और (चमसः पात्रं) चमस पात्र था। (तां देवः सविता अधोक्) उसका दोहन सविता देवने किया (तां ऊर्जां एव अधोक्) उससे बल प्राप्त हुआ। अतः (तां ऊर्जां देवाः उपजीवन्ति) उस बलपर देवोंका जीवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

सोदक्रामत्सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक्तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥
तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥
सोदक्रामत्सेतरजनानागच्छत्तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥ १० ॥
तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक्तां तिरोधामेवाधोक् ॥ ११ ॥
तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो
भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥
सोदक्रामत्सा सर्पानागच्छत्तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥
तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥ १४ ॥
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक्तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥
तद्विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ— (सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा गन्धर्वाप्सरसः आगच्छत्) वह गन्धर्व और अप्सराओंके पास आगई। (तां गन्धर्वाप्सरसः उपाह्वयन्त) उसको गन्धर्व और अप्सराओंने इस प्रकार बुलाया कि (पुण्यगन्धे एहि इति) 'हे उत्तम सुवासवाली ! यहां आ।' (तस्याः चित्ररथः सौर्यवर्चसः वत्सः आसीत्) उसका सूर्यवर्चसपुत्र चित्ररथ बछडा था, और (पुष्करपर्णं पात्रं) कमल पात्र था। (तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसः अधोक्) उसका सूर्यवर्चसपुत्र वसुरुचिने दोहन किया। (तां पुण्यं गंधं एव अधोक्) उससे उत्तम सुवास प्राप्त हुआ। इसलिये (तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरसः उपजीवन्ति) उस सुवासपर गन्धर्व और अप्सराएं जीवित रहती हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (पुण्यगन्धिः) उत्तम सुगंधयुक्त होकर (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा इतरजनान् आगच्छत्) वह इतर जनोंके पास आगई (तां इतर जनाः उपाह्वयन्त) उसको इतर जनोंने इस प्रकार बुलाया कि (तिरोधे एहि इति) 'हे अंतर्धान शक्ति ! यहां आ।' (तस्याः कुबेरः वैश्रवणः वत्सः आसीत्) उसका विश्रवाका पुत्र कुबेर पुत्र था। और (आमपात्रं पात्रं) आमपात्र पात्र था। (तां रजतनाभिः काबेरकः अधोक्) उसका काबेरक पुत्र रजतनाभिने दोहन किया। (तां तिरोधां एव अधोक्) उससे अन्तर्धान शक्ति प्राप्त की। इसलिये (इतरजनाः तां तिरोधां उपजीवन्ति) इतर जन उस तिरोधान शक्तिपर जीवित रहते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सर्वं पाप्मानं तिरः धत्ते) सब पापको दूर रखता है और (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९-१२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा सर्पान् आगच्छत्) वह सर्पोंके पास आगयी। (तां सर्पाः उपाह्वयन्त) उसको सर्पोंने इस प्रकार बुलाया कि (विषवति एहि इति) 'हे विषवालि ! यहां आ।' (तस्याः तक्षकः वैशालेयः वत्सः आसीत्) उसका विशालापुत्र तक्षक बच्चा था, (अलाबुपात्रं पात्रं) और अलाबुका पात्र था। (तां धृतराष्ट्रः ऐरावतः अधोक्) उसका इरावानके पुत्र धृतराष्ट्रने दोहन किया। (तां विषं एव अधोक्) उससे विषहि मिला। (तत् विषं सर्पाः उपजीवन्ति) उस विषसे सर्प जीवन धारण करते हैं (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १३-१६ ॥

[६]

तद्यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत्प्रत्याहन्यात् ॥ १ ॥

न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥ २ ॥

यत्प्रत्याहन्ति विषमेव तत्प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥

विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— (तत् एवं विदुषे यस्मै) इसलिये ऐसा जाननेवाले जिस विद्वान्के लिये (अलाबुना अभिषिञ्चेत्) अलाबुसे अभिषेक किया जाय, वह उसका (प्रत्याहन्यात्) प्रतिकार करे। (न च प्रत्याहन्यात्) और यदि न प्रतिकार करे तो (मनसा त्वा प्रति प्रति-आहन्मि) मनसे 'तेरा प्रतिघात करता हूं' (इति प्रत्याहन्यात्) ऐसा प्रतिकार करे। (यत् प्रत्याहन्ति) जो प्रतिकार होता है (तत् विषं एव प्रत्याहन्ति) वह विषका हि प्रत्याघात करता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (विषं एव अस्य अप्रियं भ्रातृव्यं) विषहि इसके अप्रिय भ्रातृव्य पर (अनुविषिच्यते) जा गिरता है। ॥ १-४ ॥

विराट्

कामधेनुका दूध।

इस सूक्तमें जगन्माता विराट् देवीरूपी कामधेनुका दूध किन लोगोंने किस प्रकार निकाला इसका उत्तम वर्णन है। कामधेनु तो सबकी माता एक जैसी हि है, उसमें कोई भेद नहीं है, परंतु उनके पास जानेवाले विभिन्न हैं, उनका मन भिन्न प्रकारका है, उनकी कामनाएं भिन्न होती हैं, उनके पुरुषार्थ भिन्न होते हैं, इस कारण परिणाम भी भिन्न हुआ करते हैं। किसी गायका दूध सांपके पेटमें गया तो वहां उसका विष बनता है और उसी दूधको उत्तम आमके मूलमें सींचा तो उसीसे उत्तम स्वादुरस तैयार होता है। इसी प्रकार एकहि समुद्रका जल मेघोंमें जाकर वृष्टिरूपसे नीचे आता है और संपूर्ण वृक्ष वनस्पतियोंपर पडता है, इसी एक हि जलसे छः प्रकारके रस छः प्रकारके वृक्षोंमें उत्पन्न होते हैं, ईखमें मधुर, इमलीमें खट्टा, मिरचमें कटु इस प्रकार विभिन्न रस हो जाते हैं। मेघोंसे आनेवाला पानी एकसा होता है, परंतु वनस्पतियोंके भेदसे रसमें भिन्नता उत्पन्न होती है। भूमिभी एक है परंतु उसीमें उपजे गुलाबकी सुगंध और प्रकारकी है, चमेलीकी अन्य प्रकारकी और पारिजातक की और प्रकारकी होती है। एकहि भूमीमें रस लेनेवाले भिन्न होनेके कारण विभिन्न रसोंकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार विराट् रूपी दिव्य कामधेनु एकहि है, परंतु उससे देव, ऋषि, पितर, असुर, मनुष्य सर्प, गन्धर्व आदि भिन्नभिन्न गुण प्राप्त करते हैं, इसका वर्णन इस सूक्तमें देखने योग्य है, यही बात इस कोष्टक में देखिये—

१ विराट्, दिव्य कामधेनु।

लोक	दोहनकर्ता	वत्सः	दोहन पात्र	बुलानेका नाम	दूध	जीवन साधन	क्या करता है अथवा कैसा होता है
असुरः	द्विमूर्धा आर्त्व्यः	विरोचनः प्राह्लादिः	अयस्पात्रं	माया	माया	माया	
पितरः	अन्तकोमार्त्यः	यमः राजा	रजतपात्र	स्वधा	स्वधा	स्वधा	
मनुष्यः	पृथी वैन्यः	मनुः वैवस्वतः	पृथिवी (मिट्टी)	इरावती	कृषि, सस्य	कृष्टि सस्य	कृष्टि-राधिः
सप्तऋषि	बृहस्पतिः आंगिरसः	सोमोराजा	छन्दः	ब्रह्मण्वती	ब्रह्म, तपः	ब्रह्म, तपः	ब्रह्मवर्चसी
देव	सवितादेवः	इन्द्रः	चमसः	ऊर्जा	ऊर्जा	ऊर्जा	
गन्धर्व	वसुरुचिः	चित्ररथः	पुष्करपर्ण	पुण्यगन्धा	पुण्यगन्धः	पुण्यगन्धः	सुगन्धित होता है।
अप्सराः	सौर्यवर्चसः	सौर्यवर्चसः	(कमलपत्र)		(सुगंध)		
इतरजन	रजतनाभिः काबेरकः	कुबेरः वैश्रवणः	आमपात्रं	तिरोधा	तिरोधा	तिरोधा	पाप दूर करता है
सर्प	धृतराष्ट्रः ऐरावतः	तक्षकः वैशालेयः	अलाबुपात्र	विषवती	विष	विष	

२ विराट्, दिव्य कामधेनु।

दोहनकर्ता	दुग्धाशय उधस्	वत्स	रसना गौ बांधनेकी दोरी	गौके नाम	स्तन	दूध
देव मनुष्य	अभ्र	इन्द्र	गायत्री	ऊर्जा	बृहत्	व्यचः (आकाश)
				स्वधा	रथन्तर	ओषधिः
				सूनृता	यज्ञायज्ञियं	यज्ञ
				इरावती	वामदेव्य	आपः

३ विराट् गौ।

किसके पास गई	पुनः बननेका समय	क्या होता है	ज्ञान
वनस्पती	संवत्सर	वर्षमें व्रण भरता है।	
पितर	मास	मासिक दान देते हैं	पितृयानज्ञान
देव	पक्ष	अर्धमासमें वषट् करते हैं	देवयानज्ञान
मनुष्य	सद्यः तत्काल	प्रतिदिन अन्न ग्रहण करते हैं	

इन कोष्टकोंसे पता लगता है कि इस विराटरूपी कामधेनुसे किसने किस प्रकारका दूध प्राप्त किया। कामधेनुके पास जो मांगा जाता है, वही उसको प्राप्त होता है। आप चाहे अमृत मांगे अथवा चाहे आप विष मांगे। एकहि कामधेनु अमृत मांगनेवालेको अमृत देगी और विष मांगनेवालेको विष देगी। कामधेनु तो वर मांगनेवालेकी इच्छा तृप्त कर सकती है। यहां वर मांगनेवालेको योग्य बुद्धि चाहिये। नहीं तो विराट् देवता प्रसन्न होनेपर भी बेढंगावर मांगकर अपनाहि नाश कर लेगा।

पूर्वोक्त कोष्टकको देखनेसे पता लगेगा कि असुरोंने उस विराट् देवीको ' माया ' नामसे पुकारा, मायाका अर्थ है– " छल, कपट, धोखा, जैसा दीखता है वैसा वास्तविक न होना, भ्रम, कौशल्य। " असुरोंने विराट् देवीमें ये गुण देखे और उनसे येहि गुण मांगे, उनको येहि गुण मिले। जो असुरोंने मांगा वही उनको मिला। प्राचीन और अर्वाचीन कालके असुरोंमें कपट और धोखा हि दिखाई देता है। इनही धोखेबाजीके कृत्योंसे असुर पहचाने जाते हैं। असुरोंका सब इतिहास धोखेबाजीका ही इतिहास है।

उसी विराट् कामधेनुसे देवोंने बल और अन्नकी प्रार्थना की और उनको अन्न और बल प्राप्त हुआ। इस बलसे देवोंने असुरोंका पराभव किया और देवोंका राज्य इस सृष्टीमें होगया।

मनुष्योंने विराट् देवीसे कृषि और फल आदि मिलनेकी प्रार्थना की और यह कृषि विद्या उन्होंने प्राप्त की, आजतक मनुष्य कृषिसे अपना जीविका निर्वाह कर रहे हैं।

सर्पोंने देखिये ऐसी उत्तम देवताकी उपासना करके क्या मांगा, जो न उनको लाभकारी है और न दूसरोंका हित कर सकता है। ऐसी बडी देवता आदिमाताकी प्रसन्नता होनेके बाद उससे सर्प ऐसी एक चीज मांगते हैं कि जो जगत्का नाश कर सकती है। जगद्रचना करनेवाली देवी प्रसन्न हुई तो उससे जो चाहे सो मिल सकता है, परंतु उससे सर्पोंने ' विष ' मांगा, जो प्राणीमात्रका नाश कर सकता है। इस प्रकारकी आत्मघातक मांग किसीको करना उचित नहीं है। यदि सर्प उस देवतासे विशेष महती शक्ति मांगते, तो वह उनको मिलती, परंतु उसके लिये भी शुद्ध बुद्धि चाहिये। उसके अभावमें ऐसा हि होगा। इसका तात्पर्य यह है कि बडीसे बडी शक्ति भी हाथमें आगयी, तो भी मनुष्यका कोई लाभ नहीं हो सकता, क्यों कि उस शक्तिका उत्तम उपयोग करनेका ज्ञान उसको चाहिये। उस ज्ञानके अभावमें वह प्राप्त हुई बडी शक्ति निःसंदेह इसकी हानि करेगी। जैसा सर्प और असुर इस देवताकी कृपासे लाभ न उठा सके। परंतु ऋषि, देव और मानवोंने उससे बडा लाभ प्राप्त किया। विशेष कर ऋषियोंने उस देवतासे ' ब्रह्म और तप ' प्राप्त किया, जो सब मानवजातीकी उन्नतिका एकमात्र साधन है, ऐसा हम कह सकते हैं। यदि मांगनेका समय आया तो ऐसा मांगना चाहिये।

+

इस सूक्तकी अन्य बातें इस पूर्वोक्त उपदेशका गौरव करनेके लिये हैं, अतः उनका विशेष विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

पाठक यहां इस बातका स्मरण रखें कि यह विराट् देवता केवल असुर, पितर, देव, मनुष्य, इतरजन, सर्प आदिकोंकोहि प्रसन्न हुई और हम सब मनुष्योंको वह वर देनेको तैयार नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह आदिमाता जगन्माता हम सबको जो चाहे सो देनेको तैयार नहीं है, हम सब जो चाहे सो लेतेभी हैं, परंतु जो लेना चाहिये वह लेते। अयोग्य पदार्थ लेकर हम अपनी अवनति कर रहे हैं, इसलिये वेदने हमें इस सूक्तद्वारा यह उपदेश देकर कहा कि उससे अच्छी शक्ति हि मांगना चाहिये और कोई हानिकारक बात नहीं माङ्गनी चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य मनमें संकल्प करता है, इच्छा करता है, कामना करता है वह सब पूर्वोक्त कामधेनुसे मांगहि होती है। प्रत्येक मनुष्य कामधेनुके समीप है। यह सब ' विराट् ' कामधेनुहि है और उसके सामने बैठकर मनुष्य इच्छा करता है। कल्पवृक्षके नीचे अथवा कामधेनुके सामने बैठकर मनमें भली या बुरी कामना की जायगी, तो वह तत्काल सिद्ध होगी। भली कामना मनमें उत्पन्न हुई तो कोई दोष नहीं होगा, परंतु बुरी कामना उठी तो हानि होनेमें कोई संदेहहि नहीं। यहां पाठक स्मरण रखें कि जो हानि बुरा संकल्प करनेसे होगी, उस हानिकी जिम्मेवारी अपनेहिपर है। इस-प्रकार विचार करनेपर पता लगेगा कि मनुष्य स्वयं अपना नाश कर रहा है। इसने बुरी कामना की और कामधेनुसे वैसा फल मिला, तो उसमें कामधेनुका क्या दोष है ? दोष सब कामना करनेवालेका है। यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर करनेके लियेहि इस सूक्तका उपदेश हुआ है।

पाठक यहां अपनी संकल्पशक्तिका बल देखें और सदा शुभसंकल्प करके अपनी उन्नतिका मार्ग सुगम करें।

राष्ट्रीय उपदेश।

इस सूक्तका जो पहिला भाग है वह राष्ट्रीय उन्नति-विषयक है। उसमें जनताकी उन्नति कैसी हुई, राष्ट्रीय संघटना कैसी हुई और लोगोंकी प्रातिनिधिक सभा कैसी बनी इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें है। यहां 'वि-राट्' या वि-राज्' शब्दका अर्थ 'राजहीन स्थिति' है। जिस समय राजा बना नहीं था, राजा बनानेकी कल्पना अथवा राजाकी भी कल्पना जिस समय जनतामें नहीं थी, उस समयकी जनताकी अवस्था 'वि-राज्' शब्द द्वारा यहां बतायी है। राजसंस्था शुरू होनेके पूर्वकी स्थिति इस शब्दने यहां प्रकट की है। यह शब्द 'अ-राज-क' शब्दका पर्यायशब्द नहीं है। अराजक लोग राजाकी उत्पत्तिके पश्चात् होते हैं। पहिले राजाकी उत्पत्ति हुई, पश्चात् राजा और राजपुरुष प्रजापर अत्याचार करने लगे, उनके अत्याचारसे त्रस्त होकर राजाका नाश करनेकी इच्छासे 'अराजक' लोगोंका जन्म हुआ है। अर्थात् राजाके उत्तर कालमें 'अराजक' की उत्पत्ति और पूर्व कालमें 'विराज्' की स्थिति होती है। इस प्रकार विचार करनेसे विराज्का अर्थ पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकता है। जनता विराज् स्थितिमें थी, इसका अर्थ केवल बिखरे लोक थे और उनमें कोई संघटना नहीं थी।

तत्पश्चात् सबसे प्रथम जो संघटनाका प्रारंभ हुआ वह 'स्त्रीपुरुषोंके मेल' से हि प्रारंभ हुआ है। स्त्री पुरुष तो पशुओंमें भी मिलते हैं, परंतु वे अपना गृहस्थ, संसार नहीं करते। उनका मेल तो केवल कामुकताके समयमें हि होता है। मनुष्यमें बुद्धि है, मन है और प्रेमभी है। प्रारंभिक मनुष्योंमें पशुवत् स्त्रीपुरुष संबंध होते होते, जब उनका प्रेम अधिक दृढ होने लगा, तब वे एकत्र रहने लगे। इस एकत्र निवासको धर्मकी नियंत्रणा होनेसे 'गृहपति' संस्थाकी उत्पत्ति होगई है। धर्मकी नियंत्रणाके साथ प्रतिदिनका अग्निहोत्र तथा अन्यान्य गृहस्थधर्म मनुष्यके साथ संबंधित होगये। इस समय यह मनुष्य घर करके रहने लगा। घरमें रहनेसे घरका स्वामी, स्वामीकी सहचारिणी स्त्री और उसके सहायक भाई और पुत्र हैं, यह कल्पना मनुष्यमें उत्पन्न होगई और यही कल्पना बढते बढते बडे साम्राज्यमें परिणत हुई। इसी उन्नतिका क्रम इस सूक्तमें दर्शाया है।

गृहपति, आहवनीय और दक्षिणाग्नि ये तीनों संस्थाएं गृहव्यवस्थामें हि अधिकाधिक संघटना होनेका आशय बता रही हैं। गृहपति संस्थामें यज्ञ भी छोटे होते हैं, आहवानीय और दक्षिणाग्निमें यज्ञ बढ गये और उसके कारण मानव-संघटना भी बढ गयी। परंतु अभीतक ग्रामसंस्थाका अस्तित्व नहीं हुआ था। अनेक कुटुंब एक स्थानपर रहते थे, परंतु ग्रामसंस्थाके बंधनसे वे संबंधित नहीं थे। एक स्थानपर अनेक कुटुंब रहनेके पश्चात् सब कुटुंबियोंकी मिलकर एक ग्रामसंस्था होनी चाहिये, इससे ग्रामकी संघटना अथवा सच कहें तो जो उस स्थानपर कुटुंब रहते हैं, उनकी संघटना होगी, यह कल्पना उत्पन्न हुई होगी। गृहपति संस्थाके पश्चात् ग्रामकी और ग्रामसंस्थाकी कल्पना स्वभावतः हि उत्पन्न होगी। क्यों कि गृहपति संस्थामें जो घरके नियंताकी भावनाका और संघटनासे सुखका अनुभव है, उसी अनुभवसे अनेक गृहस्थियोंका मिलकर एक कुटुंब बनाने और उससे अपना संघबल बढानेकी कल्पना मनुष्योंमें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

इससे हि 'सभा' की उत्पत्ति होगई है। यहां सभा शब्द 'ग्राम-सभा' है। 'ग्राम' शब्दका हि अर्थ 'संघटित समाज' है, अनेक कुटुंब एक नियमसे बंधकर एकत्र रहते हैं उसका नाम 'ग्राम' है। इस ग्रामकी जो सभा उसका नाम ग्रामसभा है यह सभा उस ग्रामके चुने हुए प्रतिनिधियोंकी हि होती है। कोई बाहरका मनुष्य इस सभाका सदस्य नहीं हो सकता। जो उस ग्रामका रहनेवाला है, उपरी नहीं है, जिसका घरदार ग्राममें है और जो उस ग्रामके कुटुंबियोंका चुना हुआ प्रतिनिधि है, वह उस सभाका सदस्य हो सकता है। इस प्रकारके जो लोगोंके प्रतिनिधि होंगे उनकी ग्रामसभा होगी। और यह सभा ग्रामकी रक्षा, आरोग्य प्रबंध, शिक्षाव्यवस्था आदि कार्य करेगी। मानो इस ग्रामसभासे उस ग्रामकी नियंत्रणा होगी।

इस प्रकार अनेक ग्राम बने, उनकी व्यवस्थापिका सभाएं बनीं, तो उनके आपसमें 'संग्राम' होना संभव है। ऐसे 'सं-ग्राम' होनेके पश्चात् हि संग्रामोंसे अहित होनेका अनुभव ज्ञान होगा और अनेक ग्रामोंकी एक संघटित सभा बनानेकी कल्पना सबको प्रिय होगी।

इसी कारण 'समिति' की निर्मिति होगई ऐसा आगे इस सूक्तमें कहा है। पूर्वोक्त ग्रामसभाओंके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंकी हि यह राष्ट्रसमिति अथवा राष्ट्रीय सभा होती है। और इसके द्वारा राष्ट्रका शासन होता है। इसके बीचमें प्रांत सभाएं छोटी अथवा बडी होनेका अनुमान पाठक कर सकते हैं और इससे बढकर साम्राज्यमहासभाका होना भी पाठकोंकी कल्पनामें आसकता है।

महासभा अथवा समिति तो राष्ट्रकी होती है और इसमें सब ग्रामोंके प्रतिनिधि आनेसे प्रतिनिधियोंकी संख्या बडी होती है। जब बहुत किंवा सेंकडों प्रतिनिधि होते है तब उनका उपस्थित होना और एक मतसे काम चलना अत्यंत कठिन होता है, इस लिये उनमेंसे कुछ थोडेसे चुने हुए अधिक योग्य कार्यकर्ताओंका 'मंत्रिमंडल' बनाना आवश्यक हुआ करता है। कार्य करनेके समय इसकी अत्यंत आवश्यकता होती है। अतः इसी सूक्तके अन्तिम भागमें 'आमंत्रणा' परिषद बनानेका उल्लेख है। आमंत्रणा अथवा मंत्रणा करनेवाला हि मंत्रिमंडल होता है। यह सब राष्ट्रके शासन व्यवहारका विचार करता है और तदनुसार सब ओहदेदारों द्वारा राष्ट्रका तथा तदन्तर्गत ग्रामोंका शासन व्यवहार करता है। इस ढंगसे वेदने लोकशासन संस्थाकी उन्नतिका क्रम बताया है।

मनुष्यमें जो आत्मशक्ति है वह बडी प्रभावशालिनी है। इस आत्मशक्तिमें ज्ञान, वीरता, संग्रह और कर्म ये चार भेद हैं। जहां आत्मा है वहां ये चार शक्तिविभाग न्यूनाधिक रीतिसे हैं। मनुष्यमें येही ब्रह्म, क्षत्र, विराट्, शूद्र नामसे प्रसिद्ध हैं। ज्ञानसंग्रह, राष्ट्रपालन, धनसंचय और कर्मकौशल ये इनके कार्य जगत्में सुप्रसिद्ध हैं।

जब अनेक कुटुंब एक स्थानपर आजाते हैं तब उनमें कई लोग ज्ञानका संग्रह करनेवाले, विचारसंपन्न, केवल ध्यानधारणामें रत होते हैं, वे जगत्के व्यवहारके जालमें नहीं फंसते। दूसरे कई लोग ऐसे होते हैं कि जो अपने बाहुबलसे ग्रामकी रक्षा करनेमें तत्पर होते हैं।

इनके बलसे होनेवाली रक्षासे अन्य लोग अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। दूसरोंकी रक्षाके लिये आत्मसमर्पण करनेमें हि इनका यश होता है। ये ग्राम या राष्ट्रकी रक्षाके लिये अपने जीवितका भी समर्पण करते हैं। परोपकारके लिये ये क्षत्रिय लोक बडी बडी आपत्तियां सहन करते, अपने जीवितको संकटोंमें और साहसोंके कार्योंमें सौंप देते हैं और संपूर्ण जनताके धन्यवादको योग्य बनते हैं।

वैश्य लोग खेती, और व्यापार व्यवहार करते हैं, धन और जनताके हितके कार्य करनेके लिये उस धनका समर्पण भी करते हैं। ये वैश्य लोग संग्रहमें भी चतुर होते हैं और दानमें भी शूर होते हैं। इसीमें इनका यश हुआ करता है।

चौथे कर्मवीर हैं, इनको शूद्र कहते हैं— अनेक हुनर या कारीगरीके कर्म करना इनका कर्तव्य है। विविध प्रकारके कुशलताके कर्म करके ये अनेकानेक सुखसाधन निर्माण करते हैं। सब अन्य लोग इनकी कारीगरीसे सुखके साधन प्राप्त करते हैं। जो लोग इन चारों वर्गोंमें नहीं संमिलित होते उनको अवर्गीकृत पंचम वर्गमें संमिलित किया जाता है। ये पांच प्रकारके 'पंच-जन' हैं। इन पंचजनोंकाही ग्राम नगर पत्तन और राष्ट्र होता है। इन वर्गोंके प्रतिनिधि जहां इकट्ठे होते हैं, उस सभाका नाम 'पंचायत' है, यही ग्रामसभा, नगरसमिति, राष्ट्रसभा और आमंत्रणपरिषद है।

जहां सभा होती है वहां उसका अध्यक्ष, मंत्री आदि अधिकारी होते हि हैं, इस कारण ग्रामसभामें ग्रामसभाध्यक्ष, राष्ट्रसमितिमें उसका अध्यक्ष और मंत्रिमंडलमें उसका मुख्य मंत्री, होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार घरमें घरका स्वामी होता है, उसी प्रकार सभामें सभाका नियामक होना आवश्यक है। आगे चलकर युद्धादि प्रसंग छिडजानेपर युद्धनायक सेनाका विशेष बल हाथमें आनेसे अध्यक्षहि स्वयं शासक राजा या महाराजा बनता है। अथवा जिसको प्रजाजन राज्यका अध्यक्ष चुनते हैं वही अपना बल बढाकर स्वयंशासक राजा बनता है! यह राजाका विषय यहां नहीं है, यहां केवल ग्रामसभा, राष्ट्रसमिती और मन्त्रिमंडल प्रजाजनोंद्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंका कैसा बनता है, इसीका वर्णन यहां है। पाठक इस व्यवस्थाको देखें और अपने अपने ग्रामों और प्रान्तों तथा राष्ट्रमें इस प्रकारके प्रजानियुक्त प्रतिनिधियोंकी शासक संस्था नियुक्त करें और इसके द्वारा शासन करके अपनी सर्वांगपूर्ण उन्नति सिद्ध करें।

अष्टम काण्ड समाप्त।

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

अष्टम काण्डकी विषयसूची।

अष्टम काण्ड समाप्त।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

नवमं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७, शके १८७२, सन १९५०

वेदमंत्रमें देवोंका निवास ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
ऋग्वेद १ । १३४ । ३६; अथर्ववेद ९ । १० । १८

" परम आकाशमें रहनेवाले सब देव ऋचाओं—वेदमंत्रोंके अक्षरोंमें बैठे हैं । इस बात को जो नहीं जानता, वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा ? जो इस बातको जानते हैं वे संघटित होकर उच्च स्थानमें बैठते हैं ।"

मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवळेकर, बी. ए.,
स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, किल्ला पारडी, (जि. सूरत.)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

नवम काण्ड।

इस नवम काण्डका प्रारंभ ' दिवः ' शब्दसे हुआ है। इसका अर्थ ' प्रकाशमय ' स्वर्गलोक है। प्रकाशमय लोक मंगल है अतः इस काण्डका प्रारंभ मंगल शब्दसे हुआ है। इस सूक्तकी देवता ' मधु ' अर्थात् मीठास है। जिस सूत्रात्मासे यह संपूर्ण विश्व बंधा गया है उस मधुर सूत्रका वर्णन इस मंत्रमें होनेसे इस काण्डका प्रारंभ मंगलके वर्णनसे हुआ है, इसमें संदेह नहीं है।

इस काण्डमें ५ अनुवाक, १० सूक्त और ३०२ मंत्र हैं। इनका विभाग इस प्रकार है—

अनुवाक	सूक्त	दशतिविभाग	पर्याय	मंत्रसंख्या	कुलसंख्या
१	१	१०+१४		२४	
	२	१०+१०+५		२५	४९
२	३	१०+१०+११		३१	
	४	१०+१४		२४	५५
३	५	१०+१०+१०+८		३८	
	६	——	६	६२	१००
४	७	——	१	२६	
	८	१०+१२		२२	४८
५	९	१०+१२		२२	
	१०	१०+१०+८		२८	५०
				३०२	३०२

*

इस काण्डमें १० सूक्त हैं, उनके ऋषि देवता छन्द देखिये–

सूक्तोंके ऋषि--देवता--छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
विंशः प्रपाठकः ।				
१	२४	अथर्वा	मधु अश्विनौ	त्रिष्टुप् २ त्रिष्टुब्गर्भा पंक्तिः; ३ परानुष्टुप्; ६ महाबृहती अतिशक्वरगर्भा; ७ अति जागतगर्भा महाबृहती; ८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः; ९ पराबृहती प्रस्तारपंक्तिः; १० पुरोष्णिकपंक्तिः, ११-१३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुभः; १४ पुरउष्णिग्; १७ उपरिष्टाद्विराड् बृहती; २० भुरिग्विष्टारपंक्तिः, २१.एकाव० द्विव० आर्ची अनुष्टुप्; २२ त्रिप० ब्राह्मी पुरउष्णिग; २३ द्विप० आर्ची पंक्तिः, २४ त्र्यव०षट्प०अष्टिः ।
२	२५	,,	कामः	त्रिष्टुप् ५ अतिजगती; ७ जगती ८ द्विप० आर्ची पंक्तिः; ११, २०, २३ भुरिजः; १२ अनुष्टुप; १३ द्विप० आर्ची अनुष्टुप्; १४, १५, १७, १८, २१, २२ जगत्यः; १६ चतुष्प० शक्वरीगर्भा परा जगती ।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
३	३१	भृग्वंगिराः	शाला	अनुष्टुप् । ६ पथ्या पंक्तिः; ७ पुर उष्णिक्; १५ त्र्यव० पंच० अतिशक्वरी; १७ प्रस्तारपंक्तिः; २१ आस्तार पंक्तिः; २५, ३१ त्रिप० प्राजापत्या बृहती; २६ साम्नी त्रिष्टुभ्, २७–३० प्रतिष्ठा नाम गायत्री, (२५–३१ एकाव० त्रिपदा)
४	२४	ब्रह्मा	ऋषभः	त्रिष्टुभ्; ८ भुरिक् ६, १० २४, जगत्यः; ११–१७, १९, २०, २३ अनुष्टुभः; १८ उपरिष्टाद्बृहती; २१ आस्तारपंक्तिः ।
तृतीयोऽनुवाकः ।				
५	३८	भृगुः	अजः पंचौदनः	त्रिष्टुभ् ३ चतु०पुरोतिशक्करी जगती; ४, १० जगत्यौ; १४, १७, २७-३० अनुष्टुभः (३० ककुम्मती); १६ त्रिप० अनुष्टुप्; १८, ३७ त्रिप० विराड्गायत्री; २३ पुर उष्णिक्; २४ पंचप० अनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता विराड् जगती; २६ पंचप० अनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिक्; ३१ सप्त० अष्टी; ३२–३५ दशप० प्रकृती; ३६ दशपदा आकृतिः; ३८ एकाव० द्वि० साम्नी त्रिष्टुभ् ।

एकविंशः प्रपाठकः ।

६	६२	ब्रह्मा	अतिथ्या विद्या	
	(१) १७	,,	,,	१ त्रिप० गायत्री; २ त्रिप० आर्षी गायत्री ३, ७ साम्नी त्रिष्टुप्; ४, ९ आर्ची अनुष्टुभ् ५ आसुरी गायत्री; ६ त्रिप० साम्नी जगती; ८ याजुषी त्रिष्टुभ्; १० साम्नी भुरिग्बृहती; ११, १४–१६ साम्न्यनुष्टुभ् १२ विराड् गायत्री; १३ साम्नी निचृत्पंक्ति; १७ त्रिप० विराड् भुरिग्गायत्री ।
	(२) १३	,,	,,	१८ विराट् पुरस्ताद्बृहती; १९, २९ साम्नी त्रिष्टुभ्; २० आसुरी अनुष्टुभ्; २१ साम्नी उष्णिग्; २२, २८ साम्नी बृहती (२८ भुरिग्); २३ आर्ची अनुष्टुभ्; २४ त्रिप० स्वराडनुष्टुप; २५ आसुरी गायत्री; २६ साम्नी अनुष्टुभ्; २७ त्रिप० आर्ची त्रिष्टुप्; ३० त्रि० आर्ची पंक्तिः ।
	(३) ९	,,	,,	३१–३६, ३९ त्रिप० पिपीलिकमध्या गायत्री; ३७ साम्नी बृहती; ३८ पिपीलिकमध्योष्णिक् ।
	(४) ५	,,	,,	४०–४३ (१) प्राजापत्यानुष्टुप् (१) ४४ भुरिक् (२) ४०-४३ त्रिप० गायत्री; (२) ४४ चतु० प्रस्तारपंक्तिः ।
	(५) ४	,,	,,	४५ (१) साम्नी उष्णिक्; ४५ (२) पुर उष्णिक् ४५ (३), ४८ (३) साम्नी भुरिग्बृहती ४६ (१), ४७ (१), ४८ (२) साम्नी अनुष्टुभ्; ४६ (२) त्रिप० निचृद्विराण्नाम गायत्री; ४७ (२) त्रिप० विराड् विषमा नाम गायत्री; ४८ (१) त्रिप० विराडनुष्टुप् ।
	(६) १४	,,	,,	४९ आसुरी गायत्री; ५० साम्नी अनुष्टुप; ५१, ५३ त्रिप० आर्ची पंक्तिः; ५२ एकप० प्राजापत्या गायत्री; ५४—५९ आर्ची बृहती; ६० एकपदा आसुरी जगती; ६१ याजुषी त्रिष्टुप्; ६२ एकप० आसुरी उष्णिक् ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

७	२६	ब्रह्मा	गौः	१ आर्ची बृहती; २ आर्ची उष्णिक; ३, ५ आर्ची अनुष्टुभ्; ४, १४, १५, १६ साम्नी बृहती; ६, ८ आसुरी गायत्री; ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचद्गायत्री; ९, १३ साम्नी गायत्री; १० पुरउष्णिक्; ११, १२, १७, २५ साम्नी उष्णिक्; १८, २२ एकप० आसुरी जगती; १९ एकप० आसुरी पंक्तिः; २० याजुषी जगती; २१ आसुरी अनुष्टुभ्; २३ एकप० आसुरी बृहती; २४ साम्नी भुरिग् बृहती; २६ साम्नी त्रिष्टुप्

८	२२	भृग्वंगिराः	सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं,	अनुष्टुभ् १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुंमती चतुष्प० उष्णिक्; १५ विराडष्टुप; २१ विराट् पथ्या बृहती; २२ पथ्या पंक्तिः

पंचमोऽनुवाकः ।

९	२२	ब्रह्मा	वामः अध्यात्मं आदित्यः	त्रिष्टुभ्; १२, १४, १६, १८ जगत्यः ।
१०	२८	,,	गौः विराट् अध्यात्मं	त्रिष्टुभ् १, ७, १४, १७ १८ जगत्यः; २१ पंच० अतिशक्करी; २४ चतु० पुर० भुरिगति जगती; २,. २६, २७ भुरिग् ।

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

इस प्रकार इस नवम काण्डके ऋषि, देवता और छंदोंकी व्यवस्था है। अब इनका ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये-

१ ब्रह्मा ऋषिके ४, ६, ७, ९, १० ये पांच सूक्त हैं,
२ अथर्वा ,, १, २ ये दो सूक्त हैं,
३ भृग्वंगिरा ,, ३, ८ ,, ,,
४ भृगु ऋषिका ५ वां एक सूक्त है ।

इस तरह चार ऋषियोंके देखे मंत्र इस नवम काण्डमें हैं। इस काण्डमें ब्रह्मा ऋषिके मंत्र अधिक हैं। अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

१ गौ देवताके ७ और १०ये दो सूक्त हैं,
२ अध्यात्म ,, ९ ,, १० ,, ,,
३ मधु देवताका १ यह एक सूक्त है,
४ अश्विनौ ,, १ ,, ,,
५ काम ,, २ ,, ,,
६ शाला देवताका ३ रा यह एक सूक्त है,
७ ऋषभः ,, ४ ,, ,,
८ अजः पञ्चौदनः ,, ५ ,, ,,
९ आतिथ्या विद्या ,, ६ ,, ,,
१० सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं ,, ८ ,, ,,
११ वाम ,, ९ ,, ,,
१२ आदित्य ,, ९ ,, ,,
१३ विराट् ,, १० ,, ,,

इस प्रकार तेरह देवताओंके सूक्त इस नवम काण्डमें हैं। इस काण्डमें 'वर्चस्यगण' का पहिला सूक्त है, 'सलिलगण' का नवमसूक्त है और चतुर्थसूक्तके 'पुष्टिकमंत्र' हैं। इतनी बातोंका विचार मनमें रखकर पाठक इस काण्डका मनन करें।

—:०:—

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

नवम काण्डम् ।

मधुविद्या और गोमहिमा ।

(१)

(ऋषिः=अथर्वा । देवता-मधु, अश्विनौ)

दिवस्पृ॑थि॒व्या अ॒न्तरि॑क्षात् समु॒द्राद॒ग्नेर्वाता॑न्मधुक॒शा हि ज॒ज्ञे ।
तां चा॑यि॒त्वामृ॒तं वसा॑नां हृ॒द्भिः प्र॒जाः प्रति॑ नन्द॒न्ति सर्वाः॑ ॥ १ ॥
म॒हत् पयो॑ वि॒श्वरू॑पमस्याः समु॒द्रस्य॑ त्वो॒त रेत॑ आहुः ।
यत॒ ऐति॑ मधुक॒शा ररा॑णा॒ तत् प्रा॒णस्तद॒मृत॒ं निवि॑ष्टम् ॥ २ ॥
पश्य॑न्त्यस्याश्चरि॒तं पृ॑थि॒व्यां पृथ॒ङ् नरो॑ बहु॒धा मीमां॑समानाः ।
अ॒ग्नेर्वाता॑न्मधुक॒शा हि ज॒ज्ञे म॒रुता॑मु॒ग्रा न॒प्तिः ॥ ३ ॥

अर्थ—[दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः] द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी, [समुद्रात् अग्नेः वातात्] समुद्रका जल, अग्नि और वायुसे [मधुकशा जज्ञे] मधुकशा उत्पन्न होती है। [अमृतं वसानां तां चायित्वा] अमृतका धारण करने-वाली उस मधुकशा को सुपूजित करके [सर्वाः प्रजाः हृद्भिः प्रतिनन्दन्ति] सब प्रजाजन हृदयसे आनंदित होते हैं ॥ १ ॥

(अस्याः पयः) इसका दूध (महत् विश्वरूपं) बडा विश्वरूपही है। (उत त्वा समुद्रस्य रेतः आहुः) और तुझे समुद्रका वीर्य कहते हैं। (यतः मधुकशा रराणा एति) जहांसे यह मधुकशा शब्द करती हुई जाती है, (तत् प्राणः) वह प्राण है, (तत् निविष्टं अमृतं) वह सर्वत्र प्रविष्ट अमृत है ॥ २ ॥

(बहुधा पृथक् मीमांसमानाः नरः) बहुत प्रकारसे पृथक् पृथक् विचार करनेवाले लोग (पृथिव्याः) इस पृथ्वी-पर (अस्याः चरितं पश्यन्ति) इसका चरित्र अवलोकन करते है। (मधुकशा अग्नेः वातात् जज्ञे) यह मधुकशा अग्नि और वायुसे उत्पन्न हुई है। यह (मरुतां उग्रा नप्तिः) मरुतों की उग्र पुत्री है ॥ ३ ॥

भावार्थ-पृथ्वी, आप, तेज, वायु आकाश और प्रकाशसे मधुर दूध देनेवाली गौ माता उत्पन्न हुई है, इस अमृतरूपी दूध देनेवाली गोमताकी पुजा करनेसे सब प्रजाएं हृदयसे आनंदित होती हैं ॥ १ ॥

इस गौमाताका दूध मानो संपूर्ण विश्वकी बडी शक्ति है। अथवा मानो, यह संपूर्ण जलतत्त्वका सार है। जो यह शब्द करती हुई गौ है, वह सबका प्राण है और उसका दूध प्रत्यक्ष अमृत है ॥ २ ॥

विचार करनेवाले मनुष्य इस पृथ्वीपर इस गौका चरित्र देखते हैं। यह मधुर रस देनेवाली गौ अग्नि और वायु से उत्पन्न हुई है, अतः इसको मरुतों—वायुओं की प्रभावशालिनी पुत्री कहते हैं ॥ ३ ॥

माता॒दि॒त्याना॑ दुहि॒ता वसू॑नां प्रा॒णः प्र॒जाना॑म॒मृत॑स्य॒ नाभिः॑।
हिर॑ण्यवर्णा मधुक॒शा घृ॒ताची॑ म॒हान् भर्ग॑श्चरति॒ मर्त्ये॑षु ॥ ४ ॥
म॒धोः कशा॑मजनयन्त दे॒वास्तस्या॒ गर्भो॑ अभवद् वि॒श्वरू॑पः ।
तं जा॒तं तरु॑णं पिपर्ति मा॒ता स जा॒तो विश्वा॒ भुव॑ना वि च॑ष्टे ॥ ५ ॥
कस्तं प्र वे॑द॒ क उ॒ तं चि॑केत॒ यो अ॑स्या हृ॒दः क॒लशः॒ सोम॒धानो॒ अक्षि॑तः।
ब्र॒ह्मा सु॒मे॒धाः सो अ॑स्मिन् मदेत ॥ ६ ॥
स तौ॒ प्र वे॑द॒ स उ॒ तौ चि॑केत॒ याव॑स्याः॒ स्तनौ॑ स॒हस्र॑धारा॒वक्षि॑तौ ।
ऊर्जं॑ दुहाते॒ अन॑पस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥
हि॒ङ्क॒रि॒क्र॒ती बृ॑ह॒ती व॑यो॒धा उ॒च्चैर्घो॑षा॒भ्येति॒ या व्र॒तम् ।
त्रीन् घ॒र्मान॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः ॥ ८ ॥

अर्थ- (आदित्यानां माता) यह आदित्योंकी माता, (वसूनां दुहिता) वसुओंकी दुहिता, (प्रजानां प्राणः) प्रजाओं का प्राण और (अमृतस्य नाभिः) यह अमृतका केन्द्र है, (हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची) सुवर्ण के समान वर्णवाली यह मधुकशा घृतका सिंचन करनेवाली है, यह (मर्त्येषु महान् गर्भः चरति) मर्त्योंमें यह महान् तेजहि संचार करता है ॥ ४ ॥

(देवाः मधोः कशा अजनयन्त) इस मधुकी कशाको देवोंने बनाया है, (तस्याः विश्वरूपः गर्भः अभवत्) उसका यह विश्वरूप गर्भ हुआ है । (तं तरुणं जातं माता पिपर्ति) उस जन्मे हुए तरुणको वही माता पालती है, (सः जातः विश्वा भुवना विचष्टे) वह होतेहि सब भुवनोंका निरीक्षण करता है ॥ ५ ॥

(कः तं प्रवेद) कौन उसे जानता है, (कः उ तं चिकेत) कौन उसका विचार करता है ? (अस्याः हृदः) इसके हृदयके पास (यः सोमधानः कलशः अक्षितः) जो सोमरससे भरपूर पूर्ण कलश विद्यमान है, (अस्मिन्) इसमें (सः सुमेधाः ब्रह्मा) वह उत्तम मेधावाला ब्रह्मा (मदेत) आनंद करेगा ॥ ६ ॥

(सः तौ प्रवेद) वह उनको जानता है, (सः उ तौ चिकेत) वह उनका विचार करता है, (यौ अस्याः सहस्रधारौ अक्षितौ स्तनौ)जो इसके सहस्रधारायुक्त अक्षय स्तन हैं । वे(अनपस्फुरन्तौ ऊर्जं दुहाते)अविचलित होते हुए बलवान रसका दोहन करते हैं ॥ ७ ॥

(या हिंकरिक्रती) जो हिंकार करनेवाली (वयो-धा उच्चैर्घोषा) अन्न देनेवाली उच्च स्वरसे पुकारनेवाली(व्रतं अभ्येति) व्रतके स्थानको प्राप्त होती है। (त्रीन् घर्मान् अभि वावशाना) तीनों यज्ञोंको वशमें रखनेवाली (मायुं मिमाति) सूर्यका मापन करती है और (पयोभिः पयते) दूधकी धाराओंसे दूध देती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह गौ आदित्योंकी माता, वसुओंकी पुत्री, प्रजाओंका प्राण है और यही अमृतका केन्द्र है । यह उत्तम रंगवाली, घृत देनेवाली और मधुर रसका निर्माण करनेवाली गौ सब मर्त्योंमें एक बडे तेजकी मूर्तीहि है ॥ ४ ॥

देवोंने इस गौका निर्माण किया है, इसको सब प्रकारके रंगरूपका गर्भ होता है, बच्चा होनेके बाद वह उसका प्रेमसे पालन करती है, वह बडा होकर सब स्थानको देखता है ॥ ५ ॥

इस गौके अन्दर सोमरससे परिपूर्ण कलश अक्षयरूपसे रखा है, उस कलशको कौन जानता है और कौन उसका भला विचार करता है ? इसीके दुग्धरूपी रससे अपनी मेधाका वृद्धी करनेवाला ब्रह्मा आनंदित होता है ॥ ६ ॥

जो इस गौके दो स्तन हजारों धाराओंसे सदा अन्नरस देते हैं कौन उनका महत्त्व जानता है और कौन उनके महत्त्वका विचार करता है? ॥ ७ ॥

यह गौ हिंकार करनेवाली, अन्न देनेवाली, उच्च स्वरसे हिंकार करनेवाली यज्ञभूमिमें विचरती है, तीनों यज्ञोंको पालन करती हुई यज्ञके द्वारा कालका मापन करती है और यज्ञके लिए अपना दूध देती है ॥ ८ ॥

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः ।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥
स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥(१)
यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥
यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥
यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥
मधु जनिषीय मधु वंशिषीय । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १४ ॥

अर्थ- (ये वृषभाः) जो वर्षासे भरनेवाले बैल (स्वराजः शाक्वराः आपः) तेजस्वी शक्तिशाली जल (या आपीनां उपसीदन्ति) जिस पान करनेवालीके पास पंहुचते हैं। (तद्विदे कामं ऊर्जं) तत्वज्ञानीको यथेच्छ बल देनेवाले अन्नकी (ते वर्षन्ती) वे वृष्टी करते हैं, (ते वर्षयन्ति) वे वृष्टी कराते हैं ॥ ९ ॥

हे (प्रजापते) प्रजापालक ! (ते वाक् स्तनयित्नुः) तेरी वाणी गर्जना करनेवाला मेघ है, तू (वृषा) बलवान होकर (भूम्यां अधि शुष्मं क्षिपसि) भूमिपर बलको फेंकता है । (अग्नेः वातात् मधुकशा हि जज्ञे) अग्नि और वायुसे मधुकशा उत्पन्न हुई है, यह (मरुतां उग्रा नप्तिः) मरुतोंकी उग्र पुत्री है ॥ १० ॥

(यथा सोमः प्रातःसवने) जैसा सोमरस प्रातःसवन यज्ञमें (अश्विनोः प्रियः भवति) अश्विनी देवोंको प्रिय होता है, हे अश्विदेवो ! (एवा मे आत्मनि) इस प्रकार मेरे आत्मामें (वर्चः ध्रियतां) तेज धारण करें ॥ ११ ॥

(यथा सोमः द्वितीये सवने) जैसा सोमरस द्वितीयसवन-माध्यंदिनसवन-यज्ञमें (इन्द्राग्न्योः प्रियः भवति) इन्द्र और अग्निको प्रिय होता है, हे इन्द्र और अग्नि ! इस प्रकार मेरे आत्मामें तेज धारण करें ॥ १२ ॥

जैसा सोम (तृतीये सवने) तृतीयसवन—सायंसवन-यज्ञमें (ऋभूणां प्रियः भवति) ऋभूओंको प्रिय होता है, हे ऋभुदेवो ! इस प्रकार मेरे आत्मामें तेज धारण करें ॥ १३ ॥

(मधु जनिषीय) मीठास उत्पन्न करूंगा, (मधु वंशिषीय) मीठास प्राप्त करूं। हे अग्ने ! (पयस्वान् आगमं) दूध लेकर मैं आगया हूं, (तं मा वर्चसा संसृज) उस मुझको तेजसे संयुक्त कर ॥ १४ ॥

भावार्थ-जो बैल अपने तेज और बलसे पुष्ट गौओंके समीप होते हैं वे तत्त्वज्ञानीको यथेच्छ बल देनेवाले अन्न की वृष्टी करते और कराते हैं॥ ९ ॥ हे प्रजापालक देव ! मेघगर्जना तेरी वाणी है, उससे तू भूमिके ऊपर अपना बल फेंकता है, वही गाय और बैलके रूपसे अग्नि और वायुका सत्वांश लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ १० ॥

जिस प्रकार सोम प्रातःसवनमें आश्विनी देवोंको प्रिय होता है, उस प्रकार मेरे अन्दर तेज प्रिय होकर बढे॥ ११ ॥

जैसा सोम माध्यंदिन सवनमें इन्द्र और अग्निको प्रिय होता है वैसा मेरे अन्दर तेज प्रिय होकर बढे ॥ १२ ॥

जिस तरह सोम सायंसवनमें ऋभुओंको प्रिय होता है उस तरह मेरे अंदर तेज प्रिय होकर बढे ॥ १३ ॥

मधुरता उत्पन्न करता हूं, मधुरता संपादन करता हूं, हे देव ! मैं दूध समर्पण करनेके लिये आगया हूं, अतः मुझे इससे तेजसे युक्त कर ॥ १४ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ १५ ॥
यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १६ ॥
यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥ १७ ॥
यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु ।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ॥ १८ ॥
अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ ॥ १९ ॥
स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥ २० ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (मा वर्चसा) मुझे तेजसे (प्रजया आयुषा) प्रजासे और आयुसे (सं सं सं सृज) संयुक्त कर। (अस्य मे देवाः विद्युः) इस मुझे सब देव जानें, (ऋषिभीःसह इन्द्रःविद्यात्) ऋषियोंके साथ इन्द्रभी मुझे जानें ॥ १५ ॥

(यथा मधुकृतः) जैसे मधुमक्खियां (मधौ अधि) अपने मधुमें (मधु संभरन्ति) मधु संचित करती हैं, हे अश्विदेवो!(एवा मे)इस प्रकार मेरा(वर्चः तेजः बलं ओजः च)ज्ञान,तेज,बल और वीर्य (ध्रियतां) संचित हो,बढता जाय।१६॥

(यथा मक्षाः) जैसी मधुमक्षिकाएं (इदं मधु) इस मधुको (मधौ अधि न्यञ्जन्ति) अपने पूर्वसंचित मधुमें संगृहीत करते हैं, इस प्रकार हे अश्विदेवो ! मेरा ज्ञान, तेज,बल और वीर्य संचित हो,बढे ॥ १७ ॥

(यथा गिरिषु पर्वतेषु) जैसा पहाडों और पर्वतोंपर और (गोषु अश्वेषु यत् मधु) गौवों और अश्वोंमें जो मीठास है, (सिच्यमानायां सुरायां) सिंचित होनेवाले वृष्टिजलमें (तत्र तत् मधु) उसमें जो मधु है । (यत् मयि) वह मुझमें हो ॥१८

हे (शुभस्पती अश्विनौ) शुभके पालक अश्विदेवो ! (सारघेण मधुना मा सं अंक्तं) मधुमक्खियोंके मधुसे मुझे युक्त करें। (यथा) जिससे (वर्चस्वतीं वाचं) तेजस्वी भाषण (जनान् अनु आवदानि) लोगोंके प्रति मैं बोलूं ॥१९ ॥

हे(प्रजापते) प्रजापालक! तू (वृषा)बलवान है और (ते वाक् स्तनयित्नुः) तेरी वाणी मेघगर्जना है, तू (भूम्यां दिवि) भूमिपर और द्युलोकमें (शुष्मं क्षिपसि) बलकी वर्षा करता है, [तां सर्वे पशवः उपजीवन्ति] उसपर सब पशुओंकी जीविका होती है । और [तेन उ सा इषं ऊर्जं पिपर्ति] उससे वह अन्न और बलवर्धक रसकी पूर्णता करती है ॥ २० ॥

भावार्थ–हे देव! मुझे तेज,प्रजा और दीर्घ आयुसे युक्त कर। देव इस मेरे अभिलषितको जानें और ऋषि भी समझलें॥१५

जिस प्रकार मधुमक्खियां अपने मधु स्थानमें स्थान स्थानसे मधु इकठ्ठा करके भर देती हैं, उस उकार मेरे अन्दर ज्ञान, तेज, बल और वीर्य संचित हो जावे ।। १६ ।।

जैसी मधुमक्खियां अपने मधुस्थान में स्थान स्थानसे मधु इकट्ठा करके भर देती हैं, उस प्रकार मेरे अन्दर ज्ञान,तेज, बल और वीर्य भरता रहे ॥ १७ ॥

जैसी पहाडों और पर्वतोंमें, गौओं और घोडोंमें और वृष्टी जलमें मधुरता है वैसी मधुरता मेरे अन्दर हो जावे ॥ १८ ॥

हे देवो! मुझे उस मधुमक्खियोंके मधुसे संयुक्त कीजिये। जिससे मैं यह मीठास का संदेश संपूर्ण जनोंके पास पहुंचाऊं १९

हे प्रजापालक देव ! तू बलवान है और मेघगर्जना तेरी वाणी है । तूही द्युलोकसे भूलोकतक बलकी वष्टी करता है, सब जीव उसपर जीवित रहते हैं । वह अन्न और बल हम सबको प्राप्त हो ॥ २० ॥

पृथिवी दण्डोऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत् प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः ॥ २१ ॥
यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति ।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ २२ ॥
मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति । मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ २३ ॥
यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति ।
तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति ।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ ॥ (२)

अर्थ— [पृथिवी दण्डः] पृथिवी दण्ड है, [अन्तरिक्षं गर्भः] अन्तरिक्ष मध्यभाग है, [द्यौः कशा] द्युलोक तन्तु हैं, [विद्युत् प्रकशः] बिजुली उसके धागे हैं, और [हिरण्ययः बिन्दुः] सुवर्णमय बिन्दु हैं ॥ २१ ॥

[यः वै कशायाः सप्त मधूनि वेद] जो इस कशाके सात मधु जानता है, वह [मधुमान् भवति] मधुवाला होता है । [ब्राह्मणः च राजा च] ब्राह्मण और राजा, [धेनुः च अनड्वान् च] गाय और बैल, [व्रीहिः च यवः च] चावल और जौ तथा [मधु सप्तकं] सातवां मधु हैं ॥ २२ ॥

[यः एवं वेद] जो यह जानता है वह [मधुमान् भवति] मधुवाला होता है, [अस्य आहार्यं मधुमत् भवति] उसका सब संग्रह मधुयुक्त होता है । और [मधुमतः लोकान् जयति] मीठे लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

[यत् वीध्रे स्तनयति] जो आकाशमें गर्जना होती है, [प्रजापतिः एव तत्] प्रजापति हि वह [प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति] प्रजाओंके लिये, मानो, प्रकट होता है । [तस्मात् प्राचीनोपवीतः तिष्ठे] इसलिए दायें भागमें वस्त्र लेकर खडा होता हूं, हे [प्रजापते] प्रजापालक ईश्वर ! [मा अनु बुध्यस्व] मेरा स्मरण रखो । [यः एवं वेद] जो यह जानता है, [एनं प्रजाः अनु] इसके अनुकूल प्रजाएं होती है तथा इसको [प्रजापतिः अनुबुध्यते] प्रजापति अनुकूलतापूर्वक स्मरणमें रखता है ॥ २४ ॥

भावार्थ— भूमि दण्ड, अन्तरिक्ष मध्यभाग, द्युलोक बडे बाल और बिजली सूक्ष्म बाल हैं और उस पर सुवर्णका बिंदु भूषणके सदृश है । यह गौका विश्वरूप है ।। २१ ।।

जो इस गौके सात मीठे रूप जानता है, वह मधुर बनता है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, गाय, बैल, चावल और जौ और शहद सातवां है । गौके ये सात मीठे रूप हैं ।। २२ ॥

जो इस बातको जानता है, वह मधुर होता है, मधुवाला होता है और मीठे स्थान प्राप्त करता है ।। २३ ॥

जो आकाशमें गर्जना होती है, मानो वह परमेश्वर संपूर्ण प्रजाओंके लिए प्रकट होकर उपदेश करता है । उस समय लोग ऐसी प्रार्थना करें कि " हे देव ! हे प्रजापालक ! मेरा स्मरण करे, मुझे न भूल जा । " जो इस प्रकार प्रार्थना करना जानता है, प्रजाजन उसके अनुकूल होते हैं और प्रजापालक परमेश्वर भी उसका स्मरण पूर्वक भला करता है ।। २४ ।।

सात मधु ।

इस सूक्तमें विशेष कर गौकी महिमा वर्णन की है । इस सूक्तका भावार्थ विचारपूर्वक पढनेसे पाठक स्वयं इस सूक्तमें कही गोमहिमा जान सकते हैं। वेदकी दृष्टीसे गौका महत्त्व कितना है, यह बात इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें सुबोध रीतिसे दर्शायी है।

यह गौ संपूर्ण जगत्का सत्त्व है, यह पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश और प्रकाश का सार है । इस गौमें अमृत रस है जिसका पान करनेसे सब प्रजाजन आनंदित और हृष्टपुष्ट होते हैं । इसका दूध मानो संपूर्ण जगत्के पदार्थोंका वीर्य ही है;

*

वही सबका प्राण और वही अद्भुत अमृत है। विशेष मननशील मनुष्य ही इस गौके महत्त्वको जानते हैं और अनुभव कर सकते हैं। यह गौ देवोंकी माता है और यही सब प्रजाजनोंका प्राण है, क्योंकि इसमें अमृतका मधुर रस भरा है। जो इसका दूध पीते हैं वे माने अपने अंदर अमृत रस लेते हैं और उस कारण वे दीर्घायुषी होते हैं। संपूर्ण अमृत रस का केन्द्र स्रोत इस गौके अंदर है।

अमृतका कलश।

यह गौ संपूर्ण देवोंने अपनी दिव्य शक्तियोंसे उत्पन्न की है। उन्होंने इसके दुग्धाशयमें अमृतका घडा रखा है। जो अपनी मेधाबुद्धी बढाना चाहते हैं वे इस दूधरूपी अमृतको अवश्य पीयें। इस गौके स्तनोंसे जो दुग्धरूपी रस निकलता है, वह मानो अद्भुत बल देनेवाला रस है।

यह अन्नरस देती है, यज्ञ कराती है, व्रत धारण कराती है, और अपने दूधसे सबको पुष्ट करती है। बैल भी हम सबको अनंत प्रकारके सुख देता है। जिस प्रकार सोमरस देवोंको प्रिय होता है, उस प्रकार गायका दूध मनुष्योंको प्रिय होवे और उससे मनुष्योंका तेज बढे। जिस प्रकार मधुमक्खियां थोडा थोडा मधु इकट्ठा करती हैं और अपने मधुस्थानमें उसका संग्रह करती हैं, इसी प्रकार मनुष्योंको उचित है कि वे इन मधुमक्खियोंका अनुकरण करें और अपने अन्दर ज्ञान, तेज, बल, वीर्य और पराक्रम बढावें। शनैः शनैः प्रयत्न करनेपर मनुष्य इन बातोंको अपने अन्दर बढा सकता है।

पहाडों पर्वतों और संपूर्ण जगत्में सर्वत्र मधु भरा है, वह मधुरता मेरे अन्दर आवे। इस गौके रूपसे परमेश्वरकी अद्भुत शक्ति हि पृथ्वीपर मनुष्योंकी उन्नतिके लिए आगयी है। यह बात स्मरण में अवश्य रखिये।

इस मधुरताके सात रूप इस पृथ्वीपर हैं, एक मधुरता ब्राह्मणोंमें ज्ञान रूपसे है, दूसरी मधुरता क्षत्रियोंमें पराक्रमके रूपसे विद्यमान है, इसी प्रकार गौ, बैल, चावल, जौ और शहदमें भी मधुरता है। अतः जो मनुष्य यह बात जानता है वह इन सात पदार्थोंसे अपनी उन्नति करता है।

यह सब उपदेश स्वयं प्रजापतिने किया है, अतः पाठक इसका स्मरण रखें और इन सात शहदोंसे अपना बल बढावें।

इस सूक्तका यह आशय स्पष्ट है, अतः अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

—:०:—

काम।

[२]

(ऋषिः—अथर्वा । देवता-कामः)

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन ।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥ १ ॥
यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥ २ ॥
दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम् ।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥ ३ ॥
नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः ।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ– [सपत्नहनं ऋषभं कामं] शत्रुको नाश करनेवाले बलवान काम को मैं [हविषा आज्येन घृतेन शिक्षामि] हवि घी आदिसे शिक्षित करता हूं। [महता वीर्येण अभिष्टुतः] बडे पराक्रमसे प्रशंसित होकर [त्वं] तू [मम सपत्नान् नीचैः पादय] मेरे शत्रुओंको नीचे कर दे ॥ १ ॥

[यत् मे मनसः न प्रियं] जो मेरे मनको प्रिय नहीं है, [यत् मे चक्षुषः प्रियं न] जो मेरे आंखोंको प्रिय नहीं है, [यत मे बभस्ति] जो मेरा तिरस्कार करता है और [न अभिनन्दति] न मुझे आनन्द देता है, [तत् दुष्वप्न्यं] वह बुरा स्वप्न [सपत्ने प्रतिमुञ्चामि] शत्रुके ऊपर भेज देता हूं [अहं कामं स्तुत्वा] मैं काम की स्तुति करके [उत् भिदेयं] ऊपर उठता हूं ॥ २ ॥

हे काम ! [दुष्वप्न्यं] दुष्ट स्वप्न, [दुरितं च] पाप और [अप्रजस्तां] संतान न होना, (अ-स्व--गतां) निर्धन अवस्था, (अवर्तिं) आपत्ती इन सबको, हे (उग्र काम) बलवान् काम ! तू (ईशानः तस्मिन् प्रतिमुञ्च) सबका स्वामी है, अतः उसपर छोड कि (यः अस्माकं अंहूरणा चिकित्सात्) जो हम सबको पापमय विपत्तिमें डालनेका विचार करता है ॥ ३ ॥

हे काम (नुदस्व) उनको दूर कर, हे काम ! उनको (प्रणुदस्व) हटादे, (ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं वे (अवर्तिं यन्तु) आपत्ती को प्राप्त हों। हे अग्ने ! (अधमा तमांसि नुत्तानां) गाढ अंधारमें भेजे हुए उन शत्रुओंके (त्वं वास्तूनि निर्दह) तू घरोंको जला दे ॥ ४ ॥

भावार्थ— काम (संकल्प) बडा बलवान है और शत्रुका नाश करनेवाला है, उसको यज्ञसे शिक्षित करना चाहिये । वह बडे वीर्यसे प्रशंसित हुआ तो शत्रुओंको नीचे करता है ॥ १ ॥

जो मेरे मन और अन्य इंद्रियोंको अप्रिय है, जो मुझे आनंदित नहीं करता, जो मेरा तिरस्कार करता है, वह दुष्ट स्वप्न मेरे शत्रुकी ओर जावे। मैं इस संकल्पशक्तिके द्वारा उन्नत होता हूं ॥ २ ॥

दुष्ट स्वप्न, पाप, संतान न होना, दारिद्र्य, आपत्ति आदि सब हमारे उन शत्रुओंको प्राप्त हों, जो कि हमें पापमूलक विपत्तिमें डालनेका विचार करते हैं ॥ ३ ॥

काम हमारे शत्रुओंको दूर हटादेवे, उन शत्रुओंको विपत्ति घेरे और जब वे शत्रु गाढ अन्धकारमें पडें तब अग्नि उनके घरोंको जला देवे ॥ ४ ॥

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥
कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाँछम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥
अध्यक्षो वाजी मम कामं उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥ ७ ॥
इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् । कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥ ८ ॥
इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मम पादयाथः ।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम् ॥ ९ ॥

अर्थ- हे काम! (सा धेनुः ते दुहिता उच्यते) वह धेनु तेरी दुहिता कही जाती है, (यां कवयः विराजं वाचं आहुः) जिस को कवि लोग विशेष तेजस्वी वाणी कहते हैं । (ये मम) जो मेरे शत्रु हैं उन (सपत्नान् तया परि वृङ्ग्धि) शत्रुओंको उससे दूर हटा दे । (एनान्) इन शत्रुओंको (प्राणः पशवः जीवनं परि वृणक्तु) प्राण, पशु और आयु छोड देवें ॥ ५ ॥

(कामस्य इन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञः) काम इन्द्र वरुण राजा इनके और (विष्णोः बलेन सवितुः सवेन) विष्णुके बल और सविताकी प्रेरणासे तथा (अग्नेः होत्रेण) अग्निके हवनसे (सपत्नान् प्रणुदे) शत्रुओंको दूर करता हूं। (इव) जैसा (उदकेषु शंबी धीरः नावं) जलमें धैर्यवान् धीवर नौकाको चलाता है ॥ ६ ॥

(उग्रः वाजी कामः) प्रतापी बलवान् काम (मम अध्यक्षः) मेरा अधिष्ठाता है । (मह्यं असपत्नं एव कृणोतु) मुझे सपत्नरहित करे । (विश्वेदेवाः मम नाथं भवन्तु) सब देव मेरे नाथ हों, (सर्वे देवाः मे इमं हवं आयन्तु) सब देव मेरे इस हवन के स्थानमें आवें ॥ ७ ॥

हे (कामज्येष्ठाः) कामको श्रेष्ठ माननेवाले सब देवो ! (इदं घृतवत् आज्यं जुषाणाः) इस घृतयुक्त हवनका सेवन करते हुए (इह मादयध्वं) यहां हर्षित हो जाओ और (मह्यं असपत्नं एव कृण्वन्तः) मुझे शत्रुरहित करो ॥ ८ ॥

हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि ! हे काम ! तुम सब (सरथं हि भूत्वा) समान रथपर चढनेवाले होकर (मम सपत्नान् नीचैः पादयाथः) मेरे शत्रुओंको नीचे करो । (तेषां अधमा तमांसि पन्नानां) वे शत्रु गाढ अन्धकारमें पडनेपर हे अग्ने ! (त्वं वास्तूनि अनुनिर्दह) तू उनके घरोंको जला दे ॥ ९ ॥

भावार्थ- सब कवि लोक कहते हैं कि वाणी काम की पुत्री है । इस वाणीके द्वारा हमारे सब शत्रु दूर हों और उनको प्राण, पशु और आयु छोड देवे ॥ ५ ॥

जिस प्रकार अगाध समुद्रमें नौकाको धीवर लोग चलाते हैं, उस प्रकार देवोंकी शक्तिसे मैं शत्रुओंको इस भवसागर में प्रेरित करता हूं ॥ ६ ॥

बलवान, प्रतापी काम मेरा अधिष्ठाता है । वह मुझे शत्रुरहित करे, देव मेरे स्वामी बनें, सब देव मेरे यज्ञमें आजांय ॥ ७ ॥

काम जिनमें श्रेष्ठ हैं ऐसे सब देव इस यज्ञमें आकर इस हवन द्वारा आनंदित हों और मुझे शत्रुरहित बनावें ॥ ८ ॥

हे इन्द्र, अग्नि और काम ! तुम सब मेरे शत्रुओंको नीचे गिरा दो । वे अन्धकारमें भागें और पश्चात् अग्नि उनके घरोंको जलावे ॥ ९ ॥

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥ (३)
अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ १२ ॥
अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः । यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ॥ १३ ॥
असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् ।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥ १४ ॥
च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥

अर्थ-(ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं, उनका (त्वं जहि) तू नाश कर दे । तथा (एनान् अधमा तमांसि अव पादय) इनको हीन अन्धकारमें गिरा दे । वे (सर्वे निरिन्द्रियाः अरसाः सन्तु) सब इंद्रियरहित और रसहीन हों, (ते कतमच्चन अहः मा जीविषुः) वे एक भी दिन न जीवित रहें ॥ १० ॥

(मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं उनका (कामः अवधीत्) काम ने वध किया है। तथा उसने (मह्यं एधतुं उरुं लोकं अकरत्) मुझे बढनेके लिए विस्तृत स्थान दिया है। (चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सन्मुख नम्र हों। (षट् उर्वीः मह्यं घृतं आवहन्तु) छः भूमिके विभाग मेरे पास घृत ले आवें ॥ ११ ॥

(बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे कटी हुई नौकाके समान (वे अधराञ्चः प्र प्लवन्तां) वे नीचे बहते जांय। (सायकप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) बाणोंसे भगाये शत्रुओंका फिर वापस आना नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

(अग्निः यवः) अग्नि हटानेवाला है, (इन्द्रः यवः) इन्द्र हटानेवाला है और (सोमः यवः) सोम भी हटाने वाला है । (यवयावानः देवाः) हटानेवालेको हटानेवाले देव (एनं यावयन्तु) इस शत्रुको दूर करें ॥ १३ ॥

(प्रणुत्तः द्वेष्यः) भगाया हुआ शत्रु (असर्ववीरः) सर्ववीरोंसे रहित होकर (स्वानां मित्राणां परिवर्ग्यः) अपने मित्रोंके द्वारा भी त्यागा हुआ (चरतु) विचरे । (उत पृथिव्यां विद्युतः अवस्यन्ति) और प्रकाश देनेवाली बिजलियां पृथ्वीपर आजांय । (वः उग्रः देवः) आपका वह प्रतापी देव (सपत्नान् प्रमृणत्) शत्रुओंका नाश करे ॥ १४ ॥

(च्युता च अच्युता च इयं बृहती विद्युत्) विचलित अथवा अविचलित हुई यह बडी विद्युत (सर्वान् स्तनयित्नून् च बिभर्ति) सब गर्जना करनेवालों का धारण करती है । (द्रविणेन तेजसा उद्यन् सहस्वान् आदित्यः) धन और तेजके साथ उदयको प्राप्त होनेवाला बलवान् सूर्य (मे सपत्नान् नीचैः नुदतां) मेरे शत्रुओंको नीचे की ओर भगावे ॥ १५ ॥

भावार्थ— मेरे शत्रुओंका तू नाश कर । वे गाढ अन्धकारमें जांय । वे सब इंद्रियहीन और सत्त्वहीन बनें और एक दिन भी न जीवित रहें ॥ १० ॥ इस कामसे मेरे शत्रु दूर हो गये और मुझे बडा कार्यक्षेत्र प्राप्त हुआ है । चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र हो चुके हैं और सब पृथ्वी मेरे अधिकारमें आ चुकी है ॥ ११ ॥

बंधनसे रहित हुई नौका जैसी महासागरमें जिधर चाहे उधर भटकती है, वैसी मेरे शत्रुओंकी भ्रान्त अवस्था हो गई है, जो अब कभी अपनी पूर्व स्थितिमें नहीं आसकते ॥ १२ ॥ सब देव मुझे सहायता करें और मेरे शत्रुओंको भगा देवें ॥ १३ ॥

हमारे पराक्रमसे भगाये हुए शत्रु अब चारों ओर भटक रहे हैं, न उनके पास कोई वीर हैं, न उनके पास कोई मित्र हैं, न उनके लिये कोई परिवार रहा है । सब देव मुझे सहायता करें और शत्रु नष्ट हों ॥ १४ ॥

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम् ।
तेन सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥
येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय ।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १७ ॥
यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे ।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १८ ॥
कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ १९ ॥
यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २० ॥ (४)

अर्थ- हे काम! (यत् ते त्रिवरूथं उद्भु) जो तेरा तीनों ओरसे रक्षक उत्कृष्ट शक्तिवाला [विततं ब्रह्म वर्म] फैला हुआ ज्ञान का कवच [अनतिव्याध्यं कृतं] शस्त्रोंसे वेध न होने योग्य बनाया और [शर्म] सुखदायक है [तेन] उससे [ये मम] जो मेरे शत्रु हैं उन [सपत्नान् परिवृङ्धि] शत्रुओंको दूर कर । [एनान् प्राणः पशवः जीवनं परि वृणक्तु] इनको प्राण, पशु और आयु छोड देवे ॥ १६ ॥

[येन देवाः असुरान् प्राणुदन्त] जिससे देव असुरोंको दूर करते रहे, [येन दस्यून् इन्द्रः अधमं तमः निनाय] जिससे शत्रुओंको इन्द्रने हीन अन्धकारमें डाल दिया, हे काम! [तेन] उससे [मम ये सपत्नाः] मेरे जो शत्रु हैं [तान् सपत्नान्] उन शत्रुओंको [त्वं अस्मात् लोकात्] तू इस लोकसे [दूरं प्रणुदस्व] दूर भगा ॥ १७ ॥

[यथा देवाः असुरान् प्राणुदन्त] जिस रीतिसे देवोंने असुरोंको हटाया, [यथा इन्द्रः दस्यून् अधमं तमः बबाधे] जिस प्रकार इन्द्रने शत्रुओंको हीन अन्धकारमें डाला, [तथा त्वं काम] उस प्रकार हे काम ! तू [मम ये सपत्नाः] मेरे जो शत्रु हैं (तान् अस्मात् लोकात् दूरं प्रणुदस्व) उनको इस लोकसे दूर हटा दे ॥ १८ ॥

(कामः प्रथमः जज्ञे) काम सबसे पहिले उत्पन्न हुआ (देवाः एनं न आपुः) देवोंने इसको प्राप्त नहीं किया और (पितरः मर्त्याः न) पितरोंको और मर्त्योंको भी यह प्राप्त नहीं हुआ । [ततः त्वं ज्यायान् असि) अतः तू श्रेष्ठ है और (विश्वहा महान्) सदा महान् है । हे काम ! (तस्मै ते इत् नमः कृणोमि) उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ १९ ॥

(यावती वरिम्णा द्यावापृथिवी) जितनी विस्तारसे द्यौ और पृथिवी बडी है, (यावत् आपः सिष्यदुः) जहांतक जल फैला है, (यावत् अग्निः) जबतक अग्नि फैला है, (ततः त्वं ज्यायान् असि) उससे भी तू बडा है, और (विश्वहा महान्) सदा बडा है । हे काम (तस्मै ते०) उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २० ॥

भावार्थ-- यह विद्युत् और यह सूर्य अर्थात् इनमें जो देव है वह मेरे शत्रुओंको दूर भगा देवे ॥ १५ ॥

इस कामका बडा संरक्षक ज्ञानमय कवच है वह सब सुखोंका देनेवाला है । इसको मैं पहनता हूं, जिससे शत्रुके शस्त्र मेरा वेध नहीं करेंगे, और सब शत्रु प्राण, पशु और आयुसे रहित हो जायंगे ॥ १६ ॥

जिस शक्तिसे देवोंने असुरोंका और इन्द्रने दस्युओंका पराभव किया उस शक्तिसे मैं अपने शत्रुओंको इस स्थानसे भगा दूंगा ॥ १७-१८ ॥

काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ । देवों, पितरों और मर्त्योंका प्रकट होना उसके पश्चात् है। अतः काम सबसे श्रेष्ठ है । इस लिये मैं उसको नमन करता हूं ॥ १९ ॥

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २१ ॥
यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २२ ॥
ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २३ ॥
न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥
यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥ २५ ॥ (५)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (यावतीः दिशः प्रदिशः विषूचीः) जहांतक दिशाएं और उपदिशाएं फैली हैं और (यावतीः दिवः अभि चक्षणाः आशाः) जहां तक द्युलोकका प्रकाश फैलानेवाली दिशाएं हैं, (ततः त्वं०) उनसे भी तू बडा और सदा महान् है, हे काम मैं उस तुझको नमस्कार करता हूं ॥ २१ ॥

(यावतीः भृंगाः जत्वः) जहांतक भौंरे, मक्खियां, (यावतीः कुरूरवः वघाः) जहांतक नीलें और काटनेवाले डेमू और (वृक्षसर्प्यः बभूवुः) वृक्षपर चढनेवाले सर्प होते हैं (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम ! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २२ ॥

हे काम ! हे (मन्यो) उत्साह ! तू (निमिषतः ज्यायान्) पलक मारने वालोंसे बडा, (तिष्ठतः ज्यायान्) ठहरनेवालोंसे भी बडा, (समुद्रात् असि) समुद्रसे भी बडा है। (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम ! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २३ ॥

(वातः चन कामं न आप्नोति) वायु कामको नहीं प्राप्त करता, (न अग्निः, सूर्यः, न उत चन्द्रमाः) अग्नि, सूर्य और चन्द्र इनमेंसे कोई भी उसको प्राप्त नहीं कर सकता। (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है,हे काम! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २४ ॥

हे काम (याः ते शिवाः भद्राः तन्वः) जो तेरी कल्याणकारी और हितकर शरीरें हैं, (याभिः) जिनसे तू (यत् सत्यं भवति) जो सच्चा होता है उसका (वृणीषे) स्वीकार करता है। (ताभिः त्वं अस्मान् अभि सं विशस्व) उनसे तू हम सबमें प्रविष्ट हो और (पापीः धियः) पाप बुद्धियोंको (अन्यत्र अपवेशय) दूर करो ॥ २५ ॥

भावार्थ— जितना पृथ्वीका विस्तार है, जहांतक जल फैले हैं, जहांतक प्रकाशकी व्याप्ति है, दिशाएं जहांतक फैली हैं, पशुपक्षी जहांतक दौडते हैं उन सबकी व्याप्तिसे कामकी व्यापकता बढकर है ॥ २०-२२ ॥

आंखें मूदनेवाले प्राणियोंसे कामकी शक्ति बढकर है, स्थिर पदार्थोंसे भी बढकर है, पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश से भी बढी है। सूर्य चन्द्रसे भी बढकर है अर्थात् यह काम सबसे बढकर है ॥ २३-२४ ॥

अतः हे काम ! शुभ, भद्र और सत्य जो है वह मेरे पास प्राप्त हो और पापबुद्धि मुझसे दूर चली जाय ॥ २५ ॥

संकल्पशक्ति ।

इस सूक्तमें ' काम ' शब्द है वह स्त्री संबंधके विषयका वाचक नहीं है, परंतु संकल्पशक्तिका वाचक है । यह काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है ऐसा इस सूक्तके निम्नलिखित मंत्रमें कहा है--

कामो जज्ञे प्रथमः । (मं० १९)

" काम सबसे पहिले प्रकट हुआ । " यही बात वेदमें अन्यत्र कही है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । ऋ० १० । १२९ । ४

" आरंभमें मनका वीर्य बढानेवाला काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ । इस प्रकार कामकी उत्पत्ति सबसे प्रथम कही है । उपनिषदोंमें भी देखिये—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ॥ बृ० उ० १ । ५ । ३
काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिः० य एवायं काममयः पुरुषः० ॥ बृ० उ० ३ । ९ । ११
कामोऽकार्षीन्नाहं करोमि, कामः करोति, कामः कर्ता, कामः कारयिता ॥ महानारा० उ० १८ । २

" काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा), धीः (बुद्धि), भीः (भय) यह सब मनमें रहता है । इन सबमें जो पहली लहरी है वह कामकी लहरी है । काम सबका आधारस्थान है, उसका तेज मन है और हृदय लोक है । यह मनुष्य काममय है अर्थात् जिस प्रकार के इसके काम होते हैं वैसा यह बनता है । काम ही सबका कर्ता है, मैं कर्ता नहीं हूं । कामके द्वारा यह सब चलाया जाता है । " इस रीतिसे उपनिषदोंमें कामके विषयमें कहा है । यहां कामका अर्थ ' संकल्प ' है यह बात स्पष्ट हो गई है । यह संकल्प अच्छा हुआ तो मनुष्यका भला होता है और बुरा हुआ तो बुरा होता है । यह बुरा हो वा भला हो, इसमें बडी भारी शक्ति रहती है । मानो संपूर्ण मनुष्य इसीकी प्रेरणासे प्रेरित होकर बुरा भला कर्म कर रहे हैं । यह मानवोंका व्यवहार देखनेसे कहना पडता है कि इस काम–संकल्प–की शक्ति बहुत ही बडी है, इसी शक्तिका वर्णन इस सूक्तमें किया है ।

जगत्के प्रारंभमें आत्माके अन्दर ' काम किंवा संकल्प ' उत्पन्न हुआ, इसका दर्शक उपनिषद्वचन यह है— 'सोऽकामयत' (बृ० उ० १ । २ । ४, तै० उ० २ । ६ । १) उस आत्माने कामना की और उसकी कामना सिद्ध हुई जिससे यह सब जगत् निर्माण हुआ है। परमात्माके संकल्प शुद्ध थे अतः वे सिद्ध हो गये । जिसके संकल्प शुद्ध होते हैं उसके सब संकल्प सिद्ध होते हैं, अतः कहा है—

यं यं कामं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति । छां० उ० ८ । २ । १०

" जो कामना करता है वह संकल्प होते ही सिद्ध हो जाती है । " यह संकल्पका बल है । इस संपूर्ण सृष्टीकी उत्पत्ति भी इसी प्रकार हो गई है । मनुष्यकी कामनामें भी यह बल अल्प अंशसे है । इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यदि इस काममें इतनी प्रचण्ड शक्ति है तो अवश्य ही उसको सुशिक्षासे युक्त करना चाहिये, अतः कहा है—

सपत्नहनं ऋषभं कामं हविषा शिक्षामि । (मं० १)

" शत्रुका नाश करनेवाला बलवान् काम है, उसको यज्ञसे शिक्षित करता हूं। " इस कामनामें– इस संकल्पमें– बडी शक्ति है, परंतु वह यदि अशिक्षित रही, तो हानि करेगी, अतः उसको शिक्षा देकर उत्तम नियम व्यवस्थामें चलनेवाली करनी चाहिये । अतः शिक्षाकी आवश्यकता है । शिक्षा यज्ञसे–हविसे अर्थात् आत्मसमर्पणसे– होती है । हवि जैसा जगत् की भलाई के लिये स्वयं जल जाता है, पूर्णतया समर्पित होता है वैसा मनुष्यको आत्मसमर्पण करना चाहिये । आत्मसमर्पण की शिक्षासे अपने संकल्प को शिक्षित करना चाहिये । इस रीतिसे सुशिक्षित हुआ यह काम [महता वीर्येण] बडे वीर्य-पराक्रमसे युक्त होता है और मनुष्य इसके प्रभावसे अपने सब शत्रु दूर कर सकता है ।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषः यन्मे नाभिनन्दति । [मं० २]

" जो मनको और आंखको प्रिय नहीं होता है और जो अन्य इंद्रियोंको भी अप्रिय होता है, जो अपने आत्माको सन्तोष नहीं देता । " उसको दूर करना इसी सुशिक्षित कामसे होता है । इसीसे [अहं उत् भिदेयं] अपने ऊपरका दबाव हटाकर, उसका भेदन करके अपनी उच्च अवस्था की जा सकती है । यह सब मनुष्य के प्रयत्नसे साध्य होनेवाली बात है । परंतु यह तब होगा जब कि मनुष्यकी कामना सुशिक्षायुक्त होगी, अन्यथा यही प्रचंड शक्ति इसका नाश करेगी ।

[कामः उग्रः ईशानः] काम बडा उग्र अर्थात् प्रतापी है और वह ईश्वर है अर्थात् मनुष्यकी भवितव्यताका वह स्वामी है। क्यों कि मनुष्यका भूत, भविष्य, वर्तमान यही घडता है । जैसा यह बनाता है वैसी मनुष्यकी स्थिति बनती है । अतः इसका महत्त्व बडा भारी है । इसका ऐसा विलक्षण प्रभाव है इसी लिये इसकी सहायतासे मनुष्य निःसन्देह उन्नति प्राप्त कर सकता है–

दुरितं अप्रजस्तां अ--स्व--गतां अवर्तिं मुञ्च । [मं० ३]

" पाप, संतान न होना, निर्धनता और विपत्ति इनको दूर कर सकता है । " मनुष्यकी भी यही इच्छा हुआ करती है । कोई मनुष्य नहीं चाहता कि मुझे पाप लगे, संतान न हो, दारिद्र्य मेरे पास आजाय और मैं विपत्तिमें सडता रहूं, ऐसा कोई भी नहीं चाहता । परंतु ये संपूर्ण विपत्तियां मनुष्यको भोगनी पडती हैं, इसका कारण यह है कि मनुष्यकी कामना अशिक्षित होती है, वह विपरीत संकल्प करती है और उसका फल विपत्तिरूप उसे भोगना ही पडता है । इस कामकी पुत्री वाणीरूपी धेनु है, इसका वर्णन इस प्रकार है--

ते दुहिता धेनुः यां कवयो वाचं आहुः । (मं० ५)

" कामकी पुत्री एक धेनु है जिसको कवि लोग वाणी कहते हैं । " यह वाणी भी कामके समान ही बडी प्रभावशालिनी है । यदि यह वाणी उत्तम रीतिसे प्रयुक्त की गई तो शत्रु मित्र बनते हैं और यदि बुरी तरहसे इसका प्रयोग किया गया तो मित्र शत्रु होते हैं । इसलिये काम को सुशिक्षित करनेके समय वाणीको भी शिक्षित करना अत्यन्त आवश्यक है, यह बात अनुभवसिद्ध ही है ।

उग्रः वाजी कामः मम अध्यक्षः मह्यं असपत्नं कृणोतु । (मं० ७)

" प्रतापी, बलवान् काम मेरा अध्यक्ष है वह मुझे शत्रुरहित करे । " अर्थात् यह काम किंवा संकल्प हरएक मनुष्यका अधिष्ठाता है । अधिष्ठाता वह होता है कि जो सतत साथ रहता हुआ निरीक्षण करता है । यही कामका कार्य है । यह मनुष्योंके चालचलन का अधिष्ठाता होकर निरीक्षण करता है । यदि अधिष्ठाता शिक्षित हुआ, तो अच्छी सहायता होती है और यदि बुरा रहा तो हीन प्रवृती करता है, बुरे मार्गसे ले जाता है, जिसका परिणाम खराब होता है । इसलिये प्रार्थना की है कि–

विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु । सर्वे देवा मम हवमायन्तु ॥ (मं० ७)

" सब देव मेरे रक्षक बनें, सब देव मेरे यज्ञका स्वीकार करें । " इस प्रकार देवोंके द्वारा मेरी सहायता होती रही, तो निःसंदेह मेरी कामना शुद्ध होगी और मेरी उन्नति हो जायगी । अंतः यह मेरी प्रार्थना सब देव सुनें और कृपा करके मेरी रक्षा करें । ये देव "काम–ज्येष्ठाः" अर्थात् इनमें काम हि श्रेष्ठ है, सब देवोंमें यह काम देव सबसे श्रेष्ठ है । क्योंकि जगत् रचना करनेमें सब देव सहायता करतेही हैं, परंतु परमात्माका काम–संकल्प–जबतक जाग नहीं उठता, तबतक कोई अन्य देव रचनाके कार्यमें अपने आपको नहीं लगा सकते । यह कामका महत्त्व है । मनुष्यके व्यवहारमें भी देखिये सबसे पहिले संकल्प होता है, तत्पश्चात् इंद्रियव्यापार होजाते हैं । इसीलिये सर्वत्र कामका–संकल्पका–महत्त्व वर्णन किया है । जीवात्माका परमात्मामें तथा कामका अन्य देवोंके साथ संबंध होता है । यह देखनेसेहि सब देवोंमें काम श्रेष्ठ कैसा है यह जान सकते हैं–

परमात्मा	जीवात्मा
काम, संकल्प [अधिष्ठाता]	काम, संकल्प
महत्तत्त्व	बुद्धि
चन्द्रमाः	मन
इन्द्र	चित
सूर्य	नेत्र

वायु	प्राण
अग्नि	वाणी
जल	वीर्य

इस रीतिसे सब देवोंका अधिष्ठाता काम है। शरीरमें जो देव हैं वे विश्वके देवोंके सूक्ष्म अंशही हैं, अतः दोनों स्थानोंमें देवोंका संबंध एक जैसा ही है। जैसा संकल्प होता है वैसे अन्यान्य देव शरीरमें तथा जगत्में अनुकूलतासे कार्य करते हैं। अपने शत्रु नाश पावें और मेरा विजय जगत्में होवे, यही सबकी भावना सर्वसाधारण होती है अतः कहा है—

अवधीत्कामो मम ये सपत्ना: । उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो, मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ (मं० ११)

"संकल्पहि शत्रुओंका नाश करता है, संकल्प हि वृद्धी करनेके लिए विस्तृत कार्यक्षेत्र देता है। संकल्पसे हि चारों दिशाएं मनुष्यके सामने नम्र होती हैं और संकल्पसे हि सब भूप्रदेशोंसे घृतादि अन्नभोग प्राप्त होते हैं।" यदि किसीने संकल्प हि इस प्रकार नहीं किया तो उसका क्या होगा ? पाठक विचार की दृष्टिसे जगत्में देखें, तो उनको स्पष्ट दिखाई देगा कि इस जगत्के व्यवहारमें सर्वत्र 'काम' की ही प्रेरणा हो रही है, हरएक कर्मके पीछे काम होता है, यदि किसी स्थानपर काम न रहा तो कोई कार्य बनता नहीं। अतः इस मंत्रमें कहा है कि जो भी कुछ इस जगत्में बन रहा है कामकी प्रेरणासे हि बन रहा है।

पूर्वोक्त कोष्टकमें दर्शाया है कि अग्नि, इन्द्र, सोम अथवा अन्य देव ये सब कामकी प्रेरणासे कार्य कर रहे हैं, उनके प्रतिनिधि वाणी, मन और चित्त ये भी संकल्पसेहि अपने अपने कार्यमें प्रेरित हो रहे हैं। इसी रीतिसे (अग्निः यवः) अग्नि शत्रु दूर करता है, अन्य देवभी शत्रुओंको दूर करते हैं, यह सब पूर्वोक्त रीतिसे हि समझना चाहिये।

कामका कवच।

यह काम एक ऐसा कवच पहनता है, कि जिससे शत्रुके आघात अपने ऊपर लगतेहि नहीं, देखिये—

यत्ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम् । (मं० १६)

" यह कामका एक विलक्षण कवच है जो तीनों केन्द्रोंमें उत्तम रक्षा करता है, इससे (अन्— अतिव्याधि) शत्रुके शस्त्रोंका प्रहार अपने उपर नहीं लगता, यह (ब्रह्म वर्म) ज्ञानका कवच है। इस ब्रह्मवर्मका वर्णन इससे पूर्व इसी काण्डमें द्वितीय सूक्तके दशम मंत्रमें आया है। वहां की व्याख्यामें इसका वर्णन पाठक अवश्य देखें।

यह काम [प्रथमः जज्ञे] सबसे पूर्व उत्पन्न हुआ, इसके बाद अन्य देव जाग उठे हैं अतः अन्य देव इसको प्राप्त कर नहीं सकते। जो हमारे पूर्व दो हजार वर्ष हुए होंगे, उनको हम कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार काम की उत्पत्ति पहिले और अन्य देवोंकी बाद होनेसे अन्य देव कामको प्राप्त नहीं कर सकते यह बिलकुल ठीक है। अतः कहा है—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्० । [मं० १९]

" काम सबसे पहिले उत्पन्न हुआ अतः इसको देव प्राप्त नहीं कर सकते और पितर अथवा मर्त्यभी नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि पितर और मर्त्य तो देवोंके पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। इस कारण यह काम सबसे उच्च और समर्थ है, इसकी श्रेष्ठता सदा सर्वदा स्थिर रहनेवाली है। अतः इसका सामर्थ्य सर्वतोपरि है।

आगे मंत्र २१ से २४ तक के चार मन्त्रोंमें काम सबसे श्रेष्ठ है यही बात कही है। संपूर्ण पदार्थोंसे, स्थिरचरोंसे, अर्थात् सबसे यह श्रेष्ठ है। पंचमहाभूतोंसे, सब प्राणियोंसे, सूर्य और चन्द्रमासे तथा सब अन्योंसे, काम श्रेष्ठ और समर्थ है। अतः अन्तिम मंत्रमें प्रार्थना यह है कि—

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।

ताभिष्ट्वमस्माँ अभि संविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः । [मं० २५]

" कामके अंदर जो शुभ और कल्याणकारी भाग है, जिससे सब सत्य की सिद्धी होती है, वह शुभ भाग मेरे अंदर घुस जाय और जो पापका भाग है, वह दूर हो।" संकल्प एक बडी भारी शक्ति है, उससे पापभी होगा और पुण्यभी। इस कारण मनुष्य को उचित है कि वह सदा शिवसंकल्प करे और पाप संकल्पसे दूर रहे। इस रीतिसे मनुष्य अपनी कामना शुभ कराके सदा उन्नतिके पथसे ऊपर जा सकता है॥

गृहनिर्माण ।

(३)

(ऋषिः—भृग्वंगिराः । देवता—शाला)

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत । शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥
यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥
आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान् । परूंषि विद्वांछस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ॥ ३ ॥
वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च । पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥४॥
संदंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च । इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि ॥५॥

अर्थ– (विश्ववारायाः शालायाः उपमितां) सब भयके निवारक घरके स्तंभों, (प्रतिमितां) स्तंभोंके जोडों (अथो उत परिमितां) और उत्तम बंधनोंके (नद्धानि वि चृतामसि) ग्रंथियोंको हम बांधते हैं ॥ १ ॥

हे (विश्व-वारे) सब दुःखोंका निवारण करनेवाले घर ! (यत् ते नद्धं) जो तेरा बन्धन है, [यः पाशः ग्रन्थिः च कृतः] जो पाश और ग्रंथि पहिले किए हैं, (बृहस्पतिः वाचा बलं इव) बृहस्पति अपनी वाणीके द्वारा जैसा शत्रुसैन्यका नाश करता है, उस प्रकार (तत् विस्रंसयामि) उनको मैं खोलता हूं ॥ २ ॥

(आययाम) इकठ्ठा किया, (सं बबर्ह) जोड दिया और [ते दृढान् ग्रंथीन् चकार] तेरे गांठोंको सुदृढ कर दिया है । (परूंषि विद्वान् शस्ता इव) जोडोंको जान कर काटनेवालेके समान (इन्द्रेण विचृतामसि) इन्द्रकी सहायतासे हम बांध देते हैं ॥ ३ ॥

हे (विश्व-वारे) सब कष्टोंका निवारण करनेवाले घर ! (ते वंशानां नहनानां) तेरे वांसों और बंधनों तथा (प्राणाहस्य तृणस्य च) जोडों और घासका तथा (ते पक्षानां नद्धानि) तेरे दोनों ओरके बंधनोंको (वि चृतामसि) मैं बांधता हूं ॥ ४ ॥

(मानस्य पत्न्याः) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित हुए घरके (संदंशानां पलदानां) कैंचियोंके और चटाइयोंके (च परिष्वंजल्यस्य) तथा विलासस्थानके (इदं नद्धानि विचृतामसि) इस प्रकारके बंधनोंको मैं बांधता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ– बहुत कष्टोंको दूर करनेके लिए घर बनाया जाता है । उस घरके स्तंभों, सहारोंकी लकडियों, डंडियोंकी तथा छप्परकी लकडियोंको हम उत्तम रीतिसे सख्त जोड देते हैं ॥ १ ॥

जो बंधन और ग्रंथियां तथा जो और पाश पहिले बांधे थे, उनको मैं अब ढीला करता हूं। जिस प्रकार ज्ञानी अपनी वाणीसे शत्रुसैन्यको ढीला बना देता है ॥ २ ॥

पहिले सब सामान इकठ्ठा किया, उसको यथास्थान जोड दिया, उनके जोड बडे मजबूत किये । जोडनेके स्थानोंको यथायोग्य रीतिसे काटनेका ज्ञान जिसको है, उसके समानहि काटा और सबको प्रभुत्वके साथ बांधा है ॥ ३ ।

घरके बांसों, बंधनों, जोडोंके स्थान, घास और दोनों ओरके बंधनोंको योग्य रीतिसे मैं मजबूत बांध देता हूं ॥ ४ ॥

प्रमाणसे बंधे हुए इस घरके कैंचियों, चटाइयों और आन्तरिक स्थानोंके सब बंधनोंको मैं अच्छी प्रकार बांधता हूं ॥ ५ ॥

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम् ।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव ॥ ६ ॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः । सदो देवानामसि देवि शाले ॥ ७ ॥
अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति । अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥
यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥ ९ ॥
अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता ।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥ (६)

अर्थ- (यानि ते अन्तः शिक्यानि) जो तेरे अन्दर छींकें (रण्याय कं आबेधुः) रमणीयताके लिए सुखसे बांधे हैं, (ते तानि प्रचृतामसि) तेरेसे उनको हम बांधते हैं । तू (मानस्य पत्नी) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित होनेवाली (उद्धिता) ऊपर उठायी हुई (नः तन्वे शिवा भव) हमारे शरीरके लिए कल्याणकारिणी हो ॥ ६ ॥

हे (शाले देवि) गृहरूपी देवते ! (हविर्धानं) हविष्य अन्नका स्थान, (अग्निशालं) अग्निशाला अथवा यज्ञशाला, (पत्नीनां सदनं) स्त्रियोंके रहनेका स्थान, (सदः) रहनेका स्थान, और (देवानां सदः) देवताओंका स्थान (असि) तू है ॥ ७ ॥

(विषूवति अोपशं) आकाश रेषापर आभूषण रूप हुआ (विततं सहस्राक्षं अक्षुं) फैला हुआ हजारों छिद्रोंवाला जाल (अवनद्धं अभिहितं) बंधा और तना हुआ (ब्रह्मणा वि चृतामसि) ज्ञानसे बांधते हैं ॥ ८ ॥

हे (मानस्य पत्नि शाले) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित घर ! (यः त्वा प्रतिगृह्णाति) जो तुझे लेता है, (येन च त्वं मिता असि) जिसने तेरा प्रमाण किया है, (उभौ तौ) दोनों वे (जरदष्टी जीवतां) वृद्धावस्थातक जीवित रहें ॥ ९ ॥

(यस्याः ते) जिस तेरे (अंगं अंगं परुः परुः) प्रत्येक अंग और प्रत्येक जोड (विचृतामसि) हमने मजबूत बनाया है, वह तू (अमुत्र दृढा नद्धा परिष्कृता) वहां सुदृढ, बंधी हुई और सुसिद्ध होकर (एनं आगच्छतात्) इसके पास आ ॥ १० ॥

भावार्थ- घरके अन्दर जो छीकें रखीं हैं, जिनपर सुख देनेवाले पदार्थ भरकर रखे हैं उनको हम उत्तम रीतिसे बांध देते हैं। इस प्रकार बनाई यह उच्च शाला हमारे शरीरोंको सुख देनेवाली हो ॥ ६ ॥

घरके अन्दर धान्यका स्थान, हवनका कमरा, स्त्रीयोंका बैठनेका स्थान, अन्य मनुष्योंके लिए बैठने उठनेका स्थान और देवोंके लिए स्थान होवे ॥ ७ ॥

ऊपरके भागमें भूषणके समान दिखाई देनेवाला, हजार सुंदर छिद्रोंवाला फैला हुआ जाल हम उत्तम रीतिसे फैलाकर और तानकर बांधते हैं ॥ ८ ॥

यह प्रमाणसे बंधा हुआ घर है, जिसने इसका माप लिया और जिसने यह बनाया वे दीर्घकाल तक जीवित रहें ॥ ९ ॥

इस घरका प्रत्येक भाग और हरएक पुर्जा अच्छी प्रकार सुदृढ बनाया है, इस प्रकार सुदृढ बना हुआ यह घर इसके आधीन होवे ॥१०॥

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन् ।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ११ ॥
नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।
नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥ १२ ॥
गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १३ ॥
अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह। विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि॥ १४॥
अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् ।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः ।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

अर्थ- हे शाले ! (यः त्वा निमिमाय) जिसने तुझे बनाया, और जिसने(वनस्पतीन् संजभार)वृक्षोंको काटकर जमाया, हे शाले ! (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमेष्ठी प्रजापतिने (त्वा प्रजायै चक्रे) तुझे प्रजाके लिए निर्माण किया ॥ ११ ॥

(तस्मै दात्रे नमः) उस काटनेवालेको नमस्कार । (शालापतये नमः कृण्मः) शालाके स्वामीको नमस्कार करते हैं। (नमः प्रचरते अग्नये) चलनेवाले अग्निके लिए नमस्कार और (ते पुरुषाय च नमः) तेरे पुरुषके लिए नमस्कार है १२

(यत् शालायां विजायते) जो शालामें होता है उस (गोभ्यः अश्वेभ्यः नमः) गौओं और घोडोंके लिए नमस्कार। हे (विजावति प्रजावति) उत्पादक और संतानयुक्त घर ! (ते पाशान् वि चृतामसि) तेरे पाशोंको हम बांधते हैं ॥ १३ ॥

(पशुभिः सह पुरुषान्) पशुओंके साथ मनुष्योंको और (अग्निं) अग्निको (अन्तः छादयसि) अन्दर गुप्त रखती है। हे (विजावति प्रजावति) उत्पादक और सन्तानयुक्त घर ! तेरे पाशोंको हम बांधते हैं ॥ १४ ॥

(द्यां च पृथिवीं च अन्तरा) द्यु और पृथ्वीके मध्यमें (यत् व्यचः) जो विस्तृत अवकाश है, (तेन ते इमां शालां प्रति गृह्णामि) उससे तेरे इस घरको मैं स्वीकारता हूं। (यत् अन्तरिक्षं रजसः विमानं) जो अन्तरिक्षलोकका बीचमें परिमाण है, (तत् अहं शेवधिभ्यः उदरं कृण्वे) वह मैं खजानोंके लिए उदर जैसा स्थान करता हूं। (तेन तस्मै शालां प्रति गृह्णामि) उससे उसके लिए मैं इस घरका स्वीकार करता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ- प्रजाका पालन करनेकी इच्छा करनेवाले, उच्च स्थानमें स्थिर रहनेवाले बडे कारीगरने इस प्रमाणसे बनाया और उस कार्यके लिये अनेक वृक्षोंको काटा है ॥ ११ ॥

वृक्षोंको काटनेवाले, घरका रक्षक करनेवाले, अग्निको अंदर रखनेवाले तथा अन्य मनुष्योंके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ १२ ॥

घरमें उत्पन्न होनेवाले सब घोडे और गाओंके लिये मैं नमस्कार करता हूं। इस घरको सुदृढ बनाता हूं ॥ १३ ॥

इस घरके अन्दर मनुष्य, पशु और अग्नि रहते हैं अतः इस सन्तानयुक्त और उपजाऊ घरके बंधनोंको मैं सुदृढ करता हूं ॥ १४ ॥

पृथ्वी और द्युलोकमें जो अन्तर है उसमें यह घर निर्माण हुआ है। इसके मध्यभागमें मैं धनसंग्रह करनेका स्थान करता हूं। इस खजानेके स्थानके साथ जो घर होगा वही मैं लेता हूं ॥ १५ ॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ १६ ॥
तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥
इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन् । वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥
ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सौम्यं सदः ॥ १९ ॥
कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)

अर्थ— हे शाले ! (ऊर्जस्वती पयस्वती) तू अन्न युक्त और रसपानयुक्त (पृथिव्यां निमिता मितां) पृथ्वीपर माप लेकर निर्माण की है । तू (विश्वान्नं बिभ्रती) सब प्रकारके अन्नका धारण करनेवाली (प्रतिगृह्णतः मा हिंसीः) लेनेवालेका नाश न कर ॥ १६ ॥

(तृणैः आवृता) घाससे आच्छादित, (पलदान् वसाना) चटाईयोंसे ढंकी (मिता शाला) माप ली हुई शाला (रात्री इव) रात्रीके समान (जगतः निवेशनी) जगत्‌को आश्रय देनेवाली (पद्वती हस्तिनी इव) उत्तम पांववाली हाथिनीके समान (पद्वती पृथिव्यां तिष्ठसि) उत्तम स्तंभोंवाली होकर पृथ्वीपर तू ठहरती है ॥ १७ ॥

(ते इटस्य अपिनद्धं) तेरी चटाईसे बंधे हुएको (अपऊर्णुवन्) आच्छादित करता हुआ (विचृतामि) मैं बांधता हूं । (वरुणेन समुब्जितां) वरुणने जलसे सीधी की हुईको (मित्रः प्रातः व्युब्जतु) सूर्य सबेरे सीधी बना देवे ॥ १८ ॥

(ब्रह्मणा निमितां शालां) ज्ञानीने निर्माण किई हुई शालाकी और (कविभिः मितां निमितां) कवियोंने प्रमाणसे रची हुई (शालां) शालाकी (अमृतौ इन्द्राग्नी रक्षतां) अमर इन्द्र और अग्नि रक्षा करें । यह (सौम्यं सदः) सोम-वनस्पतियों-का घर है ॥ १९ ॥

(कुलाये अधि कुलायं) घोसलेपर घोसला और (कोशे कोशः समुब्जितः) कोशपर कोश सीधा रखा है । (तत्र मर्तः विजायते) वहां मर्त्य उत्पन्न होता है । (यस्मात विश्वं प्रजायते) जिससे सब उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

भावार्थ- घरमें सब प्रकारका अन्न, रसपानका साधन, जल आदि सदा उपस्थित हो । घर प्रमाणसे बनाया जावे । सब प्रकारका अन्न उसमें सिद्ध हो । यह घर कभी किसीका नाश नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

इस घरपर घासका छप्पर रखा है, चारों ओर चटाइयोंका वेष्टन है, सब स्थान प्रमाणसे रखें हैं, इस प्रकारका यह घर सुदृढ स्तंभोंपर वैसा सुरक्षित रहता है, जिस प्रकार हाथिन अपने चार पावोंपर सुरक्षित रहती है॥ १७ ॥

यह स्थान पहिले चटाईसे आच्छादित था, उसीको मैं सुदृढ बनाता हूं । रात्रीके समय इस घरको चन्द्र और दिनके समय सूर्य सरलता का मार्ग दिखाते हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानी और कवियोंने इस घरकी रचना प्रमाणसे की है । इसकी रक्षा इन्द्र और अग्नि करें । यह घर शान्ति देनेवाला हो ॥ १९ ॥

घोसलेपर घोसला अथवा कोशपर कोश रखनेके समान यहां पहिले मजलेपर दूसरा मजला रखा है । इसमें मनुष्यका जन्म होता है, इसीसे सबकी उत्पत्ति होती है ॥ २० ॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥ २१ ॥
प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् । अग्निर्ह्य१न्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥
इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः । गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥
मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव । वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥
प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २५ ॥
दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २६ ॥
प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २७ ॥
उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २८ ॥
ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २९ ॥
ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३० ॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३१ ॥ (८)

अर्थ— [या द्विपक्षा] जो दो पक्षवाली [या चतुष्पक्षा षट्पक्षा निमीयते] और जो चार तथा छः पक्षोंवाली बनायी जाती है, [अष्टापक्षां दशपक्षां] आठ पक्षों तथा दशपक्षोंवाली [मानस्य पत्नीं शालां] प्रमाणसे मापनेवालेद्वारा पालित शालाका [गर्भः अग्निः इव] गूढस्थानमें स्थित अग्निके समान मैं [आशये] आश्रय लेता हूं ॥ २१ ॥

हे शाले ! [प्रतीचीनः] पश्चिमकी ओर मुख करनेवाला मैं [प्रतीचीं अहिंसतीं त्वा प्रैमि] पश्चिमाभिमुख खडी और न हिंसा करनेवाली तुझ शालाके पास मैं आता हूं । [अग्निः आपः च अन्तः] अग्नि और जल अन्दर हैं जो [ऋतस्य प्रथमा द्वाः] यज्ञके पहिले द्वार हैं । ॥ २२ ॥

[इमाः अयक्ष्माः यक्ष्मनाशनीः आपः] ये रोगरहित, रोगनाशक जल [प्रभरामि] शालामें भरता हूं। [अमृतेन अग्निना सह] जल और अग्निके साथ [गृहान् उप प्र सीदामि] घरोंके प्रति मैं आता हूं ॥ २३ ॥

हे शाले ! [नः पाशं मा प्रतिमुचः] हमपर पाश न छोड, [गुरुः भारः, लघुः भव] बडे भार को हलका करने-वाली हो । [वधूं इव] वधूके समान [त्वा यत्र कामं भरामसि] तुझे इच्छाके अनुसार भर देते हैं ॥ २४ ॥

[शालायाः प्राच्याः दक्षिणायाः] घरकी पूर्व और दक्षिण [प्रतीच्याः उदीच्याः] पश्चिम और उत्तर [ध्रुवायाः ऊर्ध्वायाः] ध्रुव और ऊर्ध्व [दिशोदिशः] दिशा और उपदिशाओंके [महिम्ने नमः] महिमाके लिये नमस्कार हो, तथा [स्वाह्येभ्यः देवेभ्यः स्वाहा] उत्तम वर्णन करने योग्य देवोंके लिये [स्वाहा = सु+आह] उत्तम प्रशंसा कहते हैं ॥ २५-३१ ॥

भावार्थ— यह घर दो, चार, छः, आठ या दस कक्षावाला होता है, जैसा पेटमें गर्भ सुरक्षित रहता है उसी प्रकार मैं इसके आश्रयमें रहता हुआ सुरक्षित रहता हूं ॥ २१ ॥

घरकी पश्चिमकी ओर मुख करके घरमें मनुष्य प्रवेश करे । घर में अग्नि और जल सदा रखा जावे । ये ही दो पदार्थ गृहस्थाश्रमके यज्ञको सिद्ध करनेवाले हैं । इस प्रकारका घर सदा सुख देनेवाला होगा ॥ २२ ॥

जहां रोग दूर करनेवाला पानी होगा, वहांसे वह घरमें भरना चाहिये । घरमें जल और अग्नि सदा रहने चाहिये । ऐसे घरमें मनुष्य निवास करे ॥ २३ ॥

भावार्थ— इस प्रकारके घरमें रहनेसे संसारका बडा भार बहुत हलका होगा । जिस प्रकार कुलवधूका संरक्षण और पोषण लोग करते हैं उसी प्रकार ऐसे घरकी रक्षा करना चाहिये और इस घरमें उत्तमोत्तम पदार्थ लाकर रखने चाहिये ॥ २४ ॥

घरकी चारों दिशाओं और उपदिशाओंमें जो सुंदर दृश्यों की महिमा होगी, उसकी सत्कारपूर्वक प्रसन्नता बढानी चाहिये । उत्तम प्रशंसनीय पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, आदि देवोंकी प्रसन्नता इस घरपर रहेगी, ऐसा आचार व्यवहार करना चाहिये ॥ २५-३१ ॥

घरकी प्रसन्नता ।

गृहनिर्माण करनेका और उसको आनंदित, प्रसन्न तथा उत्तम स्वास्थ्यसंपन्न रखनेका उपदेश इस सूक्तमें है । घर उत्तम प्रमाणसे निर्माण किया जावे,उसके स्तंभ,ऊपरकी लकडियां, छप्परका लकडीका सामान सब सुंदर तथा सुव्यवस्थित होवे और सब जोड अच्छे प्रकार मजबूत किये जावें । किसी स्थानपर कमजोरी न रहे । क्योंकि सब घरवालोंका स्वास्थ्य घरकी सुरक्षितता पर निर्भर है । ऐसा सुंदर और मजबूत घर रहनेवालोंके कष्टोंको दूर कर सकता है,परंतु कमजोर और अशक्त तथा बेख्यालसे बनाया गया घर रहनेवालोंका कब नाश करेगा, इसका भी पता नहीं होगा ।

सुतार, तर्खाण और अन्य कारीगर ऐसे लगाये जावें कि जो संधिस्थानोंको (पर्हंषि विद्वान् शस्ता) अच्छी प्रकार काटने और जोडनेकी कला जाननेवाले हों । बांस, लकडियां, घास, चटाइयां आदि जो भी सामान घरमें रखनेका अथवा घरपर लगानेका हो वह सब उत्तम, निर्दोष और सुव्यवस्थासे रखा जावे ।

गृहनिर्माण करनेकी विद्या जाननेवाले को ' मानपति ' कहते हैं । यह घरके प्रमाण से नकशा तैयार करता है और उसी प्रमाणसे भूमिपर रचना करवाता है । इसके लिए प्रमाणोंसे प्रमाणयुक्त जो घर होता है वह सुखदायी होता है । ' मानपति ' (इंजिनियर) को ' सूत्रधार ' भी कहते हैं क्योंकि यह सूत्रसे सबका प्रमाण दिखाता है । इस ' मानपती ' द्वारा बनाई होनेके कारण इस शालाको ' मान-पत्नी ' कहते हैं, इसका शब्दार्थ " प्रमाण दर्शानेमें जो कुशल कारीगर है उसके प्रमाणसे इसकी पालना हुई है । " हरएक घरके विषयमें यह सत्य है ।

घरमें छींके टंगे हों और उनपर घृतदुग्धादि पदार्थ रखे जांय । यहां ये पदार्थ रखनेसे चूंटियों और चूहोंसे बचते हैं । और इस कारण आरोग्य देनेवाले होते हैं ।

घर (उद्धित) ऊंचे स्थानपर और ऊंचा हो । ठिगना न हो क्योंकि ऊंचे घरमें शुद्धवायु आता है जो मनुष्योंको नीरोग बना देती है । अतः कहा है कि—

उद्धिता शाला तन्वे शं भवति (मं० ६)

'ऊंचा घर शरीरके लिए सुखकारक होता है । ' वैसा ठिगना नहीं होता । घरमें एक उपासना करनेका स्थान, संध्या हवन करनेका योग्य कमरा, एक भोजनशाला, एक स्त्रियोंके लिए स्थान, एक अतिथियों और घरवालोंके रहनेका स्थान, एक धान्यादिका संग्रह स्थान ऐसे अलग अलग कमरे हों । घरकी छतपर सुंदर कपडा ताना जावे, जिससे कमरेकी शोभा बढती है। घरमें रहनेवाले ऐसा कहें कि घरका निर्माण करनेवाला " मानपति " (इंजिनियर) और बनानेवाले कारीगर दीर्घ आयुतक जीवित रहें । घरमें रहनेवालोंको सुख हुआ तो ही वे ऐसा कहेंगे, अतः बनानेवाले लोग कुशलतापूर्वक गृहनिर्माणका कार्य करें। और घरमें रहनेवालोंको सुख लगे, इस विचारसे घर बनावें । केवल वेतनके लिए बनाया जाय तो यह बात नहीं बनेगी । यह तो एक परस्पर प्रेमका विचार है । इसी विचारसे ग्रामके कारीगर और गृहके स्वामी इनमें परस्पर हितकी बुद्धि जाग्रत रहेगी ।

वृक्ष काटनेवाले, विविध लकडियां बनानेवाले, अन्य गृहोपयोगी सामान संग्रहित करनेवाले, जोडनेवाले और घरमें रहनेवाले इन सबकी सहकारितासे घर निर्माण होता है, अतः ग्राममें इनकी सहकारिता होनी चाहिए । और एकका हित दूसरेको करना चाहिये घरका स्वामी धनवान और प्रतिष्ठित क्यों न हो, परंतु जिस समय वह लकडी काटनेवालेको मिले, वह (तस्मै दात्रे नमः)उस लकडी काटनेवाले को नमस्कार करे,वह लकडी काटनेवाले निर्धन ही क्यों न हो,परंतु वह घरके मालिकसे मिले तो वह (शालापतये नमः) घरके स्वामीको नमस्कार करे । इस प्रकार ये लोग परस्पर सन्मान करें, एक दूसरेका आदर करें । कोई किसीका निरादर न करे ।

यहांतक आदर दर्शाना चाहिए कि घरका स्वामी अपने घोडों, गौवों, बैल आदि पशुओंका भी उत्तम प्रकार आदर सत्कार करें । इस प्रकार जहां सबका सत्कार होता है ऐसे घरमें रहनेवाले मनुष्य उत्तम आनन्दका अनुभव करेंगे, इसमें संदेह ही क्या हो सकता है ?

घर ऐसा बनाया जावे कि जो पीछेके आकाशपर सुंदर दिखाई देवे । घरके आसपास की शोभा वृक्षादिकोंसे सुंदर दिखाई देवे । और प्रयत्नसे अधिक सौंदर्य बनाया जावे । घरके मध्यमें अत्यंत सुरक्षित स्थानमें धन, जेवर आदि रखनेका स्थान---खजानेका कमरा-बनाया जावे । (शेवधिभ्यः उदरं) जैसा मनुष्यके शरीरमें पेट बीचमें होता है, अतिसुरक्षित स्थानपर होता है, उसी प्रकार यहां घरके मध्यमें खजानेका कमरा बनाया जावे। घरमें धान्यके स्थानमें सब प्रकार (ऊर्जः) धान्य, (विश्वान्नं) अन्नकी सामग्री संग्रहित की जावे, (पयः) जल, पेय पदार्थ, रसपानके साधन घरमें भरपूर हों । ऐसा घर सब रहनेवाले पारिवारिक जनोंको सुख देता है ।

घरके स्तंभ ऐसे बलवान हों जैसे हथिनीके पांव होते हैं, क्योंकि इन्हींपर घरका छप्पर आदि रहता है । दूसरा मजला करना हो तो एकके ऊपर दूसरा बनाया जावे, जैसे (कुलाये अधि कुलायं) घोसला एकपर दूसरा बनाते हैं और (कोशे कोशः) एक कोश पर दूसरा कोश रखा जाता है । नीचेका स्थान मजबूत हो, नहीं तो ऊपरके भारसे निचला स्थान दब जायगा । ऐसे उत्तम घरमें मनुष्यका जन्म होवे । सभी प्राणियोंके लिए ऐसे स्थान बनाये जावें। पक्षी भी प्रसूतिके पूर्व उत्तम घोसले निर्माण करते हैं, पशु भी सुरक्षित स्थान देखते हैं, यह देखकर मनुष्योंको अपने घरोंमें प्रसूतिके लिए उत्तम स्थान बनाने चाहिये ।

घरमें दो, चार, छः, आठ, दस कमरे अथवा चौक बनाये जा सकते हैं । अंदर रहनेवाले मनुष्योंकी संख्याके अनुसार तथा उस घरमें होनेवाले कार्योंके अनुसार घर छोटा या बडा होना चाहिए ।

अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः । [मं २२]

"घरमें अग्नि और जल अवश्य रहे, क्योंकि इन्हींसे सब प्रकारके यज्ञ होते हैं।" कोई अतिथि आगया तो उसको श्रमपरिहारके लिए कमसे कम जलपान दिया जावे, और शीतनिवारणके लिए आगके स्थान के पास उसको बिठलाया जावे। ये दो पदार्थ गरीबसे गरीब और धनीसे धनी मनुष्यके घरमें अवश्य रहें और इनसे आदरातिथ्य होता जावे । मनुस्मृतिमें भी कहा है कि-

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन । [मनु ० ३। १०१]

"बैठनेके लिए चटाई, भूमि, जल और मीठा भाषण ये चार बातें अतिथिके आदरके लिए सज्जनोंके घरमें कभी न्यून नहीं होतीं । " यहां उदक है । वेदके ऊपरके मंत्रमें जल पीनेके लिए और आग सेकनेके लिए प्रत्येक घरमें अवश्य रहे ऐसा कहा है । अतिथिके समादरके ये प्रकार ध्यानसे देखने योग्य हैं । घरमें जल रखना हो तो उत्तम निर्दोष रखना चाहिये इस विषयमें सूचना यह है-

अयक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः आपः प्रभरामि । गृहान् उपप्रसीदामि । [मं० २३]

" मैं घरमें ऐसा जल भरता हूं कि जो स्वयं रोग उत्पन्न करनेवाला न हो और जो रोगोंको दूर करनेवाला हो । इस रीतिसे मैं घरकी प्रसन्नता बढाता हूं। " हरएक गृहस्थी ऐसा ही कहे और अपने घरकी अधिकसे अधिक प्रसन्नता करनेका यत्न करे । [वधूं इव] जैसे स्त्रीकी रक्षा करना चाहिए उसी प्रकार गृहकी भी रक्षा करना योग्य है । यहां वधूकी प्रसन्नता रखना, उसको हृष्टपुष्ट रखना, निर्दोष रखना, सुरक्षित रखना आदि बातें जानने योग्य हैं और इस दृष्टांतसे घरकी सुरक्षितताकी बातें भी जानी जाती है । शाला [घर] भी एक कुलवधु है ऐसा मानकर उसकी सुरक्षितता और शोभाके बढानेके लिए प्रयत्न करना चाहिए । ऐसा करनेसे ही [गुरुः भारः लघुः] संसार का बडा भारी बोझ बहुत हलका हो जाता है ।

जहां ऐसे ढंगसे कुलवधुके समान घरकी सुव्यवस्था की जाती है, वहां घरके चारों ओरकी दिशा और उपदिशाएं प्रसन्न होती हैं, और वहां देवताओंका निवास होनेयोग्य स्थान बनता है । और घरकी महिमा बढ जाती है ।

हरएक गृहस्थी अपने घरकी महिमा इस प्रकार बढावे और अपना घर देवताओंके निवास करने योग्य करे और अपने सिरपरका संसारका बोझ हलका करे ।

*

बैल ।

[४]

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता-ऋषभः)

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत् ।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्त्रियस्तन्तुमातान् ॥ १ ॥
अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी ।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ २ ॥
पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति ।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्व स्य रेतः ॥ ४ ॥

अर्थ— [साहस्रः त्वेषः] हजारों शक्तियोंसे युक्त तेजस्वी, [पयस्वान् ऋषभः] दूधवाला बैल [वक्षणासु विश्वा रूपाणि बिभ्रत्] नदी तीरोंपर बहुत रूपोंको धारण करता हुआ [बार्हस्पत्यः उस्त्रियः] बृहस्पतिके संबंधका यह बैल [दात्रे यजमानाय भद्रं शिक्षन्] दान देनेवाले यजमानके लिए भलाईकी शिक्षा देता हुआ [तन्तुं आतान्] यज्ञके धागेको फैलाता है ॥ १ ॥

[यः अग्रे] जो पहिले [अपां प्रतिमा बभूव] जलोंके मेघकी उपमा हुआ करती है [देवी पृथ्वी इव] पृथिवी देवीके समान [सर्वस्मै प्रभूः] सब पर प्रभाव चलानेवाला, [वत्सानां पिता] बच्चोंका स्वामी [अघ्न्यानां पतिः] गौवोंका पति [नः] हमें [साहस्रे पोषे अपि कृणोतु] हजारों प्रकारकी पुष्टिमें करे, रखे ॥ २ ॥

[पुमान् अन्तर्वान्] पुरुष अपने अन्दर शक्ति धारण करनेवाला, [स्थविरः पयस्वान्] बडा दूधवाला [ऋषभः वसोः कबन्धं बिभर्ति] बैल धनके शरीरको धारण करता है । [तं देवयानैः पथिभिः हुतं] उस देवयान मार्गोंसे समर्पितको [जातवेदाः अग्निः इन्द्राय वहतु] जातवेद अग्नि इन्द्रके लिए ले जाये ॥ ३ ॥

[वत्सानां पिता] बच्चोंका पिता, [अघ्न्यानां पतिः] गौवोंका पति. [अथो] और [महतां गर्गराणां पिता] बडे प्रवाहोंका पालक, [वत्सः जरायु] बच्चा जेर से आकर [प्रतिधुक् पीयूषः] प्रतिदिन अमृत का दोहन करता हुआ [आमिक्षा घृतं] दही और घी देता है [तत् उ अस्य रेतः] वह निःसन्देह इसका वीर्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ— बैल हजारों शक्तियोंसे युक्त है । बैल ही दूधवाला है । नदियोंके तटोंपर इसके विविध रूप दीखते हैं । इसका दान करनेसे हित होता है और यज्ञका प्रचार होता है ॥ १ ॥

इसको जलदायी मेघोंकी उपमा दी जाती है । पृथ्वी देवीपर यह अधिक प्रभाववाला है, यह बछडोंका पिता और गौवोंका पति है । इससे हमारी हजारों प्रकारकी पुष्टी होती है ॥ २ ॥

यह पुरुष है, इसके अन्दर शक्ति है, यह सामर्थ्यवाला और दूधवाला है । यह धनका धारण करता है । उस समर्पित हुए को जातवेद अग्नि इंद्रके लिये देवयानके मार्गों से लेजाता है ॥ ३ ॥

देवानां भाग उपनाह एषोऽपां रस ओषधीनां घृतस्य ।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम् ॥ ५ ॥
सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम् ।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्यस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥ ६ ॥
आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः ।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव एतु दत्तः ॥ ७ ॥
इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत् ।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

अर्थ-[एषः देवानां उपनाहः भागः] यह देवोंका समीप स्थित भाग है, [अपां ओषधीनां घृतस्य रसः] जल का औषधियोंका और घीका यह रस है, [सोमस्य भक्षं शक्रः अवृणीत] यही सोमका रस इन्द्रने प्राप्त किया, इसका [यत् शरीरं बृहत् अद्रिः अभवत्] जो शरीर था वही बडा मेघ बना है ॥ ५ ॥

[सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि] सोमरससे परिपूर्ण कलशका तू धारण करता है। और तू [रूपाणां त्वष्टा] रूपोंका बनानेवाला और (पशूनां जनिता) पशुओंका उत्पादक है, (याः इमाः ते प्रजन्वः) जो ये तेरे सन्तान हैं वे (शिवाः सन्तु) हमारे लिए शुभ हों। हे (स्वधिते) शस्त्र ! (याः अमूः अस्मभ्यं नि यच्छ) जो वहां हैं वे हमारे लिए दें ॥ ६ ॥

(अस्य घृतं आज्यं) इसका घी और आज्य (रेतः बिभर्ति) वीर्यको धारण करता है। (साहस्रः पोषः) जो हजारोंका पोषक है (तं उ यज्ञं आहुः) उसको यज्ञ कहते हैं। (वृषभः इन्द्रस्य रूपं वसानः) बैल इन्द्रका रूप धारण करता हुआ, हे (देवाः) देवो ! (सः दत्तः अस्मान् शिवः आ एतु) वह दान दिया हुआ हमारे पास शुभ होकर प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

(ये धीरासः) जो धैर्यवाले और (ये मनीषिणः कवयः) जो मननशील कवि हैं वे (एतं संभृतं बृहस्पतिं आहुः) इस संभारयुक्तको बृहस्पति कहते हैं तथा यह (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रकी शक्ति, (वरुणस्य बाहू) वरुणके बाहू, (अश्विनोः अंसौ) अश्विदेवोंके कन्धे, (मरुतां इयं ककुद्) मरुतोंकी यह कोहनि है ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- बछडोंका पिता और गौवोंका पति, बडी जलधाराओंका स्वामी, जन्मते ही अमृतका दोहन करके देता है, तथ दही और घी देता है, मानो यह इसीका बल है ॥ ४ ॥

यह दूध देवोंका भाग है, यह औषधियोंका रस है, यह सोमरसके साथ पिया जाता है । इसके शरीरकी मेघकी ही उपमा है ॥ ५ ॥

सोमरससे भरा हुआ कलश यह धारण करता है, यह गौ आदिका उत्पन्न कर्ता, विविध रूपोंका बनानेवाला है, इसके सन्तान हमें कल्याणदायी हों, शस्त्र इनकी रक्षा करके हमें देवें ॥ ६ ॥

यह घी, और वीर्य धारण करता है, हजारों प्रकारकी पुष्टि देता है अतः इसको यज्ञ कहते हैं । यह इन्द्रका रूप धारण करके हमारे लिए शुभ होवे ॥ ७ ॥

जो धैर्ययुक्त कवि और ज्ञानी हैं वे इसको देवताओंकी शक्तियोंसे युक्त मानते हैं, इसमें बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, आश्विनौ मरुत् इनकी शक्तियां हैं ॥ ८ ॥

दैवीर्विशः पर्यस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः ।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १० ॥(९)

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत् । तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ११

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥ १२ ॥

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥

अर्थ—तू (पयस्वान् दैवीः विशः आ तनोषि) दूधवाला दिव्यगुणी प्रजाको उत्पन्न करता है। (त्वां इन्द्रं) तुझे इन्द्र और (त्वां सरस्वन्तं आहुः) सारवाला कहते हैं (यः ब्राह्मणः) जो ब्राह्मण (ऋषभं आ जुहोति) बैलका दान करता है (सः एकमुखाः सहस्रं ददाति) वह एक स्थानपर मुख करता हुआ हजारोंका दान करता है ॥ ९ ॥

(बृहस्पतिः सविता) बृहस्पति और सविता (ते वयः दधौ) तेरी आयुका धारण करते हैं। (ते आत्मा) तेरा आत्मा (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) त्वष्टा और वायुसे परिपूर्ण है। (मनसा त्वा अन्तरिक्षे जुहोमि) मनसे तुझे अन्तरिक्षमें अर्पण करता हूं, (उभे द्यावापृथिवी ते बर्हिः स्ताम्) दोनों द्युलोक और भूलोक तेरे आसन हों ॥ १० ॥

(देवेषु इन्द्रः इव) देवोंमें जैसा इन्द्र वैसा (यः गोषु विवावदत् एति) गौओंमें शब्द करता हुआ चलता है। (तस्य ऋषभस्य अंगानि) उस बैलके अंगोंकी (भद्रया ब्रह्मा संस्तौतु) प्रशंसा शुभवाणीसे ब्रह्मा करे ॥ ११ ॥

(पार्श्वे अनुमत्याः आस्तां) दोनों पासे अनुमतिके हैं, (अनूवृजौ भगस्य आस्तां) पसलियोंके दोनों भाग भगके हैं, (मित्रः अब्रवीत्) मित्रने कहा कि (अष्ठीवन्तौ केवलौ एतौ मम इति) दो घुटने केवल मेरे हैं ॥ १२ ॥

(भसद् आदित्यानां आसीत्) पृष्ठवंशका अन्तिम भाग आदित्योंका है, (श्रोणी बृहस्पतेः आस्तां) कूल्हे बृहस्पतिके हैं, (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छ वायु देवका है, (तेन ओषधीः धूनोति) उससे औषधियोंको हिलाता है ॥ १३ ॥

(गुदाः सिनीवाल्याः आसन्) गुदाभाग सिनीवालीके हैं, (त्वचं सूर्यायाः अब्रुवन्) त्वचा सूर्यप्रभाकी है, ऐसा कहते हैं। (पदः उत्थातुः अब्रुवन्) पैर उत्थाताके हैं ऐसा कहा है, (यत् ऋषभं अकल्पयन्) इस प्रकार बैलकी कल्पना विद्वानोंने की है ॥ १४ ॥

भावार्थ— यह दूध देनेवाला बैल उत्तम प्रजा उत्पन्न करता है, उसको सारवान् इन्द्र कहते हैं। जो बैलका समर्पण करता है उसको हजारों दानोंका श्रेय होता है ॥ ९ ॥

बृहस्पति और सविताने उसकी आयुका धारण किया है। त्वष्टा और वायुका सत्व इसमें है। इसका मनसे अन्तरिक्षमें समर्पण करनेसे भूमिपर और आकाशके नीचे यह रहता है ॥ १० ॥

जैसा देवोंमें इन्द्र वैसा यह बैल गौवोंमें है। ज्ञानी ही इसके अवयवोंके महत्त्व का कथन कर सकता है ॥ ११ ॥

इसके अवयवोंमें अनुमति, भग, मित्र, आदित्य, बृहस्पति, वायु आदि देवताओंका अधिष्ठान है ॥१२-१३ ॥

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्वे ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥
ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥
शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥
शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ १८ ॥
ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥ १९ ॥

अर्थ- [क्रोडः जामिशंसस्य आसीत्] गोद जामिशंसकी थी, [कलशः सोमस्य धृतः] कलश सोमका धारण किया है, इस प्रकार [सर्वे देवाः संगत्य] सब देव मिलकर [यत् ऋषभं व्यकल्पयन्] बैलकी कल्पना करते रहे ॥ १५ ॥

[कुष्ठिकाः सरमायै ते अदधुः] कुष्ठिकोंको सरमाके लिए वे धारण करते रहे । और [शफान् कूर्मेभ्यः] खुरोंको कछुओंके लिए धारण करते रहे । [अस्य ऊबध्यं] इसका अपक्व अन्न [श्ववर्तिभ्यः कीटेभ्यः अधारयन्] कुत्तेके साथ रहनेवाले कीडोंके लिए रख दिया ॥ १६ ॥

[यः अघ्न्यः गवां पतिः] जो गौवोंका हननके अयोग्य पति अर्थात् बैल है, वह [कर्णाभ्यां भद्रं शृणोति] कानोंसे कल्याणकी बातें सुनता है, [शृंगाभ्यां रक्षः ऋषति] सींगोंसे राक्षसोंको हटा देता है और [चक्षुषा अवर्तिं हन्ति] आंखसे अकालको नष्ट करता है ॥ १७ ॥

[यः ब्राह्मणे ऋषभं आजुहोति] जो ब्राह्मणोंको बैल समर्पण करता है (तं विश्वे देवाः जिन्वन्ति) उसको सब देव तृप्त करते हैं । (सः शतयाजं यजति) वह सैंकडों याजकों द्वारा यज्ञ करता है और (एनं अग्नयः न दुन्वन्ति) इसको अग्नि कष्ट नहीं देते ॥ १८ ॥

(ब्राह्मणेभ्यः ऋषभं दत्त्वा) ब्राह्मणोंको बैल देकर जो अपना (मनः वरीयः कृणुते) मन श्रेष्ठ बनाता है । (सः स्वे गोष्ठे) वह अपनी गोशालामें (अघ्न्यानां पुष्टिं अव पश्यते) गौओंकी पुष्टि देखता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—सिनीवाली, सूर्यप्रभा, उत्थाता, जामिशंस, सोम इन देवताओंके लिए क्रमशः गुदा, त्वचा, पैर, गोद, कलश ये इसके अवयव माने गये हैं । इस तरह सब देवोंने इस बैलके विषयमें कल्पना की है ॥ १४-१५ ॥

सरमा, कूर्म, श्ववर्ति, क्रिमी आदिके लिए इसके कुष्ठिका, खुर, और अपाचित् अन्नभाग रखे हैं ॥ १६ ॥

बैल गौका पति है । वह कानोंसे उत्तम शब्द सुनता है, सींगोंसे शत्रुओंको हटाता है और आंखसे अकालको दूर करता है ॥ १७ ॥

जो ब्राह्मणको बैल दान देता है, उसकी सब देव तृप्ति करते हैं। वह सैंकडों प्रकारके याजकों द्वारा यज्ञ करता हुआ अग्निके भयसे दूर रहता है ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मणोंको बैल दान करके अपना मन श्रेष्ठ बनाता है, वह अपनी गोशालामें बहुत गौवें पुष्ट हुई हैं, इसका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम् ।
तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ २० ॥
अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम् ।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥ २१ ॥
पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥
उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः । उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् २३
एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ २४॥ (२४)

॥ इति द्वितीयोनुवाकः ॥

अर्थ- (गावः सन्तु) गौवें हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजाएं हों, (अथो तनूबलं अस्तु) और शारीरिक बल हो । (तत् सर्वं) यह सब (ऋषभदायिने) बैल देनेवालेके लिये (देवाः अनुमन्यन्तां) देव अपनी अनुमतिके साथ देवें ॥ २० ॥

(अयं पिपानः इन्द्रः इत्) यह पुष्ट इन्द्र (चेतनीं रयिं दधातु) चेतना देनेवाले धनका धारण करे । तथा (अयं) यह इन्द्र (सुदुघां) उत्तम दोहने योग्य (नित्यवत्सां) बछडोंके साथ उपस्थित, (वशं दुहां) वशमें रहकर दुहने योग्य, (विपश्चितं धेनुं) ज्ञानयुक्त धेनुको (परः दिवः) श्रेष्ठ द्युलोकके परेसे धारण करे ॥ २१ ॥

(पिशंगरूपः) लाल रंगवाला, (नभसः) आकाशसे (ऐन्द्रः शुष्मः) इन्द्रके संबंधी बल धारण करनेवाला (विश्वरूपः वयोधाः नः आगन्) समस्त रूपोंसे युक्त अन्नका धारण करनेवाला हमारे पास आगया है । वह (आयुः प्रजां च रायः च) आयु, प्रजा और धन (अस्मभ्यं दधत्) हमारे लिए धारण करता हुआ (पोषैः नः अभिसचन्तां) पुष्टियोंसे हमें प्राप्त होवे ॥ २२ ॥

(इह अस्मिन् गोष्ठे) यहां इस गोशालामें (उप उप पर्चन) समीप रह । और (नः उपपृञ्च) हमें प्राप्त हो । (ऋषभस्य यत् रेतः) वृषभका जो वीर्य है, हे इन्द्र ! (तव वीर्यं उप) वह तेरा वीर्य हमारे पास आजावे ॥ २३ ॥

(एतं युवानं वः प्रतिदध्मः) इस युवाको हम आपके लिए समर्पित करते हैं, (अत्र तेन क्रीडन्तीः चरत) यहां उसके साथ खेलती हुई विचरो और (वशान् अनु) इच्छित स्थानोंके प्रति जाओ । हे (सुभागाः) भाग्ययुक्त गौवो ! (जनुषा मा हासिष्ट) जन्मके साथ हमारा त्याग न करो, (च पोषैः रायः) पुष्टियोंके साथ रहनेवाले धन (नः अभिसचध्वं) हमें दो ॥ २४ ॥

भावार्थ-बैलका दान करनेवालेको देवोंकी अनुमतिसे गौवें मिलतीं, प्रजा होती और शरीरका बल भी प्राप्त होता है ॥२०॥

यह प्रभु चैतन्ययुक्त गोरूपी धन हमें देवे । यह द्युलोकके परेसे ऐसी गौ लावे कि जो उत्तम दूध देनेवाली, नित्य बछडेको साथ रखनेवाली, विनाकष्ट दूध देनेवाली और स्वामीको पहचाननेवाली हो ॥ २१ ॥

आकाशके पाससे बैल ऐसा आया है कि जो लाल रंगवाला, बलवान, अनेक रंगोंसे युक्त, अन्नको देनेवाला है । यह हमें आयु, प्रजा और धन हमारे लिए देवे और हमें पुष्टि देवे ॥ २२ ॥

यह बैल इस गोशालामें रहे, हमारे पास रहे । इस बैलका जो बल है वह इन्द्रकी शक्ति है, यह हमें प्राप्त हो ॥ २३ ॥

इन गौवोंके पास हम इस बैलको धर देते हैं । इसके साथ ये गौवें खेलें, कूदें और विचरें । जहां चाहे वहां घूमें । गौवें हमारा त्याग न करें, हमारे पास रहें । पुष्ट हों और हम सबको पुष्ट करें ॥ २४ ॥

—:—:—

बैलकी महिमा ।

इस सूक्तमें बैलकी महिमा वर्णन की है । उत्तमसे उत्तम बैलका घरमें पालन करनेसे कितने लाभ होते हैं इसका वर्णन इस सूक्तमें पाठक देखें-

साहस्रस्त्वेषः ऋषभः पयस्वान् । (मं० १)

"हजारों तेजोंसे और बलोंसे युक्त यह बैल है, और यह (पयस्वान्) दूध देनेवाला है । " पाठक यहां आश्चर्य करेंगे कि बैल दूध देनेवाला किस प्रकार हो सकता है ? प्रथम और तृतीय मंत्रमें इस बैलको (पयस्वान्) दूधवाला कहा है । अतः इस वर्णनमें कुछ हेतु है। जैसा बैल होता है वैसा उसकी गौरूप संततिमें दूध न्यूनाधिक होता है । अर्थात् गौमें दूध उत्पन्न करनेकी शक्ति बैलपर निर्भर है । कई जातिके बैल कम दूध देनेवाली संतान पैदा करते हैं और कई जातिके बैल विशेष दूध देनेवाली संतान उत्पन्न करते हैं । अतः यदि अधिक दूध देनेवाली गौवें उत्पन्न करानेकी इच्छा हो, तो अधिक दूध देनेवाली गौओंके साथ उस जातिका बैल रखना चाहिये कि जो अधिक दूध देनेवाली जातिका हो। ऐसी गौवें और ऐसे बैल एक स्थानपर रखने चाहिए। अर्थात् कम दूध देनेवाली जातिके बैल अधिक दूध देनेवाली गौके साथ कदापि नहीं रखना चाहिये क्योंकि इससे उत्पन्न होनेवाली गौका दूध घट जायगा । अतः २४ वें मंत्रमें कहा है-

एतं वो युवानं प्रतिदध्मः तेन अत्र क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।। (मं० २४)

" इस युवा बैलको गौवोंके साथ रखते हैं, इसके साथ ये हो गौवें खेलें और इस प्रदेशमें विचरें । " अर्थात् यह फलानी जातिका बैल है और ये फलानी जातिकी गौवें हैं, इन दोनोंका संबंध हम करना चाहते हैं । इस संबंधसे विशेष प्रकारकी संतान पैदा होगी । इस प्रकार गौओंमें भी किसी गौका किसी बैलके साथ संबंध होना इष्ट नहीं है । विशेष जातिकी गौके साथ विशेष जातिके बैलका ही संबंध होना अभीष्ट है। गौवोंमें जातिका संकर कदापि होने देना युक्त नहीं है। यदि भिन्न जातिमें संबन्ध होना है तो उच्च जातिवाले नरके साथ संबंध हो और नीच जातिवाले नर के साथ संबंध न हो । यदि दूध बढानेकी इच्छा हो तो अधिक दूध देनेवाली जातिके बैलके साथ गौका संबंध हो, यदि वाहक शक्तिवाले बैल उत्पन्न करनेकी इच्छा हो तो उत्तम वाहक शक्तिवाले बैलके साथ संबंध हो । गौओंके अंदरकी उपजातियोंकी भी रक्षा करना योग्य है और संतान विशेष जातिकी ही उत्पन्न करनेका यत्न होना चाहिये । जातिसंकर होनेसे गुणोंकी न्यूनता होती है और जातिकी शुद्धता रहनेसे गुणोंका संवर्धन होजाता है । इस सूक्तमें इस तरह गौओंकी जातियोंकी रक्षा करके अथवा अनुलोम संबंधसे उच्च नरके साथ संबंध रखके गऊओंका संवर्धन करनेका उपदेश है और यह उपदेश देनेके लिए बैलके रेतमें दूध बढानेका गुण है। यह बात कही है । इसका विचार पाठक करें । अस्तु यह बैल-

वक्षणासु विश्वा रूपाणि बिभ्रत् । (मं० १)

" नदीके किनारोंपर यह बैल अपने विविध रूपोंको धारण करता है । " अर्थात् यह नदीके किनारेपर रहकर घास आदि खाकर यथेष्ट पुष्ट होकर विचरता है और गौवोंमें विविध प्रकारके अपने रूपोंका आधान करता है । यदि यह खा पी कर पुष्ट न बने, तो उत्तम संतान निर्माण करनेमें असमर्थ होगा । इसलिए सांडको बडा पुष्ट बनाना चाहिये । इस प्रकारका-

उस्रियः तन्तुं आतान् (मं० १)

" अपने प्रजातन्तु को फैलाता है । " अर्थात् गौवोंमें गर्भाधान करके उत्तम संतान उत्पन्न करता है । यही रीति है कि जिससे गौवें और बैल उत्तम निर्माण हो सकते हैं । ऐसे उत्तम जातिके बैल-

दात्रे भद्रं शिक्षन् । (मं० १)

" दाता के लिए कल्याण देते हैं । " जो मनुष्य ऐसे उत्तम बैल आचार्योंको दान देता है उसका कल्याण होता है । अर्थात् आचार्य, ब्राह्मण आदिके पास बहुत शिष्य होते हैं, अतः उनके आश्रमोंमें अधिक दूध देनेवाली गौवें रहीं, तो वहांके ब्रह्मचारी दूध पीकर पुष्ट रह सकते हैं। अतः ऐसे उत्तम बैल और उत्तम गौवें ऐसे आचार्योंको देना कल्याणकर है। इस सूक्तमें इस प्रकारके दान के लिए प्रेरणा इस तरह की है-

सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति। (मं० ९)
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ (मं० १८)
ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ॥ (मं० १९)
तत्सर्वमनुमन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ (मं० २०)

जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मण को बैल समर्पण करता है वह एक रूपमें हजारों दान करता है। उसको सब देव संतुष्ट करते हैं जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मणके घरमें बैलका समर्पण करता है। ब्राह्मणोंको बैल दान देकर मन श्रेष्ठ बनाता है। जो बैलका दान करता है उसके लिए सब देव अनुकूल होते हैं ॥''

विद्वान, ज्ञानी, सदाचारी आचार्यजीको उत्तम बैल दान करनेकी प्रेरणा इस प्रकार इस सूक्तमें की है। इसका तात्पर्य पूर्व स्थानमें जैसा बताया है वैसा ही समझना चाहिये। यही विषय महाभारतमें निम्नलिखित रीतिसे स्पष्ट किया है-

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम् ॥ ३३ ॥
तथाऽनड्वाहं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम् ।
कुलानुजीव्यं वीर्यवन्तं बृहन्तं भुङ्क्ते लोकान्सम्मितान्धेनुदस्य ॥ ३४ ॥
गोषु क्षान्तं गोशरण्यं कृतज्ञं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः।
वृद्धे ग्लाने संभ्रमे वा महार्हे कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूत्याम् ॥ ३५ ॥
गुर्वर्थं वा बालपुष्ट्याभिषङ्गां गां वै दातुं देशकालोऽविशिष्टः ।

म० भा० अनुशा० अ० ७१

" दान करनेके लिए गौ ऐसी हो कि जो उत्तम स्वभाववाली, बडे कांस्य के बर्तनमें जिसका दोहन होता हो, जिसके बछडे उत्तम होते हैं, जो न भागती हो। इसी प्रकार ब्राह्मणोंको दान करनेके लिए योग्य बैल बोझा ढोनेवाला, उत्तम बलवान, युवा, वीर्यवान्, बडे शरीरवाला हो। ऐसे बैलका दान करनेवालेको स्वर्गलाभ होता है। गौ ऐसे विद्वान्को देनी चाहिये कि जो गौका भक्त हो, गोपालक हो, गौके विषयमें कृतज्ञ हो, वृत्तिहीन हो,। गुरुजीको शिष्य उत्तम गौ दान देवे। " इस रीतिसे महाभारतमें गौ दान और वृषभ दानका विषय कहा है। हरएक ब्राह्मण गौका दान लेनेका अधिकारी नहीं है। इस विषयमें महाभारत और अथर्ववेदके सूक्तोंमें बहुत नियम हैं, उनका विचार पाठक अवश्य करें—

असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने ।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन ॥ १५ ॥
भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये ।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ १६ ॥

म० भा० अनुशा० अ० ६९

" दुराचारी, पापी, लोभी, असत्यभाषणी, हव्यकव्य न करनेवालेको कभी गौ दान देनी नहीं चाहिये। भिक्षापर जीविका निर्वाह करनेवाला, बहुत पुत्रवाला, वेदज्ञानी, अग्निहोत्री को गोदान करनेसे स्वर्गप्राप्त होता है। " इस प्रकार महाभारतमें वर्णन है। यह देखनेसे पता लगता है कि विद्वान् सदाचारी आचार्यको ही गौ दान करना योग्य है। केवल ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेसे गौ दान लेनेका अधिकारी नहीं हो सकता। तथा अथर्ववेदमें अन्यत्र जो कहा है वह भी यहां देखिये—

यो ददाति शतौदनाम्। अथर्व १०।९।५,६, १०
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाँल्लोकान्समश्नुते ॥ अ० १०।१०।३३
आपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक्सादयामि ॥

अ० १०।९।२७

" शतौदना गौका दान करता है । ब्राह्मणोंको वशा गौदान करनेसे सब श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति होती है । ब्राह्मणोंके हाथोंपर दान का उदक पृथक् पृथक् छोडता हूं अर्थात् दान करता हूं । " इन मंत्रोंसे स्पष्ट बोध होता है कि ब्राह्मणोंको गौदान करना चाहिये। यहां विचार करना चाहिए कि कौनसे ब्राह्मणको इस प्रकार गौका दान करना चाहिये । निम्नलिखित मंत्रोंसे इसका उत्तर मिलता है–

शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रतिगृह्णीयात् ।
य एवं विद्यात्स वशां प्रतिगृह्णीयात् ॥
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥
सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥

अथर्व०। १०।१०।२;२७;३२;२८

" जो यज्ञके सिरको अर्थात् मुख्य भागको ठीक प्रकार जानता है वह गौका दान लेवे । जो इस ज्ञानसे युक्त है वह गौका दान लेवे । जो इस प्रकारके ज्ञानीको गौका दान करते हैं वे स्वर्गको प्राप्त करते हैं। अन्योंको अर्थात् जो इस ज्ञानसे युक्त नहीं हैं उनको गौका दान नहीं लेना चाहिए । "

इन मंत्रोंमें विशेष ज्ञानी आत्मनिष्ठ ब्राह्मणोंको गौका दान करना योग्य है ऐसा स्पष्ट कहा है। इसलिए ब्राह्मणको गौदान करनेमें कोई पक्षपात नहीं है। जो ब्राह्मण राष्ट्रके नवयुवकोंको ज्ञान देता है और जो धर्म की मूर्ति है, उसको उत्तम गौओंका दान करना योग्य है । ब्राह्मण जातिमें उत्पन्न पापी मनुष्योंको कदापि गौओंका दान करना योग्य नहीं है। गौके और बैलके दानके विषयमें यही समान उपदेश है ।

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी । [मं० १]

" बैलकी उपमा केवल मेघकी है, यह सबका प्रभु है और देवी पृथ्वीके समान यह सबका उपकारक है" जिस प्रकार जलदान करनेसे मेघ सबको जीवन देता है और अन्न देनेके कारण पुष्टिका हेतु होता है, उस प्रकार बैल भी अन्न उत्पन्न करता है, कृषीका साधक है और गौके द्वारा अमृत रूपी जीवनरस देता है । इसलिए मेघ और बैल समानतया उपकारक हैं। अतः बैलको वेदमें मेघोंकी उपमा दी है । यह बैल हमें

साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु । [मं० २]

" हजारों प्रकारकी पुष्टिमें रखे । " अर्थात् हमारा उत्तम रीतिसे सहायक बने । इनके आगे मंत्र ३ और ४ में बैलके गुणोंका उत्तम वर्णन है वह अति स्पष्ट है । पंचम मंत्रमें [सोमस्य भक्षः] सोमका अन्न बनानेका वर्णन है । सोमरसके साथ दूध मिलानेसे उत्तम पेय होता है, ऐसा अन्यत्र वेदमें कई स्थानोंमें कहा है । उसी सोमके अन्नका यहाँ उल्लेख है। [ओषधीनां रसः] औषधियोंके रसके साथ गायका दूध पीनेकी यह वैदिक रीति यहां देखने योग्य है । बैलके कारण गौमें दूध उत्पन्न होता है, इसलिए इस पेयका हेतु बैल है ऐसा यहां कहा है, वह बात युक्तियुक्त है । यह बैल–

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्ति । [मं० ६]

" सोमरससे भरे हुए कलशका धारण करता है । " यह अमृत रसका कलश गौका स्तन या ऊधः है, जिसमें विपुल दूध रहता है । गायका दूध भी सोमशक्तिसे युक्त होता है, यह सोमशक्ति सोमादि शुद्ध वनस्पतियोंके भक्षणसे गौमें उत्पन्न होती है । इस रीतिसे देखा जाय तो गौ सोमरसका कलश धारण करती है और यह बैल गौके अन्दर इस सोमरसका धारण करता है, यह बात स्पष्ट होजाती है । इस प्रकार यह सोमरसका आधार बैल—

इन्द्रस्य रूपं वसानः [मं ७]

" इन्द्रके रूपको धारण करनेवाला है । " यह बैल इन्द्रकी शक्तिको अपने अन्दर धारण करता है, इसीलिए इसको–

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः । [मं० ७]

" घीका धारक, वीर्यका स्थान और हजारों प्रकारकी पुष्टियां देनेवाला कहते हैं । " विचार करनेपर पाठकोंको इस बातका अनुभव अवश्य मिलेगा । यदि यह बैल गौमें दूध अधिक उत्पन्न करनेका हेतु है, तो यही घी और वीर्यका वर्धक भी निश्चयसे है, क्योंकि जो दूधका बढानेवाला है वही वीर्यका बढानेवाला होता है । गौके दूधको वैद्यक ग्रंथोंमें (सद्यः शुक्रकरं स्वादु) शीघ्र वीर्य बढानेवाला कहा है । हजारों अन्य उपायोंसे जो शरीरका पोषण होता है वह इस अकेले गौके दूधसे हो सकता है । यह सामर्थ्य गायके दूधमें है । गौका और बैलका इतना महत्त्व होनेसे इसका काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें आगे किया है । इसके हर-एक अवयवमें देवताका अंश है यह बात मं० ८ से मं० १६ तक कही है । प्रत्येक अवयवमें किस देवताका अंश है यह वर्णन देखनेसे गौका और बैलका शरीर देवतामय है, यह बात स्पष्ट हो जाती है । मानो गौका दूध देवताओंका सत्त्व है । यहां पाठक विचार करें कि वेदने गौके दूधका जो इतना माहात्म्य वर्णन किया है वह इसलिये कि वैदिकधर्मी लोग गायका ही दूध पियें और गायका ही घी आदि सेवन करें । म्हैस का दूध कभी न पियें ।

१७ वें मंत्रमें कहा है कि यह बैल सींगोंसे राक्षसोंका नाश करता है और आंखसे अकालका नाश करता है । यद्यपि यह आ-लंकारिक वर्णन है, तथापि यह सत्य है । बैलके मानव जातिपर इतने अनंत उपकार हैं कि उनका यथार्थ वर्णन करना असंभव है । राक्षस नाशक बैलका वर्णन शतपथ ब्राह्मणमें इस प्रकार आता है—

मनोर्ह वा ऋषभ आस । तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्प्रविष्टास ।
तस्य ह श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति । ते हासुराः
समूदिरे पापं बत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति० ॥ श० ब्रा० १

" मनुका एक बैल था, उसमें असुरों और सपत्नोंकी नाशक वाणी प्रविष्ट हुई थी, अतः उसके श्वाससे असुर और राक्षस मर्दित होते हुए नष्ट हो जाते थे । वे असुर मिलकर विचार करने लगे कि, ' यह बैल बडा पापी है, इसका कैसा नाश करें " इत्यादि । यह सब वर्णन आलंकारिक है । इससे यहां इतना ही लेना है कि बैलमें असुरनाशक शक्ति है ।

१८ वें मंत्रमें ब्राह्मणको बैल दान करनेका महत्त्व पुनः कहा है । यह एक दान सैकडों दानोंके समान है यह कथन भी विशेष मननीय है । आगेके तीन मंत्रोंमें बैलके दानका महत्त्व वर्णन किया है, इस विषयमें इससे पूर्व बहुत लिखा गया है । इसी प्रकार अन्तिम तीन मंत्रोंमें बैलकी ऐन्द्री शक्तिका वर्णन है, ऐसे बैल गौवोंकेसाथ रखनेका उपदेश अन्तिम मंत्रमें किया है । ये सब विचार गौ और बैल का महत्त्व वर्णन कर रहे हैं । पाठक इन सब उपदेशोंका महत्त्व जानकर, और बैलका अपने घरमें स्वागत करें और उनसे विशेष लाभ उठावें ।

—:०:—

पञ्चौदन अज।

[५]

(ऋषिः- भृगुः। देवता-पञ्चौदनोऽजः)

(१)

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ १ ॥
इन्द्रा॑य भा॒गं परि॑ त्वा नयाम्य॒स्मिन् य॒ज्ञे यज॑मानाय सू॒रिम्।
ये नो॑ द्वि॒षन्त्यनु॒ तान् र॑भस्वाना॑गसो॒ यज॑मानस्य वी॒राः ॥ २ ॥
प्र प॒दोऽव॑ नेनिग्धि॒ दुश्च॑रितं॒ यच्च॒चार॑ शु॒द्धैः श॒फैरा क्र॑मतां प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा वि॒पश्य॑न्न॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ ३ ॥

अर्थ-- (एतं आनय) इसको यहां ला और ऐसे (आरभस्व) कर्मोंका प्रारंभ कर कि जिससे यह (प्रजानन्) मार्गको जानता हुआ (सुकृतां लोकं अपि गच्छतु) सत्कर्म करनेवालोंके स्थानको प्राप्त होवे। मार्गमें (महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा) बडे अंधकारोंको बहुत प्रकारसे तरके यह (अजः तृतीयं नाकं आक्रमतां) अजन्मा तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें स्थित (इन्द्राय यजमानाय भागं सूरिं त्वा) इन्द्र और यजमानके लिए भागभूत बने तुझ ज्ञानीको (परि नयामि) सब ओर लेजाता हूं। (ये नः द्विषन्ति) जो हमारा द्वेष करते हैं (तान् अनुरभस्व) उनको नाश करना आरंभ कर। और (यजमानस्य वीराः अनागसः) यजमानके पुत्र अथवा वीर पापरहित हों ॥ २ ॥

(यत् दुःचरितं चचार) जो दुराचार इसने किया होगा, वह सब (पदः प्र अव नेनिग्धि) इसके पांवसे धो डाल। इसके पश्चात् यह (शुद्धैः शफैः प्रजानन् आक्रमतां) शुद्ध पांवोंसे मार्गको जानता हुआ चले। (विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा) देखता हुआ अंधकारोंको बहुत प्रकार से तरके, (अजः) यह अजन्मा (तृतीयं नाकं आक्रमतां) तृतीय स्वर्ग धामको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ-इसको यहां ले आओ, शुभ कर्मोंका प्रारंभ करो, अपनी उन्नतिके मार्गको जान लो, और सत्कर्म करनेवाले जहां जाते हैं उस स्थानको प्राप्त करो। मार्गमें बडे अन्धकारके स्थान लगेंगे, उनको लांघना चाहिये, इस प्रकार यह अजन्मा आत्मा परम उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

इस यज्ञमें तुझे सब ओर ले जाता हूं। तू ज्ञानी बनकर प्रभुके लिए आत्मसमर्पण कर और यज्ञकर्ताके साथ समभागी बन। जो द्वेष करेंगे उनको दूर कर। इस तरह यज्ञकर्ताके कार्यसाग निष्पाप बनें और कार्य करें ॥ २ ॥

पूर्व समयमें जो दुराचार हुआ होगा, उसको धो डाल, आगे शुद्ध पांवोंसे अपना मार्ग आक्रमण कर। चारों ओर मार्गको देख, सब अंधकारोंको लांध कर, जन्ममरणको दूर करके परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो ॥ ३ ॥

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व॑१सिना माभि मंस्थाः ।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥ ४ ॥
ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम् ।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ ५ ॥
उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम् ।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम् ॥ ६ ॥
अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ७ ॥

अर्थ- हे (विशस्तः) विशेष शासक! तू (एतां त्वचं यथा परु) इस त्वचा को जोडोंके अनुसार (श्यामेन असिना अनुच्छय) काले शस्त्रसे काट डाल। (मा अभि मंस्थाः) मत् अभिमान कर, (मा अभि द्रुहः) मत द्रोह कर। (परुशः एनं कल्पय) जोडोंके अनुसार इसको समर्थ बना। और (तृतीये नाके एनं अधि विश्रय) तीसरे स्वर्गधाममें इसको स्थापित कर ॥ ४ ॥

(ऋचा कुंभीं अग्नौ अधिश्रयामि) मंत्रसे इस पात्रको मैं अग्निपर रखता हूं। उसमें तू (उदकं आ सिञ्च) जल डाल और (एनं अव धेहि) इसको वहीं स्थापित कर। हे (शमितारः) शान्त करनेवालो! तुम (अग्निना पर्याधत्त) अग्नि द्वारा चारों ओरसे इसकी धारणा करो। यह (श्रतः गच्छतु) परिपक्व होकर वहां जावे कि (यत्र सुकृतां लोकः) जहां सत्कर्म करनेवालोंका स्थान है ॥ ५ ॥

(अतः तप्तात् चरोः) इस तपे हुए बर्तनसे (अतप्तः) न संतप्त होता हुआ तू (परि उत् क्राम) ऊपर चढ और (तृतीयं नाकं अधि) तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त हो। (अग्नेः अधि) अग्निके ऊपर (अग्निः सं बभूविथ) अग्नि प्रकट होता है, अतः (एतं ज्योतिष्मन्तं लोकं अभिजय) इस तेजस्वी लोक का जय कर ॥ ६ ॥

(अजः अग्निः) अजन्मा अग्नि है (अजं उ ज्योतिः आहुः) न जन्मनेवाला तेज है ऐसा कहते हैं। [जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः] जीते हुए मनुष्यके द्वारा अपना अजन्मा आत्मा परब्रह्मके लिए समर्पण करने योग्य है ऐसा कहते हैं। [अस्मिन् लोके श्रद्दधानेन दत्तः] इस लोकमें श्रद्धा धारण करनेवालेने समर्पित किया हुआ [अजः तमांसि दूरं अप हन्ति] अजन्मा आत्मा अन्धकारोंको दूर भगाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ- योग्य शासक किंवा छेदक जोडोंके अनुसार तीक्ष्ण शस्त्रसे शस्त्रप्रयोग करे और रोगादि दोषोंको दूर करे। अभिमान न धरे और किसीका द्रोह भी न करे। प्रत्येक अवयवमें सामर्थ्य उत्पन्न करे और परम उच्च स्थानको प्राप्त करे ॥४॥

पकानेका बर्तन अग्निपर रखा जाय, उसमें पानी डाला जाय, चारों ओरसे अच्छी प्रकार सेक दिया जावे, पकनेके पश्चात् जहां सुकृत करनेवाले बैठे हों वहां लेजाकर उनको दिया जावे ॥ ५ ॥

तपे बर्तनसे ऐसा बाहर निकलो कि जैसा न तपा हुआ होता है। और परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो। अग्निपर अग्नि अर्थात् आत्मापर परमात्मा विराजमान है। उस तेजोमय लोकको अपने शुभ कर्मसे प्राप्त करो ॥ ६ ॥

अजन्मा आत्मा भी अग्नि कहलाता है, अजन्मा परमात्मा भी तेजोमय है ऐसा ज्ञानी कहते हैं। जीवित देहधारी लोगोंके अन्दर जो अजन्मा जीवात्मा है वह परमात्मा अथवा परब्रह्मके लिये समर्पित होने योग्य है ऐसा ज्ञानी कहते हैं। इस लोकमें श्रद्धासे यदि इसका समर्पण किया जाय, तो वह अजन्मा आत्मा सब अन्धकारोंको दूर कर सकता है ॥ ७ ॥

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ८ ॥
अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥ ९ ॥
अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका ॥ १० ॥ (११)
एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥
ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवोऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु ॥ १२ ॥

अर्थ- [त्रीणि ज्योतींषि आक्रंस्यमानः] तीनों तेजोंपर आक्रमण करनेवाला [पञ्चौदनः] पांच भोजनोंवाला अजन्मा (पञ्चधा विक्रमतां) पांच प्रकारसे पराक्रम करे । (ईजानानां सुकृतां मध्यं प्रेहि) यज्ञकर्ता सत्कर्म करनेवालोंके मध्यमें प्राप्त हो। (तृतीये नाके अधिविश्रयस्व) तृतीय स्वर्गधाममें प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(अज ! आरोह) हे अजन्मा ! ऊपर चढ (यत्र सुकृतां लोकः) जहां शुभ कर्म करनेवालोंका स्थान है । (चत्तः शरभः न) छिपे हुए व्याघ्र के समान (दुर्गाणि अति एषः) संकटोंके परे जा । पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांचोंका भोजन करनेवाला आत्मा परब्रह्म के लिये समर्पित होता हुआ (सः) वह [दातारं तृप्त्या तर्पयाति] दाताको तृप्तिसे संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

(अजः) अजन्मा आत्मा (ददिवांसं) आत्मसमर्पण करनेवालेको (त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे) तीनों सुखोंको देनेवाले, तीनों प्रकाशोंसे युक्त, तीन पीठों आधारोंसे युक्त (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गधामके स्थानपर (दधाति) धारण करता है । (पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांच भोजनोंवाला जो परब्रह्मको समर्पित होता है ऐसा तू स्वयं (एका विश्वरूपा धेनुः असि) एक विश्वरूप कामधेनुके समान होता है ॥ १० ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः एतत् तृतीयं ज्योतिः) आपके लिये यह तीसरा तेज है जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्मा का परब्रह्मके लिये समर्पण करना है । (श्रद्दधानेन दत्तः अजः) श्रद्धालु-द्वारा समर्पित हुआ अजन्मा आत्मा (अस्मिन् लोके तमांसि दूरं अपहन्ति) इस लोकमें सब अन्धकारोंको दूर करता है ॥ ११ ॥

(ईजानानां सुकृतां लोकं ईप्सन्) यज्ञकर्ता शुभकर्म करनेवालोंके लोककी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्माको परब्रह्मके लिए समर्पित करता है । (सः व्याप्तिं एतं लोकं जय) वह तू व्याप्तिवाले इस लोकको जीत ले (यह प्रतिगृहीतः अस्मभ्यं शिवः अस्तु) स्वीकृत हुआ हमारे लिए कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ- तीन तेजोंको प्राप्त करनेवाला यह आत्मा पांच भोग प्राप्त करनेवाला है। यह पांच कार्यक्षेत्रोंमें पराक्रम करे। यज्ञ करनेवाले शुभकर्म करनेवालोंके मध्यमें प्रमुख स्थान प्राप्त करें और परम उच्च अवस्थामें विराजमान होवे ॥ ८ ॥

हे जन्मरहित जीवात्मन्! उच्च मार्गसे चल, और सत्कर्म करनेवाले लोग जहां पहुंचते हैं वहां प्राप्त हो। जिस प्रकार छिपा हुआ व्याघ्र होता है, वैसा तू सुरक्षित होकर सब कष्टोंके परे जा। पांच भोजनोंका भोग लेनेवाला जिवात्मा परमात्माके लिये समर्पित होकर समर्पण करनेवालेको संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥
अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥ १४ ॥
एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥
अजो३स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् । तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

अर्थ-- (अजः अग्नेः शोकात् हि अजनिष्ट) अजन्मा आत्मा अग्निरूप तेजस्वी परमात्माके तेजसे प्रकट हुआ है। विप्रस्य महसः) विशेष ज्ञानी परमात्माकी शक्तिसे [विपश्चित् विप्रः] यह ज्ञानी चेतन प्रकट हुआ है । (इष्टं पूर्तं) इष्ट और पूर्त (अभिपूर्तं वषट्कृतं तत्) संपूर्ण यज्ञके द्वारा समर्पित उसको (देवाः ऋतुशः तत् कल्पयन्तु) देव ऋतुके अनुकूल समर्थ बनाते हैं ॥ १३ ॥

(अमोतं हिरण्ययं वासः) साथ बैठकर बुना हुआ सुवर्णमय वस्त्र और (दक्षिणां अपि दद्यात्) दक्षिणा भी दी जावे । (तथा लोकान् समाप्नोति) इससे वे लोक वह प्राप्त करता है, (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो द्युलोकमें और जो इस पृथ्वीपर हैं ॥ १४ ॥

हे (अज) अजन्मा आत्मन् ! (एताः सोम्याः देवीः) ये सोम संबंधी दिव्य (घृतपृष्ठाः मधुश्चुतः) घी और शहदसे युक्त (धाराः त्वा उपयन्तु) रसधाराएं तेरे पास पहुंचें। और तू (सप्तरश्मौ अधि) सात किरणोंवाले सूर्यके ऊपर (नाकस्य पृष्ठे द्यां) स्वर्गके पृष्टभागपर द्युलोकको (उत पृथिवीं तस्तभान) और पृथ्वीको स्थिर कर ॥ १५ ॥

हे (अज) अजन्मा ! तू (अजः असि) जन्मरहित है, तू (स्वर्गः असि) सुखमय है, [त्वया अंगिरसः लोकं प्रजानन्] तू तैजस् लोकको जाननेवाला है ; [तं पुण्यं लोकं प्र ज्ञेषं] उस पुण्यकारक लोकको मैं जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थ-अजन्मा आत्मा आत्मसमर्पण करनेवालेको सब प्रकारके उच्च सुखपूर्ण स्थानके लिए योग्य बनाता है। पांच भोजनोंका भोक्ता जीवात्मा परमात्माके लिए समर्पित होनेपर वह एक कामधेनु जैसा बनता है ॥ १० ॥

जो पांच अन्नोंका भोक्ता जीवात्माका परमात्माको समर्पित करना है वह मानो, सब पितरोंके लिये तृतीय ज्योति देनेके समान है । यह समर्पण यदि श्रद्धासे किया तो वह सब अज्ञानान्धकारको दूर करता है ॥ ११ ॥

जिस लोकको यज्ञ करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष प्राप्त करते हैं, वहां पञ्चभोजनी जीवात्माका परमात्माके लिये समर्पण करने-वाला जाता है । अतः तू इस व्यापक लोकको प्राप्त हो । यह लोक प्राप्त होनेपर सबके लिये कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

परमात्माके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट होता है । महान् ज्ञानी परमात्माकी महिमासे यह चेतन जीवात्मा प्रकट होता है । इसके सब प्रकारके ऋतुओंके अनुकूल सब कर्म सब देव मिलकर पूर्ण करते हैं ॥ १३ ॥

स्वयं बैठकर बुना हुआ वस्त्र सुवर्ण दक्षिणाके साथ दान करना उचित है । इस दानसे भौतिक और अभौतिक लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

ये दिव्य सोमरसकी धाराएं घी और मधुके साथ मिलकर प्राप्त हों इनका सेवन करके तू इस भूमिको सूर्यसे भी परे स्वर्गधाममें स्थापित कर ॥ १५ ॥

तू जन्मरहित और सुखपूर्ण है । तू सब तेजस्वी लोकोंको जानता है । उन पुण्यमय लोकोंको मैं भी जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ १७ ॥
अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥ १८ ॥
यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥ १९ ॥
अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥ (१२)
सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ २१ ॥

अर्थ- हे अग्ने! (येन सहस्रं वहसि) जिससे तू सहस्रोंको ले जाता है और (येन सर्ववेदसं) जिससे सब ज्ञान तू पहुंचाता है, (तेन) उससे (नः इमं यज्ञं) हमारे इस यज्ञको (देवेषु स्वः गन्तवे) देवोंके अन्दर विद्यमान तेजको प्राप्त करनेके लिये (वह) ले चल ॥ १७ ॥

(पञ्चौदनः पक्वः अजः) पञ्च भोजनवाला परिपक्व हुआ अजन्मा आत्मा (निर्ऋतिं बाधमानः) दुरवस्थाका नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोकमें (दधाति) धारण करता है। (तेन) उससे (सूर्यवतः लोकान् जयेम) सूर्यवाले लोकोंको जीतकर प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

(यं ब्राह्मणे निदधे) जिसको ब्राह्मणमें रखता हूं, (यं च विक्षु) जिसको प्रजाजनोंमें रखता हूं और (अजस्य ओदनानां याः विप्रुषः) जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, हे अग्ने! (नः सर्वं तत्) हमारा वह सब (सुकृतस्य लोके) पुण्य लोकमें, (पथीनां संगमने) मार्गोंके संगममें है, ऐसा (जानीतात्) जानो ॥ १९ ॥

(अजः वै अग्रे इदं व्यक्रमत) अजन्मा आत्मा ही पूर्वकालमें इस संसारमें विक्रम करता रहा। (तस्य उरः इयं अभवत्) उसकी छाती यह भूमि बनी और (द्यौः पृष्ठं) द्युलोक पीठ होगया। (अन्तरिक्षं मध्यं) अन्तरिक्ष मध्यभाग और (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्वभाग तथा [समुद्रौ कुक्षी] समुद्र कोखें बनी ॥ २० ॥

[सत्यं च ऋतं च चक्षुषी] सत्य और ऋत ये उसकी आंखे, [विश्वं सत्यं] सब विश्व अस्तित्व, [श्रद्धा प्राणः] श्रद्धा प्राण, और [विराट् शिरः] विराट् सिर बना। [यत् पञ्चौदनः अजः] जो पञ्च भोजन अजन्मा आत्मा है वह [एषः वै अपरिमितः यज्ञः] यह सचमुच अपरिमित यज्ञ है ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी देव! जिस शक्तिसे तू सहस्रों लोगोंको उच्च अवस्थातक लेजाता है, सब ज्ञान सबको पहुंचाता है, उस अद्वितीय शक्तिसे इस मेरे यज्ञको तू सब देवोंके पास पहुंचा, जिससे मुझे दिव्य तेजकी प्राप्ति होवे ॥ १७ ॥

पञ्चभोजन करनेवाला अजन्मा आत्मा परिपक्व होता हुआ अवनति दूर करता है और स्वर्गलोक प्राप्त करता है। हम सब उस परिपक्व आत्माके द्वारा प्रकाशवाले लोक प्राप्त कर सकेंगे ॥ १८ ॥

जो ज्ञानियोंके लिए हम समर्पण करते हैं, जो प्रजाजनोंके लिए अर्पण करते हैं, जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, ये सब पुण्यलोकमें पहुंचानेवाले मार्गोंके सहायक हैं ऐसा जानो ॥ १९ ॥

इस जगत् में जो विक्रम है वह अजन्मा आत्माका ही है। इस आत्माकी छाती भूमी है, पीठ द्युलोक है, अन्तरिक्ष मध्य-भाग है, दिशाएं बगल हैं और कोखें समुद्र हैं ॥ २० ॥

उसकी आखें सत्य और ऋत हैं, उसका अस्तित्व सब विश्व है, उसका प्राण श्रद्धा और सिर संपूर्ण चमकनेवाले लोक हैं। यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा अनन्त यज्ञरूप है ॥ २१ ॥

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्धे ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥
नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् । सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥
इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २४ ॥
पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥
पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति ।
स्वर्गं लोकमश्नुते योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २६ ॥

अर्थ— [यः पञ्चौदनं] जो पांच भोजनोंवाले [दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति] दक्षिणाके तेजसे प्रकाशित अजन्मा आत्माका समर्पण करता है, वह [अपरिमितं यज्ञं आप्नोति] अपरिमित यज्ञको प्राप्त करता है, तथा [अपरिमितं लोकं अवरुंधे] अपरिमित लोकको अपने आधीन करता है ॥ २२ ॥

[अस्य अस्थीनि न भिंद्यात्] इसकी हड्डियोंको न तोडे, [मज्ज्ञः न निः धयेत्] मज्जाओंको न पीवे, [एनं सर्वं समादाय] इस सबको लेकर [इदं इदं प्रवेशयेत्] इसको इसमें प्रवेश करें ॥ २३ ॥

[इदं इदं एव अस्य रूपं भवति] यह यह ही इसका रूप होता है, [तेन एनं संगमयति] उसके साथ इसको मिलाता है । [अस्मै इषं महः ऊर्जं दुहे] इसके लिए अन्न तेज और बल मिलता है, [यः दक्षिणाज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति] जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माको समर्पित करता है ॥ २४ ॥

[यः दक्षिणा०] जो जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है [अस्मै] इसके लिए [पञ्च रुक्मा] पांच मोहरें, [पञ्च नवानि वस्त्रा] पांच नये वस्त्र और [पञ्च कामदुघः धेनवः] पांच इष्ट समय दूध देनेवाली गौवें [भवन्ति] होती हैं ॥ २५ ॥

[यः दक्षिणा०] जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है [अस्मै] इसके लिए [पञ्च रुक्मा] पांच सुवर्ण मुद्राएं [ज्योतिः भवन्ति] प्रकाशमान होती हैं । (तन्वे) शरीर के लिए [वर्म वासांसि भवन्ति] कवचरूपी वस्त्र होते हैं । और वह [स्वर्गं लोकं अश्नुते] स्वर्ग लोक प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा जो समर्पण करता है उसको उक्त कारण अनन्त यज्ञ करनेका फल प्राप्त होता है, और वह अनन्त लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

इस यज्ञके लिए किसी की हड्डियोंको तोडनेकी आवश्यकता नहीं और मज्जाओंको निचोडनेकी भी आवश्यकता नहीं है । इसका सबका सब लेकर इस विशालमें प्रविष्ट करना चाहिए ॥ २३ ॥

यही इस यज्ञका रूप है । उस विशालके साथ इसका संबंध जोडता है । इससे इसको अन्न बल और तेज प्राप्त होता है जो पंचभोजनी अजन्म आत्माका समर्पण करता है ॥ २४ ॥

इस समर्पण करनेवालेको पांच सुवर्ण, पांच नवीन वस्त्र, और पांच कामधेनु प्राप्त होती हैं ॥ २५ ॥

इस समर्पण करनेवालेको पांच सुवर्ण और पांच प्रकाश प्राप्त होकर शरीरके लिए कवच जैसे वस्त्र प्राप्त होते हैं और स्वर्ग लोक प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥ २७ ॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥
अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् । वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥२९॥
आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ ३० ॥ (१३)
यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ॥
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

अर्थ—[या पूर्वं पतिं वित्त्वा] जो पहिले पतिको प्राप्त करके, [अथ अपरं विन्दते] पश्चात् दूसरे अन्यको प्राप्त करती है, [तो पञ्चौदनं अजं ददतः] वे दोनों पञ्च भोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करके [न वियोषतः] वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

(यः पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति) जो पञ्च भोजनवाले दक्षिणाके तेजसे युक्त अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह (अपरः पतिः) दूसरा पति (पुनर्भुवा समानलोकः भवति) पुनर्विवाहित स्त्रीके साथ समान स्थानवाला होता है ॥ २८ ॥

(अनुपूर्ववत्सां धेनुं) क्रमसे प्रतिवर्ष बछडा देनेवाली गौको और (अनड्वाहं) बैलको तथा (उपबर्हणं वासः हिरण्यं) ओढनी, वस्त्र और सोना (दत्त्वा) देकर (ते उत्तमां दिवं यन्ति) वे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

(आत्मानं पितरं पुत्रं) अपने आपको, पिताको, पुत्रको, (पौत्रं पितामहं) पौत्रको और पितामहको (जायां जनित्रीं मातरं) स्त्री और जननी माताको और (ये प्रियाः तान्) जो इष्ट हैं उनको मैं (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ ३० ॥

(एष वै नैदाघः नाम ऋतुः) यह निश्चयसे निदाघ अर्थात् ग्रीष्म ऋतु है (यः पञ्चौदनः अजः) जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै नैदाघं नाम ऋतुं वेद) जो इस ग्रीष्म ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा--ज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निः दहति) अप्रिय शत्रुके श्रीको सर्वथा जला देता है और वह (आत्मना भवति) अपनी आत्मशक्तिसे प्रभावित होता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ— जो पहिले पतिको प्राप्त करके पश्चात् पुनर्विवाहसे दूसरे पतिको प्राप्त करती है, वह इस पञ्चभोजनी अजका समर्पण करके वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

जो पञ्चभोजनी अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह दूसरा पति पुनर्विवाहित पतिके समान ही होता है ॥२८॥

प्रतिवर्ष बच्चा देनेवाली गौ, उत्तम बैल, ओढनेका वस्त्र और सुवर्ण इनका दान करनेसे उत्तम स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अपना आत्मा, पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र, धर्मपत्नी, जन्मदेनेवाली माता, और जो हमारे प्रिय हैं उन सबको मैं बुलाता हूं और यह बात सुनाता हूं ॥ ३० ॥

*

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद ।
कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः ०।०।० ॥ ३२ ॥
यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद ।
संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै संयन्नाम ०।०।० ॥ ३३ ॥
यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद ।
पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै पिन्वन्नाम ०।०।० ॥ ३४ ॥
यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद ।
उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वा उद्यन्नाम ०।०।० ॥ ३५ ॥
यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद ।
अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥

अर्थ— (एष वै कुर्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह निःसंदेह कर्ता नामक ऋतु है जो अज पञ्चभोजनी है । (यः वै कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) कर्ता नामक इस ऋतुको जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त इस पञ्चभोजनी अजका दान करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (कुर्वतीं कुर्वतीं एव श्रियं आदत्ते) प्रयत्नमयी श्रीको हर लेता है ॥ ३२ ॥

(एष वै संयत् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह संयम नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है । (यः वै संयन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे संयम नामक ऋतुको जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुकी (संयतीं संयतीं एव श्रियं आदत्ते) संयमसे प्राप्त श्रीको हर लेता है ॥ ३३ ॥

(एष वै पिन्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह पोषण नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है । (यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे पोषक नामक ऋतुको जानता है और दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्च भोजनी अजका समर्पण करता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य पिन्वन्तीं नाम श्रियं आदत्ते) अप्रिय शत्रुकी पोषक श्रीको हर लेता है ॥३४॥

(एष वै उद्यन् नाम ऋतुः यत् अज०) यह निःसन्देह उदय नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है । (यः वै उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे उदयरूपी ऋतुको जानता है और दक्षिणायुक्त पञ्चभोजनी अजको देता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुकी (उद्यतीं उद्यतीं एव श्रियं आदत्ते) उदयको प्राप्त होनेवाली श्रीको हर लेता है ॥ ३५ ॥

(एष वै अभिभूः नाम ऋतुः) यह निःसन्देह विजय नामक ऋतु है (यत् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चभोजनी अज है । (यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो विजय नामक इस ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (अभिभवन्तीं

एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ॥
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३६ ॥
अजं च पचत पञ्च चौदनान्।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥ ३७ ॥
तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि ॥ ३८ ॥ (१४)

अभिभवन्तीं एव श्रियं आदत्ते) परास्त करनेवाली शोभाको हर लेता है। इसके (अप्रियस्य०) अप्रिय शत्रुकी श्रीको जला देता है और (आत्मना भवति) अपनी शक्तिसे रहता है ॥ ३६ ॥

(अजं पञ्च ओदनान् च पचत) इस अजन्माको और पांच भोजनोंको परिपक्व करो। (ते एतं) तेरे इस अजको सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (सान्तर्देशाः) आंतरिक प्रदेशोंके साथ (सध्रीचीः संमनसः) सहमत और एक विचारसे युक्त होकर (प्रतिगृह्णन्तु) स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

(ताः ते तुभ्यं तव एतं रक्षन्तु) वे तेरी तेरे लिए तेरे इस आत्माकी रक्षा करें। (ताभ्यः इदं आज्यं हविः जुहोमि) इनके लिए इस घी और हवन सामग्रीका हवन करता हूं ॥ ३८ ॥

भावार्थ— उग्रता, कर्म, संयम, पुष्टि, उद्यम, और विजय ये छः ऋतु हैं। ये छः ऋतु इस पंचभोजनी अजका रूप है। जो इसका स्वरूप जानता है और इसका समर्पण करता है, वह शत्रुको परास्त करता है और अपने आत्माकी शक्ति बढाता अर्थात् आत्मिक बलसे युक्त होता है ॥ ३१-३६ ॥

इस अजको और इसके पांचों भोगोंको परिपक्व बनाओ, सब दिशा और उपदिशाएं इसको अपनाएं, अर्थात् यह सब दिशाओंका बने ॥ ३७ ॥

ये सब आत्माकी रक्षा करें और आत्मरक्षासे तेरी उन्नति हो। इसी उद्देश्यसे इस घी की आहुती मैं देता हूं, यह एक समर्पणका उदाहरण है ॥ ३८ ॥

पञ्चौदन अज।

इस सूक्तमें ' पञ्चौदन अज ' को स्वर्गधाम कैसा प्राप्त होता है, इसका वर्णन है। सबसे पहिले यह पञ्चौदन अज कौन है इस बातका परिचय करना चाहिये। ' पञ्चौदन अज ' (पञ्च+ओदन अज) का अर्थ पांच प्रकारके भोजनोंवाले अज हैं। अर्थात् पांच प्रकार के अन्नका भोग करनेवाला यह अज है।

'अज' शब्दके अर्थ—" अजन्मा, सदासे रहनेवाला, सर्व शक्तिमान् परमात्मा, जीव, आत्मा चालक, बकरा, धान्य " ये होते हैं। इनमेंसे यहां किसका ग्रहण करना चाहिये यह एक विचारणीय बात है। ' अज ' शब्दसे यहां परमात्माका ग्रहण करना अयोग्य है, क्योंकि वह स्वभावसे परम उच्च लोकमें सदा विराजमान ही है उसको उच्च लोकमें जानेकी आवश्यकता ही नहीं है। यहां इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है उसके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

सुकृतां लोकं गच्छतु प्रजानन् ॥ (मं० १)
तीर्त्वा तमांसि अजस्तृतीयं नाकं आक्रमताम् (मं १, ३)
तृतीये नाक अधि विश्रयैनम् ॥ (मं० ४)
श्रतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ (मं०५)
तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ॥ (मं० ८)

" यह मार्ग जानता हुआ पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करे । अन्धकार दूर करके तृतीय स्वर्गधामको प्राप्त होवे। परिपक्क होकर पुण्यवानोंके लोकको जावे । तृतीय स्वर्गधाममें आश्रय करे । "

ये मंत्रभाग ऐसे आत्माको स्वर्गधाम प्राप्त करनेके सूचक हैं कि जिसको पहिले स्वर्ग नहीं प्राप्त हुआ है, जो उत्तम लोक में नहीं पहुचा है, जो अधम लोकमें है । अर्थात् यहांका अज शब्द परमात्माका वाचक नहीं, अपि तु ऐसे आत्माका वाचक है,जो उत्तम लोक को अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है । 'अज' शब्दके दूसरे अर्थ 'धान्य' और 'बकरा' ये हैं । इनमें धान्यका स्वर्गधामको प्राप्त होना असंभव है और बकरा स्वर्गधामको जा सकता है वा नहीं, इस विषयमें शंका ही है । क्योंकि स्वर्ग तो (सुकृतां लोकः) सत्कर्म करनेवालोंका लोक है । जो स्वयं सत्कर्म कर सकते हैं, वे ही अपने किये सत्कर्मोंके बलसे स्वर्गधामको जा सकते हैं । अतः धान्य और बकरा स्वयं सत्कर्म करनेमें समर्थ न होनेके कारण सुकृत-लोक को प्राप्त करने में असमर्थ हैं ।

यहां कई कहेंगे कि जो बकरा यज्ञमें समर्पित किया जाता है, वह समर्पित होनेके कारण स्वर्गका भागी हो सकता है । यहां विचारणीय बात यह है कि, जो स्वयं स्वेच्छासे दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पित होते हैं, जो परोपकारके लिए आत्मसमर्पण कर सकते हैं, वे स्वर्गधाम प्राप्त करनेके अधिकारी माने जा सकते हैं । जो लोग बकरेको पकडते हैं और उसके मांसका हवन करते हैं, वे बकरेकी इच्छाका विचार ही नहीं करते । यदि इस प्रकारकी ज़बरदस्ती से स्वर्गधामकी प्राप्ति होनेका संभव होगा, तो जो गौवें और बकरियां व्याघ्रके जीवनके लिये समर्पित हो जाती हैं, वे सबकी सब स्वर्गको पहुंचेंगी; इतना ही नहीं परंतु अज संज्ञक धान्य यज्ञाग्निमें आहुतिद्वारा समर्पित होनेपर सीधा स्वर्गको जायगा, समिधाएं और घी भी वहां पहुंचेगा । यह तो अव्यवस्था है। व्याघ्रने गौको मारा और खाया, तो इसमें गायका आत्मसमर्पण नहीं है । क्रूर राजा प्रजाको लूटकर प्रजाकी धन संपत्ति इकठ्ठी करके लेजाता है, यहां भी उस पददलित प्रजाको परोपकार, दान या सर्वस्वका मेध करनेका पुण्य नहीं मिल सकता । फल तब मिलेगा कि जब आत्मसर्वस्वका समर्पण स्वेच्छासे किया गया हो । पूर्वोक्त 'अज' के अर्थोंमें 'धान्य, बकरा' ये आत्मसमर्पण की बात जान ही नहीं सकते, इसलिये आत्मसमर्पण कर नहीं सकते । और ये स्वर्गधामको प्राप्त नहीं होसकते । परमात्मा उत्तम लोकमें सदा उपस्थित होनेसे उसको कर्म विशेषसे आत्मसमर्पण द्वारा वह लोक प्राप्त होना है ऐसी बात नहीं है । अतः शेष रहा ' जीव आत्मा ' यही अर्थ यहां अपेक्षित है । यह सुकृत करता हुआ स्वर्गधाम को प्राप्त करता है और इसी कार्य के लिए संपूर्ण धर्मशास्त्र रचे गये हैं ।

इस सूक्तके 'अज' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ 'बकरा' लेकर कइयोंने बकरेको काटना, पकाना, उसके अंश सबको देना और उसको स्वर्गको भेजना ऐसे अर्थ किये हैं । वे उक्त कारण युक्तियुक्त नहीं है। अस्तु, इस तरह यहां इस सूक्तमें अज शब्दका अर्थ जीव, आत्मा किंवा जीवात्मा है ।

अब देखना है कि इसको 'पञ्चौदन' क्यों कहा है । यह पांच प्रकारका अन्न खाता है इसी लिए इसको ' पञ्चभोजनी ' अज कहा है । इसके पांच भोजन कौनसे हैं, ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय इसके पांच भोजन हैं, ये परस्पर भिन्न हैं और ये इसके उपभोग के विषय हैं । इस विषयमें कहा है-

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
> ऋ० १ । १६४ । २०; अथर्व० ९ । ९ । (१४) । २०

" एकही (शरीररूपी) वृक्षपर दो पक्षी (दो आत्मा—जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) इस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल प्रकाशता है ।

इस वृक्षको शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच भोगरूपी फल लगते हैं । इनका भोग यह अजन्मा आत्मा करता है। इसके पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे ये पांच फल इसके पास पहुंचते हैं। मनुष्य ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो, बद्ध हो वा मुक्त हो, जबतक यह आत्मा शरीरमें रहेगा, तबतक इसके पास ये पांच प्रकारके भोग प्राप्त होते रहेंगे । बद्ध स्थितिमें रहनेवाला आत्मा आसक्तिसे विषय सेवन करेगा और जीवन्मुक्त स्थितिमें रहा आत्मा आसक्ति छोडकर उदासीनतासे दर्शन करेगा । दोनोंको कानोंसे शब्द,

त्वचासे स्पर्श, नेत्रसे रूप, जिह्वासे रस और नाकसे गन्ध प्राप्त होगा। ये पांच भोजन इसके पास आवेंगे, कोई भोग करेगा और कोई नहीं यह बात दूसरी है। 'पंचौदन अज' का यह अर्थ है और यह हरएक जीवात्मा के विषयमें अनुभवमें आसकता है। इस 'अज' के स्वरूपका निश्चय स्वयं इस सूक्तने किया है, वह अब देखिये—

अजो अग्निः ; अजमु ज्योतिः आहुः,
अजः तमांसि अपहन्ति ॥ [मं० ७]
अग्नेः अग्निः सं बभूविथ ॥ (मं० ६)
अजः हि अग्नेः शोकात् अजनिष्ट। (मं० १३)
विप्रस्य महसः विपश्चित् विप्रः अजनिष्ट। (मं० १३)
एष वा अपरिमितो यज्ञः यदजः पञ्चौदनः। (मं० २१)

"अग्निका नाम अज है, ज्योतिका नाम अज है, यह अज अन्धकारको दूर करता है। अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ है। अग्निके तजसे अज उत्पन्न हुआ है। ज्ञानीकी महिमासे ज्ञानी विद्वान् जन्मा है। यह पञ्चौदन अज अपरिमित यज्ञ है।" ये सब मंत्र भाग यहां अज शब्दसे आत्माका भाव है, ऐसा स्पष्ट कहते हैं। क्योंकि आत्मा, ज्योति, अग्नि, ज्ञानी, यज्ञ आदि शब्द जीवात्माके लिए वैदिक वाङ्मयमें आते हैं। येही प्रतिशब्द 'अज' शब्दका अर्थ बतानेके लिए वेदने स्वयं दिये हैं और अज शब्दके अर्थके विषयमें संदेह निवृत्ति की है। इतना करनेपर भी यहांके अज शब्दका अर्थ 'बकरा' है ऐसा जो मानते हैं, उनकी विचार शक्तिके बिषयमें क्या कहा जाय, यही हमारे समझमें नहीं आता।

यहां उक्त वचनोंमें कहा है कि इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है, वह अग्निके समान तेजस्वी, ज्योतिके समान प्रकाशमय, दीपके समान अन्धकारको दूर करनेवाला है, परमात्मारूप महान् अग्निसे इसकी उत्पत्ति हुई है, जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित होनेसे उसकी ज्वालासे स्फुलिंग चारों ओर उडते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी दीप्तिसे जो स्फुलिंग चारों ओर फैले हैं, वेही अनंत जीवात्मा हैं। परमात्मा चेतनस्वरूप है, उससे यह चेतनस्वरूप जीव आत्मा प्रगट हुआ है। यही यज्ञ स्वरूप है। इस प्रकारका वर्णन उक्त मंत्रभागोंमें है। यह देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यहां अज शब्दसे 'जीव आत्मा' का ग्रहण करना योग्य है।

बकरा ऐसा अर्थ यहां के अज शब्दका लेनेसे क्या बनता है? और इन मंत्रोंकी संगति भी कैसी लग सकती है? क्या बकरा अग्नि है और ज्योति है, क्या कभी बकरेके द्वारा अंधकार दूर हुआ है? क्या कभी अग्निके प्रकाशसे बकरा प्रकट हुआ है? अर्थात् अज शब्दका अर्थ बकरा करनेपर पूर्वोक्त मंत्रोंका कोई सरल अर्थ नहीं लग सकता। अतः अज शब्दसे यहां 'जीव आत्मा' अर्थ लेना चाहिए यह बात सिद्ध होगई। अब इसकी उच्च गति होनेके विषयमें इस सूक्तमें क्या कहा है, देखिये—

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत्। (मं० २०)
अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति, निर्ऋतिं बाधमानः। (मं० १९)
अजं च पचत पञ्च चौदनान्। (मं० ३७)

"यह (अजः) अजन्मा आत्मा जगतके प्रारंभसे पराक्रम कर रहा है। यह अजन्मा आत्मा परिपक्व होनेपर अवनतिको दूर करके स्वर्गमें अपने आपको धारण करता है। अजको और पांच अन्नोंको परिपक्व करो।" इस जगत्में जो कुछ भी पराक्रम हुए हैं वे इस आत्माके कारणही हैं, इस जगत्में जो चल रहा है वह आत्माकी शक्ति ही है। शरीरमें जीवात्मा और विश्वमें परमात्मा कार्य कर रहा है। जीवात्मा प्रारंभमें अपरिपक्व अवस्थामें होता है, वह शुभ संस्कारों द्वारा परिपक्व बनता है और इसकी जितनी परिपक्वता होती है, उतना यह अपनीही शक्तिसे अवनतिको दूर करता रहता है। इससे सिद्ध होता है, कि जीवात्माकी दो अवस्थाएं हैं, कई तो परिपक्व स्थितिको प्राप्त होते हैं, शेष जितने हैं उतने सब अपरिपक्व अवस्थामें हैं अथवा परिपक्व होनेके मार्गमें होते हैं। इसीको मुक्त और बद्ध अवस्था कहते हैं

यहां के 'अजः पक्वः' ये शब्द देखनेसे 'पकाया हुआ बकरा' ऐसा अर्थ कई लोग करते हैं, परन्तु पकाया हुआ बकरा स्वर्गमें जानेका अनुभव तो नहीं है, वह सीधा मांस भक्षकोंके पेटमें जाता है। परंतु यहां का परिपक्व हुआ अज सीधा स्वर्गधामको

जाता है, अतः यहां का अज अलग है। दूसरी बात यह है कि, 'पक्क' शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, मनुष्यके विचार परिपक्क हुए हैं, उसका ज्ञान पक्क हुआ है, फल परिपक्क हुआ है, इस तरह इसका भाव बडा व्यापक है। यह परिपक्क कैसा होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिए-

नैदाघं...कुर्वन्तं...संयन्तं...पिन्वन्तं...उद्यन्तं...अभिभुवं
नाम ऋतुं वेद...श्रियं आदत्ते...आत्मना भवति ॥ (मं० ३१—३६)

" उष्णता, कर्तृत्व, संयम, पोषण, उद्यम और शत्रुजय ये छः आत्माके ऋतु हैं। जो इन ऋतुओंसे काम लेना जानता है वह श्रीको प्राप्त करता है और आत्माकी शक्तिसे युक्त होता है।" ये छः मंत्र आत्माकी उन्नति करनेवाली शक्तियोंके सूचक हैं। सबसे पहिले मनुष्यमें उष्णता-गर्मी-चाहिए, हरएक कार्य करनेकी स्फूर्ति इसीसे होती है, पश्चात् कर्म करने चाहिए, क्योंकि शुभ कर्मोंसे ही सुकृत लोक प्राप्त होते हैं। शुभ कर्म करनेके लिए संयम चाहिए। बहुत कर्म होनेके लिए पुष्टि होनी चाहिए। सतत उद्यम करना चाहिए और बीचमें जो विघ्न आवेंगे उनको दूर हटा देनेका बल भी चाहिए। ये छः गुण होनेसे और इनके द्वारा योग्य दिशासे प्रयत्न होने से मनुष्यकी उन्नति होती है।

वस्तुतः यह अजन्मा आत्मा सुख स्वरूप और स्वर्गका अधिकारी है, यह कोई अनधिकारी नहीं है, यह अग्निका ही स्फुलिंग है, अतः प्रकाशित होनेका अधिकारी है। यह परमात्माका अमृतपुत्र है इसलिए कहा है—

अजोऽसि, अज स्वर्गोऽसि। (मं० १६)

" तू जन्मरहित है, तू स्वयं स्वर्ग है।" तू अपने आपको पतित होने योग्य न मान, जन्ममरण धारण करने योग्य न समझ। तू वस्तुतः जन्म न धारण करनेवाला है और तू ही स्वर्ग है। फिर यह दुःख तुम्हारे ऊपर क्यों आता है? इसका विचार कर, अपने पूर्व कर्म देख और आगे अपनी उन्नतिके लिये उद्यम करके अपनी उन्नतिका साधन कर। इसकी उन्नतिके साधनका मार्ग यह है—

एतं आ नय; आरभस्व; प्रजानन्, सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)

" इसको उत्तम मार्गसे चला; शुभ कर्मका प्रारंभ कर; उन्नतिके मार्गको जानकर; पुण्य लोकको प्राप्त कर।" इस उपदेशमें चार भाग हैं और ये महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे पहिला भाग धर्ममार्गसे जानेका है, यह तो किसी उत्तम गुरूके आधीन रहकर ही तय किया जा सकता है, अतः पहिला (एतं नय) यह वाक्य गुरुसे कहा कि 'हे गुरो! तू इस शिष्यको सहारा देकर योग्य मार्ग से ले चल।' दूसरा वाक्य ऐसा है कि (आरभस्व) शुभ कर्मोंका प्रारंभ कर, जो पाठ गुरुसे प्राप्त हुआ है उसके अनुसार कर्म करना प्रारंभ कर। यहां कर्मोंका प्रारंभ हो जाता है। कर्म करते मनुष्य का अनुभव ज्ञान बढता है और वह (प्रजानन्) ज्ञानी होकर बढता जाता है। और अन्तमें (सुकृतां लोकं) पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करता है। सामान्यतः मनुष्य की उन्नतिका सीधा मार्ग यही है। इस मार्गसे जानेवालेको अपने आपको अजन्मा होनेका तथा स्वयं स्वर्गरूप होनेका अनुभव अन्तमें आजाता है। इस प्रकार यह मार्गका आक्रमण करता हुआ—

अजः महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० १)
अजः विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० ३)
अजः तमांसि दूरं अपहन्ति (मं० ७, ११)

" यह अजन्मा आत्मा मार्गमें बडे बडे अन्धकारोंको (विपश्यन्) विशेष रीतिसे देखता है। और उन सब अन्धकारोंको (बहुधा) अनेक रीतियोंसे [तीर्त्वा] तैरकर, लांघ कर, दूर करके पार हो जाता है।" इस तरह यह अपना मार्ग खुला करता है और आगे बढता है। आगे बढते बढते—

अजः तृतीयं नाकं आक्रमताम् ॥ (मं० १, ३)
सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)
एनं तृतीये नाके अधि विश्रय। (मं० ४)

श्रतः गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः। (मं० ५)
अतः परि...तृतीयं नाकं उत्क्राम। (मं० ६)
सुकृतां मध्यं प्रेहि; तृतीये नाके अधि विश्रयस्व। (मं० ८)

" शुभ कर्म करनेवालोंके मध्यमें जा और वे पुण्यशील महात्मा लोग जहां जाते हैं, उस तृतीय स्वर्गधाम में जाकर विराजमान हो।" इस प्रकार इसकी उन्नति हो जाती है। तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके पूर्व पहिले और दूसरे स्वर्गकी योग्यता मनुष्य प्राप्त कर सकता है और अन्तमें उसको तृतीय स्वर्गधामकी प्राप्ति होना संभव है। ये तीन स्वर्ग कौनसे हैं, इसका भी यहां विचार करना चाहिये।

सब जानते हैं कि यह मनुष्यलोक है, जो स्थूल जगत् है इसीको मृत्युलोक कहते हैं, क्योंकि इसमें सदा घट बढ हुआ करती है। इससे दूसरा परन्तु इसमें गुप्त रूपसे रहा सूक्ष्म लोक है, इस जगत्के प्रत्येक पदार्थकी प्रतिकृति इस सूक्ष्म सृष्टिमें रहती है। जागृतीके अन्दर कार्य करनेवाला मन सुप्त होनेपर अनेक और विविध—दृश्य—इससे भी अतितेजस्वी दृश्य-दिखाई देते हैं। यह सूक्ष्म सृष्टि है। इसको कामसृष्टि भी कहते हैं। स्थूल जगत्की ही यह प्रतिकृति होनेके कारण जो सुखदुःख स्थूल सृष्टिमें हैं वैसे ही इसमें होते हैं, तथापि स्थूलके बन्धन और प्रतिबंध इसमें न होनेसे इसका महत्त्व स्थूलसे अधिक है। ये दोनों अनुभव जब समाप्त हो जाते हैं और कारण अवस्थामें जब मनुष्य पहुंचकर स्वतंत्रतासे विराजता है, तो उसको स्वर्गधाम प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं। इसमें तीन दर्जे हैं ऐसा मानते हैं। प्रथम मध्यम और उत्तम ये तीन अवस्थाएं इस स्वर्गमें हैं जिसके जैसे सुकृत होते हैं उसको वैसी अवस्था यहां प्राप्त होती है। सुकृतके अनुसार प्राप्त होनेवाली यह अवस्था होनेके कारण इसमें प्रत्येकका अनुभव सुखात्मक होनेके कारण भिन्न भिन्न होता है। जिस प्रकार सुषुप्ति समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है, परंतु सुषुप्तिकी निचले स्थानकी और मुक्तिकी उच्च स्थानकी होती है, इसी प्रकार यहां समझना उचित है।

तृतीय स्वर्गधाममें पहुंचनेका आशय यह है। अतः पाठक इस अत्यन्त उच्च अवस्थाकी प्राप्ति करनेका यत्न करें। यही उत्तम स्थान, परमधाम, स्वर्ग या जो कुछ धर्मग्रंथोंसे वर्णित हुआ है वह यही है। सदाचारसे इसकी प्राप्ति होती है। परिपक्व आत्मा होनेपर इसको प्राप्त कर सकता है, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखने योग्य है–

तस्मात् चरोः अतप्तः (सन्) उत्क्राम। (मं ६)

"तपे हुए पात्रमें रहता हुआ भी जो तप्त नहीं होता, वह उत्क्रान्त होनेका अधिकारी है।" ये ही विचार भिन्न शब्दोंमें इस प्रकार लिखे जा सकते हैं– "दुखी घरमें रहता हुआ भी दुःखसे अलिप्त रहनेवाला, रोगियोंके स्थानमें रहता हुआ भी नीरोग रहनेवाला, परतन्त्र लोगोंमें विचरता हुआ भी जो परतन्त्र नहीं रहता, वही संतप्त प्रदेशमें शान्तिसे रह सकता है।" इसीका नाम तपस्या है।

एक बर्तनमें खिचडी पक रही हो तो उसमें रहनेवाले सभी चावल और मूंगके दाने उबलने लगते हैं, यदि एकाध दाना न उबलता वैसाही रहा, तो वह किसीके भी पेटमें हजम नहीं होता। इसी प्रकार इस विश्वके बर्तनमें यह सब जगत्की खिचडी पक रही है। इस तपे और उबलते हुए बर्तनमें जो न तपता हुआ और न गलता या न उबलता हुआ रहेगा, तो उसके इसके बाहर फेंका जाता है। यही उसकी उत्क्रान्ति है। आगे अथर्ववेद कां० ११ (३) में ही ब्रह्मौदन पक रहा है, इस सब सृष्टिके विशाल पात्रमें यह सब खिचडी पक रही है, ऐसा बडा मनोरंजक वर्णन अलंकार रूपसे आवेगा। वहां सबका पाक हो रहा है ऐसा कहा है। इस तपे पात्रमें जहां सबको ही संताप दुःख और कष्ट हो रहे हैं, वहां जो शान्त रहेगा उसीको धन्यता प्राप्त हो सकती है। कमलपत्र जैसा पानीमें रहता हुआ भी पानीसे नहीं भीगता, उसी प्रकार परिपक्वताको प्राप्त हुआ मनुष्य इस दुखी जगत्में रहता हुआ भी इस जगत्के दुःखों और कष्टोंसे अलिप्त रहता है। यह उदासीपन, वैराग्य, अलिप्तता, असंगवृत्ती अथवा अनासक्ति उन्नतिका श्रेष्ठ साधन है।

भला जो लोग 'बकरेके मांसको पकानेका भाव' इन मंत्रोंसे निकालते हैं, वे तपे हुए पात्रसे न तपे हुए बकरेके भागको किस प्रकार उन्नतिका पथ दिखा सकते हैं और तपे हुए पात्रमें कौनसा बकरेका भाग शान्त स्थितिमें रह सकता है? वस्तुतः यह वर्णन ही अन्य स्थितिका वर्णन है। परंतु शब्दोंका भाव न समझनेके कारण कई लोगोंने इसका विपरीत अर्थ कर लिया है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो असंगभाव और अनासक्तिका उपदेश है वही यहां इस मंत्रमें ' तपे पात्रमें न तपते हुए रहना ' इन शब्दोंसे किया है । पाठक इसको इस ढंगसे देखेंगे तो उनको कोई संदेह नहीं हो सकता । इस विषयमें आगे आत्मशुद्धिका एक अपूर्व उपाय भी बताया है—

"यत् दुश्चरितं चचार, पदः प्र अवनेनिग्धि,
प्रजानन् शुद्धैः शफैः आक्रमताम् ॥ (मं० ३)

"जो दुराचार हुआ है और जिससे पांव मलिन हुए हैं, तो अपने पांव धो डाल और इस बातको जान लो कि इस प्रकार चलेनेसे पांव मलिन हो जाते हैं । अतः शुद्ध पांवोंसे आगे बढ ।" दुराचारसे पांव मलिन होते हैं उनको धोना चाहिये । अपने पांव स्वच्छ रखकर स्वच्छ भूमिपर पांव रखनेसे आगे दुष्ट आचार होनेकी संभावना नहीं है । यहां उपलक्षणसे (दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं) इस स्मृतिके वचनका ही आशय कहा है । इस प्रकार आत्मशुद्धिका मार्ग बताया है, अथर्ववेदमें पूर्वस्थानपर इसीका वर्णन अन्य रीतिसे किया है—

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ अथर्व० ६।११५।३ ॥

"जिस प्रकार बंधनस्तंभसे पशु मुक्त होता है, जैसा मनुष्य स्नानके द्वारा मलसे मुक्त होता है अथवा जैसा छाननीसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार मुझे पापसे पवित्र करो ।" इसी मंत्रके उपदेशके अनुसार इस सूक्तके मंत्रमें (शुद्धैः शफैः आक्रमतां) अपने पांव निर्मल करके आगे बढनेको कहा है । अपना शुद्ध चालचलन रखनेका उपदेश इस आज्ञामें है । वेदमें 'चरित्र' शब्दके 'पांव' और 'चालचलन' ऐसे दो अर्थ हैं । अर्थात् पांव (पाद) वाचक शब्दोंका अर्थ चालचलन ऐसा हो सकता है । इस प्रकार आचरण-शुद्धिसे आत्मशुद्धि करनेका उपदेश यहां किया है । इस तरह आत्मशुद्धि होनेके नंतर इसका परब्रह्मके लिये समर्पण होना चाहिये, यही इसका आत्मसमर्पण है । देखिये, इस विषयमें यह मंत्र विचारणीय है—

जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः । (मं० ७)
श्रद्दधानेन दत्तः अजः तमांसि अपहन्ति । (मं० ७)

" जीवित मनुष्यको उचित है कि वह अपने (अ-जं) आत्माका समर्पण (ब्रह्मणे) परब्रह्मके लिये करे । आत्मा परमात्माके लिये समर्पित होवे । इस प्रकार श्रद्धापूर्वक समर्पित हुआ यह अजन्मा आत्मा सब प्रकारके अज्ञानान्धकार दूर करता है।" समार्पित होनेसे इसकी शक्ति बढती है, समर्पित होनेसे इसका तेज संवर्धित होता है । अब इसके पराक्रमका क्षेत्र देखिये-

पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम् । (मं० ८)

"उक्त पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा पांच प्रकारके कार्यक्षेत्रमें पराक्रम करे ।" कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय,मन, चित्त और बुद्धि ये इसके पांच कार्यक्षेत्र हैं, इन क्षेत्रोंमें यह जीव आत्मा कार्य करता है । इन क्षेत्रोंमें यह खूब विक्रम करे । क्योंकि इसके विक्रम करनेसे ही इसकी उन्नति हो सकती है । विक्रमके विना किसीकी भी उन्नतिकी संभावना नहीं हो सकती । यह विक्रम करनेसे इसको (त्रीणि ज्योतींषि आक्रंस्यमानः । मं० ८) तीन तेजोंकी प्राप्ति करता है । इसमें एक तेज स्थूलका है, दूसरा मनका है और तीसरा तेज आत्मिक है । इन तीनों तेजोंमें उन्नति होती है, अर्थात् इसके ये तेज बढते हैं । परंतु इसमें तेजोंकी वृद्धि तब होती है कि जब इसका परमात्माके लिये समर्पण होता है। तात्पर्य यह है कि, आत्माका समर्पण मुख्य है, यही उन्नतिका मुख्य साधन है। इसके विना उन्नति असंभव है । यह दर्शानेके लिये-

त्वा इन्द्राय भागं परिनयामि । (मं० २)
पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः । (९ ; १०)
पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति । (मं० ११ , १२)
यं ब्रह्मणे निदधे । (मं० १९)

इतने मंत्रोंमें ब्रह्मके लिये अजन्मा आत्माका समर्पण करनेका वारंवार उपदेश किया है । जो बात विशेष महत्त्वपूर्ण होती है, वह वेदमें इस प्रकार वारंवार दुहराई जाती है । अर्थात् वेदमें जो उपदेश वारंवार आता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है ऐसा समझना चाहिये ।

अब चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें शमिताके कर्मका उल्लेख है । इसमें त्वचाके काटने और जोडोंके अनुसार व्यवस्था करनेका तथा पात्रमें भर देनेका उल्लेख है । इस क्रियाके करनेसे यह सुकृती लोगोंके मध्यमें जाता है ऐसा कहा है । यदि इन मंत्रोंसे पशुके काटनेका ही उद्देश है तो आगे ऐसा क्यों कहेंगे कि–

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत् ॥ (मं० २३)

" इसकी हड्डियां न टूटें, न इसकी मज्जा पी जावे या चूवे, इस सबको लेकर इसमें प्रवेश करावे।" यह इसके अवयव न काटनेकी ओर इशारा है, मज्जा भी नहीं पी जावे अर्थात् इसको काटना नहीं चाहिये । इसकी हड्डियां अलग नहीं करनी चाहिये। इसकी मज्जा निकालनी नहीं चाहिये । यह इशारा स्पष्ट है । इसमें कहा है कि इसके सबके सब भागको लेकर इसमें अर्थात् ब्रह्म या परमात्मामें समर्पण करो । यही आशय इसके सब भागको उसमें प्रविष्ट करनेका है । अपने आपको परमात्माकी गोदमें सौंप देना, यही भक्तिभावकी अन्तिम सीमा है ।

यदि ऐसा है तो शमिताका त्वचाका काटना और जोडोंके अनुसार उसके अवयवोंको समर्थ बनानेका भाव क्या है, यह शंका यहां आसकती है । इस शंकाके उत्तरमें निवेदन यह है कि पूर्वोक्त मंत्रोंमें जो काटना कूटना लिखा है, वह उसी मर्यादातक है कि जिस मर्यादामें उसकी हड्डियां अलग न हों, मज्जा बाहर न चूवे और अवयव अलग न हों, परंतु सब अवयव समर्थ हों । (मा अभिद्रुहः, परुशः एनं कल्पय । मं० ५) इसका द्रोह न करना और प्रत्येक जोडमें इसका समर्थ बनना । वध करना यदि चतुर्थ और पञ्चम मंत्रको अभीष्ट होता, तो उसका द्रोह न करनेकी आज्ञा उसमें क्यों आती ? वधसे और दूसरा द्रोह तो क्या हो सकता है ? और प्रत्येक अवयवको समर्थ बनाना भी वधसे कैसा होगा ? वध न किया तो कदाचित् किसी उपायसे उसके अवयव समर्थ बनाये जा सकते हैं; परंतु वध करनेके पश्चात् तो समर्थ बनाना ही असंभव है । अतः यहां वध अभीष्ट नहीं है, यह निश्चय है ।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ चमडीके खुरचने और जोडोंमें धमनियोंको शस्त्रोंद्वारा उत्तेजित करनेकी विधि इन मंत्रोंमें लिखी है । जैसे एक प्रकारका संधिवात जोडोंमें सुईके अग्रभाग द्वारा कुछ वनस्पतिरस डालनेसे ठीक होता है । ये सुईयां तांबेकी, चांदीकी और सोनेकी होती हैं और इसी प्रकारके कुछ शस्त्रविशेष भी होते हैं । इनसे चर्मको कुछ अंशमें हटाकर उसमें विशेष औषधिप्रयोग करनेसे शरीरके अवयव समर्थ होते होंगे । यह विधि अभीतक अज्ञात है, परंतु इसका स्वरूप इस प्रकारका कुछ है इसमें संदेह नहीं है । अस्तु, यह विषय खोजने योग्य है ।

यदि कोई मनुष्य यहां इन मंत्रोंमें [अज] बकरेके वधका उल्लेख है, ऐसा ही आग्रह करे, तो वह मंत्र२० और २१ देखे, इनमें " अजके विश्वरूपका वर्णन " है। समुद्र जिसकी कोखमें हैं, उर पृथ्वी है, द्युलोक उसकी पीठ है इत्यादि वर्णन कभी बकरेका नहीं हो सकता । और यदि हो सकता है तो ' अज ' अर्थात् अजन्मा परमात्माका हो सकता है । इस परमात्माके पुत्र जीवात्माका भी यह वर्णन हो सकता है । क्योंकि परमपिताके गुणधर्म अंशरूपसे पुत्रमें आते हैं और पुत्रका विकास होनेपर पुत्रके भी गुणधर्म पिताके समान होना संभव है, अर्थात् जब जीवात्मा उन्नत होता हुआ परमात्मरूप बनता है, उस समय ये ही वर्णन उसमें घट सकते हैं । इसका विचार करने पर इस सूक्तके ' अज ' शब्दका अर्थ आत्मा है, इस विषयमें सन्देह नहीं हो सकता और जीवात्माका पूर्णतया समर्पण परमात्माके लिए करनेसे ही जब जीवात्मामें परमात्म भाव आजाय, उसी समय इसका भी पृष्ठ भाग द्युलोक और अन्तरिक्ष मध्यभाग और पृथ्वी तलका भाग हो सकता है । जैसा कि मं० २० और २१ में कहा है । और इसीलिए इसको आगे–

एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ [मं० २१]

" यह अपरिमित यज्ञ है जिसका नाम अज अर्थात् अजन्मा आत्मा है। " जीवात्मा-परमात्मामें ही यह अपरिमितता हो सकती है, बकरेमें इस प्रकारकी अपरिमितताकी कल्पना करना असंभव प्रतीत होता है । जीवात्मा की शक्ति और उन्नति अपरिमित है, इसीलिए–

अपरिमितं यज्ञं आप्नोति । अपरिमितं लोकं अवरुन्द्धे । [मं० २२]

" आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित यज्ञ होता है और आत्मसमर्पण करनेसे अपरिमित लोक प्राप्त होते हैं । " अपरिमितके दानसे ही अपरिमित फल प्राप्त हो सकता है । अन्य सब दान परिमित हैं, आत्माका दान ही अपरिमित दान है । इसी लिए अन्य पदार्थके दानसे परिमित लोक प्राप्त होते हैं और इस आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है ।

आत्मसमर्पणके साथ वस्त्र और सुवर्ण दान भी होना चाहिए, इस विषयका विधान मं० २५; २६ और २९ में है । क्योंकि सदा दान दक्षिणाके साथ ही हुआ करता है । दक्षिणाके विना दान फलहीन हुआ करता है । मंत्र २७ और २८ में " पुनर्विवाहित पतिपत्नी पञ्चौदन अजका दान करेंगे तो वियुक्त नहीं होती " ऐसा कहा है । पाठक यहां देखें कि इन मंत्रोंमें ' ब्रह्मणे ' पद नहीं है । अर्थात् यहांका आत्मसमर्पण ब्रह्मके लिए नहीं है । पतिका पञ्चभोजनी आत्मा पत्निको समर्पित होवे और पत्नीका आत्मा पतिके लिए समर्पित होवे । पुनर्विवाहित पति हो अथवा पत्नी हो, वे पूर्व पत्नी या पतिका चिन्तन न करें, वे इस पत्नी पति को ही अपना सर्वस्व समझें । पूर्वका स्मरण करते रहनेसे परिवारमें झगडा हो सकता है और संसारका सुख दूर होता है, इसलिए कहा है कि, पति पत्नीके लिए आत्मसमर्पण करे और पत्नी पतिके लिए आत्मसमर्पण करे । यहां कई पूछेंगे कि प्रथम वारके पतिपत्नीके विषयमें ऐसा आदेश क्यों नहीं दिया है ? इसका कारण इतना ही है कि, प्रथम वार की पतिपत्नीको सामने रखनेके लिए दूसरी पत्नी या दूसरा पति नहीं होता, इससे उनको परस्पर प्रेम करना क्रमप्राप्त ही है । परंतु पुनर्विवाहित पति-पत्नीको पूर्वसंबंधका स्मरण होना संभव है, इसलिए उस दोषका निवारण करनेके लिए यहां सूचना दी है । और वह नितान्त योग्य है ।

उनत्तीसवे मन्त्रमें कहा है कि गौ, वस्त्र और सुवर्णका दान करनेसे स्वर्ग प्राप्ति होती है । सत्पात्रमें दान करनेसे बडा फल हो सकता है । इनके दानका महत्त्व अन्यान्य शास्त्रोंमें भी वर्णन किया है । तीसवे मंत्रमें अपने सब संबंधियों और इष्टमित्रोंको पुकार पुकार कर कहा है कि, पूर्वोक्त उपदेशका वे उत्तम प्रकार स्मरण रखें और उस रीतिसे अपनी उन्नतिकी प्राप्ति करा लेवें ।

इस प्रकार इस सूक्तमें आत्मोन्नतिका विषय कहा है । निःसन्देह इसके कुछ मन्त्रभाग कठिण और संदिग्ध हैं, तथापि यहां वर्णन की हुई रीतिके अनुसार विचार करनेसे पाठकोंको इसका आशय समझमें आसकता है। आशा है इस ढंगसे विचार करके पाठक इस सूक्तके कुछ संदेह-स्थानोंको अधिक सुबोध कर सकेंगे ।

अतिथि सत्कार।

(६)

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-अतिथिः, विद्या ।)

[१]

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ १ ॥
सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥ २ ॥
यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥ ३ ॥
यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥ ४ ॥
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥
यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥
यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥ ७ ॥
यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥
यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्द्धे ॥ ९ ॥

अर्थ- (यः प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्) जो प्रत्यक्ष ब्रह्मको जानता है, (यस्य परूंषि संभाराः) उसके अवयव यज्ञसामग्री हैं, (यस्य अनूक्यं ऋचः) उसकी रीढ ऋचाएं हैं ॥ (यस्य लोमानि सामानि) उसके बाल साम हैं, और उसका (हृदयं यजुः उच्यते) हृदय यजु है ऐसा कहा जाता है । तथा उसका (परिस्तरणं इत् हविः) ओढनेका वस्त्र हवि है ॥ १-२ ॥

(यत् वै अतिथिपतिः) जो तो गृहस्थ (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियोंकी ओर देखता है, मानो वह (देव-यजनं प्रेक्षते) देवयज्ञ को ही देखता है ॥ (यत् अभिवदति दीक्षां उपैति) जो अतिथिसे बात करता है वह यज्ञदीक्षा लेनेके समान है । (यत् उदकं याचति) जो तो वह जल मांगता है, और (अपः प्र णयति) जल उसके आगे धर देता है ॥ वह मानो (याः एव यज्ञे आपः प्रणीयन्ते) जो यज्ञमें जल ले जाते हैं (ताः एव ताः) वही जल है ॥ ३-५ ॥

(यत् तर्पणं आहरन्ति) जो पदार्थ अतिथिकी तृप्ति करनेके लिए ले आते हैं, (यः एव अग्नीषोमीयः पशुः बध्यते स एव सः) वह मानो अग्नी और सोमके लिये पशु बांधा जाता है, वही वह है ॥ (यत् आवसथान् कल्पयन्ति) जो अतिथिके लिए स्थानका प्रबंध करते हैं (सदोहविर्धानानि एव तत् कल्पयन्ति) वह मानो यज्ञमें सद और हविर्धानकी रचना करना ही हैं ॥ (यत् उपस्तृणन्ति) जो बिछाया जाता है (बर्हिः एव तत्) वह मानो यज्ञका कुशा घास ही है ॥ (यत् उपरिशयनं आहरन्ति) जो उसपर बिछौना लाते हैं (तेन स्वर्गं लोकं अवरुन्द्धे) उससे स्वर्ग लोक ही मानो समीप जाते हैं ॥ ६—९ ॥

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधयं एव ते ॥ १० ॥
यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥
यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥ १२ ॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥
ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तेऽशवं एव ते ॥ १४ ॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥
शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥
स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि
पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

[२]

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि
प्रेक्षत इदं भूया ३ इदा ३ मिति ॥ १ ॥ १८ ॥

अर्थ-(यत् कशिपु उपबर्हणं आहरन्ति) जो चादर और सिरहना-अतिथिके लिए ले आते हैं, वह मानो यज्ञके (ते परिधयः एव) परिधि हैं ॥ (यत् आञ्जन—अभ्यञ्जनं आहरन्ति) जो आंखोंके लिए अञ्जन और शरीरके मलनेके लिए तेल लाते हैं, वह मानो, (तत् आज्यं एव) वह घृत ही है ॥ १०-११ ॥

(यत् परिवेशात् पुरा) जो भोजन परोसनेके पूर्व अतिथिके लिये (खादं आहरन्ति) खानेके हेतुसे लाते हैं वह मानो, (तौ पुरोडाशौ एव) पुरोडाश हैं ॥ (यत् अशनकृतं ह्वयन्ति) जो भोजन बनानेवालेको बुलाते हैं, वह मानो (हविष्कृतं एव तत् ह्वयन्ति) हविकी सिद्धता करनेवालेको बुलाना है ॥ १२—१३ ॥

(ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्ते) जो चावल और जौ देखे जाते हैं (ते अंशवः एव) वे सोमलताके खण्ड ही हैं ॥ (यानि उलूखलमुसलानि) जो ओखली और मुसल अतिथिके लिए धान्य कूटनेके काम आते हैं मानो (ते ग्रावाणः एव) वे सोमरस निकालनेके पत्थर ही हैं ॥ १४-१५ ॥

(शूर्पं पवित्रं) अतिथिके लिए जो छाज बर्ता जाता है वह यज्ञमें बर्ते जानेवाले पवित्र के समान है, इसी प्रकार (तुषा ऋजीषा) धानके तुष होते हैं वे सोमरस छाननेके बाद अवशिष्ट रहनेवाले सोमतन्तुओंके समान हैं। (अभिषवणीः आपः) अतिथिभोजनके लिए प्रयुक्त होनेवाला जल यज्ञके जलके समान है ॥ (दर्वी स्रुक्) कडछी स्रुचा के समान है, (आयवनं ईक्षणं) पकते समय अन्नका हिलाना यज्ञके ईक्षण कर्मके समान है, (कुम्भ्यः द्रोणकलशाः) पकानेके देगची आदि पात्र यज्ञके द्रोणकलशों के समान हैं, (पात्राणि वाय = व्यानि) अतिथिके लिए जो अन्य पात्र लाये जाते हैं वे यज्ञके वायव्य पात्र ही हैं और (इयं एव कृष्णाजिनं) यही कृष्णाजिन है ॥ (१६-१७)

[२] (इदं भूयाः इदं इति) यह अधिक या यह ठीक है ऐसा जो (आहार्याणि प्रेक्षते) अतिथिको देने योग्य पदार्थोंका निरीक्षण करता है, वह (अतिथिपतिः) अतिथिका पालन करनेवाला यजमान (एतत्) इससे मानो (यजमान ब्राह्मणं वै कुरुते) यजमानके ब्राह्मणके समान कार्य करता है ॥ १ ॥ १८ ॥

भावार्थ—अतिथि घरमें आनेपर उसके लिए जो जो पदार्थ दिये जाते हैं वे मानो यज्ञके अन्दर प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों के समान ही हैं । अर्थात् अतिथिका सत्कार करना एक यज्ञ करनेके समान ही है ॥ १-१७ ॥

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥ १९ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥ २० ॥
तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥ २१ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥ २२ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥ २३ ॥
स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥ २४ ॥
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥ २५ ॥
सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥ २६ ॥
सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो विततावर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥ २७ ॥
प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥ २८ ॥

अर्थ- (यत् आह) जो कहता है कि (भूयः उद्धर इति) अधिक परोस कर अतिथिको दो, तो (तेन) इससे वह (प्राणं वर्षीयांसं एव कुरुते) अपने प्राणको चिरस्थायी बनाता है ॥ जो उसके पास अन्नादि (उपहरति) ले जाता है वह मानो (हवींषि आसादयति) हविके पदार्थ लाता है ॥ २—३ ॥ १९-२० ॥

(तेषां आसन्नानां) उन लाये पदार्थोंमेंसे कुछ पदार्थोंका (अतिथिः आत्मन् जुहोति) अतिथि अपने अन्दर हवन करता है, वह भोजन स्वीकारता है ॥ (हस्तेन स्रुचा) हाथरूपी स्रुचासे, (प्राणे यूपे) प्राणरूपी यूपमें (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) भोजन खानेके ' स्रुक् स्रुक् ' ऐसे शब्दरूपी वषट्कारसे वह अपनेमें एक एक आहुति डालता है ॥ (यत् अतिथयः) जो ये अतिथि हैं वे (प्रियाः अप्रियाः च) प्रिय हों अथवा अप्रिय हों, वे (ऋत्विजः) आतिथ्य यज्ञके ऋत्विज यजमानको (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्गलोकको पहुंचाते हैं ॥ ४-६ ॥ २१—२३ ॥

(यः एवं विद्वान्) इस तत्त्वको जानता हुआ (सः द्विषन्) न अश्नीयात् वह किसीका द्वेष करता हुआ न भोजन करे । (द्विषतः अन्नं न अश्नीयात्) द्वेष करनेवाले भोजन न खावे (न मीमांसितस्य) संशयित आचरणवाले मनुष्यका भोजन न खावे और (न मीमांसमानस्य) न संदेह करनेवालेका अन्न अतिथि खावे ॥ ७ ॥ २४ ॥

(यस्य अन्नं अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि लोग खाते हैं, (सर्वः वै एष जग्धपाप्मा) उसके सब पाप जल जाते हैं । तथा (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि नहीं खाते (सर्वः वै एष अजग्धपाप्मा) उसके सब पाप वैसे के वैसे रहते हैं॥ ८-९ ॥ २५-२६ ॥

(यः उपहरति) जो गृहस्थ अतिथिकी सेवाके लिए आवश्यक सामग्री उसके पास ले जाता है वह मानो (सर्वदा वै एषः युक्तग्रावा) वह सदासर्वदा सोमरस निकालनेके पत्थरोंसे रस निकालता ही रहता है, वह सर्वदा (आर्द्र पवित्रः) रस छानता रहता है, जिसकी छाननी सदा गीली रहती है, वह (वितत—अध्वरः) सदा यज्ञ करता है, वह सदा (आहृत, यज्ञ क्रतुः) यज्ञ समाप्त करनेके समान रहता है ॥ १०॥ २७ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथिको समर्पण करता है वह मानो (एतस्य प्राजापत्यः वै यज्ञः विततः) इसके प्राजापत्य यज्ञका फैलाव हुआ है ॥ (यः उपहरति) जो अतिथिको दान देता है वह मानो (प्रजापतेः विक्रमान् अनुविक्रमते) प्रजापतिके विक्रमोंका अनुकरण करता है ॥ ११-१२ ॥ २८-२९ ॥

भावार्थ-अतिथिका योग्य आदर-सत्कार करना मानो बडे बडे यज्ञ करनेके समान है ॥ १-१२ ॥ १८-३०॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥ २९ ॥
योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो
यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ ३० ॥ (१६)

(३)

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ १ ॥ ३१ ॥
पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ २ ॥ ३२ ॥
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ३ ॥ ३३ ॥
प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ४ ॥ ३४ ॥
कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ५ ॥ ३५ ॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥ ३६ ॥
एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥ ३७ ॥
अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥ ३८ ॥
एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥ ३९ ॥ (१७)

अर्थ- (यः अतिथीनां) जो अतिथियोंके शरीरमें पाचक अग्नि है (सः आहवनीयः) वह आहवनीय अग्नि है, (यः वेश्मनि सः गार्हपत्यः) जो घरमें अग्नि होता है वह गार्हपत्य अग्नि है, (यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः) जिस पर अन्न पकाते हैं वह दक्षिणाग्नि है ॥ १३ ॥ ३० ॥

[३] [यः अतिथेः पूर्वं अश्नाति] जो अतिथिके पूर्व स्वयं भोजन करता है (एष) वह [ग्रहणां इष्टं च वै पूर्तं च अश्नाति] अपने घरके इष्ट और पूर्तको ही खाजाता है ॥ जो अतिथिके भोजन करनेके पूर्व भोजन करता है वह मानो घरके (पयः च रसं च) दूध और रसको, (उर्जां च स्फातिं च) अन्न और समृद्धिको, [प्रजां च पशून् च] प्रजा और पशुको, [कीर्तिं च यशः च] कीर्ति और यशको, [श्रियं च संविदं च] श्री और संज्ञान को (अश्नाति) खाजाता है ॥ १—६ ॥ ३१-३६ ॥

[एष वै अतिथिः यत् श्रोत्रियः] यह अतिथि निश्चयसे श्रोत्रिय है [तस्मात् पूर्वः न अश्नीयात्] इसलिए उससे पूर्व स्वयं भोजन करना उचित नहीं है ॥ ७॥ ३७ ॥

[अतिथौ अशितावति अश्नीयात्] अतिथिके भोजन करनेके पश्चात गृहस्थ स्वयं भोजन करे। [यज्ञस्य सात्मत्वाय] यज्ञकी सांगता के लिए (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञका भंग न होनेके लिये [तत् व्रतं] यह व्रत पालन करना गृहस्थीको योग्य है ॥ ८ ॥ ३८ ॥

[एतत् वै उ स्वादीयः] वह जो स्वादयुक्त है [यत् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा] जो गौसे प्राप्त होनेवाले दूध या अन्य मांसादि पदार्थ हैं [तत् एव न अश्नीयात्] उसमें से कोई पदार्थ अतिथिके पूर्व भी न खावे ॥ ९ ॥ ३९ ॥

भावार्थ-अतिथिका भोजन पहिले होवे, पश्चात् जो अवशिष्ट बचा हो वह घरके मनुष्य खावें। कभी किसी अवस्थामें अतिथिके भोजन करनेके पूर्व घरका कोई मनुष्य भोजन न करे। ऐसा करनेसे गृहस्थ यज्ञ की पूर्णता होती है। प्रत्येक गृहस्थ इस व्रत का पालन करे ॥ १—९ ॥ ३१—३९ ॥

(४)

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥ ४० ॥
स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥ ४१ ॥
स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्त्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥ ४२ ॥
स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥ ४३ ॥
स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं
विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ ४४ ॥ (१८)

(५)

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥ २ ॥

अर्थ- [४] [यः एवं विद्वान्] जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिए [क्षीरं उपसिच्य उपहरति] दूध अच्छे पात्रमें रखकर ले जाता है, उसको [यावत् सुसमृद्धेन अग्निष्टोमेन इष्ट्वा अवरुन्धे] जितना उत्तम समृद्ध अग्निष्टोम यज्ञका यजन करनेसे फल मिलता है, [तावत् एतेन अवरुन्धे] उतना इससे मिलता है ॥ १—२॥४०॥

(यः एवं विद्वान्) जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिए (सर्पिः उपसिच्य उपहरति) घी बर्तन में रख कर ले जाता है उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको उत्तम (सुसमृद्धेन अतिरात्रेण) समृद्ध अतिरात्र नामक यज्ञ करनेसे प्राप्त हो सकता है ॥ ३-४ ॥ ४१ ॥

जो इस बातको जानता हुआ मनुष्य अतिथिको देनेके लिए (मधु उपसिच्य उपहरति) मधु अर्थात् शहद उत्तम पात्रमें रखकर अतिथिके पास ले जाता है, उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको (सुसमृद्धेन सत्त्रसद्येन इष्ट्वा) उत्तम समृद्ध सत्त्रसद्य नामक यज्ञके करनेसे मिलता है ॥ ५-६ ॥ ४२ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (मांसं उपसिच्य) मांसको पात्रमें रखकर अतिथिके पास ले जाता है, उसको उतना फल मिलता है जितना उत्तम समृद्ध (द्वादशाहेन इष्ट्वा) द्वादशाह यज्ञके करनेसे किसीको प्राप्त हो सकता है ॥ ७-८ ॥ ४३ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (उदकं उपसिच्य) जल उत्तम पात्रमें डालकर अतिथिके पास ले जाता है, वह (प्रजानां प्रजननाय प्रतिष्ठां गच्छति) प्रजाओंके प्रजनन अर्थात् उत्पत्तिके लिए स्थिरताको प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) प्रजाओंके लिए प्रिय होता है ॥ ९—१०॥ ४४ ॥

भावार्थ— जो गृहस्थी उत्तम श्रद्धासे दुग्धादि पदार्थ उत्तम स्वच्छ पात्रमें रखकर अतिथिको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसके पास ले जाता है, उसको बडे बडे यज्ञ यथासांग करनेका फल प्राप्त होता है ॥ १-१० ॥ ४०-४४ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥ ४५ ॥
तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥ ४ ॥
मध्यंदिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तं यन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥ ४६ ॥
तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ ४७ ॥
अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ १० ॥ ४८ ॥ (१९)

अर्थ-[५] (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है (तस्मै) उस मनुष्यके लिये (उषा हिंकृणोति) उषा आनन्द-सन्देश देती है, (सविता प्र स्तौति) सूर्य विशेष प्रशंसा करता है, (बृहस्पतिः ऊर्जया उद्गायति) बृहस्पति बल के साथ उसके गुणोंका गान करता है, (त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति) त्वष्टा उसको पुष्टि प्रदान करता है, (विश्वेदेवाः निधनं) सब अन्य देव उसको आश्रय प्रदान करते हैं । अतः वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥ १-३ ॥ ४५ ॥

जो इस अतिथि सत्कारके व्रतको जानता है, (तस्मै उद्यन् सूर्यः हिंकृणोति) उसके लिये उदय होता हुआ सूर्य आनन्दका सन्देश देता है, (संगवः प्र स्तौति) प्रभात समय प्रशंसा करता है, (मध्यंदिनः उद्गायति) मध्यदिन उसका गुण गान करता है, (अपराह्णः प्रति हरति) अपराह्ण समय पुष्टि देता है (अस्तं यत् निधनं) अस्त जाता हुआ सूर्य आश्रय देता है । इस प्रकार वह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है॥ ४—५ ॥ ४६॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रत को जानता है, (तस्मै अभ्रः भवन् हिंकृणोति) उसके लिये उत्पन्न होनेवाला मेघ आनन्द सन्देश देता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जना करनेवाला मेघ प्रशंसा करता है, (विद्योतमानः प्रतिहरति) प्रकाशनेवाला पुष्टि देता है, (वर्षन् उद्गायति) वृष्टि करता हुआ मेघ इसका गुणगान करता है (उद्गृह्णन् निधनं) ऊपर लेनेवाला आश्रय देता है । इस प्रकार यह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है ॥ ६-७ ॥४७॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है वह जब (अतिथीन् पश्यति) अतिथियोंका दर्शन करता है तो मानो वह (हिंकृणोति) आनन्दका शब्द करता है, जब वह अतिथियोंको (अभिवदति) नमस्कार करता है, तो वह कृत्य उसके (प्रस्तौति) प्रस्ताव करनेके समान होता है । जब वह (उदकं याचति) जल मांगता है तो मानो वह (उद्गायति) यज्ञके उद्गाताका कार्य करता है । (उपहरति प्रतिहरति) जब वह पदार्थ अतिथिके पास लाता है, तो वह यज्ञके प्रतिहर्ताका कार्य करता है। (उच्छिष्टं निधनं) जो अन्नादिक अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् अवशिष्ट रहता है उसको यज्ञका अन्तिम प्रसाद समझो । इस प्रकार अतिथिसत्कार करनेवाला संपत्ति,प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥ ८-१०॥४८॥

भावार्थ-हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये पांच अंग सामके हैं । अतिथिसत्कार करनेवालेको ये पांचों इस प्रकार सिद्ध होते हैं । अर्थात् अतिथिसत्कार एक श्रेष्ठ यज्ञका पूर्ण साम है । अतिथिसत्कार ही गृहस्थोंका परम पवित्र और श्रेष्ठ कर्म है ॥ ८—१० ॥ ४८ ॥

(६)

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥ ४९ ॥
यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥ ५० ॥
यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥ ५१ ॥
तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥ ५२ ॥
यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥ ५३ ॥
यत् सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥ ५४ ॥
स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥ ५५ ॥
स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥ ५६ ॥
स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥ ५७ ॥
स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥ ५८ ॥
स उपहूतो लोकेषुभक्षयत्युपहूतस्तास्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥ ५९ ॥
स उपहूत उपहूतः ॥ १२ ॥ ६० ॥
आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥ ६१ ॥
ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥१४॥ ६२ ॥ (२०)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- [६]— (यत् क्षत्तारं ह्वयति) जब वह द्वारपालको बुलाता है, मानो (तत् आश्रावयति एव) वह अभिश्रवण करता है। (यत् प्रतिशृणोति) जब वह सुनता है, मानो (तत् प्रत्याश्रावयति एव) वह प्रत्याश्रवण ही है। जब अतिथिके लिए (पूर्वे च अपरे च परिवेष्टारः पात्र हस्ताः प्रपद्यन्ते) पहिले और बाद के परोसनेवाले सेवक पात्र हाथोंमें लेकर उसके पास आते हैं, मानो (ते चमसाध्वर्यव एव) यज्ञके चमसाध्वर्यु हैं ॥ (तेषां न कश्चन अहोता) उनमें कोई भी अयाजक नहीं होता है ॥ १-४ ॥ ४९-५२॥

(यत् वै अतिथिपतिः अतिथीन् परिविष्य) जो तो गृहस्थी अतिथियोंको भोजन देकर (गृहान् उप उदैति) अपने घरके प्रति जाता है, मानो (तत् अवभृथं एव उप अवैति) वह अवभृथ स्नान के लिये ही जाता है। (यत् सभागयति) जो भेट करता है, मानो वह (दक्षिणाः सभागयति) दक्षिणा प्रदान करता है। (यत् अनुतिष्ठते) जो उसके लिये अनुष्ठान करता है मानो (तत् उदवसति एव) वह यज्ञ यथासांग करता है ॥ ५-६ ॥ ५३-५४ ॥

(सः पृथिव्यां उपहूतः) वह इस पृथ्वीपर किसी देशमें आदरसे बुलाये अतिथि (यत् पृथिव्यां विश्वरूपं) जो कुछ इस पृथ्वीपर अनेक रंगरूपवाला अन्न है (तस्मिन् उपहूतः भक्षयति) उसको वहां निमंत्रित होकर खाता है। वह आदरसे बुलाया हुआ अतिथि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (दिवि) द्युलोकमें, (देवेषु) देवताओंमें और (लोकेषु) सब लोकोंमें जो (विश्वरूपं) अनेक रंगरूपवाला अन्न होता है उसको वहां बैठा हुआ (भक्षयति) भक्षण करता है ॥ ७-११ ॥ ५५-५९ ॥

(सः उपहूतः) वह आदरसे निमंत्रित किया हुआ अतिथि बहुत लाभ देता है ॥ अतिथिको आदरके साथ बुलाने-वाला गृहस्थी (इमं लोकं आप्नोति) इस लोकको प्राप्त करता है और (अमुं आप्नोति) उस लोकको भी प्राप्त करता है। (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है वह (ज्योतिष्मतः लोकान् जयति) तेजस्वी लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १२-१४ ॥ ६०—६२ ॥

अतिथिका आदर ।

अतिथिका आदरसत्कार प्रेमके साथ करनेका उपदेश करनेके लिये ये ६२ मंत्र इस सूक्तके छः पर्यायों में दिये हैं । ये मंत्र सरल होनेसे इनकी व्याख्या विशेष करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतिथिसत्कारसे विविध प्रकार के यज्ञ यथासांग करनेका फल प्राप्त होता है अर्थात् जो अतिथिसत्कार उत्तम श्रद्धासे करेगा, उसको अन्यान्य यज्ञयाग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ—धर्मका यह प्रधान अंग अतिथिसत्कार है । पाठक इस सूक्तका पाठ करें और इसके इस आशयको जानें और अतिथि-सत्कार करके उसके श्रेष्ठ फलके भागी बनें ॥

इन मंत्रोंमें ' मांस ' शब्द आया है। इस मांस शब्दके अन्य अर्थ भी होते होंगे, परंतु यहां 'मांस' अर्थ अपेक्षित है ऐसा हमारा मत है और यह लेनेपर भी कोई आपत्ति नहीं है । क्योंकि मांसभोजी मनुष्यके घरमें कोई अतिथि आवे, तो अतिथिके पूर्व वह मांस भी न खावे, इत्यादि भाव यहां लेना योग्य है। वेदमें जैसा निर्मांस भोजी मनुष्योंका वर्णन है वैसा मांस भोजियोंका भी वर्णन है ।

—:०:—

गौका विश्वरूप ।

(७)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-गौः)

(१२) (७)

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥
सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥
विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥
विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥
श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥
देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ॥ ६ ॥
मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥ ७ ॥
इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥ ८ ॥
ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥
धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥ १० ॥

अर्थ— (प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे) प्रजापति और परमेष्ठी ये गौके दो सींग हैं, (इन्द्रः शिरः) इन्द्र सिर है, (अग्निः ललाटं) अग्नि ललाट है, (यमः कृकाटं) यम गलेकी घँटी है ॥ (सोमः राजा मस्तिष्कः) राजा सोम मस्तिष्क है, (द्यौः उत्तराः हनुः) द्युलोक उपरका जबडा और (पृथ्वी अधरहनुः) पृथ्वी नीचेका जबडा है ॥ १-२ ॥

(विद्युत् जिह्वा) बिजली जीभ है, (मरुतः दन्ताः) मरुत् दांत हैं (रेवतीः ग्रीवा, कृत्तिका स्कन्धाः) रेवती गर्दन और कृत्तिका कन्धे हैं । (घर्मः वहः) उष्णता देनेवाला सूर्य वहनेका ककुदके पासका भाग है ॥ (वायुः विश्वं स्वर्गः लोकः कृष्णद्रं) वायु सब अवयव और स्वर्गलोक कृष्णद्र है और (विधरणी निवेष्यः) धारक शक्ति पृष्ठवंश-की सीमा है ॥ ३—४ ॥

(श्येनः क्रोडः) श्येन उसकी गोद है, (अन्तरिक्षं पाजस्यं) अन्तरिक्ष पेट है, (बृहस्पतिः ककुद्) बृहस्पति ककुद् है, (बृहतीः कीकसाः) बृहस्पति कोहनेका भाग है ॥ (देवानां पत्नीः पृष्ठयः) देवोंकी पत्नियां पीठके भाग हैं, (उपसदः पर्शवः) उपसद इष्टियां पसुलियां हैं ॥ ५-६ ॥

(मित्रः च वरुणः च अंसौ) मित्र और वरुण कंधे हैं, (त्वष्टा च अर्यमा च दोषणी) त्वष्टा और अर्यमा बाहुभाग हैं, और (महादेवः बाहू) महादेव बाहु हैं ॥ (इन्द्राणी भसत्) इन्द्रपत्नी गुह्यभाग है, (वायुः पुच्छं) वायु पुच्छ है और (पवमानः बालाः) पवमान वायु बाल हैं ॥ ७—८ ॥

(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्राह्मण और क्षत्रिय चूतर हैं, (बलं ऊरू) बल जाघें हैं ॥ (धाता च सविता च अष्ठीवन्तौ) धाता और सविता ये टखने हैं, (गन्धर्वाः जङ्घाः) गन्धर्व जांघें हैं (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं

चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥ ११ ॥

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥ १५ ॥

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥ १७ ॥

अभ्रं पीबो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥

अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ २० ॥

प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्सविता ॥ २१ ॥

तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥

मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तःसर्वम् ॥ २४ ॥

खुरभाग हैं, (अदितिः शफाः) अदिति खुर हैं ॥ (चेतः हृदयं) चेतना उसका हृदय है (मेधा यकृत्) मेधाबुद्धि यकृत् है, (व्रतं पुरीततं) व्रत उसकी आंतें हैं ॥ ९—११

[क्षुत् कुक्षिः] क्षुधा कोंख है, [इरा वनिष्टुः] अन्न बडी आंतें है, [पर्वताः प्लाशयः] पहाड छोटी आंतें हैं ॥ [क्रोधः वृक्कौ] क्रोध इसके गुर्दे हैं, [मन्युः आण्डौ] उत्साह अण्डकोश है, [प्रजाः शेपः] प्रजा जननेन्द्रिय है ॥१२—१३ ॥

[नदी सूत्री] नदी सूत्रनाडी है, [वर्षस्य पतयः स्तनाः] वर्षापति मेघ उसके स्तन हैं, [स्तनयित्नु ऊधः] गर्जनेवाला मेघ दूधसे पूर्ण स्तन हैं ॥ [विश्वव्यचा चर्म] सर्वत्र फैला आकाश चर्म है, [ओषधयः लोमानि) औषधियां लोम हैं, [नक्षत्राणि रूपं] नक्षत्र रूप है ॥ १४—१५ ॥

[देवजनाः गुदा] देवजन गुदा हैं. [मनुष्याः आन्त्राणि] मनुष्य आंतें हैं, [अत्रा उदरं] भक्षक प्राणी उदर है ।। [रक्षांसि लोहितं] राक्षस रक्त है; [इतरजना ऊबध्यं] इतर जन अपचित अन्न है।। [अभ्रं पीवः] मेघ मेदा है [निधनं मज्जा] निधन मज्जा है ॥ [अग्निः आसीनः] अग्नि आसन है और [अश्विनौ उत्थितः] अश्विदेव उत्थान है ॥ १६-१९ ॥

[इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्] इन्द्र प्राची दिशामें ठहरना है, [यमः दक्षिणा तिष्ठन्] यम दक्षिणदिशामें अवस्थान है,[प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता] पश्चिम दिशामें ठहरना धाता है और [सविता उदङ् तिष्ठन्] सविता उत्तर दिशामें ठहरना है ॥२०-२१॥

[सोमः राजा तृणानि प्राप्तः]जब तृणको प्राप्त होता है तब वह सोम राजा होता है,[ईक्षमाणः मित्रः] अवलोकन करनेवाला सूर्य और [आवृत्तः आनन्दः] परावृत्त होनेपर वही आनंद है ।। [युज्यमानः वैश्वदेवः] जब जोता जाता है तब वह सब देवोंके संबंधका होता है, [युक्तः प्रजापतिः] जोतनेपर प्रजापति और [विमुक्तः सर्वं] छोडनेपर सब कुछ बनता है ।। २२—२४॥

एतद् वै विश्वरूपम् सर्वरूपम् गोरूपम् ॥ २५ ॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एव वेद ॥ २६ ॥ (२१)

[एतत् वै गोरूपं] यह निःसन्देह गौका रूप है, यही [विश्वरूपं सर्वरूपं] गौका विश्वरूप और सर्वरूप है ॥ [यः एवं वेद] जो इस बातको जानता है [एनं] उसके पास [विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवः उपतिष्ठन्ति] विश्वरूपी और सर्वरूपी सब पशु रहते हैं ॥ २५-२६ ॥

गौका महात्म्य ।

इस सूक्त में गौका महत्त्व वर्णन किया है । यहां गौ शब्दसे गाय और बैलका ग्रहण करना चाहिये यह स्पष्ट है । गायके अंगोंमें संपूर्ण देवताओंका निवास है और गाय ही सब देवोंके रूप बन जाती है। इतना गायका अधिकार इस सूक्तने वर्णन किया है। वैदिक धर्ममें गायका इतना महत्त्व है । गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि सेवन करनेसे देवताओंका सत्व सेवन करनेका श्रेय प्राप्त होता है । इसी प्रकार गोमूत्र और गोमय सेवन करनेसे शरीर शुद्ध होता है । इस तरह गायका महत्त्व जानकर वैदिक धर्मी लोग गायकी सेवा करें ।

—:०:—

यक्ष्म-निवारण।

(८)

(ऋषिः—भृग्वंगिराः । देवता--सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणम्)

(१३) (८)

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् । सर्वं शीर्षण्यं१ ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् ।
सर्वं शीर्षण्यं१ ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ २ ॥

अर्थ— [शीर्षक्तिं] मस्तकशूल, [शीर्षामयं] सिरदर्द [कर्णशूलं] कर्णशूल, [विलोहितं] रक्तरहित होना, अथवा पाण्डुरोग, [ते सर्वं शीर्षण्यं रोगं] तेरा सब मस्तक विकार [बहिः निर्मन्त्रयामहे] बाहर करते हैं ॥ १ ॥

[ते कर्णाभ्यां] तेरे कानोंसे, और [कंकूषेभ्यः] कानोंके भीतरी भागसे [विसल्पकं कर्णशूलं] विशेष कष्ट देनेवाले कर्णशूलको तथा [सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं] तेरा सब मस्तकका रोग हम [बहिः निर्मन्त्रयामहे] बाहर करते हैं ॥ २ ॥

यस्य॑ हे॒तोः प्र॒च्यव॑ते॒ यक्ष्मः॑ कर्ण॒त आ॒स्य॒तः ।
सर्वं॑ शीर्ष॒ण्यं॑१ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ३ ॥
यः कृ॒णोति॑ प्र॒मोत॑म॒न्धं कृ॒णोति॒ पूरु॑षम् । सर्वं॑ शीर्ष॒ण्यं॑१ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ४ ॥
अ॒ङ्ग॒भे॒दम॑ङ्गज्व॒रं वि॒श्वाङ्ग्यं॑१ वि॒सल्प॑कम् । सर्वं॑ शीर्ष॒ण्यं॑१ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ५ ॥
यस्य॑ भी॒मः प्र॑तीका॒श उ॑द्वे॒पय॑ति॒ पूरु॑षम् । त॒क्मानं॑ वि॒श्वशा॑रदं ब॒हिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ६ ॥
य ऊ॒रू अ॑नु॒सर्प॒त्यथो॒ एति॑ ग॒वीनि॑के । यक्ष्मं॑ ते अ॒न्तर॒ङ्गेभ्यो॑ ब॒हिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ७ ॥
यदि॒ कामा॑दपका॒माद्धृ॒दया॒ज्जाय॑ते॒ परि॑ । हृ॒दो ब॒लास॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ८ ॥
ह॒रि॒माणं॑ ते॒ अङ्गे॑भ्योऽप्वाम॑न्त॒रोद॑रात् । य॒क्ष्मोधाम॒न्तरा॒त्मनो॑ ब॒हिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥
आसो॑ ब॒लासो॒ भव॑तु मूत्रं॑ भवत्वा॒मय॑त् ।
य॒क्ष्मा॒णां सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ १० ॥ (२२)
ब॒हि॒र्बिलं॒ निर्द्र॑वतु॒ काहा॑बाहं॒ त॒वोद॑रात् । यक्ष्मा॒णां सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ ११ ॥

अर्थ— [यस्य हेतोः] जिस कारण [यक्ष्मः कर्णतः आस्यतः प्रच्यवते] यक्ष्म रोग कानसे और मुखसे बहता है, उस [सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं] तेरे सब सिरके रोगको हम बाहर हटाते हैं ॥ ३ ॥

[यः प्रमोतं कृणोति] जो बहिरा बनाता है, तथा [पुरुषं अन्धं कृणोति] मनुष्यको अन्धा बनाता है, [सर्वं०] उस सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर करते हैं ॥ ४ ॥

[अंग-भेदं] अंगोंको तोडनेवाले, [अंग-ज्वरं] अंगोंमें ज्वर उत्पन्न करनेवाले, (विश्वांग्यं विसल्पकं) संपूर्ण अंगोंमें पीडा करनेवाले (सर्वं०) सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर हटा देते हैं ॥ ५ ॥

(यस्य भीमः प्रतीकाशः) जिसका भयंकर रूप [पुरुषं उद्वेपयति] मनुष्यको कंपाता है उस [विश्वशारदं तक्मानं] सब सालभर होनेवाले उष्णरोगको [बहिः निर्मन्त्रयामहे] हम बाहर हटाते हैं ॥ ६ ॥

[यः ऊरू अनुसर्पति] जो जंघाओंतक बढता है [अथो गवीनिके एति] और जो नाडियोंतक पहुंचता है, उस (यक्ष्मं ते अन्तरंगेभ्यः) रोगको तेरे आन्तरिक अंगोंसे हम [बहि०] बाहर हटा देते हैं ॥ ७ ॥

[यदि कामात्] यदि कामुकतासे अथवा यदि [अ कामात्] कामको छोडकर किसी अन्य कारणोंसे [हृदयात् परि जायते] हृदयके ऊपर उत्पन्न होता है, तो उस [बलासं हृदः अंगेभ्यः] कफको हृदयसे और अंगों से [बहि०] बाहर हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

(ते हरिमाणं) तेरा कामिला रोग-रक्तहीनताका रोग-(अंगेभ्यः) तेरे अवयवोंसे, [उदरात् अन्तः आप्वां] उदरके अन्दरसे जलोदर रोगको तथा [आत्मनः अन्तः यक्ष्मः-धां] अपने अन्दरसे यक्ष्मरोगको धारण करनेवाली अवस्थाको (बहि०) बाहर हम निकालते हैं ॥ ९ ॥

(बलासः आसः भवतु) कफ थूंकके रूपमें होवे और बाहर जावे । [आमयत् मूत्रं भवतु] आमदोष मूत्र होकर बाहर जावे । (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब यक्ष्मरोगोंका विष [अहं त्वत् निरवोचं] मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ १० ॥

[तव उदरात्] तेरे पेटसे [काहाबाहं बिलं] शब्द करते हुए विष मूत्रनलिकासे [निर्द्रवतु] निकल जावे । [सर्वेषां यक्ष्माणां०] सब रोगोंका विष मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ ११ ॥

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥
याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १४ ॥
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १५ ॥
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १६ ॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १७ ॥
या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥
ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥

अर्थ— (ते उदरात्) तेरे पेटसे [क्लोम्नः नाभ्याः हृदयात् अधि] फेफडोंसे, नाभीसे और हृदयसे [सर्वेषां०] सब रोगोंका विष मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १२ ॥

(याः सीमानं विरुजन्ति) जो सीमा भागको पीडा देते हैं, और जो (मूर्धानं प्रति अर्षणीः) सिरतक बढते जाते हैं, वे रोग (अनामयाः अहिंसन्तीः) दोषरहित होकर न मारते हुए (बहिः बिलं निर्द्रवन्तु) द्रवरूपसे रन्ध्रोंके बीचसे बाहर चले जावें ॥ १३ ॥

(याः हृदयं उप ऋषन्ति) जो हृदयपर आक्रमण करती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) हंसलीकी हड्डियोंमें फैलती हैं वे सब पीडाएं (अनामया०) दोषरहित होकर मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूपसे दूर हो जांय ॥१४॥

[याः पार्श्वे उप ऋषन्ति] जो पृष्ठभागपर आक्रमण करती हैं और [पृष्टीः अनुनिक्षन्ति] पीठपर जो फैलती हैं, वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित होकर और मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूप होकर दूर हो जांय ॥ १५ ॥

(याः तिरश्चीः उप ऋषन्ति) जो तिरछी होकर आक्रमण करती हैं, और (ते वक्षणासु अर्षणीः) तेरी पसुलियोंमें प्रवेश करती हैं वे (अना०) सब दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे रोमरन्ध्रोंके द्वारा शरीरके बाहर चले जावें ॥ १६ ॥

(याः गुदाः अनुसर्पन्ति) जो गुदातक फैलती हैं, और (आन्त्राणि मोहयन्ति च) ओंतोंको रोकती हैं वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे शरीरके रोमरन्ध्रोंसे बाहर चलीं जावें ॥ १७ ॥

[याः मज्ज्ञः निर्धयन्ति] जो मज्जाओंको रक्तहीन करती हैं, और [परूंषि विरुजन्ति च] जोडोंमें वेदना उत्पन्न करती हैं, वे सब रोग [अना०] दोषरहित और अमारक होकर रन्ध्रोंसे बाहर द्रवरूप होकर निकल जावें ॥ १८ ॥

[ये यक्ष्मासः] जो यक्ष्मरोग [रोपणाः] व्याकुल करते हुए [तव अंगानि मदयन्ति] तेरे अंगोंको मदयुक्त करते हैं उन [सर्वेषां यक्ष्माणां विषं] सब यक्ष्मरोगोंका विष [अहं त्वत् निरवोचं] मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १९ ॥

(विसल्पस्य) पीडा, (विद्रधस्य) सूजन, (वातीकारस्य) बातरोग और (वा अलजेः) रोग इन सबके तथा (सर्वेषां यक्ष्मणां विषं०) संपूर्ण रोगोंके विषको मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ २० ॥

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥ २१ ॥
सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ २२ ॥ (२३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (पादाभ्यां ते जानुभ्यां) तेरे पांवोंसे और जानुओंसे, (श्रोणिभ्यां भंससः परि) कुल्होंसे और गुह्यभागसे (अनूकात् उष्णिहाभ्यः) रीढसे और गुद्देकी नाडियोंसे (अर्षणीः) फैलनेवाली पीडाओंको और (शीर्ष्णः रोगं) सिरकी पीडाको में (अनीनशम्) नाश करता हूं ॥ २१ ॥

(ते शीर्ष्णः कपालानि) तेरे सिरके कपालभाग, (हृदयस्य च यः विधुः) और हृदय की जो व्याधि है, (उद्यन् आदित्यः रश्मिभिः) उगता हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (शीर्ष्णः रोगं सं अनीनशः) सिरके रोगको नाश करता है और (अंगभेदं अशीशमः) अंगोंकी पीडाको शांत करता है ॥ २२ ॥

सिरदर्द ।

इस सूक्तमें सिरदर्द को हटानेके लिये सूर्यकिरण यह एक उपाय है, यह बात कही है । सूर्यकिरण शरीरपर लेनेसे सिरका रोग, कर्णके रोग, पाण्डुरोग तथा अन्यान्य कई रोग दूर होते हैं । संभव है कि ये सूर्य किरण विशेष प्रबंधसे उस रोगग्रस्त स्थानपरभी लेने योग्य होंगे । इस सूक्तमें यह चिकित्साकी विधि तो बतायी नहीं है, परंतु इतना कहा है कि सूर्यकिरणसे इस सूक्त में कहे अनेक रोग दूर होते हैं ।

कई सिरके रोग दृष्टीको मन्द करते हैं,अंधा बनाते हैं,बहिरा बनाते हैं, रक्त कम होनेसे कई सिरके रोग होते हैं,कानोंके दोषसे और आंखोंके दोषसे भी सिरकी पीडा होती है, कानसे और मुखसे पीप आदि बाहर निकलता रहता है जिससे सिरदर्द होता है, इस प्रकार अनेक लक्षण और हेतु सिरदर्दके इस सूक्तमें दिये हैं । इन सबका विचार वैद्य डाक्तर करें और सूर्यकिरणोंका उपाय इन सबपर किस प्रकार करना चाहिए इसका भी निश्चय करें ।

अथवा कोई अन्य उपाय यहां लक्षणासे बताया है, इसका भी निश्चय होना उचित है । यह सूक्त वस्तुतः अति सुबोध है, तथापि सिरदर्दका विषय अति शास्त्रीय होनेसे इस सूक्तके कई शब्द वैद्य और डाक्तर ही जान सकते हैं । इसलिए ऐसे सूक्तोंका अन्वेषण करना उनका ही कार्य है ऐसी सूचना हम यहां करते हैं ।

एक वृक्षपर दो सुपर्ण।

(९)

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता-वामः, अध्यात्मं, आदित्यः,)

[१४](९)

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥ ३ ॥

अर्थ- (तस्य अस्य वामस्य पलितस्य) उस इस सुंदर अति वृद्ध (होतुः) दान कर्ताका (मध्यमः भ्राता) बीचका भाई (अश्नः अस्ति) बडा खानेवाला है। (अस्य तृतीयः भ्राता) इसका तीसरा भाई अपने (घृतपृष्ठः) पृष्ठभागपर पुष्टिकारक घी रखता है। (अत्र) यहीं मैंने (सप्तपुत्र विश्पतिं अपश्यं) सात पुत्रोंवाले प्रजापालकको देखा है ॥ १ ॥ (ऋ० १। १६४। १)

(एकचक्रं रथं सप्त युंजन्ति) एक चक्रवाले रथको सात घोडे जोते जाते हैं, (सप्तनामा एकः अश्वः वहति) सात नामवाला एक घोडा उसको खींचता है। इसका(त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं) तीन केन्द्रोंवाला जरारहित और नाशरहित यह चक्र है [यत्र] जिसमें [इमा विश्वा भुवना] ये सब भुवन [अधि तस्थुः] ठहरे हैं ॥ २ ॥ (ऋ० १। १६४। २ अथर्व १३। ३। १८)

(इमं सप्तचक्रं रथं) इस सात चक्रोंवाले रथके ऊपर (ये सप्त अधि तस्थुः) जो सात रहते हैं, उसको (सप्त अश्वाः वहन्ति) सात घोडे खींचते हैं। (सप्त स्वसारः) सात बहिनें (अभि सं नवन्ते) जिसके साथ रहती हैं। (यत्र) और जहां (गवां सप्त नामा निहिता) गौओंके सात यश रहते हैं ॥ ३ ॥ [ऋ० १। १६४। ३]

भावार्थ— इस अलौकिक सुंदर दाता पुराण पुरुषका बीचका भाई भोक्ता जीवात्मा है, और इसको एक तीसरा भाई भी है जो अपनी पीठपर घृतादि पोषक पदार्थ धारण करता है, यही संसार है। इसी स्थानपर सब प्रजाओंका पालनेहारा एक देव है, जिसको सात पुत्र हैं ॥ १ ॥

इस एकचक्रवाले रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु वस्तुतः सात नामोंवाला एकही घोडा इस रथको खींचता है। इसी तीन केन्द्रोंवाले जरारहित अविनाशी चक्रमें ये संपूर्ण भुवन रहे हैं ॥ २ ॥

इन सातचक्रोंसे युक्त रथके ऊपर सात वीर खडे हैं, इस रथको सात घोडे खींच रहे हैं। इस रथपर सात बहिनें भी उनके साथ वहीं हैं, जहां गौओंके साथ उनके सात यश भी विराजमान हैं ॥ ३ ॥

*

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥
इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥
पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥
अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ७ ॥

अर्थ- [प्रथमं जायमानं] पहिले प्रकट होनेवालेको [कः ददर्श] किसने देखा है ? [यत् अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति] जो हड्डीरहित हड्डीवालेको धारण करता है । (भूम्याः असुः असृक् आत्मा क्व स्वित्) इस मिट्टीके अन्दर प्राण रक्त और आत्मा कहां भला रहते हैं? [कः विद्वांसं] कौनसा मनुष्य किस ज्ञानीके पास [एतत् प्रष्टुं उपगात्] यह पूछनेके लिए गया ? ४ ॥ [ऋ० १ । १६४ । ४]

हे [अंग] प्रिय मनुष्य ! [यः अस्य वामस्य वेः] जो इस प्रिय सुपर्णके [निहित पदं वेद] रखे हुए पदको जानता है, वह आकर [इह ब्रवीतु] यहां कहे । [गावः अस्य शीर्ष्णः] गौवें, किरणें, इसके शिरोभागसे [क्षीरं दुहते] दूध, अमृत दुहती हैं, वे [वव्रिं वसानाः] रूपका धारण करती हुई [पदा उदकं अपुः] अपने पदसे जलका पान करती हैं ॥५॥ [ऋ० १।१६४ । ७]

(पाकः) परिपक्व होनेवाला और (मनसा अविजानन्) मनसे न जाननेवाला मैं (देवानां एना निहिता पदानि) देवताओंके ये रखे हुए पदोंके विषयमें (पृच्छामि) पूछता हूं । (कवयः) कवि लोगोंने (बष्कये वत्से अधि) बडे बछडेके ऊपर (ओतवै उ) बुननेके लिए (सप्त तन्तून् वि तत्निरे) सात तन्तुओंको फैलाया है ॥ ६ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ५)

(अचिकित्वान्, न विद्वान् चित्) अज्ञानी और विद्या न जाननेवाला मैं (चिकितुषः विद्मनः कवीन् चित्) ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे ही (पृच्छामि) पूछता हूं । (यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ) जो इन छः लोकोंको आधार देता है, उस (अजस्य रूपे) अजन्माके रूपमें (किं अपि एकं स्वित्) एक कौनसा तत्त्व है ? ॥ ७ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ६)

भावार्थ- सबसे प्रथम प्रकट होनेके समय इस आत्माको किसने देखा है ? यहां तो हड्डीवाले शरीरको हड्डीरहित आत्मा धारण करता है । इस पार्थिव शरीरमें प्राण, रक्त और आत्मा—मन—कहां रहता है ? मनुष्य किस विद्वान को इसके विषयमें पूछने के लिए जाता है ? ॥ ४ ॥

हे प्रिय शिष्य ! जो इस परम रमणीय सुपर्ण—आत्माका परम पद यथावत् जानता है, वही इस विषयमें उपदेश करे । इसी आत्माके मुख्य भागसे संपूर्ण गौवोंमें अमृत जैसा दूध आता है, उन गौवोंमें जलपान करके लोगोंको सुंदर रूप और रस देनेका सामर्थ्य है ।। ५ ।।

हे गुरुजी ! मैं परिपक्व नहीं हूं और मनसे भी कुछ जानता नहीं हूं । इसलिए आपसे देवोंके रखे हुए पदोंके विषयमें पूछता हूं। आप इस विषयमें कहिए । कवि लोग जो सात धागे वस्त्र बुननेके लिये बछडेके ऊपर फैलाते हैं, उसका क्या आशय है?॥६॥

मैं अज्ञानी और निर्बुद्धसा हूं, अतः आप जैसे ज्ञानी और सुबुद्धसे प्रश्न कर रहा हूं । जिसने ये छः लोक धारण किए हैं, उस अजन्मा आत्माका एक सत्य स्वरूप कौनसा है? ॥ ७ ॥

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बिभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥
युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥
तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥ १० ॥ (२४)
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ॥ ११ ॥

अर्थ— (माता पितरं ऋते अबभाज) माता बालकके पिताको अर्थात् अपने पतिको सत्यधर्ममें भाग देती है। (अग्रे धीती) प्रारंभमें बुद्धिसे और (मनसा) मनसे वह (हि सं जग्मे) निश्चयपूर्वक संगति करती है। (सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा) वह भरण करनेवाली अपने बीच रस धारण करनेवाली विद्ध हुई है। जो (नमस्वन्तः इत् उपवाकं ईयुः) नमस्कार करनेवाले भक्त निश्चयसे उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ८)

(दक्षिणायाः धुरि माता युक्ता आसीत्) दक्षिणाकी धुरामें माता जोती गई थी, तथा उसका (गर्भः वृजनीषु अन्तः अतिष्ठत्) बछडा अपनी शक्तियोंमें था। (वत्सः गां अनु अमीमेत्) बछडा गौको देखकर जाता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों योजनाओंमें (विश्वरूप्यं अपश्यत्) संपूर्ण रूपोंको देखता है ॥ ९ ॥ [ऋ० १ । १६४ । ९]

(एकः तिस्रः मातॄः) अकेला तीन माताओंको और (त्रीन् पितॄन्) तीन पिताओंको (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः तस्थौ) सीधा खडा है। वे इसको (न ईं अव ग्लापयन्त) ग्लानीको प्राप्त नहीं होने देते। (अमुष्य दिवः पृष्ठे) उस द्युलोकके पीठपर विराजमान होकर (विश्वविदः) सर्वज्ञ लोग (अ-विश्व-विन्नां वाचं मन्त्रयन्ते) सबको न समझनेवाले गूढ वचनका मनन करते हैं॥ १० ॥ (ऋ० १ । १६४ । १०)

(यस्मिन् परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे) जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन ठहरे हैं। (तस्य भूरिभारः अक्षः न तप्यते) उस चक्रका बहुत भारवाला अक्षदण्ड नहीं तपता और (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) चिरकालसे केन्द्रस्थान होनेपर भी नहीं छिन्नभिन्न होता है ॥ ११ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १३)

भावार्थ– माता प्रकृति परमात्मारूपी पिताको सत्यधर्मका भाग समर्पण करती है, अर्थात् सत्यधर्म उसीका है ऐसा दर्शाती है। सबसे पहिले बुद्धि, कर्म और विचारशक्तिका संगतीकरण हो गया, जिससे इसकी रचना होगयी है। यह प्रकृति सबका पोषण करनेमें समर्थ है, उसीमें सब प्रकारके उत्तम पोषक रस हैं। जो भक्त नमस्कारपूर्वक इसकी भक्ति करते हैं, वे निश्चय पूर्वक इनकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥ ८ ॥

माता इस यज्ञरूप रथमें प्रमुख स्थानमें जोती गई है। उसके गर्भका धारण अनेक शक्तियोंसे होता है। जब वह जन्मते है, तो गौके पीछे पीछे चलता है। और बढकर पूर्वोक्त तीन केन्द्रोंमें सब विश्वका रूप ठहरा है, इस बातको देखता है ॥ ९ ॥

अकेला एक अपनी तीनों माताओं और तीनों पिताओंका धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। इसको कोई ग्लानि नहीं उत्पन्न कर सकता। अन्तमें इसको इस बातका ज्ञान होता है कि द्युलोकके ऊपर सर्वज्ञ लोग गुप्त मंत्रोंका विचार करते हैं ॥ १० ॥

जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन ठहरे हैं, उसका बहुत भारवाला अक्षदण्ड सतत घूमता हुआ भी नहीं तपता और चिरकालसे चक्रकी नाभिमें घूमता हुआ भी नहीं टूटता है ॥ ११ ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥

अर्थ- (पञ्चपादं द्वादशाकृतिं पितरं) पांच पांववाला बारह आकारवाला पिता (दिवः परे अर्धे पुरीषिणं आहुः) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं। (अथ इमे अन्ये आहुः) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं। (अथ इमे अन्ये आहुः) और ये दूसरे कहते हैं कि वह (उपरे विचक्षणे) अति विलक्षण (सप्तचक्रे षडरे अर्पितं) सातचक्रोंवाले और छः आरोंवाले चक्रमें रहा है ॥ १२ ॥ (ऋ० १।१६४।१२)

(द्वादशारं तत् चक्रं) बारह आरोंवाला चक्र (नहि जराय) जीर्ण नहीं होता, वह (ऋतस्य द्यां परि वर्वर्ति) सत्यके द्युलोकके ऊपर घूमता है। हे (अग्ने) अग्ने! (अत्र सप्त शतानि विंशतिः च) यहां सात सौ बीस (मिथुनासः पुत्राः आ तस्थुः) जुडे हुए पुत्र ठहरे हैं ॥ १३ (॥ ऋ० १।१६४।११)

(सनेमि अजरं चक्रं) परिधवाला अविनाशी चक्र (वि—वावृते) विशेष रीतिसे घूम रहा है। (उत्तानायां दश युक्ताः वहन्ति) तनी हुई धुरामें दश जोडे हुए खींचते हैं। (सूर्यस्य रजसा आवृतं चक्षुः) सूर्यका रजसे व्याप्त हुआ आंख (एति) चलता है [यस्मिन् विश्वा भुवना आतस्थुः) जिसमें सब भुवन रहे हैं ॥ १४ ॥ [ऋ० १।१६४।१४]

(स्त्रियः सतीः) वे स्त्रियां होनेपर भी [तान् उ मे पुंसः आहुः] उनको मुझे पुरुष हैं ऐसा कहा। यह बात [अक्षण्वान् पश्यत्] आँखवाला देखता है, परंतु (अन्धः न विचेदत्) अन्धा उसको नहीं जानता। [यः कविः पुत्रः) जो पुत्र कवि है (सः ईं आ चिकेत) वह भली प्रकार इसको जानता है, (यः ताः विजानात्)जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत्) वह पिताका भी पिता होता है ॥ १५ ॥ (ऋ० १।१६४।१६)

भावार्थ- पिताको पांच पांव हैं,उसके बारह रूप हैं,और वह द्युलोकके परले आधे भागमें रहता है,ऐसा एक प्रकारके लोग उसका वर्णन करते हैं; परंतु कई दूसरे ज्ञानी उसीका ऐसा वर्णन करते हैं कि वह अतिविलक्षण छः आरोंवाले सात चक्रोंमें रहता है ॥ १२ ॥

बारह आरोंवाला वह चक्र कभी क्षीण नहीं होता है, वह सत्यमय द्युलोक में वारंवार घूमता है। इसमें सातसौ बीस जुडे भाई उसके पुत्र विराजमान हैं ॥ १३ ॥

यह परिघवाला नाशरहित चक्र वारंवार घूमता है। इस रथकी तनी हुई महती धुरामें दस घोडे इस रथको खींचते हैं। जिससे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं; वह सूर्यका चक्षु रजसे व्याप्त है ॥ १४ ॥

वस्तुतः स्त्रियां होनेपर भी उनको पुरुष कहते हैं। क्योंकि जिसके आंख अच्छे होंगे वही देख सकता है, अन्धेको यह नहीं दीखता। इनमेंसे जो कवि होगा वही सत्य बातको जान सकेगा, और जो जानता है वही पिताका भी पिता बन जाता है ॥ १५ ॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १६ ॥
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्वस्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ १७ ॥
अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥
ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

अर्थ-(साकंजानां सप्तथं एकजं आहुः) साथ जन्मे हुओंमें सातवां एक ही बना है ऐसा कहते हैं। (षट् इत् यमाः) जो छः निश्चयसे जुडे हैं, वे (देवजाः ऋषयः इति) देवोंसे उत्पन्न ऋषि हैं । (तेषां धामशः) उनके लिए स्थानसे (इष्टानि विहितानि) इष्ट बातें बनाईं हैं । [स्थात्रे रूपशः विकृतानि रेजन्ते] ठहरनेवाले एकके लिए आकारसे विकृत होकर कांपते हैं ॥ १६ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १५]

[एना गौः] यह गाय [अवः परेण] निम्न स्थानके दूरके पदसे और [परः अवरेण] परलेको पासवाले [पदा] पदसे [वत्सं बिभ्रती] बछडेका धारण करती हुई [उत् अस्थात्] ऊपर उठती है । [सा कद्रीची] वह कहांसे आती है और [कं स्वित् अर्धं परा अगात्] किस अर्ध भागके पास जाती है ? वह [क्व स्वित् सूते] कहां प्रसूत होती है ? [अस्मिन् यूथे न] इस संघमें तो नहीं होती ॥ १७ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १७]

[परेण अवः अस्य पितरं] ऊपरसे नीचे तक इसके पिताको [यः वेद] जो जानता है तथा [परेण अवः एना अवरेण परः] दूरसे नीचेतक इसको नीचेसे उपरतक जो जानता है, [कवीयमानः कः इह प्रवोचत्] कविके समान आचरण करनेवाला कौन यहां कहेगा ? [देवं मनः कुतः अधिजातं] दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥ [ऋ० १।१६४।१८]

[ये अर्वाञ्चः] जो यहांके हैं [तान् उ पराचः आहुः] उनको दूरके कहा जाता है तथा [ये पराञ्चः तान् उ] जो दूरके हैं उनको [अर्वाचः आहुः] समीपके करके कहा जाता है । हे [सोम] सोम ! तू और [इन्द्रः च] इन्द्र [या चक्रथः] जिनकी रचना करते हैं, [तानि] उनको [धुरा युक्ता न] धुराको जोडे हुओंके समान [रजसः वहन्ति] लोकोंमें खींचते हैं ॥ १९ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १९]

भावार्थ- एक साथ सात उत्पन्न हुए हैं, उनमें एक ऐसा है कि जो अकेला जन्मा है । इनमें छः जुडे हैं, उनको देवताओंसे उत्पन्न ऋषि कहा जाता है । उनका स्थानस्थानसे इष्ट करना योग्य है । एक जो सदा रहनेवाला है उसके लिए आकारसे बनाये विविध पदार्थ कंप उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासके पदसे दूरवाले बच्चेको धारण पोषण करती है । यह कहांसे आगई, किस आधे भागसे पास पहुंचती है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिए । वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ १७ ॥

दूरसे पास तक इसके पिताको जो जानता है वह सबको नीचेसे ऊपर तक और ऊपरसे नीचे तक जानता है । कौन कवि इसको जानकर यहां आकर कहेगा ? हमारा दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥

जो यहांके होते हैं, इनको दूरके हैं ऐसा कहते हैं, और जो दूरके होते हैं उनको समीपके हैं ऐसा मानते हैं । सोम और इन्द्र यहांकी सब रचना करते हैं, ये सब इस विश्वकी धुरामें जुडे जाकर संपूर्ण लोकोंको चलाते हैं ॥ १९ ॥

द्वा सु॒प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते ।
तयो॑र॒न्यः पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्त्यन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति ॥ २० ॥
यस्मि॑न् वृ॒क्षे म॒ध्वदः॑ सुप॒र्णा नि॑वि॒शन्ते॒ सुव॑ते॒ चाधि॒ विश्वे॑ ।
तस्य॑ यदा॒हुः पिप्प॑लं स्वा॒द्वग्रे॒ तन्नोन्न॑शद्यः पि॒तरं॒ न वेद॑ ॥ २१ ॥
यत्रा॑ सुप॒र्णा अ॒मृत॑स्य भ॒क्षमनि॑मेषं वि॒दथा॑भि॒स्वर॑न्ति ।
ए॒ना विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ गो॒पाः स मा॒ धीरः॒ पाक॒मत्रा वि॑वेश ॥ २२ ॥ (२५)

अर्थ— (द्वा सुपर्णा) दो उत्तम पंखवाले पक्षी हैं, वे (सयुजा सखाया) साथ रहनेवाले मित्र हैं, वे (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) एक ही वृक्षपर मिलकर रहते हैं । (तयोः अन्यः) उनमेंसे एक (स्वादु पिप्पलं अत्ति) मीठा फल खाता है, (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाता हुआ (अभि चाकशीति) चमकता है ॥ २० ॥ ऋ० १ । १६४ । २०)

(यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्षपर (मध्वदः सुपर्णाः) मधुर रस खानेवाले पक्षी (निविशन्ते) निवास करते हैं, और (विश्वे अधि सुवते) सब संतान उत्पन्न करते हैं, (तस्य यत् अग्रे स्वादु पिप्पलं आहुः) उसका जो प्रारंभमें मीठा फल है ऐसा कहते हैं, (तत् न उत् नशत्) वह उसको नहीं मिलता, (यः पितरं न वेद) जो पिताको नहीं जानता ॥२१॥ (ऋ० १।१६४।२२)

(सुपर्णाः) ये पक्षी (यत्र अमृतस्य भक्षं) जहां अमृतका अन्न (विदथाभिः अनिमेषं अभिस्वरान्ति) ज्ञानपूर्वक विश्राम न लेते हुए एकस्वरसे प्राप्त करते हैं, (एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः) वह सब भुवनोंका रक्षक (सः धीरः) वह धैर्यशाली (अत्र मा पाकं आविवेश) यहां मुझ परिपक्व होनेवाले में प्रविष्ट होता है ॥ २२ ॥ (ऋ० १६४ । २१)

भावार्थ— दो आत्मा हैं, वे साथ रहनेवाले परस्परके परम मित्र हैं । ये दोनों संसाररूपी वृक्षपर मिल जुलकर रहते हैं । उनमेंसे एक इस संसारवृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न भोग करता हुआ केवल चमकता रहता है ॥ २० ॥

इस संसाररूपी वृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत आत्मारूपी पक्षी निवास करते हैं । ये सब यहां संतान उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे जो अपने पिताको नहीं जानता उसके सामनेका मीठा फल भी उसको नहीं मिलता ॥ २१ ॥

ये सब आत्मारूपी अनंत पक्षी अमृतका फल खानेकी इच्छासे विश्राम न लेते हुए ज्ञानपूर्वक पुकारते हैं । संपूर्ण भुवनोंका रक्षक वह धैर्यशाली परमात्मा इस जगत्में मुझ जैसे अपरिपक्वमें अर्थात् प्रत्येक प्राणीमें प्रविष्ट हुआ है ॥ २२ ॥

जीवात्मा, परमात्मा और संसार ।

इस सूक्तमें अध्यात्मविद्याका उत्तम विचार हुआ है । ऋग्वेदमें (१ । १६४ स्थानपर) यही सूक्त है । वहां इस सूक्तके ५२ मंत्र है, इस ऋग्वेदके एक ही सूक्त के दो भाग करके इस अथर्ववेद कां० ९ के नवम और दशम ये दो सूक्त बने हैं । नवम सूक्तके २२ मंत्र हैं और दशम सूक्तके २८ मंत्र हैं । ये दोनों सूक्तोंके मिलकर ५० मंत्र होते हैं । पूर्वोक्त ऋग्वेद १ । १६४ के ५२ मंत्र हैं । कुछ पाठभेद, मंत्रक्रम भेद और मंत्रोंकी न्यूनाधिकता भी है । तथापि सर्वसाधारण रीतिसे ऐसा कह सकते हैं कि, इस ऋग्वेद सूक्तके ये अथर्ववेदके दो सूक्त बने हैं । अथर्ववेदमें ऋग्वेदके कई सूक्त हैं, उनमें यह भी एक सूक्त है ।

ऋग्वेदके इस सूक्तके पहिले २२ मंत्र कुछ थोडे क्रमभेदसे यहां हैं । और अगले मंत्रोंका अगला सूक्त बना है ।

इस सूक्तमें जीवात्मा, परमात्मा, और संसारवृक्षका उत्तम वर्णन है । वेदका जो उत्तम विषय है वह यही है । जो ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या कही गई है वह ऐसे ही सूक्तोंमें कही है । यह गुप्तविद्या है, इसीलिए व्यंग्य शब्दोंकी योजना द्वारा यह अध्यात्मविद्या यहां कही है, स्पष्ट शब्दोंसे नहीं कही है । इसी कारण मंत्रोंके शब्दोंसे स्पष्ट बोध नहीं होता, परंतु सूक्ष्म विचार करने

पर ही बोध होने लगता है । इस सूक्तका विचार करनेके लिए अन्तिम मंत्रोंका विचार सबसे प्रथम करना चाहिए; इसका कारण यह है कि इन तीन मंत्रोंमें वक्तव्य बात अधिक स्पष्ट शब्दोंद्वारा व्यक्त की गई है । इसलिए इन तीन मंत्रोंका विचार हम यहां पर प्रथम करते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । (मं० २०)

इस मंत्रभागका व्यक्त अर्थ यह है कि " दो उत्तम पंखवाले पक्षी साथ साथ रहनेवाले परस्परके मित्र हैं और वे दोनों एक ही वृक्षपर एक दूसरेको आलिंगन देकर रहते हैं। " यहां जिन पक्षियोंका वर्णन है वे केवल दो ही नहीं हैं, परंतु अगले ही मन्त्रमें कहा है कि (मध्वदः सुपर्णाः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी बहुत हैं, असंख्य हैं, अनंत हैं। यहां (मधु-अदः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं ऐसा कहा है, परंतु दूसरा पक्षी मीठा फल खानेका इच्छुक नहीं है और जो केवल इसका हमेशाका साथी है, वह (अभिचाकशीति) प्रकाशता तो है, परंतु (अन्—अश्नन्) भोग नहीं करता। यह पक्षी एक ही है । इस संपूर्ण वृक्षपर भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं परंतु भोग न करनेवाला पक्षी एक ही है, तथापि यह एक होता हुआ भी, सब अन्य भोगी पक्षियोंको ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमारा (सयुज् सखा) साथी मित्र है । यह पक्षी एक होते हुए भी सबके साथ रहता और सबका प्यारा मित्र बना रहता है, यह बात कैसी बनती है, यह विचार करके ही समझ लेना चाहिये।

यह वृक्ष ' संसार वृक्ष ' ही है । इस संसार वृक्षपर बहुत फल लगते हैं, कई फल पकते हैं और कई कच्चे भी रहते हैं। इसी संसारवृक्षपर एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक होकर रहता है, इस संसारवृक्षकी हरएक शाखापर यह विराजमान है । यह संसारवृक्षका एक भी फल नहीं खाता, परंतु अपने निज तेजसे चमकता रहता है, क्योंकि इसके समान किसीका भी तेज नहीं है ।

इसी संसारवृक्षपर सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करनेवाले अनंत जीवात्मा रहते हैं, इनके विषयमें ऐसा वर्णन है-

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते
सुवते चाधि विश्वे ॥ (मं २१)

" इस संसारवृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत पक्षी निवास करते हैं यहां अपनी संतानवृद्धि करते हैं और सब इस वृक्षपर ही रहते हैं । " ये पक्षी निःसंदेह जीवात्मा ही हैं । क्योंकि यही जीवात्मा वारंवार जन्म लेता है, सुखभोगकी लालसा धारण करता है, संसारमें रहता है और संतान उत्पन्न करता है । यही जीवात्मा-

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति । (मं० २०)

" उनमेंसे एक मीठा फल खाता है, परंतु दूसरा फलभोग न करता हुआ केवल प्रकाशता है । " मीठा फल खानेवाला जीव आत्मा है और फलभोग न करनेवाला परमात्मा है । उसका वर्णन वेदमें अन्यत्र इस तरह आगया है-

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ अथर्व. १० । ८ । ४४

" भोगकी कमनारहित, धैर्यवान्, अमर, स्वयंभु, रससे तृप्त, कहीं भी न्यून नहीं, जरारहित तरुण इस परम आत्माको जानकर ही मृत्युका भय दूर होता है । " यह परमात्मा ' अकाम ' होनेके कारण फल भोग नहीं करता और इसका मित्र जीवात्मा सकाम होनेके कारण सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करता है । तथापि इसको सदा मीठे फल मिलते ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं। यह जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार उसको मीठे या कडुवे फल मिलते रहते हैं और जो मिलते हैं उनका भोग वह करता रहता है । .

जीवात्मा और परमात्मा 'स-युज्' अर्थात् एक दूसरेके साथ लगे हैं, इनके मध्यमें कोई स्थानका अन्तर नहीं है । जिस स्थानमें एक है उसी स्थानमें उसके साथ दूसरा है। जीवात्मा (मध्वदः सुपर्णाः) मीठा भोग करनेवाले ये जीव अनंत हैं, अनंत होनेके कारण इनका आकार अणु है, अर्थात् ये छोटे छोटे परिच्छिन्न हैं । परंतु परमात्मा प्रत्येकके साथ समानतया होनेके कारण विभु (न कुतश्चन ऊनः) सर्वत्र व्यापक और कहींभी न्यून नहीं ऐसा है। यह परमात्मा हरएकमें व्यापक है, देखिये इसका वर्णन-

एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश । (मं० २२)

" यह संपूर्ण भुवनोंका रक्षक धैर्यशाली परमात्मा यहां मुझ जैसे अपरिपक्व जीवमें भी प्रविष्ट हुआ है । " जैसा मुझमें है वैसा ही सबमें है । सर्वव्यापक होनेसे ही वह सबके साथ मिला जुला रह सकता है । इस तरह यह परमात्मा एक सर्वव्यापक और सर्वत्र परिपूर्ण है, और जीवात्मा अनेक परिच्छिन्न, अपूर्ण और भोगी हैं । अतः इनकी सदा इच्छा रहती है कि-

सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । [मं० २२]

" ये जीवात्मा अमृतका अन्न सदा प्राप्त करनेके लिये पुकारते रहते हैं । " यदि इन जीवात्माओंकी कोई पुकार है तो ' अमृत चाहिये ' यही एक पुकार है, मुझे ऐसा अन्नभोग चाहिये कि जिससे मैं नीरोग होकर अमर बनूं सदा यही पुकार प्रत्येककी है । पाठक इस जगत्में देखेंगे तो प्रत्येक जीवकी यही पुकार है, यह बात प्रत्यक्ष हो जायगी । प्रत्येक मनुष्यकी अथवा प्रत्येक प्राणीकी यह पुकार है और उसका प्रयत्न भी इसीलिये हो रहा है । मुझे सदा टिकनेवाला सुख मिल जावे, इसलिये॰ प्रयत्न होता है । सुखकी इसको इच्छा है और दुःखकी अनिच्छा है, परंतु दुःख मिलता है और सुख दूर होता है, इससे भी स्पष्ट होता है कि इसकी नियामक शक्ति कोई दूसरी है ।

यह जीवात्मा परमात्माके साथ रहता है, उसके पास है, अत्यंत समीप है, जीवात्मा परमात्मा (परिषस्वजाते) आलिंगन देनेके समान रहते हैं अथवा इससे भी और (आविवेश) जीवात्मामें परमात्मा है, इतनी इसकी समीपता होनेपर भी यह जीवात्मा परमात्माको जानता है ऐसी बात नहीं है । और परमात्माको अपने परम पिताको न जाननेके कारण इसका सुख दूर हो जाता है, इसी उद्देश्यसे यह बात कही है-

तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद । (मं० २१)

" जो अपने पिताको नहीं जानता उसके पास भी मीठा फल हुआ तो भी वह उसके लिये नष्ट हो जाता है । " हरएकके पास मीठा फल होता है, परंतु वह उसको प्राप्त होता है कि जो अपने पिताको जानता है । जो नहीं जानता उसको फल पास होनेपर भी भोगनेको नहीं प्राप्त होता । जीवात्मा और परमात्मा इतने संनिध होनेपर भी और परमात्मा इतना हितकर्ता समर्थ मित्र बिलकुल साथ रहनेपर भी, यह जीव उस परम पिताको नहीं जानता और दुःख भोगता रहता है, इससे और शोककी बात कौनसी हो सकती है ? जीवात्मा परमात्माको जान सकता है और जानकर परम सुख भी निश्चयपूर्वक प्राप्त कर सकता है, परंतु हाय ! कितने जीवात्मा ऐसे हैं कि जो इस ज्ञानको प्राप्त करनेका यत्न तक नहीं करते और दुःख भोगते हुए संतप्त होते हैं । यह मनुष्य इतने समीप स्थितको नहीं जानता, परंतु इस सृष्टिमें दूरस्थित पदार्थोंको जाननेका यत्न करता है, ऐसी विपरीत इसकी बुद्धि है, देखिये—

"ये अर्वाञ्चस्तां उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्तां उ अर्वाच आहुः । (मं० १९)

"जो पासके हैं वे इसको दूरके प्रतीत होते हैं और जो दूरके हैं ये ही इसको समीप हैं ऐसा प्रतीत होता है ।" यही मिथ्या ज्ञान इसके दुःखका कारण है । परमात्मा इतना समीपसे समीप होनेपर भी वह इसको अतिदूर प्रतीत होता है और जगत्के भोग अतिदूर होनेपर भी इसको समीप प्रतीत होते हैं । इसलिये यह परमात्माको जाननेका यत्न नहीं करता और जागतिक भोग प्राप्त करनेमें दत्तचित्त होता है । परंतु इससे यह होता है कि अपने पिताको न जाननेके कारण इसको किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होता और वारंवार दुःखके भंवरमें पडता है । इसलिये-

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण । (मं० १८)

"अपना पिता ऊपरसे नीचे तक है ऐसा जो जानता है" वही निःसंदेह सुखका भागी हो सकता है । परमपिता परमात्माकी शक्ति विशाल है, वह अपना साथी और सत्य मित्र है वह मेरा साथी है, सदा हितकर्ता है, वह मेरे अन्दर है, वह निष्काम, अकाम और सदा तृप्त होता हुआ भी मेरे अन्दर है, यह बात जो जानता है वही सच्चे सुखका भागी है । इस परमपिताका ज्ञान प्राप्त होनेके लिये अपना मन दिव्य शक्तिसे युक्त अथवा पवित्र होना चाहिये । यह मन-

देवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ? (मं० १८)

" यह मन किस तरह दिव्य बनता है ? " राक्षसी मन तो हरएकका बन सकता है । विशेष स्वार्थसे तो मनमें राक्षसी

वृत्ति आसकती है, परंतु दिव्यभाव मनमें किस रीतिसे आसकते हैं, इसका विचार हरएक मनुष्यको करना चाहिये । क्योंकि मनुष्यका देव बनना अथवा राक्षस बनना यह केवल मनकी इस अवस्थापर सर्वथा निर्भर है, इस मनको देव बनाना किस तरह होगा इसका विचार–

कवीयमानः कः इह प्रवोचत् । (मं० १८)

"कौनसा श्रेष्ठ विद्वान् यहां आकर हमें कहेगा ?'' ऐसी चिन्ता हरएकको करनी चाहिये । और जो विद्वान इस प्रकारका उपदेश करनेमें समर्थ होगा उसके पास जाकर उससे इस विद्याका ग्रहण करना चाहिये, तथा उसका अनुष्ठान करके अपना मन सुसंस्कारोंसे दैवीगुणोंसे युक्त बनाना चाहिये । जिसका मन दिव्य गुणोंसे युक्त होता है और जिसके मनसे राक्षसी भाव सचमुच नष्ट हो जाते हैं, वही अपने पिताको अपने अन्दर प्रविष्ट देख सकते हैं । और परमसुखके भागी बना सकते हैं । इस प्रकार यहां गुरुकी तलाश करनेके लिये सूचना की है ।

इतने विवरणसे पाठकोंको पता चला होगा कि एक विभु परमात्मा, दूसरा परिच्छिन्न जीवात्मा और तीसरा यह संसार ये तीन पदार्थ यहां कहे हैं । इनमें जीवात्मा और परमात्मा आत्मा होनेसे एक जैसे हैं, परंतु तीसरा संसारवृक्ष जीवात्माको भोग देनेके कार्यमें उपयुक्त है । इन तीनोंका वर्णन इन सूक्तके प्रारंभिक मंत्रमें एक नये ही ढंगसे दिया है । देखिए–

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यो अस्त्यश्नः (मं० १)

" एक दाता सुन्दर पुराणपुरुष है और उसका बीचका भाई भोक्ता है '' यहां दो पदार्थोंका वर्णन है । पहिला [पलित] अतिवृद्ध पुराण पुरुष है, इसको ' वृद्ध स्थविर पलित पुराण ' आदि नाम स्थानपर प्रयुक्त होते हैं तथापि यह ' युवा ' [अ० १० । ८ । १४४] भी हैं अर्थात् सबसे पूर्वकालसे वर्तमान होनेके कारण यह पुराण है, न कि पुराना जीर्ण होनेके कारण इसको कोई वृद्ध कहते है । यह परमात्मा सबसे पुराण होता हुआ भी तरुण है, अतएव इसको यहां'वाम'अर्थात् सुन्दर,रमणीय कहा है । यह 'होता' अर्थात् सबको दानसे अनुग्रह करनेवाला है, सब जगत्के ऊपर इसका बडा अनुग्रह है उसीके अनुग्रहसे सब संसार चल रहा है । ऐसा और एक पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं । यह सबसे वृद्ध अर्थात् बडा भाई है । इसका बीचका मधला भाई [मध्यमः भ्राता] एक है । वह [अश्नः] बडा खानेवाला है, भोग भोगनेवाला है, भोगके विना रह नहीं सकता । बडा भाई तो भोग नहीं भोगता, वह विरक्त है, विरक्तिके कारण बलिष्ठ है और यह भोग भोगनेसे रोगोंसे ग्रस्त होकर निर्बल रहता है । इस प्रकार यहां इन दो भाइयोंका वर्णन किया है । ये ' द्वौ सुपर्णौ ' द्वारा वर्णित जिव और शिव ही हैं । इनका एक तीसरा भी भाई है, उसका वर्णन ऐसा होता है–

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य । (मं० १)

" इसका एक तीसरा भाई है जो पीठपर घी लेकर रहता है । '' इन तीनों भाइयोंमें बडा भाई तो कुछ भी खाता नहीं है, संभव है अतिवृद्ध होनेके कारण उसकी क्षुधा मंद हुई होगी, बीचका भाई तरुण होनेसे बहुत खाता रहता है, और जो यह तीसरा भाई है वह अपने पीठपर घी जैसे पौष्टिक पदार्थ अथवा रस धारण करता है और बीचके भाईको खिलाता रहता है । अन्नरस तैयार करनेका कार्य इस तीसरे भाईके आधीन है, ज्ञान, सुख तथा शान्ति प्रदान करना वृद्ध भाईके आधीन है और बीचका भाई इन दोनों भाइयोंकी सहायता लेता हुआ अपनी उन्नति करता रहता है । इस प्रकार यहां तीन भाइयोंका वर्णन है वह १८ वें मंत्रके वर्णनके साथ मिलता जुलता है ।

इसी वर्णन पर तीन तेजोंकी कल्पना करके यज्ञोंकी रचना की है । सूर्य द्युस्थानमें,विद्युत् अन्तरिक्षमें और अग्नि भूस्थानमें,ये तीन तेज हैं । सूर्य सबसे बडा भाई है [वाम] सुंदर भी है और [पलित] श्वेत किरणोंसे युक्त है । उसका मध्यम भाई विद्युत् तेज है यह बडा खानेवाला है, जहां बिजली गिरती है वहां उस चीजको वह खाती है, इनका एक सबसे छोटा भाई इस पृथ्वीपर अग्नि रूपसे है यह अपने पीठपर आहुतियोंसे डाला हुआ घी तथा हवन सामग्रीका भार लेकर खडा रहता है और अन्यान्य देवताओंको वह भाग देकर उनका पोषण करता है । इससे भाग लेकर अन्यान्य देवतांश पुष्ट होते हैं । अग्नि यहां भूस्थानका प्रतिनिधि है । सब यज्ञकी उत्पत्ति इस विधानको दर्शानेके लिये हुई है । सूर्य प्रकाश देनेवाला, अग्नि पोषक घी

देनेवाला और इन दोनोंसे शक्तियां प्राप्त करके पुष्ट होनेवाला तीसरा मध्यम भाई है। यह वर्णन भी पूर्वोक्त जीवात्मा, परमात्मा और पोषक संसारका ही सूचक है। विद्युत्से मन और जीवात्माका भी वर्णन किया जाता है, क्षणमात्र चमकनेका धर्म इनमें समान है। जिस तरह विद्युत् एकक्षणमें चमकती है पूर्वक्षणमें नहीं होती और उत्तर क्षणमें भी नहीं होती, उसी प्रकार जीवभी जन्मसे मृत्युतक चमकता है और पूर्व तथा उत्तर कालमें छिपा रहता है। अस्तु। इस रीतिसे इस प्रथम मंत्रमें सूर्यादि तीन तेजोंके वर्णनके मिषसे जीवात्मा, परमात्मा और संसारका वर्णन किया है, सो पाठक देखें। इसी मंत्रमें और कहा है कि—

अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्। (मं० १)

" यहां सात पुत्रोंवाले प्रजापतिका मैंने दर्शन किया " पूर्वोक्त वर्णनमें विश्पति अर्थात् प्रजापतिका वर्णन है यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट होती है। यहां विश्पति प्रजापति ये नाम सब जगत् के पालनेवालेके सूचक हैं। इसके सात पुत्र हैं, इसके सात पुत्र ये ही सात लोक हैं क्योंकि इसीने इनकी उत्पत्ति की है। यह उन सात लोकोंका पिता है और ये उसके पुत्र हैं। जो " वाम पलित " आदि नामोंसे प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है, वही जगत्पालक सबका पिता और जेठा भाई परमेश्वर है। उसके भाई अथवा पुत्र सब जीव हैं और इन जीवोंको भोग देनेवाला यह सब संसार है। यह बात इस प्रथम मंत्र के मननसे स्पष्ट हो गई है। आगे कहा है कि—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्। एको अश्वो वहति सप्त नामा। (मं० २)

" एक रथको सात जोडे हैं। " अर्थात् इस शरीर रूपी रथको सात घोडे जोडे हैं परन्तु ये सात घोडे होते हुए भी वस्तुतः "सप्तनामक एक ही घोडा इसको चलाता है। अर्थात् इस रथको चलानेवाली गति एक ही है, परंतु वह सात प्रकारके रूपोंमें दीखती है। जैसा आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा, मन ये सात ज्ञानेंद्रिय हैं, ये ज्ञानेंद्रियरूपी सात घोडे इस शरीरको जोते हैं, परंतु देखा जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा कि आत्माकी एक चित् शक्ति इन सातों इंद्रियोंमें विभक्त हो गई है अतः यहां कह सकते हैं कि यहां घोडे सात भी हैं और सात नामोंवाला एक ही घोडा है। एक कथनमें स्थूल की ओर दूसरे कथनमें सूक्ष्म की ओर से देखा गया है।

इसी प्रकार दो हाथ दो पांव, मुख, गुदा और शिश्न ये सात कर्मेंद्रियां यद्यपि सात हैं, तथापि आत्मा की कर्मशक्ति के ही ये सात विभाग हुए हैं इसलिये स्थूल दृष्टिसे ये सात घोडे इस शरीर रूपी रथको जोते हैं; ऐसा हम कह सकते हैं तथापि आत्मा की दृष्टिसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही आत्माकी कर्मशक्ति यहां सात रीतिसे विभक्त होकर कार्य कर रही है।

कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, प्राण, मन, चित्त अहंकार, बुद्धि ये भी सात घोडे इस शरीरके साथ जोते गये हैं परंतु आत्माकी ओरसे देखनेसे ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही इन्द्रशक्ति इस सब इंद्रियोंमें कार्य कर रही है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें समझना योग्य है। जैसा एक ही प्राण शरीरमें ग्यारह स्थानोंमें रहनेसे प्राण, अपान आदि नामोंको प्राप्त करता है। यह भाव शारीरिक विषयोंके संबंधमें हुआ, परंतु जैसा यह शरीर छोटा ब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह संपूर्ण जगत् भी एक बडा शरीर ही है। अतः दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा है, अतः 'एक रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु सात नामोंवाला एक ही घोडा इस रथको खींचता है' इस बातको इस जगत्में भी देखना चाहिये।

यह जगत् पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और महत्तत्त्व इन सातोंके द्वारा चलाया जाता है यह सत्य है, तथापि एक ही महत्तत्त्व इन सातोंमें परिणत होकर इस जगत्को चलाता है यह भी उतना ही सत्य है। सूर्यके किरणोंमें सात रंगोंके सात किरण हैं यह बात जैसी सत्य है उसी प्रकार सूर्यका एक ही किरण उन सात प्रकाशकिरणोंमें विभक्त हुआ है यह भी उतना ही सत्य है। इसी कारण सूर्यको सप्ताश्व, सप्तरश्मि इत्यादि नाम दिये गये हैं।

एक संवत्सर कालके सात ऋतु हैं, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमंत शिशिर ये छः और अधिक मासका एक मिल कर सात ऋतु हैं। तथापि इन सातों ऋतुओंमें एक ही काल व्यापता है और सात ऋतुओंमें परिणत होता है।

बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, यौवन, परिहाण, वार्धक्य, जरा ये सात आयुके जैसे सात भाग हैं और इनमें एक ही जीवन की अवधि अर्थात् आयु व्यतीत होती है; उसी प्रकार इस जगतकी आयुके भी सात भाग हैं और उनमें जगतकी आयु विभक्त होती है। इस दृष्टिसे सर्वत्र देखना योग्य है। तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टिसे विभक्त अवस्था ज्ञात होती है और सूक्ष्म दृष्टिसे

एकावस्था किंवा साम्यावस्था प्रतीत होती है। इसके लिये और भी एक उदाहरण देते हैं। मिट्टी एक है परंतु उसके पात्र अनंत होते हैं, सोना एक है परंतु उसके अनंत आभूषण होते हैं। यहां मिट्टी और सोनेकी दृष्टिसे सब पात्र और आभूषण एक ही हैं, तथापि व्यवहारके आकार भेदसे उनमें भेद भी है। इसी प्रकार 'एक रथको ओढनेवाले सात घोडे हैं तथापि उन सातोंका नाम धारण करनेवाली एक ही खींचनेवाली शक्ति है,' इस मंत्रके कथनमें " एक ही शक्ति सात स्थानोंमें विभक्त होकर इस जगतमें कार्य कर रही है" इतना ही विषय मुख्य है, फिर पाठक उसको शरीरमें देखें अथवा जगत्में देखें।

जिस रथको ये सात घोडे जोते हैं उस रथको एक ही चक्र है । और वह चक्र-

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम् । (मं० २)

"तीन नाभिवाला यह एक चक्र जरारहित और अप्रतिबंधसे चलनेवाला है।" इसका विचार प्रथम हम जगत्में देखेंगे, कालचक्र एक है, और उसके भूत, भविष्य, वर्तमान ये तीन केन्द्र हैं। यह चक्र कदापि क्षीण नहीं होता और न इसको कोई प्रतिबंध करता है। संवत्सरचक्र एक है और उसके शीत, उष्ण और वृष्टिके तीन केन्द्र हैं। इनमें यह घूम रहा है। प्रकृतिचक्र एक ही है और उसके सत्व,रज और तम ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है। जगत् चक्र एक है और उसके उत्पत्ति,स्थिति और लय ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूप रहा है, इस तरह सृष्टिके अन्दर इस एकचक्रकी बातको पाठक देखें और अनुभव करें।

इसी ढंग से मनुष्य के अंन्दर भी इस चक्रको देखना उचित है। एक ही शरीरचक्र कफ, पित्त, वात इन तीन केन्द्रों पर चल रहा है। यही प्रवृत्तिचक्र सत्व, रज, तमके ऊपर घूम रहा है। इसी तरह और कई नाभियां यहां भी हैं।

यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः । (मं० २)

" इसके अन्दर सब भुवन ठहरे हैं।" यह जो चक्र पूर्वस्थानमें कहा है उसमें सब भुवन रहे हैं। जगत् के पक्षमें संपूर्ण भुवन रहे हैं यह बात स्पष्ट ही है। शरीरके पक्षमें शरीरान्तर्गत सब अंग और अवयव ही यहां भुवन लेनेसे मंत्रमें कहा तत्त्व शरीरमें अनुभव हो सकता है। शरीरमें कफपित्तवात नामक तीनों नाभियोंमें भ्रमण करनेवाले चक्रमें ये सब अंग और अवयव कार्य करते हैं। इसी ढंगसे अन्यान्य चक्रों के विषयमें जानना योग्य है।

अगले तृतीय मंत्रमें (इमं रथं ये सप्त अधितस्थुः) इस रथके आश्रयपर जो सात तत्त्व अधिष्ठित हुए हैं, ऐसा कहकर आगे सप्तचक्र रथ, सप्त अश्व, सात (स्वसारः) बहिनें तथा (गवां सप्त) सात गौवें ,' हैं ऐसा कहा है यह रथ सात चक्रोंवाला है, इसके सात गति—साधन हैं, येही सात गतियां इसके अश्व हैं, गौ नाम वाणीका है इस शरीरमें इस वाणीके सात भेद हैं; इंद्रियां सात सात विभक्तियां, सात, कालविभाग,(अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्री, मुहूर्त ये सात कालविभाग)हैं। सात बहिनें यहां शरीरमें सात मज्जा केन्द्रोंसे चलनेवाले प्रवाह हैं, सात इंद्रियोंमें चलनेवाले प्रवाह हैं। बाह्य जगत् में सप्त लोक, सप्त अवस्था, सात किरणें, सात नदियां आदिकी कल्पना करना योग्य है।

यह कूटमंत्र है और इसका अर्थ इस प्रकारके मनन से जाना जा सकता है। आगे चतुर्थ मंत्र देखिये-

अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति (मं० ४)

" (अन्- अस्था) जिसमें हड्डी नहीं है ऐसा आत्मा (अस्थन्- वन्तं) हड्डीवाले शरीरका धारण करता है।" यह महत्त्वपूर्ण कथन इस मंत्रमें कहा है। आत्माके लिए 'अनस्था' शब्द है और शरीरके लिए'अस्थन्वान्' शब्द है। इसी प्रकारका भाव निम्नलिखित यजुर्वेदके मंत्रमें है-

अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । वा० यजु० ४० । ६

" वह आत्मा शरीररहित, व्रणरहित, स्नायु-मांस-रहित है, अतएव शुद्ध और पापरहित है।" यह ' अन् - अस्था ' (अस्थिरहित) शब्दका ही अधिक विवरण है, अधिक अर्थका विस्तार है। वह आत्मा हड्डीरहित मांसरहित शरीररहित व्रणरहित, रक्तरहित, धमनीरहित, चर्मरहित है, इसी प्रकार और भी वर्णन हो सकता है। शरीर हड्डी, मांस, व्रण, रक्त, धमनी आदिसे युक्त है। इस शरीरका धारण उक्त प्रकार का आत्मा कर रहा है। जड शरीरका धारण चेतन आत्मा करता है। इसको कौन देखता है ? —

कः जायमानं प्रथमं ददर्श ? (मं० ४)

" इस प्रकट होनेवाले आत्माका सबसे प्रथम किसने दर्शन किया ? " इसके अस्तित्वके विषयमें किसने प्रथमसे प्रथम अनुभव किया ? किसने निश्चित रूपसे इसको जान लिया ? किसने इसकी आश्चर्यमयी शक्तियोंका सबसे पहिले अनुभव किया ? अर्थात् कौन इसको पूर्णतासे जानता है ? और–

भूम्याः असृक् असुः आत्मा क्वस्वित् ? (४)

" इस भूमिके अन्दर अर्थात् स्थूल शरीरके अन्दर रक्त मांस, प्राण और आत्मा कहां भला निवास करते हैं । " यह स्थूल शरीर पृथ्वीतत्त्वका बना है, उससे भिन्न जलतत्त्व है, वायुतत्त्व भी भिन्न है, तथापि इस शरीरके अन्दर ये पञ्चतत्त्व एक स्थानपर विराजमान हुए हैं और एक उद्देश्यसे कार्य कर रहे हैं ? इन विभिन्न तत्त्वोंको एक उद्देश्यसे चलानेवाला यहां कौन है ? यहां पृथ्वी तत्त्वसे हड्डी आदि कठीन पदार्थ, जलतत्त्वसे रक्त रेत आदि प्रवाही पदार्थ, अग्नि तत्त्वसे पाचन शक्ति, उष्णता आदिकी स्थिति, वायुतत्त्वसे प्राण आदिकी स्थिति और परमात्मासे आत्मा का प्रकटीकरण इस शरीरमें हुआ है । परंतु ये कहां कैसे रहते हैं ? कौन इनका संचालक है । इसी विषयका एक मंत्र अथर्ववेदमें है वह यहां देखिये–

को अस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिंधुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ अथर्व. १० । २ । ११

" किस देवताने इस शरीरमें शीघ्र गतिवाले, लाल रंगवाले और तांबेके धूम्रके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे चलनेवाले जलप्रवाह शुरू किए हैं ?" यह रक्तके अभिसरणके संबंधमें वर्णन है, इसी (१० । २) केन सूक्तमें शरीरके अन्यान्य अवयवोंके विषयमें भी पृच्छा की है । इस प्रकार किस देवताके द्वारा यह सब शरीर धारण हुआ है ? यह तत्त्वज्ञानके विषयमें एक महत्त्वका प्रश्न है ।

कः विद्वांसं प्रष्टुं उपगात् ? (मं ४)

" कौन शिष्य इसके विषयमें पूछनेके लिये विद्वान्के पास जाता है " और कौन इसके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और कौन इसके विषयमें निश्चित ज्ञान देता है ?

यः वेद इह ब्रवीतु । (मं० ५)

" जो इस आत्माके विषयमें ठीक ठीक ज्ञान जानता है वह यहां आवे, और हम सब शिष्योंसे उपदेश करें " और हमको बतावे कि यह आत्मा इस शरीरका धारण किस प्रकार करता है ? यह आत्मा अस्थिरहित होता हुआ अस्थिवाले शरीरको चलाता है, मूक शरीरसे यही वार्तालाप करता है और पंगु शरीरको यही चलाता है । पावोंसे चलना होता है, परंतु ये पांव शरीरके पास हैं और आत्मामें नहीं हैं, तथापि शरीर आत्माकी प्रेरणाके विना चल नहीं सकता । इसी प्रकार शब्दोच्चार करनेवाला मुख है तो शरीरके पास, परंतु आत्माकी प्रेरणाके विना केवल शरीरसे शब्दोच्चार हो नहीं सकते । इसीलिये–

अस्य वामस्य वेः निहितं पदं वेद । (मं० ५)

" इस परमप्रिय गतिमान आत्माका इस शरीरमें रखा हुआ जो पद है, " उसको जानना चाहिये । यही पद प्राप्त करना चाहिये, यह गुप्त है इसीलिये इसकी खोज करनी होती है । सब योगी मुनि, ऋषि, सन्त महन्त इसीकी खोज करते हैं, प्राप्ति करते हैं और आनन्दके भागी बनते हैं ।

गावः अस्य शीर्ष्णः क्षीरं दुहूते । (मं०५)

" इंद्रियरूपी गौवें इसके सिरके स्थानसे दूध निचोडती है । " आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा आदि इंद्रियरूपी गौवें रूप, गंध, शब्द, रस और स्पर्श रूपी दूध निकालती हैं और इन विषयरूपी दूधको यह प्राप्त करके सुखका भागी होता है । इसके विषयमें जिज्ञासू पुरुषके मनमें बहुतवार अनेक प्रश्न पूछनेके लिये उपस्थित होते हैं और वह पूछता भी है–

पाकः मनसा अविजानन् पृच्छामि ।
देवानां एना निहिता पदानि ॥ (मं० ६)

" (पाकः) पक कर तैयार होनेवाला मुमुक्षु मनुष्य (मनसा अविजानन्) मनसे कुछ भी आत्मज्ञान नहीं जानता है इसलिये पूछता है कि इस देहके अन्दर (देवानां पदानि) अनेक देवोंके स्थान कहां कहां रखे हैं।" मनुष्य पक कर परिपक्व अर्थात् पूर्ण होनेके लिये यहां रखे हैं, इनमें जिसको अपने अज्ञानका पता लगता है, वह मुमुक्षु बनता है और वह सद्गुरुके पास जाकर उससे प्रश्न पूछता है कि 'हे गुरो! जो अनेक देवताओंके पद इस शरीरमें रखे गये हैं वे कहां हैं? किस देवताका पद यहां किस स्थानपर रखा गया है? यहां सूर्यदेवने अपना पद चक्षुस्थानमें रखा है, वायुदेवने अपना पद फेफडोंमें रखा है, जलदेवने अपना पद जिह्वास्थानमें तथा रक्तमें रखा है इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अन्यान्य स्थानोंमें अपने पद रखे हैं। इस तरह इस शरीरमें अनेक देवताओंके पद अर्थात् स्थान किंवा निवासस्थान हैं। पाठक इनका अनुभव करें और यह किस प्रकार देवमंदिर है इसका ज्ञान प्राप्त करें। यही बात अन्यत्र निम्न प्रकार कही है—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥ ३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥ ४॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते॥ १०॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १३॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १८॥
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ २९॥
तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ ३२॥ अथर्व. ११।८ (१०)

" दस देवोंसे दस देवपुत्र उत्पन्न हुए, जो इनको प्रत्यक्ष देखता है वह बडा तत्वज्ञान कह सकता है। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अमरत्व और नाश, व्यान, उदान वाणी और मन ये दस तेरे संकल्पको चलाते हैं। दस देवोंसे जो दस देवपुत्र हुए, वे अपने पुत्रोंको स्थान देकर किस लोकमें चले गये? सिंचन करनेवाले देव हैं जो सब संभार इकट्ठा करते हैं, सब मर्त्य देहको सिंचन करके ये देव मनुष्य देहमें घुसे हैं। देह रूपी मर्त्य घर करके इसमें देव रहने लगे हैं, रेतका घी बनाकर देव इस पुरुषमें आगये हैं। जो ज्ञानी है वह इस पुरुषको ब्रह्म करके मानता है, क्योंकि इसमें सब देवताएं रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं॥"

इस प्रकार इस शरीररूपी देवशालाका वर्णन है। यहां आंखमें सूर्य, फेफडोंमें प्राण किंवा वायु, इस प्रकार अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें विराजते हैं। बडे सूर्य वायु आदि देव बाह्य विश्वमें हैं और उनके छोटे पुत्र नेत्रादि स्थानपर निवास करते हैं। यहीं मानों उनके पद रखे हैं अर्थात् सूर्यने अपना पद नेत्रस्थानमें रखा है; वायुने अपना पद फेफडोंमें रखा है, जलने अपना पद जिह्वापर रखा है इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अपने पद शरीरस्थानीय अन्यान्य अन्यान्य भागोंमें रखे हैं। इन्हींका वर्णन (देवानां निहिता पदानि) देवोंके पद यहां रखे हैं इन शब्दोंसे हुआ है। तथा—

कवयः ओतवै उ सप्त तन्तून् वितत्निरे। (मं० ६)

" कवि लोग जीवनका वस्त्र बुननेके लिये सात धागोंको फैलाते हैं।" जिस प्रकार जोलाहा ताना फैलाता है और उसमें बानेके धागे रखकर उत्तम वस्त्र तैयार करता है, उसी प्रकार नेत्रसे रूपके, कानसे शब्दके, नाकसे गंधके, जिह्वासे आस्वादके, त्वचासे स्पर्शके, मनसे ज्ञानके और बुद्धिसे विज्ञानसे धागे फैलाकर इस तानेमें कर्मयोग और ज्ञानयोगका बाना मिलाकर सुंदर जीवन का वस्त्र बनता है। यही पुरुषार्थी जीवनका वर्णन है। ये सात तन्तु हैं प्रायः हरएक मनुष्य की खुड्डीपर ताना फैलाया है, जो इसमें पुरुषार्थका बाना मिलायेगा वही उत्तम जीवनवस्त्र बना सकता है। इस प्रकार सात तन्तुओंका वर्णन पाठक देखें और इससे पूर्व जो 'सात' संख्यावाले पदार्थोंका वर्णन आया है उसके साथ इसका अनुसन्धान करें।

अचिकित्वान् न विद्वान्, चिकितुषः विद्वनः कवीन् पृच्छामि। (मं० ७)

अज्ञानी अविद्वान मैं ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे पूछता हूं। ये ज्ञानी लोग मेरी आशंका को दूर करें। अज्ञान ज्ञानीसे पूछे, अविद्वान् विद्वान् के पास जाय, साधारण मनुष्य कविके साथ रहे और अपनी आशंकाएँ पूछें और इस तरह ज्ञान प्राप्त करें। विद्वानसे पूछने योग्य प्रश्न यह है-

यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ (मं० ७)

" किस एकने इन छः लोकोंको आधार दिया है?" किस एकका आधार इस संपूर्ण जगतको प्राप्त होता है? किसके आधार पर यह विश्व है और चल रहा है? यह प्रश्न विद्वानको प्राप्त कर उसे पूछना योग्य है,और भी एक प्रश्न पूछना योग्य है-

अजस्य रूपे किं एकं स्वित् ? (मं० ७)

"अजन्मा आत्माके रूपमें एक रूप कौनसा है? अनेक अजन्माजीवात्मा हैं,इनकी संख्या अनन्त है। इन अनन्त जीवात्माओंमें एक तत्त्व जो है वह कौनसा तत्त्व है। एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। यह एकरस और सर्वत्र अनुस्यूत है। जीवोंमें अनेकत्व और अणुत्व है। इसमें अनेकत्व नहीं और अणुत्व भी नहीं है। प्रत्युत इसमें एकत्व और सर्वव्यापकत्व है। यही एक तत्त्व सर्वत्र भरपूर है। कोई पदार्थ इससे खाली नहीं है। यह परमात्मा अपनी प्रकृतिके साथ रहता है, यह एक गृहस्थके समान है। प्रकृति उसकी धर्मपत्नी है और वह उस प्रकृतिका धर्मपति है। ये किस प्रकार वर्ताव करते हैं देखिये—

माता पितरं ऋते आबभाजे। (मं० ८)

"माता पिताकी सत्यधर्ममें-यज्ञमें-सेवा करती है सहायता करती है।" धर्मपत्नी अपने पतिकी सेवा करे और उसको यज्ञ करनेमें सहायक बने। यह गृहस्थ धर्मका उपदेश यहां मिलता है सबकी माता प्रकृति परमपिता परमात्माकी सहायता करती है और सृष्टिरूप यज्ञ सिद्ध करनेमें सहायक होती है। यह आदर्श गृहस्थाश्रम है। हरएक गृहस्थी इस प्रकार अपना व्यवहार करे।

धीती अग्रे मनसा सं जग्मे। (मं० ८)

" यह गृहस्थाश्रमका धारण करनेवाली धर्मपत्नी पहिलेसे ही मनसे उसके साथ मिलती है।" वह केवल बाहरके दिखावेके लिये ही पतिके साथ मिलकर रहती है, ऐसी बात नहीं परंतु वह मनके आन्तरिक भावसे भी पतिके साथ मिलकर रहती है। गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष इसी प्रकार मनसे एकरूप होकर अपना गृहस्थाश्रम चलावें और कृतकृत्य बनें। प्रकृतिमाता तो अपने मनसे परमात्माके साथ ऐसी मिलजुल कर रहती है कि कभी उसके विरोध नहीं करती। जो परमात्माकी इच्छा होती है वैसा विश्वरचना का कार्य करती है। यहां भी गृहस्थाश्रमियोंको बडा अनुकरणीय उदाहरण मिलता है।

सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा। (मं० ८)

" वह माता गर्भका धारण पोषण करनेवाली गर्भके रससे रंगी गर्भके पोषणमें लगी रहती है।" दूसरा कोई कार्य उनको सूझता नहीं है। हरएक स्त्री जो गृहस्थाश्रममें है इसी प्रकार गृहमें रहनेवाले पुत्रादिकों की पालना करनेमें दत्तचित्त रहे, गर्भधारण होनेपर गर्भके पालन में योग्य रीतिसे दत्तचित हो और ऐसे किसी भी कार्यमें व्यग्र न हो कि जो गर्भके पोषण के प्रतिकूल हों। प्रकृतिमाता अपने गर्भका धारण पोषण और उत्पत्ति आदिके विषयमें कैसी दत्तचित्त होती है और किसी भी प्रकार प्रमाद न करती हुई अपना कार्य तत्परतासे करती है।

नमस्वन्तः उपवाकं ईयुः(मं० ८)

(नमस्वन्तः) नमस्कार करते हुए अथवा अन्नसे युक्त पुरुष उनकी प्रशंसा करते हुए उनके पास जाते हैं।" उक्त प्रकारके गृहस्थी जहां होते हैं वहां सब अन्य लोग उनको नमस्कार करते हैं और उनके सत्संगमें रहना चाहते हैं। अथवा अन्न की भेंट लेकर उनके पास उपस्थित होते हैं और उनका उस भेंटसे सत्कार करते हैं। आदर्श गृहस्थीका इस प्रकार सत्कार होता है और आदर्श गृहस्थका घर कैसा होता है, इस विषयमें प्रकृति पुरुषके दृष्टान्तसे ऊपर लिखा ही है। पाठक इसका विचार करें। और देखिये—

माता धुरि युक्ता आसीत्। (मं ९)

" माता गृहस्थके कार्यकी धुरामें लगाई है।" माता पीछे रहनेवाली नहीं है। वह धुरामें रहकर कार्य करनेवाली है।

गृहस्थाश्रममें धर्मपत्नीका यही कार्य है। गृहस्थके सब कार्योंमें वह धुरामें रहकर दत्तचित्त होकर कार्यका भार उठाती है, इसीलिये उसको सहधर्मचारिणी गृहिणी कहते हैं। गर्भवती होनेपर भी वह इसी प्रकार धुरामें रहकर कार्य करती है।

गर्भो वृजनीष्वन्तः अतिष्ठत् (मं० ९)

" गर्भ अपने अन्दर अन्तःशक्तियोंके आधारपर रहता है। " गर्भको अन्दर धारण करती हुई गृहिणी धुरामें रहकर सब कार्यका भार उठाती है। इसी प्रकार गृहिणी अपने घरमें कार्य करे। पतिके अनुकूल धर्मपत्नी रही तो उनके बच्चे भी पिता माताके (अनु) अनुकूल होते हैं, जिस प्रकार (गां अनु वत्सः) गौके अनुकूल बछडा होता है, ठीक उस प्रकार सद्वर्तनी गृहिणीके बालबच्चे उनके अनुकूल रहते हैं और इस प्रकार अपने पुत्रोंमें वे माता पिता (विश्वरूप्यं अपश्यत्) सब अपना रूप देखते हैं। मातापिताका सब प्रकारका रूप पुत्रोंमें आता है। जैसे मातापिताके शरीर, मन और बुद्धिके भाव होते हैं वैसे ही पुत्र और पुत्रियोंमें होते हैं। अतः कहा है (त्रिषु योजनेषु) तीनों शरीर मन बुद्धिमें सब प्रकार की सारुप्यता दिखाई देती है। पूर्ण गृहस्थाश्रम का यह फल है। इसमें माता पिता, पुत्र और पुत्रियां एक विचारसे परिपूर्ण होती हैं और किसी प्रकार इनमें आपसी विरोध नहीं होता है।

एकः तिस्रः मातॄः त्रीन् पितॄन् बिभ्रत् ऊर्ध्वः तस्थौ ॥ (मं० १०)

" अकेला वह सुपुत्र तीन माताओंको और तीन पिताओंको अपने अन्दर धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। " अर्थात् तेढी चाल नहीं रखता। तीन माताएं ये हैं- " प्रकृतिमाता, विद्यामाता और अपनी माता। " तीन पिता ये हैं— "परमात्मा, गुरु और अपना जनक।" इन तीनोंको वह अपने अन्दर धारण करता है और सीधे व्यवहार करता है। और कभी (न अवग्लापयन्त) कभी ग्लानीको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार उपासना और आचरणसे इनकी उच्च योग्यता होती है। और ये स्वर्गमें जाते हैं और वहां-

अमुष्य दिवः पृष्ठे विश्वविदः अविश्वविन्नां वाचं मन्त्रयन्ते । (मं० १०)

" उस द्युलोकके पृष्ठभाग पर विराजते हुए ये ज्ञानी लोग सबके ध्यानमें न आनेवाली बातोंका मनन करते हैं। " वहां स्वर्गमें रहकर ऐसे तत्त्वोंका विचार करते हैं कि जिनका ज्ञान साधारण मनुष्यके ध्यानमें भी नहीं आसकता।

परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रं विश्वा भुवनानि आतस्थुः (मं० ११)

" घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन रहे हैं " अर्थात् इस चक्रके आधारसे सब भुवन रहते हैं। पञ्च प्राणोंका जो पांच आरोंवाला प्राणचक्र है उसके आधारसे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं। यहां शरीरमें प्राणचक्रके आधारपर सब शरीरके अवयव रहते हैं। प्राण चला गया तो कोई रह नहीं सकता। इसी प्रकार यह संपूर्ण विश्व भी बृहत्प्राणचक्रपर रहा है, विश्वव्यापक महाप्राण जगतके सब भुवनोंका धारण करता है। यह चक्र भ्रमण होरहा है, तथापि इसका मध्यदण्ड (अक्षः न तप्यते) नहीं तपता है। अनादि कालसे यह विश्व घूमता रहनेपर भी इसका कोई भाग तपता नहीं। कोई चक्र जब घूमता है, तब उसका मध्यदण्ड न तपे, इसलिये तेल डालना पडता है,परंतु यहां तेल न डालते हुए ही स्वयं यह मध्यदण्ड नहीं तपता है, यह परमात्माका अद्भुत सामर्थ्य देखने योग्य है। ये जगत्के सब लोकलोकान्तर एक गतिसे घूम रहे हैं, ये कभी ठहरते नहीं, न कभी इनकी गतिमें विघ्न होता है। इस चक्रके मध्यदण्डपर (भूरिभारः) बहुत ही भार है। जो ये लोकलोकांतर हैं उनका भार बहुत ही है, इस भारकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इतना भार होनेपर भी यह विश्वचक्र विलक्षण शान्तिसे और गतिसे चल रहा है। और अनादिकालसे घूमनेपर भी (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) नहीं छिन्नभिन्न होता है। इस प्रकार यह जगच्चक्र विलक्षण सामर्थ्यसे धारण किया है।

आगे बारहवें मंत्रमें " कालचक्र "का वर्णन है इसको यहां (द्वादश आकृति) बारह मासोंकी बारह अवस्थाओंवाला यह कालचक्र अथवा संवत्सरचक्र है। यह संवत्सरचक्र (षड्—अरे) छः अरों में विभक्त हुआ है, छः ऋतु येही इसके छः आरे हैं। अधिक मासका और एक ऋतु माना जाता है, इसके साथ सात ऋतु होते हैं, यहां दर्शानेके लिये (सप्तचक्रे) शब्द आया है। अथवा संवत्सर, अयन, ऋतु मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त, ये भी कालचक्रके अन्तर्गत सात छोटे चक्र हैं, यह भी अधिक योग्य प्रतीत होता है। यह संवत्सर (पञ्चपाद) पांच पांव वाला है, शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल और ये

तीन काल वर्षके हैं इनमें चान्द्रमान और सौरमान ये दो गणनात्मक विभाग माननेसे ये संवत्सरके पांच पांव होते हैं, क्योंकि इन्ही पांवोंसे यह सबका पिता चलता है और सबका (पिता-माता) संरक्षण करता है। इस प्रकारका यह कालचक्र एक वर्षमें घूमता है और सब संसार का कल्याण करता है। इस चक्रमें-

मिथुनासः पुत्राः अत्र सप्तशतानि विंशतिः च आतस्थुः ॥ (मं० १३)

" मिथुन अर्थात् दो दो जुडे हुए पुत्र सातसौंवीस हैं। " ये दिन और रात ही हैं। दिनके साथ रात्री और रात्रीके साथ दिन जुडे हैं। चान्द्रवर्षका और सौर वर्षका मध्य अर्थात् ३६० दिनोंका मध्यम वर्ष है। इसके दिन और रात्री ऐसे प्रत्येक दिनके दो जुडे पुत्र माननेसे ७२० होते हैं। अर्थात् यह न चान्द्रवर्ष है और न सौर, परंतु दोनों वर्षोंके मध्यम परिमाणका यह वर्ष है। यह द्वादश महिनोंका (द्वादशारं चक्रं न हि जराय) बारह आरोंवाला चक्र कदाचित् भी जीर्ण नहीं होता है। यह जैसा पहिले था वैसा ही आज भी चल रहा है, कभी जीर्ण (सनेमि अजरं चक्रं) अथवा क्षीण नहीं होता है। ऐसा यह सामर्थ्यवाला कालचक्र है, और इसमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन रहे हैं। सभी की आयु इस कालचक्रसे गिनी जाती है। जो ज्ञानी है (अक्षण्वान् पश्यत्, न अन्धः) जिसके आंख उत्तम हैं, वह इस बातको देख सकता है, परंतु जो अन्धा होगा, वह कैसे देख सकेगा ?

यः कविः स आचिकेत, यः ता विजानात्,
सः पितुः पिता असत्। (मं० १५)

" जो कवि है वही यह सब ज्ञान प्राप्त करता है, और जो इस ज्ञानको यथावत् जानता है वह पिताका भी पिता होता है। " अर्थात् उसकी योग्यता बहुत ही बडी होती है। वह मानो मुक्त है। यहां एक आश्चर्य है कि—

स्त्रियः सतीः ताँ उ पुंसः आहुः। (मं० १५)

" कई स्त्रियां होती हुई उनको पुरुष कहा जाता है " ऐसा ही जगतमें व्यवहार हो रहा है। मनुष्योंमें भी कईयोंको पुरुष और कईयोंके स्त्रियां कहा जाता है, परंतु आत्माकी दृष्टिसे सब एक जैसे हैं और शरीरकी दृष्टिसे भी सब एक जैसे ही हैं। अतः न कोई स्त्री है और न कोई पुरुष है। वस्तुतः आत्मा पुरुष है और सब प्रकृति स्त्री है। जीवात्मा तो स्त्रीशरीरमें भी जाता है और पुरुषशरीरमें भी जाता है। यह सत्य सिद्धांत होता हुआ भी जगतमें भ्रमसे स्त्रीपुरुष व्यवहार चल ही रहा है। इस वर्णनके पश्चात् सोलहवे मंत्रमें पुनः कालचक्रका और एक प्रकारसे वर्णन करते हैं-

षड् यमाः एकः एकजः देवजाः ऋषयः। (मं० १६)

" देवतासे उत्पन्न हुए ऋषि हैं, उनमें छः जुडे हैं और एक अकेला है। " छः ऋतु प्रत्येक दो दो मासोंवाला होता है और तेरहवें मासका ऋतु होता है वह अकेला ही एक होता है। ये सब ऋतु सूर्य देवसे उत्पन्न होते हैं और (ऋषयः = रश्मयः) सूर्यकिरणोंके संबंधसे इनमें उष्णताकी न्यूनाधिकता होती है। अतः इन ऋतुओंको (सप्तथं) सात प्रकारके हैं ऐसा कहा जाता है। आगे सतरहवें मंत्रमें प्रकृतिरूपी गौका वर्णन है यह अद्भुत गौ अपने सूर्यादि बच्चोंको साथ लेकर कहां रहती, क्या करती, और अपने पदसे बच्चेको किस प्रकार धारण करती है, इत्यादि कहा है वह यद्यपि संदिग्धसा है, तथापि पूर्वस्थान के वर्णनका विचार और मनन करनेसे कुछ बोध हो सकता है।

इसके आगेके मंत्रोंका विवरण सबसे प्रथम हो चुका है। अतः उनका अधिक विचार फिर करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार इस सूक्त की संगति है। आत्मा परमात्मा, काल और विश्वके सब भूत इनका सुन्दर वर्णन यहां है। पाठक इन मन्त्रोंका मनन करें और आध्यात्मिक आशय जानें। इस सूक्तका संबन्ध अगले सूक्तसे है, अतः उनका मनन अब करें-

——:०:——

एक आत्माके अनेक नाम ।

(१०)

(ऋषिः ब्रह्मा । देवता—गौः, विराट् अध्यात्मम्)

१५ (१०)

यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं॒ वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत ।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥ १ ॥

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम् ।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॑ ॥ २ ॥

जग॑ता॒ सिन्धुं॑ दि॒व्य॑स्कभायद् रथन्त॒रे सूर्यं॒ पर्य॑पश्यत् ।
गा॒य॒त्रस्य॑ स॒मिध॑स्ति॒स्र आ॑हु॒स्ततो॑ म॒ह्ना प्र रि॑रिचे महि॒त्वा ॥ ३ ॥

अर्थ-(यत्) जो (गायत्रे) गायत्रमें (गायत्रं अधि आहितं) गायत्र रखा है। और (त्रैष्टुभात् वा त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभसे त्रैष्टुभ की (निरतक्षत) रचना की है, (यत् वा) अथवा जो (जगत् जगति आहितं) जगत् जगतिमें रखा है, (ये इत्) जो (यत् पदं विदुः) इस पदको जानते हैं (ते अमृतत्वं आनशुः) अमरत्वको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवका प्रतिमापन अर्थात् गुणवर्णन करता है, (अर्केण साम) अर्चनीय देवताके द्वारा साम अर्थात् शान्तिको प्राप्त करता है । (त्रैष्टुभेन वाक्) त्रिष्टुप् छन्दसे वाणीका मापन करता है और (वाकेन वाकं) वाणीसे वर्णन करता है। इस प्रकार (द्विपदा चतुष्पदा सप्त वाणीः अक्षरेण मिमते) दो चरणों और चार चरणोंवाले सात छन्दोंको अक्षरोंकी गिनतीसे गिनते हैं ॥ २ ॥

(जगता सिन्धुं दिवि अस्कभायत्) जगति छन्द द्वारा समुद्रको द्युलोकमें थाम रखा है, द्युलोकका समुद्रके समान वर्णन किया है । [रथन्तरे सूर्यं परि अपश्यत्] रथन्तरमें सूर्यका दर्शन किया है, सूर्यका वर्णन है । [गायत्रस्य तिस्रः समिधः आहुः] गायत्री छन्द की तीन समिधायें—तीन पाद—हैं ऐसा कहते हैं । (ततः मह्ना महित्वा प्ररिरिचे) उससे बडी महिमासे संयुक्त होता है ॥ ३ ॥

भवार्थ-गायत्री, त्रिष्टुप् और जगति आदि छंदों में जो महत्त्वपूर्ण ज्ञान रखा है, उस ज्ञानको जो जानते हैं, वे अमृतत्त्व-मोक्ष-को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

गायत्री छन्दसे पूज्य ईश्वरका वर्णन होता है, इसकी उपासनासे शान्ति प्राप्त होती है । त्रिष्टुप् छन्दसे भी उसी वर्णनीय देवका वर्णन होता है और इसी तरह दो चरण और चार चरणोंवाले सब छंदोंसे यही वर्णन होता है । ये सातों छन्द अक्षरोंकी गिनतीसे मापे जाते हैं ॥ २ ॥

जगति छन्दसे उसका वर्णन है कि जिसने इस द्युलोकको आधार दिया है । रथन्तर साम मंत्रसे सबके प्रकाशक सूर्यका वर्णन होता है । गायत्री छन्दमें तीन पाद होते हैं और उस छन्दमें महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा रखा है ॥ ३ ॥

*

उप॑ ह्वये सुदुघां॑ धेनुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ४ ॥

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्सामि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒भ्यागा॑त् ।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ५ ॥

गौर॑मीमेद॒भि व॒त्सं मि॒षन्तं॑ मू॒र्धानं॒ हिङ्ङ॑कृणो॒न्मात॒वा उ॑ ।
सृक्वा॑णं घ॒र्मम॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः ॥ ६ ॥

अ॒यं स शि॑ङ्क्ते॒ येन॒ गौर॒भीवृ॑ता॒ मिमा॑ति मा॒युं ध्व॒सना॒वधि॒ श्रि॒ता ।
सा चि॒त्तिभि॒र्नि हि च॒कार॒ मर्त्या॑न् वि॒द्युद्भव॑न्ती॒ प्रति॑ व॒व्रिमौ॑हत ॥ ७ ॥

(सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला मैं इस सुखसे दोहने योग्य धेनुको बुलाता हूं। (उत गोधुक् एनां दोहत) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। [सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्] सबका उत्पन्न करनेवाला सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्) प्रदीप्त तेजरूपी दूध यही बता देवे ॥ ४ ॥

(हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी) हीं हीं करनेवाली ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली [मनसा वत्सं इच्छन्ती] मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली (नि आगात्) समीप आगई है। (इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां) यह अवध्य गौ दोनों अश्विदेवोंके लिए दूध देवे। (सा महते सौभगाय वर्धतां) और वह बडे सौभाग्य के लिए बढे ॥ ५ ॥

(गौः मिषन्तं वत्सं अभि अमीमेत्) गाय उत्सुक बछडेको चारों ओरसे प्रेम करती है। और (मातवै उ मूर्धानं हिङ्कृणोत्) मान्यताके लिए अपने सिरको हिंकारसे युक्त करती है। (सृकाणं घर्मं वावशाना) उत्पादक उष्णताको चाहती हुई [पयोभिः मायुं अभिमिमीते पयते] दूधके साथ प्रकाशको चारों ओर फैलती और साथ साथ दूध भी देती है ॥ ६ ॥

[अयं सः शिङ्क्ते] यही वह शब्द करता है। [येन अभीवृता गौः] जिससे संयुक्त हुई गौ उसीमें [ध्वसनौ अधिश्रिता] प्रलयमें आश्रित होती हुई (मायुं मिमाति) प्रकाशका मापन करती है। [सा चित्तिभिः मर्त्यान् नि चकार] वह चिन्तनशक्तियोंके साथ मनुष्योंको युक्त करती है और [विद्युत भवन्ती वाव्रिं प्रति औहत] विजलीके समान चमकदार होकर उत्तम रूपको प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

भावार्थ- मैं उत्तम स्वच्छ हाथोंसे युक्त होकर इस अमृत-मोक्ष-रूपी दूधकी देनेवाली ज्ञानमयी वाणीरूप धेनुकी प्रार्थना करता हूं। जो इस गायका दोहन करना जानता है वही इसका दोहन करे। सबका उत्पादक देव हमें यह ज्ञानरूपी अन्न देवे और इससे प्रकाशमय यज्ञरूपी धर्म हमारे द्वारा सिद्ध होवे ॥ ४ ॥

हिंकारसे युक्त और मनसे शिष्यरूपी वत्सकी कामना करती हुई यह दिव्यज्ञानपूर्ण वेदवाणी रूपी गौ हमारे पास आगयी है। यह अवध्य गौ हमें अमृत जैसा ज्ञानरूपी दूध देवे और हमारा महान् सौभाग्य बढावे ॥ ५ ॥

यह गौ उसी बच्चेको दूध देती है जो बडा उत्सुक है। उसीको यह अनुकूल रहती है। यह यज्ञरूप धर्मको फैलाना चाहती है और जो यज्ञरूप जीवन बनाता है उसीको अपने अमृतरसधाराओंसे पुष्ट करती है ॥ ६ ॥

यही वह एक शब्द है जिससे युक्त हुई यह वाणीरूपी धेनु प्रलयकालमें भी अर्थात् मृत्युके अनंतर भी प्रकाश देती है। यह मननशक्तियोंसे मनुष्योंको युक्त करती है और विद्युत्के समान विशेष प्रकाश देकर मार्ग बताती है ॥ ७ ॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥
विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ ९ ॥
य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥ १० ॥ (२६)
अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥

अर्थ—[पस्त्यानां मध्ये] लोगोंके बीचमें [ध्रुवं एजत् जीवं]स्थिर चालक जीव [तुरगातु अनत् शये] तीव्र गतिमान प्राणशक्तिवाला होकर रहता है । यह [मृतस्य जीवः] मरे मनुष्य का जीव [अमर्त्यः] स्वयं अमर होता हुआ भी [मर्त्येन सयोनिः] मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें प्रविष्ट होकर [स्व-धाभिः चरति] अपनी धारक शक्तियोंसे चलता है ॥ ८ ॥

[सलिलस्य पृष्ठे] प्रकृतिसमुद्रकी पीठपर [दद्राणं विधुं] गतिमान विधान-कर्म कर्ता [युवानं सन्तं] युवा सत् पदार्थको [पलितः जगार] एक वृद्ध निगलता है । [देवस्य पश्य काव्यं] ईश्वरका यह काव्य देख । (महित्वा) महिमासे जो [ह्यः सं आन] कल प्राण धारण करता था । [सः अद्य ममार] वह आज मरगया ॥ ९ ॥

[यः ईं चकार] जो करता है, [सः अस्य न वेद] वह इसको जानता नहीं । [यः ईं ददर्श] जो देखता है [तस्मात् हिरुग् इत् नु] उसके नीचे ही वह है । (सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः) वह माताकी योनिके अन्दर परिवेष्टित होकर [बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश] बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली इस प्रकृतिमें प्रविष्ट होता है ॥ १० ॥

(गो—पां अनिपद्यमानं) इंद्रियोंका रक्षक पतनको न प्राप्त होनेवाले (पथिभिः आ च परा च चरन्तं) अपने मार्गोंसे पास और दूर जानेवालेको (अपश्यं) मैंने देखा । (सः सध्रीचीः) वह साथ विराजमान है, (सः विषूचीः) वह सर्वत्र है, वह (भुवनेषु अन्तः वसानः) भुवनोंके अन्दर वसता हुआ (आ वरीवर्ति) वारंवार आवर्तन करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ– मनुष्योंके शरीरमें एक जीव है,जो स्थिर है तथापि चलानेवाला है यह शीघ्रगति है,और प्राणको भी अपने साथ शरीर-में रखता है । यही जीव इस शरीरमें रहता है । मरे हुए मनुष्यका यह जीव स्वयं अमर है, इसलिए वह अपनी निज शक्तिसे चलता है और दूसरे मर्त्य देहको धारण करनेके लिये किसी योनिमें देह धारण करता है ॥ ८ ॥

इस प्राकृतिक संसारसागरमें यह जीव प्रगति करता है और विशेष कर्म भी करता है । यह जीवात्मा युवा होता हुआ भी यह दूसरे बडे वृद्ध परमात्माके अन्दर प्रविष्ट होता है। यह उस देवकी काव्यमय शक्ति देखने योग्य है। जो जीव कल जीवित होता है वही आज मरता है [और पश्चात् दूसरा शरीर भी धारण करता है] यह सब उस देव की महिमा है ॥ ९ ॥

जो कर्ममार्गी कर्म करता है,वह इस देवके महत्त्वको नहीं जानता। परंतु जो ज्ञानमार्गी इस देवका साक्षात्कार करता है,उसके नीचे अर्थात् उसके अन्दर ही वह देव उसको दीखता है । यह जीव दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, तब बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली प्रकृति उसको घेरती है और इस प्रकार उसको नया शरीर मिलता है ॥ १० ॥

यह जीवात्मा इंद्रियोंका रक्षक है और स्वयं पतनशील नहीं है । यह शरीरमें आता है और शरीरसे दूर भी जाता है वह परमात्मा इसके साथ हैं, सर्वत्र व्याप्त है और सब पदार्थोंमें विराजमान है ॥ ११ ॥

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ १३ ॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ १४ ॥
न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ १५ ॥

अर्थ- (द्यौः नः पिता जनिता) प्रकाशक देव हमारा रक्षक और उत्पादक है, वही (नाभिः) हमारा मध्य है और (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है । तथा (इयं मही पृथिवी माता) यह बडी पृथिवी माता है । (उत्तानयोः चम्वोः योनिः अत्र) ऊपर चौडे मुखवाले इन दो वर्तनोंका मूल उत्पत्तिस्थान यहां ही है । यहां (पिता दुहितुः गर्भं आधात्) पालक दूर स्थित प्रकृतिमें गर्भकी स्थापना करता है ॥ १२ ॥

(पृथिव्याः परं अन्तः त्वा पृच्छामि) पृथ्वीका परला अन्त कौनसा है यह मैं तुझे पूछता हूं । (वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि) बलवान अश्वके वीर्यके विषयमें मैं पूछता हूं । (विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि) सब भुवनके केन्द्रके विषयमें पूछता हूं । (वाचः परमं व्योम पृच्छामि) वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान पूछता हूं ॥ १३ ॥

(इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः) यह वेदी भूमिका परला अन्त भाग है । (अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः) यह सोम बलवान अश्वका वीर्य है । (अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) यह यज्ञ सब भुवनोंका मध्य है । और (अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम) वह ब्रह्मा वाणीका परम स्थान है ॥ १४ ॥

(न विजानामि यत् इव इदं अस्मि) मैं नहीं जानता कि मैं किसके सदृश हूं । (निण्यः संनद्धः मनसा चरामि) अंदर बंधा हुआ मैं मनसे चलता हूं । (यदा ऋतस्य प्रथमजाः मा अगन्) जब सत्यका पहिला प्रवर्तक मेरे समीप आगया, (आत् इत् अस्याः वाचः भागं अश्नुवे) उसी समय इसके वाणीके भागको मैंने प्राप्त किया ॥ १५ ॥

भावार्थ-वह परमात्मा द्यु अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशमान है, वही हम सबका पिता,जनक,बन्धु,और केन्द्र है। यह पृथ्वी अर्थात् प्रकृति हमारी बडी माता है । यह पिता इस दुहिता रूपी प्रकृतिमें गर्भका आधान करता है ।जिससे सब सृष्टि उत्पन्न होती है । इन दोनों प्रकृति पुरुषमें सबका उत्पत्ति स्थान है ॥ १२ ॥

इस पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है ? बलवान् अश्वका वीर्य कौनसा है ? संपूर्ण जगत्का केन्द्र कौनसा है ? और वाणीका परम उत्पत्तिस्थान कौनसा है ? ॥ १३ ॥

यही यज्ञकी वेदी इस भूमिका परला अन्तभाग है । बलवान् अश्वका वीर्य यह सोम है । यज्ञ ही सब जगत् का केन्द्र है और यह ब्रह्मा-आत्मा-ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है ॥ १४ ॥

यह आत्मा किसके समान है यह विदित नहीं है । यह आत्मा इस शरीरमें बद्ध होकर रहा है परंतु मनसे बडी हलचल करता है। जिस समय सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक परमात्माको प्राप्त होता है, उसी समय इस दिव्य मंत्रकी वाणीका भाग्य इसको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यश्न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥१६॥
सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥ १७ ॥
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥१८॥
ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥

अर्थ— (अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः) अमर आत्मा मरणधर्मवाले शरीरके साथ एक उत्पत्तिस्थानमें प्राप्त होकर (स्वधया गृभीतः अपाङ् प्राङ् एति) अपना धारणा शक्तिसे युक्त होकर नीचे तथा ऊपर जाता है। [ता शश्वन्ता विषू-चीना) वे दोनों शाश्वत रहनेवाले, विविध गतिवाले परंतु (वियन्ता) विरुद्ध गतिवाले हैं उनमेंसे (अन्यं निचिक्युः) एकको जानते हैं और (अन्यं न निचिक्युः) दूसरेको नहीं जानते ॥ १६ ॥

(भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः) सब भुवनोंका वीर्य सात अर्ध गर्भमें परिणत होकर (विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति) व्यापक देवकी आज्ञामें रहकर विशेष गुणधर्मोंमें ठहरते हैं। (ते धीतिभिः मनसा) वे बुद्धि और मनसे युक्त होकर तथा (ते विपश्चितः परिभुवः) वे ज्ञानी और सर्वत्र उपस्थित होकर (विश्वतः परिभवन्ति) सब ओरसे घेरते हैं ॥ १७ ॥

(परमे व्योमन्) परम आकाशमें उत्पन्न होनेवाले (यस्मिन् ऋचः अक्षरे) जिस मंत्रके अक्षरमें (विश्वे देवाः अधि-निषेदुः) सब देव निवास करते हैं, (यः तत् न वेद) जो वह बात नहीं जानता वह (ऋचा किं करिष्यति) वेद मंत्र लेकर क्या करेगा ! (ये इत् तत् विदुः ते इमे समासते) जो निश्चय से उसको जानते हैं वे ये उत्तम स्थानमें बैठते हैं ॥ १८ ॥

(ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तः) मंत्रके पदको मात्रासे समर्थ बनाते हैं। (अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः) आधे मंत्रसे चलनेवाले जगतको समर्थ करते हैं। इस प्रकार (त्रिपात् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे) तीन पादोंवाला ज्ञान बहुतरूपोंसे ठहरा है। (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसीसे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ- यह आत्मा अमर है। तथापि मरण धर्मवाले शरीरके साथ रहनेके कारण विविध योनियोंमें जन्मता है। यह अपनी धारक शक्तिके साथ ही शरीरमें आता अथवा शरीरसे पृथक् होता है। ये दोनों शाश्वत हैं और गतिमान भी हैं, तथापि उनकी गतियोंमें अन्तर है। उनमेंसे एक को जानते हैं. परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता है ॥ १६ ॥

सब बने हुए पदार्थोंका मूल बीज सात तत्त्वोंमें है। ये सातों मूल तत्त्व व्यापक परमात्माकी आज्ञामें कार्य करते हैं। ज्ञानी लोग मनसे इस ज्ञानको प्राप्त करके सर्वत्र उपस्थित होनेके समान ज्ञानवान् होते हैं। ॥ १७ ॥

इस बडे आकाशमें शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्दसे बननेवाली ऋचाके अक्षरमें अनेक देवताओंका निवास होता है। जो मनुष्य इस बातको नहीं जानता, वह केवल मंत्रको लेकर क्या करेगा ? परंतु जो इस तत्त्वको जानते हैं, वे परम पदमें जाकर विराजमान होते हैं ॥ १८ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥ (२७)
गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा
अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ २२ ॥
अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥२३॥

अर्थ-हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य गौ! तू [सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः] उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो। [अधा वयं भगवन्तः स्याम] और हम भाग्यवान् होंगे। [विश्वदानीं तृणं अद्धि] सर्वदा तृण भक्षण कर और [आचरन्ती शुद्धं उदकं पिब] भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ २० ॥

(गौः इत् सलिलानि तक्षती) गौ निश्चयसे जलोंको हिलाती हुई (मिमाय) शब्द करती है। (सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी) वह एक पादवाली, दो पादवाली, चार पादवाली, (अष्टापदी नवपदी) आठ पादवाली, नौ पादवाली (बभूवुषी) बहुत होनेकी इच्छा करनेवाली [सहस्र अक्षरा] हजारों अक्षरोंवाली [भुवनस्य पंक्तिः] भुवनकी पंक्ति है। (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति) उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ २१ ॥

[अपः वसानाः] जलको अपने साथ लेते हुए [सुपर्णाः हरयः] उत्तम गतिशील सूर्यकिरण, (कृष्णं नियानं दिवं] सबका आकर्षण करनेवाले सबके यान रूप सूर्यको (उत्पतंति) चढते हैं। (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आते हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे भूमिको भिगाते हैं ॥ २२ ॥

(पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति) पांववाली प्राकृत मूर्तियोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहनेवाली शक्ति पादरहित है। हे मित्र और वरुणो! [वां कः तत् चिकेत] तुम दोनोंमेंसे कौन उसको जानता है? (गर्भः अस्याः भारं आभरति चित्).गर्भमें रहनेवाला इस प्रकृति का भार उठाता है। वही [ऋतं पिपर्ति] सत्यकी पूर्णता करता है और [अनृतं नि पाति] असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

भावार्थ- मंत्रोंके पाद मात्राओंकी संख्यासे गिनते हैं। इस मंत्रके आधे भागसे भी संपूर्ण चेतन और विश्व सामर्थ्यवान् बनता है। यह त्रिपाद ब्रह्म अनेक रूपोंमें ठहरा है और इसीसे चारों दिशाउपदिशाओंका जीवन होता है ॥ १९ ॥

हे अवध्य वाक्रूपी गौ! तू अर्थात् तुम्हारा प्रयुक्तकर्ता वक्ता उत्तम सात्विक अन्नसे उत्तम भाग्ययुक्त होवे और तेरे भाग्यसे हम भी भाग्ययुक्त बनें। सर्वदा शुद्ध अन्न और जलका सेवन कर ॥ २० ॥

यह वाक्रूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाक् एक, दो,चार,आठ अथवा नौ पदोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरोंतक इसकी मर्यादा है। यह मानो सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध रस स्रवते हैं ॥ २१ ॥

सूर्यकिरण अपने साथ जलको उठाते हैं वह जल उनके साथ ऊपर मेघमंडलमें पहुंचता है, वहांसे फिर वृष्टिद्वारा वह नीचे आता है और भूमिको भिगाता है ॥ २२ ॥

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे
स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ २५ ॥

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥२७॥

अर्थ-विराट् वाणी, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति और मृत्यु है । वही विराट् [साध्यानां अधिराजः बभूव]साध्योंका अधिराजा है । (तस्य वशे भूतं भव्यं) उसके आधीन भूत और भविष्य है । (सः मे वशे भूतं भव्यं कृणोतु) वह मेरे आधीन भूत और भविष्य करे ॥ २४ ॥

(विषूवता परः आरात् अवरेण) अनेक रूपोंसे बहुत दूर और पास भी (एना शकमयं धूमं अपश्यं) इस शक्तिवाले धूमको मैंने देखा । वहां (वीराः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त) वीर छोटे उक्षाको परिपक्व बना रहे थे । [तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्] वे धर्म प्रथम थे ॥ २५ ॥

(त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते) तीन किरणवाले पदार्थ ऋतुके अनुसार दिखाई देते हैं। [एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमें से एक वर्षमें एकवार उपजता है । [अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे] दूसरा शक्तियोंसे विश्वको प्रकाशित करता है (एकस्य ध्राजिः ददृशे) एककी गति दीखती है परंतु उसका [रूपं न] रूप नहीं-दीखता ॥ २६ ॥

[वाक् चत्वारि पदानि परिमिता] वाणीके चार स्थान परिमित हुए हैं । (ये मनीषिणः ब्राह्मणाः) जो ज्ञानी ब्राह्मण हैं वे [तानि विदुः] उनको जानते हैं । उनमेंसे (त्रीणि गुहा निहिता) तीन गुप्त स्थानमें रखे हैं वे [न इंगयन्ति] नहीं प्रकट होते । [मनुष्याः वाचः तुरीयं वदन्ति] मनुष्य वाणीके चतुर्थ रूपको बोलते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ-पांववाले शरीरोंका चालक पांवरहित आत्मा है । कौन इस चालक आत्माको जानता है ? वह चालक आत्मा इस-स्थूल का सब भार सहन करता है और सत्यकी रक्षा करके असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

इस विराट् आत्माका रूप वाणी, भूमि, अन्तरिक्ष, प्रजापालक, और प्रजासंहारक मृत्यु भी है । यह सबका राजाधिराज है और इसीके आधीन सब भूत भविष्य वर्तमान है । वह मेरे आधीन सब भूत भविष्य वर्तमानको करे ॥ २४ ॥

पास और बहुत दूर भी मैंने धूवेंको देखा और उससे अग्निका अनुमान किया। उसी अग्निपर वीर लोग छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते हैं । ये यज्ञकर्म सबसे प्रारंभमें होते थे ॥ २५ ॥

तीन देव किरणोंवाले अर्थात् प्रकाशमान हैं । इनमेंसे एक वर्षमें एक समय प्रकाशता है, दूसरा अपनी निज शक्तियोंसे सब विश्वको प्रकाशित करता है और तीसरेकी केवल गति प्रतीत होती है परंतु उसका रूप नहीं दिखाई देता ॥ २६ ॥

वाणीके चार स्थान हैं इनको मननशील ब्रह्मज्ञानी जानते हैं, इनमेंसे तीन स्थान हृदयमें गुप्त हैं और जो मनुष्य बोलते हैं वह चतुर्थ स्थानमें उत्पन्न व्यक्त वाणी है ॥ २७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ २८ ॥ (२८)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ नवमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ- [एकं सत्] एक सत् वस्तु है उसीका [विप्राः बहुधा वदन्ति] ज्ञानी लोग अनेक प्रकार वर्णन करते हैं । उसी एकको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुवर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा [अथो आहुः] कहते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ- सत्य तत्त्व केवल एक ही है, परंतु ज्ञानी लोग उसी एक सत्य तत्त्वका वर्णन गुणबोधक अनेक नामोंसे करते हैं । उसी एक सत्य तत्त्वको वे इन्द्र, मित्र, वरुण आदि भिन्न भिन्न नाम देते हैं ॥ २८ ॥

छन्दोंका महत्त्व ।

वाणी और गोरक्षण ।

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि सात छंद मुख्य हैं । इनके भेद और बहुत ही हैं । इन सात छन्दोंमें वेदका ज्ञान भरा रखा है, इसीलिए कहा है कि अज्ञानका आच्छादन करके ज्ञानका प्रकाशन करनेवाले ये छन्द हैं । इन छन्दोंमें किस प्रकारका ज्ञान है इस विषयमें थोडासा विवरण प्रथम मंत्रमें है । उसमें कहा है-

(गायत्रे गाय-त्रं) गायत्री छन्दमें (गाय) प्राणोंकी (त्रं) रक्षा करनेका ज्ञान है । जो लोग गायत्री छंदवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे, वे प्राणरक्षा करनेकी विद्या उत्तम रीतिसे जान सकते हैं । (त्रैष्टुभात्) त्रिष्टुप् छन्दमें (त्रै-ष्टुभं) तीनोंका अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माका गुणवर्णन है, इस कारण जो लोग त्रिष्टुप् छन्दोंवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे उनको प्रकृतिविद्या आत्मविद्या और ब्रह्मविद्याका ज्ञान हो सकता है और वे प्रकृतिविद्यासे ऐहिक सुख और आत्मविद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति कर सकते हैं । इस प्रकार यह वेदमंत्रोंकी विद्या इहपरलोकके सुखका साधन होती है ।

(जगति जगत्) जगति छन्दमें जगत् संबंधी अद्भुत ज्ञान भरा है । जो ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्य इस जगत्में विजयी हो सकता है । इसीलिए इसी मंत्रमें आगे कहा है कि—

य इत् तत् विदुः ते अमृतत्वं आनशुः (मं० १)

" जो ज्ञानी इस ज्ञानको-इस वैदिक ज्ञानको-यथावत् जानते हैं, वे अमृतको अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं ।" उक्त प्रकार छंदोविद्याको जाननेवाले मोक्षके अधिकारी होते हैं । इसका अर्थ यह नहीं है कि वे केवल मोक्षके ही अधिकारी हैं और इस जगत्की उन्नतिको वे नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत वे जागतिक उन्नतिको जैसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार आत्मिक उन्नतिको भी वे प्राप्त होते हैं । जो मोक्षके अथवा अमृतत्वके अधिकारी होते हैं वे सामान्य भौतिक उन्नतिको प्राप्त कर सकते हैं यह कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान्, राजा जनक, श्रीरामचन्द्र आदि मुक्त पुरुष इह लोकका व्यवहार करनेमें भी उत्तम दक्ष थे और उन्होंने ऐहिक व्यवहार उत्तम तरह किये थे। और ये तो अमृतत्वके अधिकारी थे इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं है । इस प्रकार इस वेदमंत्रोंके ज्ञानको प्राप्त करनेवाले मनुष्य इह परलोकमें परमोच्च गतिको प्राप्त कर सकते हैं ! प्रत्येक मनुष्य जो इस भूलोकमें देहधारण करके आया है वह अमरत्व प्राप्त करनेके लिये ही है । इसीलिए कहा जाता है कि वेदका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यके लिये उन्नतिका मार्ग बतानेमें समर्थ है ।

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवकी शब्दरूपी प्रतिमा निर्माण की है । प्रत्येक मनुष्यको जिस एक अद्वितीय देवकी अर्चा करनी अत्यंत आवश्यक है, उस देवकी वस्तुतः प्रतिमा तो नहीं है, परंतु उसकी शब्दमयी प्रतिमा 'गायत्री छंद' है । इस कारण पाठक यदि किसी स्थानपर परमात्म देवकी प्रतिमा देख सकते हैं तो वे इस छन्दमें ही देख सकते हैं ।

(अर्केण साम) इस अर्चनीय अर्थात् पूजनीय देवकी सहायतासे ' साम ' अर्थात् शान्ति प्राप्त होती है । इस शान्तिका ही दूसरा नाम ' अमृत ' है । अमृत और साम एक ही अवस्थाके वाचक शब्द हैं अस्तु । इसी तरह त्रिष्टुप् छन्दसे भी वर्णनीय देवता का वर्णन किया जाता है। त्रिष्टुभ छन्दकी वाणी उसीका वर्णन करती है । पूर्व मंत्रमें कहा है कि त्रिष्टुप् छंन्दसे प्रकृति,जीव और परमात्माका वर्णन होता है, वही बात यहां इस मंत्रमें अनुसंधेय है । इस प्रकार-

सात छन्द ।

द्विपदा चतुष्पदा सप्तवाणीः अक्षरेण मिमते । (मं० २)

" दो चरण और चार चरणोंवाले जो सात छन्द हैं, उनके प्रत्येक चरणमें अक्षर संख्याका परिणाम अक्षरोंकी संख्याकी गिनती करनेसे ही होता है ।'' जैसा अनुष्टुभ्में चरणमें आठ अक्षर, इसी प्रकार अन्यान्य छन्दोंके पादोंमें अन्य संख्या अक्षरोंकी होती है । इस प्रकार अक्षर संख्याकी न्यूनाधिकतासे ये छन्द होते हैं ।

(गायत्रस्य तिस्रः समिधः) गायत्री छन्दके पाद तीन हैं । प्रत्येकमें अक्षर आठ होते हैं । जगती छंदसे जगतका वर्णन है यह बात प्रथम मंत्रमें कही है, वही फिर इस तृतीय मंत्रमें दुहराते हैं और कहते हैं कि (जगता दिवि सिंधुं अस्कभायत्) जगति छन्दसे मानो द्युलोकमें महासागरको फैला रखा है । अर्थात् जैसा महासागरका वर्णन होता है वैसा ही द्युलोकका वर्णन किया है । इस महासागर में ये नक्षत्र छोटे छोटे द्वीपोंके समान हैं इत्यादि आलंकारिक वर्णन यहां समझना उचित है ।

इसी प्रकार (रथंतरेण सूर्यं पर्यपश्यत्) रथन्तर से सूर्यका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि उसमें यह वर्णन अतिस्पष्ट है । इस ज्ञानकी (मह्ना महित्वा) महत्ता क्या कथन करनी है, यह ज्ञान तो मनुष्यको अन्तिम मंजलतक पहुंचा देता है । यह ज्ञान तो मनुष्यको इस जगत्में और उस स्वर्गमें और अन्तमें मोक्षतक उत्तम मार्गदर्शक होता है । अतः यही वेदमंत्रोंका ज्ञान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

सुहस्त गोरक्षक ।

जिस प्रकार (सुहस्तः सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला उत्तम दोहन करने योग्य धेनुको पुकारता है, उसी प्रकार मनुष्य इस वेदवाणीरूपी कामधेनुको अपने पास बुलावे । गायका दूध निचोडनेवाला 'सुहस्त' अर्थात् उत्तम प्रेमपूर्ण हाथवाला होना चाहिये । 'दुर्हस्त' नहीं होना चाहिये । दुर्हस्त मनुष्य वह है कि जो गौको कष्ट पहुंचाता है, ऐसा दुर्हस्त मनुष्य कभी गायको अपने पास न बुलावे । परंतु जो हाथ सदा गायकी सेवाके लिये तत्पर रहता है, गायका प्रिय करनेमें जो दक्ष है, वही मनुष्य गायको बुलावे । गौ अवध्य होनेसे गायके साथ किसी प्रकार भी 'दुर्हस्त'का संबंध नहीं आना चाहिये । 'सुहस्त' होकर ही मनुष्य गायके पास जावे, यह वेदका उपदेश स्पष्टतासे कहता है कि 'गोरक्षण' करना मनुष्यका वेदोक्त धर्म है । जो प्रेमसे गोपालन करता है वही सच्चा वैदिकधर्मी है, क्योंकि गौ' नाम जैसा गायका वाचक है वैसा ही वह 'वेदवाणी' का भी वाचक है । अतः 'गोरक्षा' का अर्थ ' गायकी रक्षा' और ' वेदज्ञानकी रक्षा ' है इसलिये कहा जाता है कि गोरक्षक ही वैदिक धर्मी हो सकता है ।

(गोधुक् एनां दोहत) गायका दोहन करनेवाला इस गौका और इस वेदवाणीका दोहन करें । गौका दोहन करनेसे अमृत रूपी दूध प्राप्त होता है और वेदवाणीरूपी वाग्गौका दोहन करनेसे अमृत जैसा ज्ञान प्राप्त होता है । गायके दूधसे जैसा यज्ञ होता है, वैसा ही वेदज्ञानसे भी होता है । यहां यज्ञ करनेके दोनों साधन हैं । इसीलिये कहा है कि (तत् घर्मः सुप्र-वोचत्) यज्ञका ही वे मंत्र वर्णन करते हैं । वेदवाणीरूपी गौ अपने ज्ञानसे यज्ञ का मार्ग बता रही है और यह गौ अपने दूध से यज्ञ करती है । इस तरह दोनों गौवोंकी समानता है ।

(वसूनां वसुपत्नी) यह गौ-वेदवाणी और गोमाता-वसुओंकी पालनेहारी है । वसु नाम एश्वर्यका वाचक है । सब प्रकारके ऐश्वर्य ज्ञानसे और बलसे ही प्राप्त होते हैं । वेदवाणीरूपी गौसे ज्ञान मिलता और गोमातासे पोषक अन्न मिलता है । इस प्रकार ये दोनों गौवें ऐश्वर्योंका प्रदान करती हैं । जिस प्रकार यह गौमाता अपने (वत्सं इच्छन्ती) बछडेकी इच्छा करती हुई घरमें आती है, उसी प्रकार यह वेदवाणी भी इस भूमंडलपर इसलिए अवतीर्ण होगई है कि ये अनन्त मानवजीव इस ज्ञानामृतका पान

*

करें और अमर बनें। इस प्रकार दोनों गौवोंमें अपने बछडोंके पालन पोषणकी इच्छा है। ये गौवें (महते सौभगाय वर्धतां) हमारा बडा सौभाग्य बढावें। ये तो बढातीं ही हैं। परंतु मनुष्योंको उचित है कि वे उन गौवोंके पास जावें और उनका अमृत रस पीवें और पुष्ट होवें। ये गौवें तो हमारा कल्याण करनेके लिए तैयार हैं, परंतु मनुष्य ही ऐसे मंदमती हैं, कि वे गौका दूध नहीं पीते और भैंसके पीछे लगते हैं, इसी तरह वेदवाणीकी शरण नहीं लेते, प्रत्युत किसी अन्य मतवाले ग्रंथोंकी शरणमें जाते हैं और भ्रममें फंसते हैं। अतः यहां उपदेश सब मनुष्योंको लेना चाहिये कि जो मनुष्य उन्नति चाहता है वह गौका दूध पीवे और वेदका उपदेश ग्रहण करे।

गाय भी (गौः मिषन्तं वत्सं अमीमेत्) अपने उत्सुक बछडेपर ही प्रेम कर सकती है। यदि प्रेमसे बच्चा माताके पास न गया अथवा कुछ पेटकी अस्वस्थतासे वह दूध न पीता रहा, तो माता क्या करेगी? इसलिये बच्चेमें उत्सुकता चाहिये। जिस बच्चोंका पेट ठीक है, भूख अच्छी लगती है और जिसकी पाचनशक्ति ठीक है उसी बच्चोंको माताके दूधसे लाभ होता है। इसी प्रकार वेदवाणीरूपी गौभी उत्सुक शिष्यको ही लाभ पहुंचा सकती है। जो मनुष्य वेद न पढे, पढनेपर उसके समझनेका कष्ट न उठावे, समझनेपर अनुष्ठान न करे, अनुष्ठान करनेके समय तत्पर न होवे, उसको वेदवाणीरूपी गौसे क्या लाभ होगा। इस प्रकार मुमुक्षु होना भी आवश्यक है। यह गौ (पयोभिः मायुं अभिमिमीते) अपने दूधके साथ प्रकाशको फैलाती है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि सबेरे गोदोहन होते ही सूर्योदय होता है और विश्वमें सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश होता है। वेदवाणीरूपी गौभी अपना ज्ञानामृत देती है और ज्ञानका ही प्रकाश उपासकके मनमें फैलाती है। इस प्रकार दोनों स्थानमें दूधको देना और प्रकाशको फैलाना समान है।

गौकी सहायता।

यह गौ (ध्वसनौ अधिश्रिता) विनाशके समय आश्रय करने योग्य है। रोग क्षीणता अपचन आदिके समय गायका दूध ही अमृतके समान है। रोगी होनेके समय अथवा बालक होनेके समय भी गायका दूध ही लाभप्रद है। इसी तरह उदासी होनेसे जगत्का नाश होनेके पश्चात् जो मोक्षमार्गका मार्ग आक्रमण करना है, उस समय वेदरूपी गौ ही आश्रय की जाती है। वहां वेदके मंत्र ही (मायुं मिमाति) मार्गमें दीप जैसे सहायक होते हैं। (सा चित्तिभिः मर्त्यान् निचकार) वह गौ मनुष्योंमें चिन्तन मनन शक्तियोंसे सहायक होती है। अर्थात् गायके दूधसे मनुष्योंकी बुद्धि तीव्र और सूक्ष्म होती है और मनुष्य बुद्धिमान होता है। वेदरूपी गौसे भी मनुष्य मनन कर सकता है। मनन शक्ति बढानेके कारण ही छन्दको मंत्र कहा जाता है। इस प्रकार दोनों स्थानोंमें गौ मनन शक्तियोंसे मनुष्यकी साथ करती है। (विद्युत् भवन्ती) वह बिजली जैसी होती है। जिस प्रकार बिजली वेग बढाती है, उसी प्रकार गौके दूधसे भी मनुष्यमें फूर्ती आती है और वेदज्ञानसे बुद्धिकी तीव्रता बढती है। विद्युत्के समान प्रकाश किंवा तेज बढानेका कार्य दोनों गौवोंसे होता है।

यहांतक सात मंत्रोंमें गौ और वेदवाणीका एक जैसा वर्णन किया है और आगे २० और २१ इन दो मंत्रोंमें ऐसा ही वर्णन है। अतः विषय सादृश्यके कारण वे दो मंत्र यहां देखते हैं—

यह गौ (सु—यवस—अद्) उत्तम जौ खानेवाली होनेसे (भगवती भूयाः) भाग्यवानी होती है। यदि वह अन्यान्य पदार्थ खाने लगी तो उसका दूध वैसा हितकर नहीं होता। वेदवाणीरूपी गौके पक्षमें भी जौ भक्षण करनेसे भी वर्णोच्चार उत्तम शुद्ध होता है। यहां भी देखा गया है कि जौ और चावल खानेवाले वर्णोच्चारण ठीक कर सकते हैं और उत्तम सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धिवाले भी होते हैं। इसी रीतिसे हम—

अधा वयं भगवन्तः स्याम। (मं ३०)

" इससे हम भी भाग्यवान् बनें। " अर्थात् हम भी जौका अन्न खाकर बुद्धिमान बनें और गौ भी जौका भक्षण करके उत्तम दूध देनेवाली हो। जौ का घास गौ खाय और मनुष्य जौका आटा अर्थात् सत्तू खावें। श्रावणी उत्सवके समय सत्तु भक्षण आवश्यक कहा है और सूचित किया है कि यह शुद्ध और सात्विक अन्न है। वेदमें भी (सक्तुमिव तितउना पुनन्तः ऋ० १०।७१।२) इत्यादि मंत्रोंमें सत्तुका अन्न ही निर्दिष्ट है। इससे इस अन्नका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। गौ जौका घास

(तृणं आदि) खावे और (शुद्धं उदकं पिब) शुद्ध निर्मल जल पीवे । मनुष्यको भी शुद्ध सत्तु खाना और छाना हुआ वस्त्रपूत जल पीना योग्य है । इस प्रकार गौ और वाणीका एक ही पथ्य है । मनुष्यका खानपान सात्विक होनेसे उसकी वाणी पवित्र होती है, यह यहां तात्पर्य है । मनुष्य जिस गौका दूध पीते हैं वह गौ भी उक्त पदार्थ ही खावे और अन्य अमेध्य पदार्थोंका भक्षण न करे । इस विचारसे पता लग सकता है कि बाजारोंमें जो दूध प्राप्त होता है वह दूध अमृत नहीं है, प्रत्युत घरमें गौ पाली जाय, उसको मेध्य पदार्थ खिलाये जाय और शुद्ध उदक पिलाया जाय, तब उसका दूध ' अमृत ' पदवीको प्राप्त हो सकता है । वेद जिस प्रकार गोरक्षण करना चाहता है वह विधि यह है । पाठक विचारें और समझें कि वेदमें गोरक्षणका विधि कैसा है ।

आगेके मंत्रमें (गौ सलिलानि तक्षति) गौ जलोंको हिलाती है ऐसा कहा है,गौ शुद्ध जलमें प्रविष्ट होनेसे जल हिलने लगता है वह शुद्ध जल गौ पीती है और तृप्त होती है । यह सामान्य वर्णन करके यह गौ (एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी सहस्राक्षरा) एक दो चार आठ नौ पाववली है और सहस्र अक्षरोंसे युक्त है ऐसा जो कहा है वह स्पष्टतया वेदवाणी का ही केवल वर्णन है । वेदके छंद एक चरणवाले, दो चरणोंवाले, आठ चरणोंवाले नौ चरणोंवाले और सहस्र अक्षरोंवाले हैं। क्योंकि गाय सदा चतुष्पाद अर्थात् चार चरणोंवाली ही होती है, और कभी आठ नौ पांववाली नहीं होती । चरण और पाद ये नाम मंत्रोंके भागोंके हैं । इसलिये यह मंत्रभाग वेदवाणी रूपी गौका ही वर्णन कर रहा है । यह वेदवाणी रूपी गौ (सहस्र-अक्षरा) हजारों अक्षय अमृत धाराओंको प्रदान करती है और (भुवनस्य पंक्तिः) सब भुवनोंको पूर्णतया पावन करती है । और (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति)इससे समुद्रके समान रसप्रवाह पर्याप्त प्रमाणमें लोगोंको प्राप्त होते हैं । इसलिये मनुष्यों को उचित है कि वे इस वेदवाणी रूपी गौका ज्ञानामृत प्राशन करें और मोक्षमार्गपर चलकर अमरत्व प्राप्त करें ।

यहांतक गौके वर्णनके मिषसे— अर्थात् गोरक्षणके मिषसे वेदज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है । आगे यह ज्ञान मनुष्यकी उन्नतिके पथमें चलानेमें किस तरह सहायक होता है यह देखिए-

जीवात्मा ।

प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है और वही यहांका जीवनका कार्य करता है इस विषयमें अष्टममंत्रका विधान देखिए—

पस्त्यानां मध्ये ध्रुवं एजत् जीवं तुरगातु अनत् शये । (मं० ८)

" प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है अर्थात् स्थिर,चालक,वेगवान, प्राणको चलानेवाला है और वह इस शरीरमें रहता है।" यह शरीरमें शयन करनेवाले जीवात्माका वर्णन है । " पुरुष " शब्दके अर्थका " पुरि शेते इति पुरुषः " शरीररूपी नगरीमें शयन करता है इसलिए इस आत्माको ' पुरुष ' (पुरिशय) कहते हैं ऐसा कहा है वही अर्थ यहां है । इस जीवात्माके विशेषण " ध्रुव, एजत्, जीव,तुरगातु,अनत्"ये विचार करने योग्य हैं । ये विशेषण अन्यत्र भी आगये हैं । जबतक शरीरमें यह जीवात्मा रहता है तबतक उक्त कार्य शरीरमें दिखाई देते हैं । यह शरीरसे भिन्न है अतः शरीर क्षीण और निकम्मा होनेपर शरीरको यह छोड देता है इस विषयमें इसी मंत्रमें कहा है—

मृतस्य जीवः अमर्त्यः स्वधाभिः चरति मर्त्येन सयोनिः (मं० ८)

अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः अपाङ् प्राङ् एति । (मं० १५)

"मृत मनुष्यका जीव वास्तविक रीतिसे अमर है,वह अपनी निज शक्तियोंसे कार्य करता है और इस देहके छोड देनेके बाद दूसरे मर्त्य देहके साथ संयुक्त होता है।"मनुष्यदेह मरनेवाला है,परंतु उसका आत्मा अमर है,अर्थात् देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है । इन दो परस्पर भिन्न पदार्थोंका संयोग किसी कारण वश होगया है । इसी संबंधके कारणका विचार करना इस तत्वज्ञान-का मुख्य प्रयोजन है । (मृतस्य जीवः अमर्त्यः) मरे हुए प्राणीका जीवात्मा अमर है, यह महासिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिये । यदि जीवात्मा अमर है तो वह देहप्राप्तिके पूर्व और देहपातके पश्चात् भी रहेगा । देहके मरनेसे न मरेगा और देहके जन्मसे न जन्मेगा । यह जीव अपनी निजशक्तियोंसे रहता है । इसकी यह (स्व-धा) निज शक्ति है अतः यह सदा इसके साथ रहती है और कभी दूर नहीं होती । परंतु शरीरकी शक्ति अन्नादि पदार्थों पर अवलंबित है । इसलिये शरीरकी शक्तियोंको 'स्वधा' नहीं कहते । आत्माकी शक्तिका नाम 'स्वधा' है क्योंकि किसी बाह्य कारणपर यह अवलंबित नहीं है। शरीर मिला या न

मिला तो भी वह इसके साथ एक जैसी रहती है। पूर्व शरीर छोडनेपर और दूसरा शरीर प्राप्त होनेतक जैसा आत्मा अपनी निज शक्तियोंके साथ विचरता है, उसी प्रकार शरीरमें आनेपर भी उन्ही शक्तियोंको शरीरमें नियुक्त करके कार्य लेता है। यहां अमर होता हुआ भी (मर्त्येन सयोनिः) मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें आता है। अर्थात् जिस योनिमें जिस जातीके प्राणीमें आत्मा जाता है उस जातिकी योनीमें जाकर उस शरीरको प्राप्त होता है। इस मृत्युलोकका जीवन क्षणभंगुर होता है, क्योंकि शरीर कितनी भी रक्षा करनेपर किसी न किसी समय मर ही जायगा, अतः कहा है—

ह्यः सं आन, सः अद्य ममार। (मं० ९)

" जो कल उत्तम प्रकार जीवित था, वह आज मर जाता है। " आज सवेरे जो जीवित होता है वह शामके समय मर जाता है। इस प्रकार पिता,माता, पुत्र, भाई आदि मर रहे हैं, यह देखकर अपनेको भी किसी न किसी समय मरना अवश्य है ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि यह अपना शरीर मरेगा, तथापि इस शरीरका अधिष्ठाता कदापि मरनेवाला नहीं है, यह अमर है, यह न कभी बाल होता है, और न वृद्ध। यह सदा एक अवस्थामें रहता है इसीलिये इसको (युवानं सन्तं) युवा है ऐसा कहते हैं। इस जीवात्माको युवा कहा जाय, तो परमात्माको वृद्ध किंवा पुराण पुरुष कहना योग्य है। इसीका नाम इस मंत्रमें " पलित " अर्थात् श्वेतबाल हुआ वृद्ध कहा है। यह पलित पूर्वोक्त युवाको निगल जाता है। परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिये इस एकदेशीय जीवात्माको चारों ओरसे घेरता है इसलिये कहा जाता है कि वह परमात्मा इस जीवात्माको निगल जाता है, अपने पेटमें रखता है। (युवानं संतं पलितः जगार) तरुण को वृद्ध निगल जाता है, इस विधानसे दोनोंके आकारका प्रमाण स्पष्ट होता है। तरुण जीवात्माको वृद्ध परमात्मा निगल जाता है, अतः वह वृद्ध तरुणसे कई गुणा बडा है यह बात स्पष्ट है।

यह जीवात्मा ' विधु है ' अर्थात् कर्मशील है। कर्म करनेवाला है और विविध कर्म करनेके लिये ही शरीर धारण करता है और सब शरीर जीर्ण होनेके कारण कर्म करनेमें असमर्थ होजाता है उस समय यह शरीरको छोडता है और दूसरे समर्थ शरीर धारण करता है। शरीर धारण करनेका हेतु यह है—

सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश। (मं० १०)

" वह जीवात्मा जब माताकी योनिमें-गर्भाशयमें-होता है उस समय प्राकृतिके शरीरसे परिवेष्टित होता है, और पश्चात् अनुकूल समयमें बहुत प्रजा प्रसवनेहारी इस भूमिपर अथवा इस प्रकृतिमें आविष्ट होकर पृथ्वीपर अवतीर्ण होता है। " यहां विवाहादि द्वारा यह अपने संतानादि बहुत बढाता है, वंशका विस्तार करता है और समय आनेपर मर जाता है। फिर इसको ऐसा ही नवीन शरीर मिल जाता है। यह क्रम वारंवार होता है। यह इसका आना और जाना नियमके अनुसार करनेवाला जो कोई है, उसके नियमको यह नहीं जानता—

यः ईं चकार अस्य सः न वेद। (मं० १०)

' जो यह सब करता है, उसके उस कर्तृत्व को यह नहीं जानता। " प्रत्येक मनुष्य इसका विचार करके जान सकते हैं। अपने आपको यहां किसने लाया, भवितव्य कौन नियत करता है, इत्यादि विषय हरएक मनुष्य जान नहीं सकता। परंतु—

यः ईं ददर्श तस्मात् हिरुग् इत् नु। (मं० १०)

" जो इसको देखता है अर्थात् इसका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे ही –उसके अतिसमीप ही–वह विद्यमान रहता है। " उसके लिये वह समीपसे समीप है। परंतु अन्य मनुष्योंके लिये यह बहुत दूर होता है। अर्थात् इसकी दूरता और समीपता मनुष्यके प्रयत्नपर निर्भर है।

यह जीवात्मा (गो-पां) इंद्रियोंका पालन करनेवाला है, अपने शरीरमें जीवनशक्तिका संचार करके सब शरीरको जीवित रखनेवाला है अतः यह (अनिपद्यमानं) गिरानेवाला है, शरीर जीवित रखनेके कारण यह शरीरको न गिरानेवाला है। शरीर उठानेवाला और चलानेवाला यही जीवात्मा है। " तनू-न-पात् " यह नाम भी इसी अर्थका सूचक है। (तनु) शरीरको (न) नहीं (पात्) गिरानेवाला आत्मा है, वही भाव " अनि-

पद्यमान " शब्दमें है। इतना होनेपर भी—

पथिभिः आ च परा च चरन्तं। (मं० ११)

" निश्चित मार्गोंसे पास और दूर जानेवाला " अर्थात् इस शरीरके पास और शरीरसे दूर जानेवाला यह आत्मा है। जन्म लेनेके समय शरीरके पास आता है और शरीरकी मृत्यु होते ही यह शरीरसे दूर जाता है इस प्रकार इसका पास आना और दूर जाना जिन मार्गोंसे होता है, उन मार्गोंका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। वे अदृश्य मार्ग हैं, और परमात्मा ही इसको उन मार्गोंसे चलाता है। यह परमात्मा—

स सध्रीचीः विषूचीः भुवनेषु अन्तः वसानः। (मं० ११)

" वह परमात्मा इस जीवात्माके साथ रहता है, सर्वत्र विराजमान है और संपूर्ण पदार्थमात्रमें भी वसनेवाला वह है।" वह किसी स्थानपर नहीं ऐसा कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक पदार्थ के अन्दर, बाहर और चारों ओर वह विराजमान है, इसलिये वह इस जीवात्माको अपने अन्दर लेकर जहां जानेसे इसका कल्याण होगा वहां इसको पहुंचा देता है।

यही देव (नः पिता जनिता नाभिः बन्धुः) हम सबका पिता, जनक, संबंधी और भाई है। (पृथ्वी माता) यह भूमि हमारी मातृभूमि है। इन पिता और माताकी उपासना हमको करनी चाहिये। उक्त देवसे जो इस प्रकृतिमातामें गर्भका आधान होती है, उससे सब सृष्टिकी रचना होती है।

प्रश्नोत्तर।

आगे तेरहवें और चौदहवें मंत्रमें क्रमशः कुछ प्रश्न और उनके उत्तर आगये हैं, यह मनोरंजक प्रश्नोत्तरका विषय अब देखते हैं—

प्रश्न - पृथिव्याः परं अन्तः पृच्छामि (मं० १३)
उत्तर — इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः। (मं० १४)

" पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है? यह वेदी ही पृथ्वीका परला अन्तिम भाग है। " यज्ञवेदीके पास खडा होकर एक प्रश्न पूछ रहा है कि पृथ्वीका परला अन्त वह है कि जिसपर हम खडे हैं, परंतु इसका परला अन्त कौनसा है? यह भूमि कहां समाप्त होगई है? इस प्रश्नका उत्तर, यह अपने पासका वेदीका भाग ही भूमिकी अन्तिम सीमा यह है। इस उत्तरके देखनेसे पता लगता है कि वेदके अनुसार भूमि गोल-गेंदके समान ही है। यदि यह भूमि फलकके समान होती तो यह उत्तर आना संभव ही नहीं है। यदि भूमि गेंदके समान गोल होगी तभी तो जिस बिंदुमें प्रारंभ होगा उसी बिंदुमें अन्त होनेकी संभावना होगी। पृथ्वी गेंदके समान गोल होनेसे यदि किसी स्थानसे सीधी लकीर खींची जायगी तो उस रेषाका अन्तिम बिन्दु प्रारंभिक बिन्दुमें ही मिल जायगा। इसी नियमको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रमें कहा है इस पृथ्वीका प्रारंभ इस वेदीमें है और अन्तिम भागभी यही वेदी है। पृथ्वीको गेंदके समान गोल माननेपर ही यह बात सिद्ध हो सकती है।

सृष्टिका प्रारंभ यज्ञमें और अन्तभी यज्ञमें हो सकता है। परमेश्वरके यज्ञसे इस सृष्टिका प्रारंभ हुआ है, यज्ञपर ही यह सृष्टि निर्भर है और अन्तमें भी इसकी समाप्ति यज्ञमें ही होगी। इस प्रकार कर्मभूमिका प्रारंभ वेदीमें और अन्त भी यज्ञमें होता है। इस दृष्टिसे भी यह प्रश्नोत्तर विचार करने योग्य है। अब दूसरा प्रश्न देखिये—

अश्वशक्ति।

प्रश्न- वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि। (मं० १३)
उत्तर— अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः। (मं० १४)

" बलवान अश्वका वीर्य कौनसा है? यह सोम ही बलवान अश्वका वीर्य है। " अश्ववाचक शब्द वीर्य पराक्रम और बलके सूचक हैं। 'वाजीकरण' शब्दका अर्थ वीर्यवर्धक उपाय है। अश्वशक्ति, अश्वबल, अश्वरेत, अश्ववीर्य शब्द

एक ही अर्थ के वाचक हैं। बलवती अश्वशक्ति किससे प्राप्त होती है यह प्रश्नका आशय है। इसका उत्तर यह है कि " सोम वनस्पति ही अश्वशक्ति है " सोमका अर्थ सोमवल्ली, किंवा वनस्पति है। ये वनस्पति ही अश्ववीर्य देनेमें समर्थ हैं।

यहां वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, शरीर में अश्ववीर्य बढानेकी इच्छा है तो वनस्पतिके सेवन से ही वह बढ सकता है। क्योंकि सोमादि औषधियोंमें ही (अश्वस्य रेतः) अश्ववीर्य है। जो लोग मांसभक्षणके पक्षमें हैं वे यहां वेदके उपदेशसे बोध लें। वेदमें " सोम " को ही अन्न कहा है, मांसको नहीं। सोमको ही अश्ववीर्य कहा है, मांसको नहीं। जिस वाजीकरणके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है वह (वाजी) घोडा केवल घास अर्थात् वनस्पति खाकर ही वाजी बना है, मांस खाकर नहीं बना। अतः स्पष्ट कहा है कि जो बल औषधि वनस्पतिके अन्नमें है, वह मांसमें नहीं है। अतःजो अपना बल बढाना चाहते हैं, वे मांसभक्षण न करें और योग्य वनस्पतियोंका सेवन करके अपना वीर्य बढावें। जो लोग पूछते हैं कि वेदमें मांसभक्षणके लिये अनुकूल संमति है वा प्रतिकूल ? उनको इस प्रश्नोत्तर का विचार करना चाहिये और जानना चाहिये कि, सोमादि औषधियोंका रसरूप अन्न ही वेदानुकूल मनुष्योंको भक्ष्य अन्न है। वेदमें मांसको भक्ष्य अन्न करके भी कहीं कहा नहीं है।

प्रश्न— विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि। (मं० १३)

उत्तर— अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। (मं० १४)

" सब भुवनोंका केन्द्र कौनसा है। यज्ञ ही सब भुवनोंका केन्द्र है। " केन्द्र कहते हैं मध्यबिंदुको, इस मध्यबिंदुपर सब बाह्य रचना रची जाती है। मध्यबिंदुपर ही संपूर्ण चक्रकी स्थिति होती हैं, यदि मध्यबिंदु अपने स्थानसे च्युत होगया, तो चक्र-की शक्ति नष्ट होजाती है। इसलिये इस प्रश्नमें पृच्छा की है कि इस विश्वका केन्द्र कौनसा है अर्थात् किस केन्द्रपर यह विश्व रहा है ? उत्तरमें कहा है कि इस विश्वका केन्द्र यज्ञ है। अर्थात् यज्ञपर यह सब विश्व स्थिर रहा है। यज्ञ कम हुआ तो यह विश्व नहीं रहेगा। यज्ञ विधिहीन हुआ तो विश्वकी रचना बिघड जायगी। यह बतानेके लिये यहां कहा है कि इस संपूर्ण विश्व-की स्थिति यज्ञपर है। श्रीमद्भगवद्गीतामें

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। (भ० गी० ३।१०)

इस यज्ञद्वारा तुम वृद्धिको प्राप्त होवो;वह यज्ञ तुम्हें सब कामना देनेवाला होवे। ऐसा जो कहा है उसका कारण यही है कि वह विश्वकी उन्नतिका केन्द्र है। संपूर्ण वेदोंमें ' यज्ञ ' विषय ही कहा है,इसका भी कारण यह है कि यज्ञ सब विश्वका केन्द्र है,उस केन्द्रको जाननेके लिये सब उत्पन्न हुए हैं। अब अन्तिम प्रश्न देखिये—

प्रश्न— वाचः परमं व्योम पृच्छामि। (मं १३)

उत्तर— अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम। (मं० १४)

" वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान कहां है ? यह ब्रह्मा ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है। " आकाश का गुण शब्द है और शब्द आकाशसे उत्पन्न होता है। यहां केवल(वाचः व्योम) वाणीका आकाश पूछा नहीं है, प्रत्युत (वाचः परमं व्योम) वाणीका परम आकाश पूछा है। आकाशका भी जो आकाश होगा इसको परम आकाश कहना योग्य है। अग्निका अग्नि, वायुका वायु, और आकाशका आकाश वह परमात्मा ही है। देवका भी देव वही है। उस आत्मासे आकाश की उत्पत्ति है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। (तै० उ० २।१।१)

" उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ है " और उस आकाशसे शब्द उत्पन्न होता है। अतः शब्दके आकाशका जो उत्पत्तिस्थान है उसका नाम " परम व्योम " है। यह वाणीका मूल उत्पत्तिस्थान और परम आकाश परमात्मा है। इसीलिये कहते हैं कि वेद परमात्माका निश्वसित है, अर्थात् उसीका यह शब्द है। इसी तरह सामान्य शब्द भी आत्माका शब्द है और यही ब्रह्मा वाणीका परम आकाश है। आत्मा बुद्धिसे मिलकर बोलनेकी कामना करता है, व मनको प्रेरणा करता है, मन शारीरिक उष्णताको हिलाता है, वह अग्नि वायुको चलाता है, वह उरसे मुखमें आकर स्थानोंमें आघात करता हुआ अनेक शब्द उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मासे शब्द उत्पन्न होता है। इसीलिये यहां ब्रह्मा को शब्दका महा आकाश कहा है। यह बात स्मरण में रखना चाहिये और शब्दमें आत्माकी शक्ति है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना

चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्माकी शक्ति क्षीण नहीं करनी चाहिये । अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि--

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित् कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह--

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

" अन्दर गुप्त है और बंधा है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्माकी स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्व-ज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत् इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका—देववाणीका—भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता। अन्यं नि चिक्युः।
अन्यं न निचिक्युः॥ (मं १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं। इनमेंसे एकको जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता। " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं। मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है, जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ हैं।

जगत्की रचना।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है। इस विषयमें अगले ही मंत्रमें इस तरह कहा है--

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति। (मं० १७)

" सब सृष्टिके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं। " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं। इन सात तत्त्वों-को जानना तथा आत्माको जानना इतना ही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है। इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता। ऐसे--

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति ॥ (मं १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं । " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं । सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं । यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है । इस ज्ञानका महत्त्व यह है–

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः । (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं । " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है । एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है । वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष देवताओंका ही ज्ञान है । अग्निमंत्रसे अग्निविद्या, वायुके मंत्रोंसे वायु-विद्या, इसी प्रकार अन्यान्य मंत्रोंसे अन्यान्य देवताओंकी विद्या जानी जाती है । यह विद्या जैसी प्राकृतिक पदार्थोंका ज्ञान देती है उसी प्रकार आत्माका भी ज्ञान देती है । अग्नि, वायु, रवि, इन्द्र आदि शब्दोंसे एक सत्य आत्माका बोध होता है, यह बात इसी सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है । वह अत्यंत महत्त्वका मंत्र यह है--

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (मं० २८)

" एक ही सत्य आत्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक प्रकारसे करते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि नाम वे देते हैं । " अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम एक आत्माके हैं, प्रत्येक नामसे व्यक्त होनेवाला गुण उसमें है, वह शत्रुनाशक होनेसे इन्द्र, सबका हितचिन्तक होनेसे मित्र, सबसे वरिष्ठ होनेसे वरुण, गति-मान होनेसे अग्नि, द्युस्थानमें होनेसे दिव्य, उत्तम पूर्ण होनेसे सुपर्ण, श्रेष्ठ होनेसे गरुत्मान्, एक अद्वितीय होनेसे एक, तीनों कालोंमें सत्य होनेसे सत्, सबका नियामक होनेसे यम, अन्तरालमें रहनेसे मातरिश्वा कहा जाता है । उसी एकके ये अनेक नाम हैं । और वेदमंत्रमें उस सत्य आत्माकी विद्या इस तरह है ।

इसके साथ साथ ये नाम अग्नि वायु आदि हैं वे भौतिक पदार्थोंके भी वाचक हैं, इसलिये इन देवताओंके नामोंसे और मंत्रोंसे इन पदार्थोंकी भी विद्या होती है । इस तरह इन्हीं मंत्रोंसे इन देवोंकी विद्या, भूत विद्या, और प्राकृतिक विज्ञान प्राप्त होना संभव है । अतः कहा है वेदमंत्रोंके अक्षरोंमें देव उपस्थित है, यहां देवोंकी ज्ञान रूपसे उपस्थिति समझना योग्य है ।

यः तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति ? (मं० १८)

" जो इस विद्याको नहीं जानता वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा ? " अर्थात् केवल कंठ करना, अथवा केवल शब्दका अर्थ जानना व्यर्थ है । मंत्रका ठीक ठीक अर्थ तब विदित हुआ ऐसा कहा जा सकता है कि जब पाठकको मंत्रवर्णित देवताका साक्षात्कार यथावत् हो जायगा । यदि भौतिक देवताका साक्षात्कार हुआ तो भूतविद्या समझमें आगयी, और यदि आत्माका साक्षात्कार हुआ, तब आत्मविद्या समझमें आगयी । ज्ञानी की योग्यता श्रेष्ठ है वह ऐसे साक्षात्कार हुए ज्ञानी की है, न कि केवल शब्दशास्त्री की । अतः कहा है—

ये इत् तत् विदुः, ते इमे समासते (मं० १८)

" जो ज्ञानी पूर्वोक्त विद्याको यथावत् जानते हैं वेही श्रेष्ठ स्थानमें विराजमान हो सकते हैं । सुखात्मक उत्तम या परम स्थान को प्राप्त हो सकते हैं । सत्य ज्ञानका इतना महत्त्व है । इसी विषयमें यह मंत्र अब देखिये–

अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः (मं० १९)

" आधे मंत्रभागसे चेतन आत्मा और सब जगत् समर्थ बन सकता है । " आधे मंत्रका ठीक ठीक ज्ञान होनेसे आत्म भी बलवान् होता है और जगत्के पदार्थ भी अपने अपने सामर्थ्यसे सामर्थ्यवान् होते हैं । आधे मंत्रमें यदि इतना बिलक्षण ज्ञान है तो सूक्तमें और अनुवाकमें कितना ज्ञान होगा और वह मनुष्यका कैसा उद्धार कर सकता है, इस विषयकी कल्पना पाठक कर सकते हैं । इसीलिये वेदके ज्ञानका गौरव सर्वत्र आर्य शास्त्रोंमें किया है । परंतु यह ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये,

वेदकी परंपरासे मिलना चाहिये और उससे मनन द्वारा वह आत्मसात् होना चाहिये और अन्तमें देवताका साक्षात्कार होना चाहिये। साक्षात्कारके पश्चात् उस ज्ञानसे पूर्वोक्त लाभ होसकता है, केवल शब्दज्ञानसे नहीं। सारांशरूपसे जानना हो तो इतनी बात पाठक ध्यानमें धारण करें–

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे, तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति। (मं १९)

" त्रिपाद ब्रह्म विविध रूपसे जगत्में विशेष रीतिसे ठहरा है, और इसके जविनसे चारों दिशाओंमें रहनेवाले पदार्थ जीवित रहते हैं। " यह ब्रह्म अथवा परमात्मा सर्व पदार्थोंके अन्दर व्यापक है और उसकी अगाध शक्तिसे यह सब जगत् जीवित रहा है। यदि उस ब्रह्मकी शक्ति इस जगत् को आधार न देगी, तो इस जगत्‌मेंसे कोई पदार्थ जीवित नहीं रहेगा। सबका जीवनाधार वही श्रेष्ठ ब्रह्म है।

जगत्‌का चक्र।

जगत् का चक्र किस तरह घूमता है यह बतानेके लिये बाईसवें मंत्रमें वृष्टिका उदाहरण दिया है, पृथ्वीपरके पानीकी भांप सूर्यकिरणोंसे होकर ऊपर जाती है, वहां उसके मेघ बनते हैं और योग्य समयमें वृष्टि होकर पृथ्वीपर जल होता है, फिर भांप मेघ और वृष्टि ऐसा यह जल चक्र सनातन चल रहा है। इसी प्रकार अनेक चक्र हैं और उसमें जगच्चक्र भी एक है। पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और लय और लयके पश्चात् फिर उत्पत्ति इस प्रकार यह जगच्चक्र चल रहा है। चक्रका एक बिन्दु एक समय ऊपर होता और दूसरे समय वही नीचे आता है, इसी प्रकार जिसका जन्म होता है वही योग्य कालमें युवा होता है, और पश्चात् नाशको प्राप्त होता है और पश्चात् नवीन बनता है। इस तरह जगत् के सब चक्र चल रहे हैं। प्रवाहसे जगत सनातन किंवा अनादि अनन्त है,ऐसा जो कहते हैं उसका कारण यही है. परंतु प्रत्येक पदार्थकी दृष्टिसे देखा जाय तो जगत उत्पत्तिवाला और नाशवान् है। मनुष्य व्यक्तिशः मरता है तथापि मानव समाज अनादि कालसे चला आता है और भविष्यमें भी रहेगा। इसी तरह जगत् के विषयमें जानना योग्य है।

इस जगत् में एक विलक्षण बात है, वह यह है कि–

पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति। (मं० २३)

" पांववालोंके पहिले पांवरहित दौडता है। " वस्तुतः पांववाले की दौड तेजीसे होना योग्य है, परंतु यहां पांववाल चलनेमें असमर्थ है और पांवरहित दौड लगाता है, इतना ही नहीं, प्रत्युत पांववालेको ही यह पांवरहित चलाता है। यहां अपने शरीरमें ही देखिये, शरीरको पांव हैं परंतु वह शरीर स्वयं चल नहीं सकता और आत्माको पांव नहीं हैं परंतु वह इस पांववाले शरीरको चला सकता है, कितना यह आश्चर्य है। इसीलिये एक सुभाषितमें कहा है–

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरीन्॥

" मूक शरीरको यह आत्मा वाचाल करता है और पंगुको पहाडोंकी सैर कराता है। " ऐसी अद्भुत शक्ति इस आत्मामें है। इस बातको यथावत्–

कः तत् चिकेत ? (मं० २३)

" कौन इस बातको जानता है ? " बहुत लोग तो रीतिसे जानते हैं, परंतु साक्षात्कारके समान जानना कठिन है। यह ज्ञान यद्यपि हरएकको प्राप्त करना आवश्यक है, तथापि मनुष्य ऐसे भ्रमचक्रमें गोते खाते हैं कि उनमेंसे बहुत ही थोडे मनुष्य इस सत्य ज्ञानको यथावत जान सकते हैं। इस आत्माकी शक्तिके विषयमें देखिये—

गर्भः अस्याः भारं आभरति। (मं० २३)

" मध्यमें स्थित आत्मा--प्रत्येक का केन्द्र--इस प्रकृतिका सब भार उठाता है। " इस जड शरीरका भार वह चेतन आत्मा उठा रहा है। यही इस शरीरको कुदवाता है, दौडाता है, छलांगें मरवाता है, यह सब इस शरीरसे होना सर्वथा असंभव है, परंतु ये सब बातें इस शरीरसे हो रहीं हैं, यह इस आत्माकी शक्तिसे ही हो रहीं हैं। जडको चेतनवत् चलानेका कार्य करना यह इसकी अद्भुत शक्तिका द्योतक है। इतना करता हुआ यह आत्मा—

*

ऋतं पिपर्ति, अनृतं निपाति । (मं० २३)

" सत्यकी पूर्णता करता है और असत्यको नीचे दबाता है । " जगत् में इसकी हलचल इसीलिये हो रही है । सत्यका विजय हो और असत्यका विजय न हो, इसीलिये इसकी सब हलचल हो रही है, यही बात भगवद्गीतामें इस प्रकार कही है-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ भ० गी० ४।८

" सत्य मार्गीयोंकी रक्षा करनेके लिये और असत्यमार्गीयोंका नाश करनेके लिये अर्थात् सत्यधर्मकी स्थापनाके लिये आत्मा सत्य और असत्यके संयुग अर्थात् युद्धके समयमें प्रकट होता है । " सत्य और असत्य का युद्ध चलरहा है, यह हमेश चलता है । और यह आत्मा अपनी शक्ति इस प्रकारके युद्ध छिडनेपर सत्यकी रक्षा करनेके लिये प्रकट करता है । और अपनी शक्तिसे सत्यकी रक्षा करता हैं, असत्यका नाश करता है और सत्य धर्मका संस्थापन करता है ।

इसी आत्माका नाम विराट् है और यह पृथ्वी, आप आदि जगतमें जगद्रूप बना है और यह (अधिराजः बभूव) सबका राजाधिराज है । यही सबका ईश्वर है और इसके (वशे भूतं भव्यं) आधीन भूत, भविष्य और वर्तमानका संपूर्ण जगत है । सब पर इसीका शासन चल रहा है । यही सबका एक ईश्वर है और इसीके शासनमें सब जगत् चल रहा है । इसकी प्रसन्नता हुई तो वह (मे वशे भूत भव्यं) मुझ जैसे मनुष्य के वशमें भी भूत भविष्य वर्तमान करता है । उसकी कृपा होनेकी ही केवल आवश्यकता है । इसकी कृपा यज्ञीय जीवन करनेसे ही हो सकती है दूसरा कोई मार्ग नहीं है । पहिले समयमें यज्ञ इसी ईशकृपा संपादन करनेके लिये किये जाते थे (तीन धर्माणि प्रथमानि आसन्) येही पहिले शुद्ध आत्माओंके धर्म थे । (वीरीः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त) ये वीर लोग छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते थे । अर्थात् इन यज्ञकर्मोंसे छोटे उक्षाकी परिपक्वता होती है । यहां (पृश्निं उक्षाणं) छोटा उक्षा कौन है इसका विचार करना चाहिये । वेदमें अन्यत्र कहा है कि-

उक्षास द्यावापृथिवी बिभर्ति ॥ ऋ० १।३१।८

अग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ॥ ऋ० ९।८३।३

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।

अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमाविवेश ॥ अथर्व ४।११।१

'उक्षा द्युलोकका और पृथ्वी का भरण पोषण करता है । बडा भाई उक्षा अन्न देता हुआ सब भुवनोंका धारण पोषण करता है । अनड्वान पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, सब दिशाओं, छः पृथ्वीयों और सब भुवनोंका धारण पोषण करता है ।" यहां उक्षा और अनड्वान् एक ही है यह सब जानते हैं । भाषामें इन शब्दोंका अर्थ " बैल " है और इनका यौगिक अर्थ "उठानेवाला, खींचनेवाला, शकट चलानेवाला" है। उक्त मंत्रोंमें त्रिभुवनका चलानेवाला सब भुवनोंका चलानेवाला, सबका अधार उक्षा है ऐसा कहा है । इसलिए यहां का उक्षा या अनड्वान् शब्द निश्चयसे बैलवाचक नहीं है ।

उक्त ऋग्वेदके मंत्रमें 'अग्रिय उक्षा' शब्द है, इनका अर्थ 'बडा भाई उक्षा' है । अर्थात् जो सब भुवनोंका आधार है वह बडा भाई उक्षा है। इससे सिद्ध होता है कि इस बडेभाई उक्षाका कोई दूसरा छोटा भाई उक्षा है। निःसंदेह ही इस छोटे भाई के वाचक ही यहां ' पृश्निं उक्षाणं ' ये शब्द हैं । पृश्निका अर्थ "छोटा" है ।

अग्रियः उक्षा । ऋ० ९।८३।३

पृश्निः उक्षा । अथर्व ९।१० (१५)।२५

ये दो मंत्रोक्त शब्द स्पष्ट बता रहे हैं कि इनमेंसे एक भाई और दूसरा छोटा भाई है । बडाभाई पहिलेसे परिपक्व है परंतु दूसरा भाई परिपक्व बनानेवाला है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह परिपक्व होनेवालेका वर्णन जीवात्माका है । परमात्मा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अत एव परिपक्व है और जीवात्मा अबुद्ध और अमुक्त होनेसे अपरिपक्व है । अपरिपक्व को परिपक्व बनाना होता है, यही कार्य वीर अर्थात् बलवान

लोग करते हैं, क्योंकि (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। कठ उ. १।२।२२) बलहीन मनुष्यसे इसके परिपक्व बनानेका अनुष्ठान नहीं हो सकता है। इस हेतुसे कहा है कि वीर लोग ही इस छोटेभाई उक्षाको परिपक्व बनानेका कार्य करते हैं। अर्थात् यह (पृश्नि उक्षा) छोटाभाई उक्षा, जीवात्मा है। दो सुपर्ण, दो उक्षा ये वैदिक वर्णन जीवात्मा परमात्माके ही वाचक हैं। अस्तु। यहां छोटे उक्षा—जीवात्मा—के परिपक्व बनानेका साधन ' यज्ञ ' कहा है।

विषूवता आरात् शकमयं धूमं अपश्यं (मं० २५)

'' सर्वत्र दूर और समीप शक्तिमान यज्ञाग्निका धूवां में देखता हूं। '' और इस यज्ञाग्निद्वारा ही वीर लोग इस छोटे उक्षा-को परिपक्व बनाते हैं। यज्ञसे ही इसकी परिपक्वता होती है। अग्निमें हवन करना यह यज्ञका उपलक्षण है। यज्ञका मुख्यार्थ 'देव पूजा, संगतिकरण और दान' है। इस मुख्यार्थ को लेकर और उपलक्षण को सूचक मानकर ही इसका अर्थ करना उचित है, कई लोग यहां 'उक्षा, धुम और पचन्ति, शब्द देखकर प्राचीन लोग बैलको अग्निपर पकाते थे, ऐसा भाव निकालते हैं। परंतु यहां किसी को ऐसा संदेह न हो। इसलिये इस मंत्रका इतना स्पष्टीकरण करना पडा है। आशा है कि इस स्पष्टीकरणसे किसी वाचकके मनमें इस विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

किरणवाले तीन देव।

(त्रयः केशिनः) किरणवाले अर्थात् प्रकाशमान तीन देव हैं। ये तीनों देव (ऋतुथा विचक्षते) ऋतुके अनुसार प्रकाश-ते हैं। यहां इस प्रकारके कई देवोंके गण हैं, पहिला सूर्यगण है, इसमें सूर्य, विद्युत् और अग्नि ये तीन देव क्रमशः द्यु, अन्तरिक्ष और भू स्थानमें हैं। तीनों प्रकाशमान होनेसे ' केशी ' अर्थात् किरणोंसे युक्त किंवा बालोंवाले हैं।

(एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमेंसे एक वर्षमें एकवार अन्नादि का बीजारोपण करता है, सूर्यके कारण वर्षमें एकवार भूमिमें बीजक्षेप करके धान्य उत्पन्न होता है। (अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे) दूसरा तेजस्वी देव अपने किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है। यह अग्नि अपने तेजसे रात्रीके समयमें भी जगत्में प्रकाश करता है। तीसरा देव विद्युत् है (एकस्य ध्राजिः ददृशे) उसकी गति दिखाई देती है परंतु (न रूपं) उसका रूप नहीं दीखता, क्योंकि यह क्षणमात्र प्रकाशता है और पश्चात् किस स्थानपर जाता है इसका पता भी नहीं लगता। यंत्रद्वारा दीप आदि जलानेका कार्य करनेवाली बिजली भी दिखाई नहीं देती, परंतु उसका वेग अनुभवमें आता है।

इसी प्रकार अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन देव उक्त तीन स्थानोंमें हैं जिनमें बीचका नहीं दीखता है और अन्य देव दीखते हैं। शरीरमें भी वाणी, प्राण और नेत्र हैं जिनमेंसे प्राण मध्यस्थानीय देव नहीं दीखता, परंतु वेगसे अनुभव होता है। इस प्रकार तीन तीन देवोंके अनेक गण हैं। पाठक इस प्रकार विचार करेंगे तो उनको इन गणोंका ज्ञान होगा। यहां स्मरण रखना चाहिये कि ये तीन यद्यपि स्थूल दृष्टिसे विभिन्न प्रतीत होते हैं तथापि एक के ही ये तीन रूप हैं।

चतुष्पाद गौ।

"गौ" का अर्थ 'वाचा' है। यह वाक् चतुष्पाद अर्थात् चार पादवाली है। (वाक् चत्वारि पदानि परिमिता) नाभि, उर और कण्ठमें तीन पाद गुप्त हैं और मुखमें जो चतुर्थ पाद है वह व्यक्त है। इस प्रकार ये वाणीके चार पाद हैं। इन चार पादों अर्थात् स्थानोंमें यह वाणी उत्पन्न होती है, परंतु ये वाणीके स्थान साधारण मनुष्य जान नहीं सकते, क्योंकि ये योगी लोग ही ध्यानधारणासे जान सकते हैं। ये (मनीषिणः ब्राह्मणाः विदुः) ज्ञानी ब्रह्मको जाननेवाले ही इस बातको जान सकते हैं। अर्थात् वाणीकी उत्पत्तिका इस प्रकार विचार करनेसे मनुष्य आत्मातक पहुंच सकता है।

पाठक इस तरह मनन करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

——:०:——

अथर्ववेदके नवम काण्डका मनन।

सात मधु।

इस काण्डमें ३०२ मंत्र हैं और इनमें कई मंत्र विशेष ही मनन करने योग्य हैं। इनमें सबसे प्रथम सूक्तका "सात मधु' अर्थात् सात मीठे पदार्थोंका वर्णन करनेवाला मंत्र पाठक विशेष स्मरण रखें—

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ कां० ९।१।२२

"ब्राह्मण, राजा, धेनु, बैल, चावल, जौ और मध (शहद) ये सात मधु इस जगत् में हैं।" प्रत्येक मनुष्य मिठास चाहता है, मधुरता चाहता है, मीठे पदार्थ खानेकी इच्छा करता है। वेद कहता है कि ये "सात मधुर पदार्थ हैं" जो मनुष्य मिठाई सेवन करना चाहे वह इनका सेवन करें। यहां प्रत्येकका सेवन करनेका विधि भिन्न भिन्न है। प्रथम हम इन सात मधुओंका स्वरूप देखेंगे-

"ब्राह्मण" पहिला मधु है। इसके पास ज्ञान का मीठा रस रहता है। यही साक्षात् अमृत है, ज्ञान और विज्ञान इसमें संमिलित है। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि इस ज्ञानपर अवलंबित है। ब्राह्मणके आधीन राष्ट्रका अध्ययन अध्यापन है। अर्थात् यही राष्ट्रकी भावी संतान उदयोन्मुख करता है। यह "ज्ञानमधु" है। हरएक मनुष्य और प्रत्येक युवा इसका सेवन करे।

'राजा' दूसरा मधु है। (रञ्जयति इति राजा) प्रजाका रंजन करनेवाला राजा होता है। जो प्रजाके उत्साहको कुचलता है उसका नाम राजा नहीं। राजा शब्दसे सब क्षत्रियोंका ग्रहण हो जाता है। दुःखसे प्रजाकी रक्षा करना और उसका रञ्जन करना, यही राज्यशासन का कार्य है। यहां 'प्रजारञ्जनरूप' मधु देनेवाला राजा होता है। राष्ट्रका प्रत्येक मनुष्य इस रक्षाका कार्य करनेमें समर्थ चाहिये, तभी यह मधु प्रजाको प्राप्त होता है। जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर राष्ट्रकी उन्नति करनेमें तत्पर होते हैं वही राष्ट्र उन्नत होता है।

इसके पश्चात् तीसरा मधु "गौ" है। ज्ञान और रक्षा होनेके पश्चात् गायका दूध रूपी अमृत प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त होना चाहिए। यह अमृत है और यही जीवन है। चतुर्थ मधु 'बैल' है। उत्तम गौकी उत्पत्ति उत्तम बैलके वीर्य पर अवलंबित है इसलिये बैलकी गणना मधुमें की है। इसके अतिरिक्त हमारी खेती भी बैलपर ही निर्भर है। आगेके तीन मधु चावल जौ और शहद हैं। ये उत्तम भक्ष्यान्न हैं ये चावल और जौ बुद्धिवर्धक हैं और शरीर की स्वस्थताके लिये यह अन्न उत्तम है। मधु अर्थात् शहद तो सर्वोत्तम स्वादु पदार्थ है! वनस्पतियोंमें उत्तम फूल और फूलोंमें मधु उत्तम। ऋषियों का यही चावल जौ और शहद अन्न था, इसीलिये उनकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र होती थी। इस प्रकार यह सात मधुओंका विषय है। इसका विचार पाठक करें।

सूर्यकिरण।

अष्टम सूक्तमें सूर्यकिरणोंका महत्त्व वर्णन किया है। सूर्यकिरणसे शरीरके रोग दूर होते हैं जो ऐसा कहा है वह प्रत्येक मनुष्यको विशेष रीतिसे स्मरण रखना चाहिये—

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ अथर्व० ९।८।२२

"उदयको प्राप्त हुआ सूर्य अपने किरणोंके द्वारा सिरका दर्द, अंगोंके रोग हृदयके रोग, तथा अन्य रोग दूर करता है।" यह मंत्रका कथन सब लोगोंको सदा स्मरण करना आवश्यक है। आजकल रोग बढ रहे हैं, जो रोग पूर्व समयमें नहीं थे, वे इस समय चारों ओर फैल रहे हैं। ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणोंके इस रोगनाशक धर्मका हमें विशेष उपयोग हो सकता है। आजकल प्रायः प्रत्येक मनुष्य सिरदर्दसे पीडित है, पेटके रोग अपचन आदि बहुतोंको सता रहे हैं। शरीरकी दुर्बलता तो प्रमाणसे भी अधिक बढ रही है। ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणों का उपयोग मनुष्य करेंगे तो निःसंदेह अधिक लाभ होगा। सूर्यके पास टकटकी लगाकर देखनेसे नेत्ररोग और

दृष्टिके दोष दूर होते हैं यह अनुभवसिद्ध बात है। जो लोग धूपमें अपने शरीरकी चमडीको तपायेंगे, उनको ज्वरादि की बाधा नहीं होगी, इसी प्रकार सूर्यकिरणोंके द्वारा अनंत लाभ होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

एक देव।

सूक्त नवम और दशम बडे महत्त्वके हैं। ऋग्वेदमें इन दोनों सूक्तोंका मिलकर एक ही सूक्त है। इन दोनों सूक्तोंका विषय प्रायः एक ही है। आत्मा और जगत्का ज्ञान देना यही मुख्यतया इसका विषय है। यह विषय इन सूक्तोंमें अनेक प्रकारसे समझाया है। वेद पढते पढते एक बात पाठकोंके मनमें खटकती है वह यह है कि ये भिन्न भिन्न देवताएं विभिन्न ही हैं कि इनकी एक देवतामें परिणति होती है। अर्थात् वेदमें "ऐकदेवतावाद" है वा "बहुदेवतावाद" है। इसका उत्तर दशमसूक्त ने उत्तम रीतिसे दिया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ अथ० ९।१०।२८

यह मंत्र ऋग्वेदके प्रथम मंडलमें भी है। इस मंत्रका कथन है कि (एकं सत्) एक ही सत्य तत्व है, एक ही आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, देव, ईश्वर किंवा परमेश्वर है। जिसका कोई नाम नहीं है, परंतु जिसके सब नाम भी हैं। उसके 'सत्' इतना ही यहां कहा है। 'सत्' का अर्थ है 'जो है'। अर्थात् ऐसी कोई विलक्षण शक्ति है कि जो इस जगत्के पीछे रहकर सब जगतके कार्य चला रही है। जिसकी शक्तिसे अग्नि जलता, सूर्य प्रकाशता, विद्युत् चमकती, वायु बहता, और जल प्रवाहित होता है। अतः उस अनाम सत्य तत्त्वको अग्नि, सूर्य आदि नाम दिये गये हैं।

वेदका पाठ करनेके समय इस सत्य सिद्धान्तकी मनमें स्थिरता करना चाहिये। वेदका सत्य ज्ञान होनेके लिये इस सिद्धान्तके जानने और समझनेकी अत्यंत आवश्यकता है। जो लोग इस मंत्रके उपदेशको नहीं मानते, वेदका अर्थ समझने के अधिकारी ही नहीं हो सकते। अतः वेदने स्वयं इन्हीं सूक्तोंमें कहा है कि जो इस तत्त्वको नहीं जानते वे

किं ऋचा करिष्यति।

"वेदके मंत्र लेकर क्या करेंगे ?" अर्थात् उनको इससे कोई लाभ नहीं होगा। लाभ तो उनको होगा कि जो वेदकी प्रक्रिया स्वीकार करके वेदको पढते हैं। दुर्दैव से आजकल ऐसे भी कई लोग हैं, कि जो इस मंत्रको ही–अप्रमाण मानते हैं। वस्तुतः वेदमें यही प्रधान मंत्र है। क्योंकि इसी के आधारसे वेदमंत्रोंका अर्थ स्पष्ट होना है। अतः पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस मंत्रका अच्छी प्रकार मनन करें और सब वैदिक देवताओंके नाम एक ही सद्वस्तु के हैं ऐसा मानकर वेदका अर्थ करने लग जांय। इस प्रकार कुछ महत्त्वकी बातें इस नवम काण्डमें हैं जो विशेष महत्त्वकी होनेसे यहां पाठकोंके सन्मुख दुबारा रखी हैं।

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

नवम काण्डकी विषयसूची।

अथर्ववेद

का
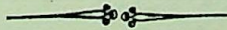
सुबोध भाष्य ।

दशमं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार
अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडल, आनन्दाश्रम पारडी, (जि. सूरत)

——०——

तृतीय वार

संवत् २००६, शके १८७१, सन १९५०

ब्रह्मज्ञानका फल।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥

(अथर्व० १०।२।२९)

"(यः वै) जो निश्चयपूर्वक (अमृतेन आवृतां) अमृतसे वेष्टित (तां पुरं) उस नगरीको (वेद) जान लेता है, (तस्मै) उस ज्ञानीको (ब्रह्म च ब्राह्माः च) परमात्मा और उसके आश्रयसे रहनेवाले सब अग्न्यादि देव (चक्षुः) नेत्र आदि इंद्रियां, (प्राणं) जीवन, दीर्घ आयु और (प्रजां) उत्तम संतानको (ददुः) देते हैं। "

अर्थात् जो ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करता है, उसको उत्तम नीरोग शरीर, दीर्घ आयु और उत्तम संतति प्राप्त होती है।

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य ।

प्रस्तावना

दशम-काण्ड ।

अथर्ववेदके दूसरे महाविभागमें यह दशम काण्ड तीसरा है । इसमें दस सूक्त हैं, पर्यायवाले सूक्त इसमें नहीं हैं । इन दस सूक्तोंके ५ अनुवाक हैं और सूक्तमें मंत्र-संख्या इस प्रकार है—

अनुवाद	सूक्त	मंत्रसंख्या	दशतिविभाग
१	१	३२	३ (१० + १० + १२)
	२	३३	३ (१० + १० + १३)
२	३	२५	३ (१० + १० + ५)
	४	२६	३ (१० + १० + ६)
३	५	५०	५ (१० + १० + १० + १० + १०)
	६	३५	४ (१० + १० + १० + ५)
४	७	४४	४ (१० + १० + १० + १४)
	८	४४	४ (१० + १० + १० + १४)
५	९	२७	३ (१० + १० + ७)
	१०	३४	३ (१० + १० + १४)
५	१०	३५०	३५

❀

अब इन सूक्तोंके ऋषि-देवता-छंद देखिये—

ऋषि-देवता-छन्द ।

प्रथमोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्दः
१	३२	प्रत्यङ्गिरसः	कृत्यादूषणं	अनुष्टुप्; १ महाबृहती; २ विराण्नाम्नी गायत्री; ९ पथ्यापांक्तिः; १२पंक्तिः; १३ उरोबृहती; १५चतुष्पदा विराड्जगती; १७,२०, २४प्रस्तारपांक्तिः २० (विराट्); १६,१८ त्रिष्टुभौ; १९ चतुष्पदा जगती, २२ एकावसाना द्विपदार्ची उष्णिक्; २३ त्रिपदा भूरिग्विषमा गायत्री; २८ त्रिपदा गायत्री; २९ मध्ये ज्योतिष्मती जगती; ३२ द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदातिजगती।
२	३३	नारायणः	पुरुषः पार्ष्णिसूक्तं, ब्रह्मप्रकाशनम् ३१-३२ साक्षात्परब्रह्म	अनुष्टुप्; १-४, ७-८ त्रिष्टुभः; ६, ११ जगत्यौ; २८ भूरिग्बृहती।

द्वितीयोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्दः
३	२५	अथर्वा	वरणमणिः वनस्पतिः, चन्द्रमाः	अनुष्टुप्। २-३, ६ भुरिक् त्रिष्टुभः; ८, १३-१४ पथ्यापांक्तिः, ११, १६ भुरिजौ, १५, १७-२५ षट्पदा जगत्यः।
४	२६	अथर्वा	तक्षकः	अनुष्टुप्।१ पथ्यापंक्तिः; २ त्रिपदायवमध्या गायत्री; ३,४ पथ्याबृहत्यौ; ८ उष्णिग्गर्भा परा त्रिष्टप्, १२ भुरिग्गायत्री;१६ त्रिपदा प्रतिष्ठागायत्री; २१ ककुंमती; २३ त्रिष्टप्; २३ त्र्यवसाना षट्पदा बृहती गर्भा ककुम्मती भुरिक् त्रिष्टुप्।

तृतीयोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्दः
५	१-२४	सिंधुद्वीपः	आपः चन्द्रमाः	अनुष्टुप्। १-५ त्रिपदा पुरोभिकृतयः ककुंमतीगर्भा पंक्तयः; ६ चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती; ७-१०, १२, १३ त्र्यवसाना पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहत्यः; ११, १४ पथ्यापांक्तिः; १५-१८,२१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टब्गर्भा अतिधृतयः; १९-२० कृती; २४ त्रिपदा विराड्गायत्री।
	२५-३५	कौशिकः	विष्णुक्रमः मंत्रोक्ताः	२५—३६ त्र्यवसाना षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्योऽतिशक्कर्यश्च; ३६ पञ्चपदा अतिशाक्वर अतिजागतगर्भाष्टिः।
	३६-४१	ब्रह्मा	मंत्रोक्ताः	३७ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ३८ पुरोष्णिक्, ३९,४१ आर्षी गायत्र्यौ; ४० विराड् विषमा गायत्री।

	४२-५०	विहव्यः	प्रजापतिः	४४ त्रिपदा गायत्रीगर्भानुष्टुप्, ५० त्रिष्टुप् ।
६	२५	बृहस्पतिः	फालमणिः वनस्पतिः ३ आपः	अनुष्टुप् । १, ४, २१ गायत्र्यः; ५ षट्पदा जगती; ६ सप्तपदा विराट् शक्करी; ७-९ त्र्यवसाना अष्टपदा अष्टयः; १० नवपदा धृतिः; ११, २०, २३-२७ पथ्या पंक्तयः; १२-१७ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्कर्यः; ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ३५ पंचपदानुष्टुब्गर्भा जगती ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

७	४४	अथर्वा (क्षुद्रः)	स्कंभः अध्यात्मं मंत्रोक्ताः	त्रिष्टुभः । १ विराड् जगती; २,८ भुरिजौ; ७, १३ परोष्णिहौ; १०, १४, १६, १८, १९ उपरिष्टाद्बृहत्यः; ११-१२,१५, २०, २२, ३९ उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगत्यः; १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; २१ बृहतीगर्भानुष्टुप्; २३-३०, ३७, ४० अनुष्टुभः; ३१ मध्ये ज्योतिर्जगती; ३२,३४,३६ उपरिष्टाद्विराड् बृहत्यः; ३५ चतुष्पदा जगती; ४१ आर्षी त्रिपाद् गायत्री; ४४ आर्षी अनुष्टुप् ।
८	४४	कुत्सः	अध्यात्मं	त्रिष्टुभः । १ उपरिष्टाद्विराड् बृहती; २ बृहती गर्भानुष्टुप्; ५ भुरिगनुष्टुप् । ६, १४, १९-२१, २३, २५, २९, ३१-३४, ३७,३८,४१, ४३ अनुष्टुभः; ७ पराबृहती; १० अनुष्टुब्गर्भा बृहती; ११ जगती; १२ पुरोबृहती; त्रिष्टुब्गर्भार्षी पंक्तिः; १५, २७ भुरिग्बृहत्यौ; २२ पुरोष्णिक्; २६ द्व्युष्णिग्गर्भा-नुष्टुप्, ३० भुरिक्; ३९ बृहती गर्भा त्रिष्टुप्; ४२ विराड् गायत्री ।

पंचमोऽनुवाकः ।

९	२७	अथर्वा	शतौदना	अनुष्टुभः । १ त्रिष्टुप्; १२ पथ्यापंक्तिः; २५ द्व्यनुष्टुब्गर्भा-नुष्टुप्; २६ पंचपदा बृहत्यनुष्टुबुष्णिग्गर्भा जगती; २७ पञ्च-पदातिजगत्यनुष्टुब्गर्भा शक्वरी ।
१०	३४	कश्यपः	वशा	अनुष्टुभः। १ ककुम्मती अनुष्टुप्; ५ स्कंधोग्रीवी बृहती; ६, ८,१० विराजः; २३ बृहती; २४ उपरिष्टाद्बृहती; २६ आस्तार-पंक्तिः; २७ शंकुमती; २९ त्रिपदा विराड् गायत्री; ३१ उष्णि-ग्गर्भा; ३२ विराट् पथ्याबृहती ।

इस दशम काण्डमें आंगिरस ऋषिका १, नारायण ऋषिका १, बृहस्पतिका १, कुत्स ऋषिका १, कश्यप ऋषिका १, अथर्वा ऋषिके ४ और सिंधुद्वीप-कौशिक- ब्रह्मा-विहव्य इन चार ऋषियोंका मिलकर १ ऐसे दस सूक्त हैं । इस तरह ऋषिविभाग है ।

तथा कृत्यादूषण देवताका १, पुरुष-ब्रह्मदेवताके ४, मणिदेवताके २, तक्षक देवताका १ और शतौदना वशा गौके २ मिलकर कुल दस सूक्त हैं ।

अब इन मंत्रोंका अर्थ भावार्थ और विवरण देखिये—

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।

दशमं काण्डम्।

---

(१) कृत्यादूषणं।

घातक प्रयोगको असफल बनाना।

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥
शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥
शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

अर्थ- (चिकित्सवः) निर्माता लोग (यां हस्तकृतां विश्वरूपां कल्पयन्ति) जिस कृत्या- घातक प्रयोग— को अपने हाथोंसे अनेक रूपोंवाली बना देते हैं, जैसे (वहतौ वधूं इव) वरातके समय वधूको सजाते हैं, (सा) वह कृत्या-वह घातक प्रयोग (आरात् एतु) दूर चली जावे। हम (एनां अप नुदामः) इस घातक प्रयोगको दूर कर देते हैं ॥ १ ॥

(विश्वरूपा शीर्षण्वती नस्वती कार्णिनी) अनेक रूपोंवाली सिरवाली, नाकवाली तथा कानवाली (कृत्याकृता संभृता) बनायी कृत्या जो तैयार हुई हो (सा आरात् एतु) वह दूर चली जावे, (एनां अप नुदामः) इसको हम दूर कर देते हैं ॥२॥

(पत्या नुत्ता जाया इव) पतिकी छोडी स्त्री जैसी (कर्तारं बन्धु) पिताके पास अथवा बंधुके पास सीधी जाती है, उस प्रकार (शूद्रकृता, स्त्रीकृता, राजकृता, ब्रह्मभिः कृता) शूद्र, स्त्री, राजा अथवा ब्राह्मणों द्वारा की हुई कृत्या (कर्तारं ऋच्छतु) उसके कर्ताके पास वापिस जाये ॥ ३ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥
अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥
प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्याऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥
यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम् ।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व माऽस्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥
यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥
ये त्वा कृत्वाऽऽलेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

अर्थ—(यां क्षेत्रे) जिस कृत्या-घातक प्रयोग-को खेतमें (यां गोषु) जिसको गौओंमें करते हैं, (यां वा ते पुरुषेषु चक्रुः) अथवा जिसको तेरे पुरुषोंमें- पुरुषोंपर करते हैं, (सर्वाः ताः कृत्याः) वे सब घातक प्रयोग (अहं अनया ओषध्या * अदूदुषं) इस ओषधिसे असफल बनाता हूं ॥ ४ ॥ (अथर्व० ४।१८।५ * अपामार्ग औषधि)

(अघकृते अघं अस्तु) पापाचरण करनेवालेको पाप लग जाये, (शपथीयते शपथः) शाप देनेवालेकोही शाप लग जाये, (प्रत्यक् प्रति प्रहिण्मः) हम सब बुराई वापस भेज देते हैं, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिससे घातक प्रयोग करनेवालेका नाश करे ॥ ५ ॥

(प्रतीचीनः आंगिरसः) घातक प्रयोगको वापिस भेजनेमें समर्थ आंगिरसी विद्यामें प्रवीण (अध्यक्षः नः पुरोहितः) अध्यक्ष ही हमारा मुखिया नेता है। वह (कृत्याः प्रतीचीः आकृत्य) घातक प्रयोगोंको लौटा देता है और वह इस साधनसे (अमून् कृत्याकृतः जहि) उन घातपात करनेवालोंका नाश करे ॥ ६ ॥

हे (कृत्ये) घातक प्रयोग ! (यः त्वा 'परा इहि' इति उवाच) जिस प्रयोगकर्ताने तुझे 'आगे बढ' ऐसा कहा, (तं प्रतिकूलं उदाय्यं अभिनिवर्तस्व) उस विरोधकर्ता शत्रुके पास पहुंच जा, और (अनागसः अस्मान् मा इच्छः) निरपराधी हम, जैसोंकी इच्छा मत कर अर्थात् हम पर आक्रमण न कर ॥ ७ ॥

हे कृत्ये (ऋभुः धिया रथस्य परूंषि) जैसा शिल्पी अपनी बुद्धिसे रथके अवयवोंको बनाता है वैसाही (यः ते परूंषि संदधौ) जो तेरे—घातक प्रयोगके- अवयवोंको बनाता है, उसी निर्माताके पास (तं गच्छ) वापिस जा, (तत्र ते अयनं) वहांही तुझे वापिस पहुंचना है, (अयं जनः ते अज्ञातः) यह मनुष्य तुझे अज्ञात ही रहे, अर्थात् इसपर हमला न होकर घातक प्रयोगकर्ताके पास वापिस चला जावे ॥ ८ ॥

(ये विद्वलाः= विद्वराः अभिचारिणः) जो धूर्त घातक प्रयोग करनेवाले (त्वा कृत्वा) हे कृत्ये, तुझको बनाकर (आलेभिरे) धारण करते हैं, उस घातक प्रयोगका (कृत्यादूषणं इदं) प्रतिकार करनेवाला यह (शं-भु) शुभ साधन है (पुनःसरं प्रतिवर्त्म) यह पुनः घातक प्रयोगको लौटानेवाला है, अतः (तेन त्वा स्नपयामः) इससे तुझे स्नान कराते हैं, जिससे सब दोष दूर हो जावें ॥ ९ ॥

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)
यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्यादत् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ ११ ॥
देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥ १२ ॥
यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥
अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव ।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥
अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १५ ॥

अर्थ-(यत् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सां) जो दुर्भाग्ययुक्त, न्हाई हुई, मरे हुए पुत्रवालीको (उप ईयिम) प्राप्त व आदिको प्राप्त होना है, यह (मत् सर्वं पापं अप एतु) मुझसे सब पाप दूर हो जावे और (द्रविणं मा उप तिष्ठतु) द्र मेरेपास आजावे ॥ १० ॥

हे मनुष्य (यत् पितृभ्यः ददतः) जो पितरोंको देनेके समय, तथा (यज्ञे वा) यज्ञमें (ते नाम जगृहुः) तेरा नाम लेवें, तो (इमाः ओषधीः) ये औषधियां उस (संदेश्यात् सर्वस्मात् पापात्) होनेवाले सब पापसे (त्वा मुञ्चन्तु तेरी मुक्तता करें ॥ ११ ॥

हे मनुष्य ! (वीरुधः) औषधियां (त्वा) तुझे (देव-एनसात् पित्र्यात्) देवता संबंधी पापसे, पितरोंके संबंधके पापसे (नाम-ग्राहात् संदेश्यात्) निंदित नाम लेने और बुरा कहनेके पापसे (अभिनिःकृतात्) अपमान करनेके पापसे (ब्रह्मणः वीर्येण) ज्ञानके बलसे, (ऋग्भिः) मंत्रोंकी शक्तिसे और (ऋषीणां पयसा) ऋषियोंके अमृतसे तेरी (मुञ्चन्तु) मुक्तता करें ॥१२॥

(यथा वातः) जैसा वायु (भूम्याः रेणुं अन्तरिक्षात् अभ्रं) भूमिसे धूली और अन्तरिक्षसे मेघको (च्यावयति) उडा देता है (एवा सर्वं दुर्भूतं) वैसा सब दुष्टभाव (ब्रह्मनुत्तं अपायति) ज्ञानद्वारा निवारित होकर दूर हो जावे ॥ १३ ॥

हे कृत्ये ! (विनद्धा गर्दभी इव) बंधनसे छूटी गर्दभीके समान (नानदती अप क्राम) शब्द करती हुई दूर चली जा। (वीर्यावता ब्रह्मणा) वीर्ययुक्त ज्ञानसे (नुत्ता) वापस फेंकी हुई (इतः कर्तॄन् नक्षस्व) यहांसे कर्ताओंके पास भाग जा ॥ १४ ॥

हे कृत्ये ! (अयं पन्था त्वा अति नयामः) यह मार्ग है, इससे दूर तुझे ले जाते हैं (अभि प्रहितां त्वा प्रति प्रहिण्मः) हमारे उपर फेंकी हुई तुझको हम वापस फेंक देते हैं। (तेन भञ्जती अभि याहि) उससे तोडती हुई आगे बढ (अनस्वती विश्वरूपा कुरूटिनी वाहिनी इव) रथयुक्त अनेक रूपोंसे युक्त भयंकर शब्द करती हुई सेना जैसी जाती है ॥ १५ ॥

परांक् ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥ १६ ॥
वात इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् ।
कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥१७॥
यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः ।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥ १८ ॥
उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम् ।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् ॥ १९ ॥
स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥ (२)
ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥ २१ ॥

अर्थ- हे कृत्ये ! (**ते ज्योतिः पराक्**) तुझे वापस होनेके लिये आगे प्रकाश दीखे, (**ते अर्वाक् अपथं**) तेरे लिये इधर आनेके लिये कोई मार्ग न दीखे, (**अस्मत् अन्यत्र अयना कृणुष्व**) हमको छोडकर दूसरी ओर गमन कर । (**नाव्याः दुर्गाः नवतिं स्रोत्याः अति परेण इहि**) नौकाद्वारा दुर्गम नब्बे नदियोंके पार दूर चली जा । (**मा क्षणिष्ठाः**) मत मार, (**परा इहि**) दूर चली जा ॥ १६ ॥

हे कृत्ये ! (**वातः वृक्षान् इव**) वायु वृक्षोंको तोडता है ऐसे ही तू (**कर्तॄन् नि मृणीहि**) हिंसा कर्ताओंका नाश कर और (**नि पादय**) उखाड डाल । (**एषां गां अश्वं पुरुषं मा उच्छिषः**) इनके गौ घोडे और पुरुषोंको अवशिष्ट न रख (**इतः निवृत्य**) यहांसे निवृत्त होकर (**अप्रजास्त्वाय बोधय**) संतति नाशकी चेतावनी कृत्याके बनानेवालोंको दे ॥ १७ ॥

(**यां कृत्यां ते बर्हिषि**) जो घातक प्रयोग तेरे धान्यमें (**यां श्मशाने**) जो श्मशानमें, और (**क्षेत्रे निचख्नुः**) खेतमें गाड दिया हो, जो (**गार्हपत्ये अग्नौ अभिचेरुः**) जो गार्हपत्य अग्निमें अभिचार कर्म किया हो, (**पाकं अनागसं सन्तं त्वा**) तू पवित्र और निष्पाप होनेपर भी (**धीरतराः**) धूर्त लोगोंने जो अभिचार किया हो उसको निर्बल करते हैं ॥ १८ ॥

(**उपाहृतं अनुबुद्धं**) लाया हुआ और जाना गया (**नि-खातं वैरं त्सारि कर्त्रं अनुविदाम**) गाडा हुआ वैररूपी विनाशक अभिचार प्रयोगका हमें ज्ञात हुआ है, (**यतः आभृतं तत् एतु**) जहांसे वह आया हो वहां वह वापिस पहुंचे, (**तत्र अश्व वर्ततां**) वहां घोडेके समान भ्रमण करे और (**कृत्याकृतः प्रजां हन्तु**) अभिचारप्रयोग करनेवालेकी संतानोंका नाश करे ॥ १९ ॥

(**स्वायसः असयः नः गृहे सन्ति**) उत्तम लोहेकी तलवारें हमारे घरमें हैं। हे कृत्ये ! (**ते परूंषि विद्म**) तेरे जोडोंको हम जानते हैं कि वे (**यतिधा**) किस प्रकार और कितने हैं (**उत्तिष्ठ एव, इतः परा इहि**) उठ और यहांसे दूर भाग जा। हे (**अज्ञाते**) अज्ञात मारण-प्रयोग! (**इह किं इच्छसि**) यहां तू क्या चाहता है ?॥ २० ॥

हे कृत्ये ! (**ते ग्रीवाः पादौ च अपि कर्त्स्यामि**) तेरी गर्दन और पांव मैं काट देता हूं यहांसे तू (**निर्द्रव**) भाग जा। (**इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां**) इन्द्र और अग्नि हमारी रक्षा करें। जैसी (**यौ प्रजानां प्रजावती**) संतानोंकी रक्षा माताएं करती हैं ॥ २१ ॥

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ २२ ॥

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते । दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।

सेतोऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि ।

जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।

मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।

उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ ।

यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

अर्थ-(**सोमःराजा मृडिता**) राजा सोम हमें सुख देवे तथा (**भूतस्य पतयः नः मृडयन्तु**) भूतोंके पति हमें सुख देवें॥२२॥ (**भवाशर्वौ देवहेतिं विद्युतं**) भव और शर्व ये देव देवोंके विद्युत् रूपी हथियारको (**कृत्याकृते दुष्कृते पापकृते**) घातक दुराचारी पापीके ऊपर (**अस्यतां**) फेंके ॥ २३ ॥

(**यदि कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा**) यदि मारणप्रयोग तैयार होकर अनेकरूप धारण करके (**द्विपदी चतुष्पदी एयथ**) दो अथवा चार पांववाली बनकर हमारे पास आजावे, तो (**हे दुच्छुने ! सा इतः अष्टापदी भूत्वा पुनः परा इहि**) हे दुःख देनेवाले कृत्ये ! वह तूं यहांसे आठ पांववाली- अतिशीघ्र चलनेवाली होकर फिर वापिस चली जा ॥ २४ ॥

(**अभ्यक्ता अक्ता स्वरंकृता**) खूब तेल लगाई और सुशोभित की गई (**सर्वं दुरितं भरन्ती**) सब दुर्दशाको देनेवाली (**परा इहि**) दूर चली जा। (**दुहिता स्वं पितरं इव**) जैसी पुत्री अपने पिताको जानती है उस तरह तू (**कर्तारं जानीहि**) अपने कर्ताको जान ॥ २५ ॥

हे कृत्ये ! (**परा इहि**) दूर हो जा। (**मा तिष्ठ**) यहां मत ठहर। (**विद्धस्य इव पदं नय**) घायल हुए शिकारके स्थानको जैसा शिकारी जाता है वैसेही तू अपने स्थानको पहुंच, (**मृगः सः मृगयुः त्वं**) वह मृग है और तू शिकारी है (**त्वा निकर्तुं न अर्हसि**) इसको काटनेके लिये तू योग्य नहीं हो, अतः तू वापिस जा ॥ २६ ॥

(**पूर्वासिनं अपरः प्रति आदाय इष्वा हन्ति**) पहिले बैठे वीरको दूसरा शत्रु पकडकर बाणसे मारता है और (**पूर्वस्य निघ्नतः अपरः प्रति नि हन्ति**) और पहिला मारने लगता है उस समय दूसरा उसको भी पीटता है, इस तरह परस्पर आघात करते है ॥ २७ ॥

(**एतत् हि मे वचः शृणु**) यह मेरा भाषण सुन (**अथ एहि यतः एयथ**) और जा जहांसे आयी थी (**यः त्वा चकार तं प्रति**) जिसने तुझे बनाया उसकेपास घातक प्रयोग वापिस चला जावे ॥ २८ ॥

❀

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥ २९ ॥
यदि स्थ तमसाऽऽवृता जालेनाभिहिता इव ।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥
कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥
यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥ ३२ ॥ (३)

अर्थ- हे कृत्ये ! तू (अनागः-हत्या भीमा) निरपराधीका वध करनेवाली भयंकर है (नः गां अश्वं पुरुषं मा वधीः) हमारे गौ घोडे और मनुष्योंका वध न कर । (यत्र यत्र निहिता असि) जहां जहां तू रखी गयी है (ततः त्वा उत्थापयामसि) वहांसे तुझे उखाड देते हैं । (तू पर्णात् लघीयसी भव) तू पत्तेसे भी छोटी हो जा ॥ २९ ॥

(यदि तमसा आवृताः स्थ) यदि तुम अंधेरेसे आच्छित हुए है जैसे (जालेन अभिहिता इव) जालसे घेरे जाते हैं तो तुमसे (सर्वाः कृत्याः इतः संलुप्य) सब घातक प्रयोग यहांसे लुप्त करके उनको मैं (पुनः कर्त्रे इतः प्र हिण्मसि) फिर कर्ताके प्रति यहांसे मैं वापिस भेजता हूं ॥ ३० ॥

हे कृत्ये ! (कृत्याकृतः वलगिनः) घातक प्रयोग करनेवाले बलशाली दुष्ट (प्रजां अभि निः कारिणः मृणीहि) जो प्रजाका नाश करते हैं उनकाहां तू नाश कर । (अमून् कृत्याकृतः उच्छिषः) उन घातकोंमेंसे एक भी न बचे। उन सबको (जहि) मार ॥ ३१ ॥

(यथा सूर्यः तमसः परि मुच्यते) जैसा सूर्य अन्धकारसे छूटता है, (रात्रिं उषसः केतून् जहाति) रात्री तथा उषाके ध्वजोंको त्याग देता है, (एव अहं कृत्याकृता कृतं) इस तरह मैं घातकके द्वारा किया हुआ, (दुर्भूतं कर्त्रं जहामि ।) दुष्ट कृत्य त्याग देता हूं । जैसा (हस्ती रजः इव) हाती धूलीको फेंकता है, उतने सहज भावसे मैं शत्रुके दुष्ट घातक प्रयोगको दूर करता हूं ॥ ३२ ॥

कृत्या--प्रयोग ।

' कृत्या ' नाम उस प्रयोगका है कि जिसके द्वारा किसीका मारण किया जाता है। किसीके घरमें, खेतमें, खानपानके वस्तुमें, कपडोंमें अथवा किसी अन्य स्थानमें कुछ मारक वस्तु रखी जाती है जिसके परिणामसे वह मर जाता है । इस प्रयोगको कृत्या प्रयोग, अथवा मारण प्रयोग कहते हैं ।

यह कुछ आंख नाक कानवाली मूर्ति करते हैं, बडी शोभावाली मूर्ति बनाते हैं, जो हाथमें पकडे वह मर जाता है। मूर्तिके अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तु भी निर्माण की जाती है जिससे मारण हो जाता है ।

इस प्रयोगमें क्या होता है, इसका विधि क्या है, इसका किसीको भी आज पता नहीं है, आज इसके ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं हैं । अतः इस प्रयोगके विषयमें निश्चित रूपसे हम कुछ कह नहीं सकते ।

इस प्रकारके प्रयोगोंका परिणाम अपने लोगोंपर न हो और यह घातक प्रयोग अपने लोगोंसे वापिस चला जाय, इस कार्यके लिये यह सूक्त है । इस सूक्तके इच्छाशक्तिपूर्वक पठनसे जो एक मानसिक बल पैदा होता है, उस बलसे उक्त कृत्या-प्रयोग पीछे हटता है और जिसने उस कृत्याका निर्माण किया था उसपर जाकर परिणाम करता है ।

सब मंत्रोंका आशय यही है और वह आशय स्पष्ट है । अब इसको बनाना कैसा, और वापिस लौटाना कैसा यह तो एक बडा खोजका विषय है । मंत्रशास्त्रज्ञ कोई सच्चा जानकार हो वही इस विषयमें कह सकता है । अतः इस विषयमें हम कुछ भी नहीं लिख सकते, ऐसा कहते हुए हम इस सूक्तका विवरण यहांही समाप्त करते हैं ।

(२) केन--सूक्तम् ।

स्थूलशरीरमें अवयवोंके संबंधमें प्रश्न ।

केन॒ पार्ष्णी आभृ॑ते॒ पूरु॑षस्य॒ केन॑ मां॒सं संभृ॑तं॒ केन॑ गुल्फौ ।
केना॒ङ्गुली॒: पेश॑नी॒: केन॒ खानि॒ केनो॑च्छ्लङ्खौ म॑ध्य॒तः कः प्र॑ति॒ष्ठाम् ॥ १ ॥
कस्मा॒न्नु गु॒ल्फावध॑रावकृण्वन्नष्ठी॒वन्ता॒वुत्त॑रौ पूरु॑षस्य ।
जङ्घे॑ नि॒र्ऋत्य॒ न्य॑दधुः क्व॑ स्वि॒ज्जानु॑नोः सं॒धी क उ॒ तच्चि॑केत ॥ २ ॥
चतु॑ष्टयं युज्यते॒ संहि॑तान्तं॒ जानु॑भ्यामू॒र्ध्वं शि॑थि॒रं कव॑न्धम् ।
श्रोणी॒ यदू॒रू क उ॒ तज्ज॑जान॒ याभ्यां॒ कुसि॑न्धं॒ सुदृ॑ढं ब॒भूव॑ ॥ ३ ॥
कति॒ दे॒वाः क॑त॒मे त आ॑स॒न् य उरो॒ ग्री॒वाश्चि॒क्युः पूरु॑षस्य ।
कति॒ स्तनौ॒ व्य॑दधुः कः क॑फो॒डौ कति॒ स्कन्धा॒न् कति॒ पृष्टीर॑चिन्वन् ॥ ४ ॥
को अ॑स्य बा॒हू सम॑भरद् वी॒र्यं॑ करवा॒दिति॑ ।
अंसौ॒ को अ॑स्य॒ तद्दे॒वः कुसि॑न्धे॒ अध्या द॑धौ ॥ ५ ॥

अर्थ-(पूरुषस्य पार्ष्णी केन आभृते ?) मनुष्यकी एडियां किसने बनाई ? (केन मांसं संभृतं ?) किसने मांस भर दिया ? (केन गुल्फौ ?) किसने टखने बनाये ? (केन पेशनीः अंगुलीः ?) किसने सुंदर अंगुलियां बनाई ? (केन खानि ?) किसने इंद्रियोंके सुराख बनाये ? (केन उच्छ्लंखौ ?) किसने पांवके तलवे जोड दिये ?) (मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ?) बीचमें कौन आधार देता है ? ॥ १ ॥

(नु कस्मात् अधरौ गुल्फौ अकृण्वन् ?) भला किसने नीचेके टखने बनाये हैं ? और (पूरुषस्य उत्तरौ अष्ठीवन्तौ मनुष्यके ऊपरके घुटने ? (जंघे निर्ऋत्य क्व स्वित् न्यदधुः ?) जांघें अलग अलग बनाकर कहां भला जमा दीं हैं (जानुनोः संधी क उ तत् चिकेत ?) जानुओंके संधीका किसने भला ढांचा बनाया ? ॥ २ ॥

(चतुष्टयं संहितान्तं शिथिरं कबंधं जानुभ्यां ऊर्ध्वं युज्यते ।) चार प्रकारसे अंतमें जोडा हुआ शिथिल (ढीला) धड पेट घुटनोंके ऊपर जोडा गया है । (श्रोणी, यत् ऊरू, क उ तत् जजान ? याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव ।) कुल्हे और जांघे, किसने भला यह सब बनाया है जिससे धड बडा दृढ हुआ है ॥ ३ ॥

(ते कति कतमे देवाः आसन् ये पूरुषस्य उरः ग्रीवाः चिक्युः ?) वे कितने और कौनसे देव थे, जिन्होंने मनुष्यकी छाति और गलेको एकत्र किया ? (कति स्तनौ व्यदधुः ?) कितनोंने स्तनोंको बनाया ? (कः कफोडौ ?) किसने कोहनियां बनाईं ? (कति स्कंधान् ?) कितनोंने कंधोंको बनाया ? (कति पृष्टीः अचिन्वन् ?) कितनोंने पसलियोंको जोड दिया ?॥४॥

(वीर्यं करवात् इति , अस्य बाहू कः समभरत् ?) यह पराक्रम करे इसलिये, इसके बाहू किसने भर दिये ? (कः देवः अस्य तद् अंसौ कुसिंधे अध्यादधौ ?) किस देवने इसके उन कंधोंको धडमें धर दिया है ? ॥ ५ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥
हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥
मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥
प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥ ९॥
आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥
को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

अर्थ-(इमौ कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखं, सप्त खानि शीर्षणि कः वि ततर्द ?) ये दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख मिलकर सात सुराख सिरमें किसने खोदे हैं ? (येषां विजयस्य मह्मनि चतुष्पादः द्विपदः यामं पुरुत्रा यन्ति ।) जिनके विजयकी महिमामें चतुष्पाद और द्विपाद अपना मार्ग बहुत प्रकार आक्रमण करते हैं ॥ ६ ॥

(हि पुरूचीं जिह्वां हन्वोः अदधात् ।) बहुत चलनेवाली जीभके दोनों जबडोंके बीचमें रख दिया है— (अध महीं वाचं अधि शिश्राय ।) और प्रभावशाली वाणीको उसमें आश्रित किया है। (अपः वसानः सः भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति ।) कर्मोंको धारण करनेवाला वह सब भुवनोंके अंदर गुप्त रहा है। (क उ तत् चिकेत ?) कौन भला उसको जानता है ?॥ ७ ॥)

(अस्य पूरुषस्य मस्तिष्कं, ललाटं, ककाटिकां, कपालं, हन्वोः चित्यं, यः यतमः प्रथमः चित्वा, दिवं रुरोह, स देवः कतमः ?) इस मनुष्यका मस्तिष्क, माथा, सिरका पिछला भाग, कपाल और जाबडोंका संचय, आदिको जिस पहिले देवने बनाया और जो द्युकोकमें चढ गया, वह देव कौनसा है ! ॥ ८ ॥

(बहुला प्रियाऽप्रियाणि, स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः आनंदान् नंदान् च, उग्रः पुरुषः कस्माद् वहति ?) बहुत प्रिय और अप्रिय बातें, निद्रा, बाधाओं और थकावटों, आनंदों, और हर्षोंको यह प्रचंड पुरुष किस कारण धारण करता है ? ॥ ९ ॥

(आर्तिः, अवर्तिः, निर्ऋतिः अमतिः, पुरुषे कुतः नु) पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति मनुष्यमें कहांसे होती है (राद्धिः, समृद्धिः, अ-वि-ऋद्धिः, मतिः, उदितयः कुतः ?) पूर्णता, समृद्धि, अ-हीनता, बुद्धि, और उदयकी प्रवृत्ति कहांसे होती है? ॥ १० ॥

(अस्मिन् पुरुषे वि-सु-वृतः, पुरु-वृत सिंधु-सृत्याय जाताः, अरुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः, ऊर्ध्वाः, अवाचीः, तिरश्चीः, तीव्राः अपः कः व्यदधात् ?) इस मनुष्यमें विशेष घूमनेवाले, सर्वत्र घूमनेवाले, नदीके समान बहनेके लिये बने हुए, लाल रंगवाले, लोहेको साथ ले जानेवाले, तांबेके धूवेंके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे, वगैरे चलनेवाले जलप्रवाह (अर्थात् रक्तके प्रवाह) किसने बनाये हैं ?॥ ११ ॥

को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्यानं च नाम च।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥
को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥
को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥
को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत्।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥
केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥
को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥
केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम्।
केनाभि मह्वा पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

अर्थ- (अस्मिन् रूपं कः अदधात् ?) इसमें रूप किसने रखा है ? (मह्यानं च नाम च कः अदधात्) महिमा और नाम यश किसने रखा है ? (अस्मिन् गातुं कः ?) इसमें गति किसने रखी है ? (कः केतुं ?) किसने ज्ञान रखा है ? और (पुरुष चरित्राणि कः अदधात् ?) मनुष्यमें चरित्र किसने रखे हैं ? ॥ १२ ॥

(अस्मिन् कः प्राणं अवयत् ?) इसमें किसने प्राण चलाया है ? (कः अपानं व्यानं उ ?) किसने अपान और व्यानको लगाया है। (अस्मिन् पूरुषे कः देवः समानं अधि शिश्राय ?) इस पुरुषमें किस देवने समानको ठहराया है ? ॥ १३ ॥

(कः एकः देवः अस्मिन् पूरुषे यज्ञं अदधात् ?) किस एक देवने इस पुरुषमें यज्ञ रख दिया है ? (कः अस्मिन् सत्यं ?) कौन इसमें सत्य रखता है ? (कः अन्-ऋतम् ?) कौन असत्य रखता है ? (कुत मृत्युः ?) कहांसे मृत्यु होता है और (कुतः अमृतम् ?) कहांसे अमरपन मिलता है ? ॥ १४ ॥

(अस्मै वासः कः परि-अदधात्) इसके लिये कपडे किसने पहनाये हैं ? कपडे=शरीर। (अस्य आयुः कः अकल्पयत् ?) इसकी आयु किसने संकल्पित की ? (अस्मै बलं कः प्रायच्छत् ?) इसको बल किसने दिया ? और (अस्य जवं कः अकल्पयत् ?) इसका वेग किसने निश्चित किया है ? ॥ १५ ॥

(केन आपः अन्वतनुत ?) किसने जल फैलाया ? (केन अहः रुचे अकरोत् ?) किसने दिन प्रकाशके लिये बनाया (केन उषसं अनु ऐन्द्ध ?) किसने उषाको चमकाया ? (केन सायंभवं ददे?) किसने सायंकाल दिया है ? ॥ १६ ॥

(तन्तुः आ तायतां इति, अस्मिन् रेतः कः नि-अदधात् ?) प्रजातंतु चलता रहे इसलिये, इसमें वीर्य किसने रख दिया है (अस्मिन् मेधां कः अधि-औहत् ?) इसमें बुद्धि किसने लगा दी है (कः बाणं ?) किसने वाणी रखी है ? (कः नृतः दधौ ?) किसने नृत्यका भाव रखा है ? ॥ १७ ॥

(केन इमां भूमिं और्णोत् ?) किसने इस भूमिको आच्छादित किया है ? (केन दिवं पर्यभवत् ?) किसने द्यु-लोकको घेरा है ? (केन मह्वा पर्वतान् अभि ?) किसने महत्त्वसे पहाडोंको ढंका है ? (पूरुषः केन कर्माणि ?) पुरुष किससे कर्मोंको करता है ? ॥ १८ ॥

केन॑ प॒र्जन्य॒मन्वे॑ति॒ केन॒ सोमं॑ विचक्ष॒णम् ।
केन॑ य॒ज्ञं च॑ श्र॒द्धां च॒ केना॑स्मि॒न्निहि॑तं॒ मनः॑ ॥ १९ ॥

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ।
केने॒मम॒ग्निं पूरु॑षः॒ केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥

ब्रह्म॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ ब्रह्मे॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ।
ब्रह्मे॒मम॒ग्निं पूरु॑षो॒ ब्रह्म॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २१ ॥

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥

ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत्क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

केने॒यं भूमि॒र्विहि॑ता॒ केन॒ द्यौरुत्त॑रा हि॒ता ।
केने॒दमू॒र्ध्वं ति॒र्यक्चा॒न्तरि॑क्षं॒ व्यचो॒ हि॒तम् ॥ २४ ॥

अर्थ- (पर्जन्यं केन अन्वेति?) पर्जन्यको किससे प्राप्त करता है? (विचक्षणं सोमं केन?) विलक्षण सोमको किससे पाता है? (केन यज्ञं च श्रद्धां च?) किससे यज्ञ और श्रद्धाको प्राप्त करता है? (अस्मिन् मनः केन निहितं) इसमें मन किसने रखा है? ॥ १९ ॥

(केन श्रोत्रियं आप्नोति?) किससे ज्ञानीको प्राप्त करता है? (केन इमं परमेष्ठिनम्?) किससे इस परमात्माको प्राप्त करता है? (पूरुषः केन इमं अग्निं) मनुष्य किससे इस अग्निको प्राप्त करता है? (केन संवत्सरं ममे?) किससे संवत्सर-कालको मापता है? ॥ २० ॥

(ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति।) ज्ञान ज्ञानीको प्राप्त करता है। (ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम्।) ज्ञान इस परमात्माको प्राप्त करता है। (पुरुषः ब्रह्म इमं अग्निम्।) मनुष्य ज्ञानसे इस अग्निको प्राप्त करता है। (ब्रह्म संवत्सरं ममे।) ज्ञान ही कालको मापता है ॥ २१ ॥

(केन देवान् अनु क्षियति?) किससे देवोंको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है? (केन दैव-जनीः विशः?) किससे दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है? (केन सत् क्षत्रं उच्यते?) किससे उत्तम क्षात्र कहा जाता है? (केन इदं अन्यत् न-क्षत्रम्?) किससे यह दूसरा न-क्षत्र है ऐसा कहते हैं? ॥ २२ ॥

(ब्रह्म देवान् अनु क्षियति।) ज्ञान ही देवोंको अनुकूल बनाकर बसाता है। (ब्रह्म दैव-जनीः विशः) ज्ञान ही दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाता है। (ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते।) ज्ञान ही उत्तम क्षात्र है ऐसा कहा जाता है। (ब्रह्म इदं अन्यत् न--क्षत्रम्।) ज्ञान यह दूसरा न-क्षत्र अर्थात् क्षात्रसे भिन्न अन्य बल है ॥ २३ ॥

(केन इयं भूमिः विहिता?) किसने यह भूमि विशेष रीतिसे रखी है। (केन द्यौः उत्तरा हिता?) किसने द्युलोक ऊपर रखा है? (केन इदं अंतरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक् व्यचः च हितम्?) किसने यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है? ॥ २४ ॥

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता । ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२५॥
मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् । मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः । तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३० ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥३१
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् । पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

अर्थ-(ब्रह्मणा भूमिः विहिता) ब्रह्मने भूमि विशेष प्रकार रखी है (ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता ।) ब्रह्मने द्युलोक ऊपर रखा है। (ब्रह्म इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः च हितम्।) ब्रह्मने ही यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है॥२५॥

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं, संसीव्य) अ--थर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपना सिर, और जो हृदय है, उसको आपसमें सीकर; (पवमानः शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः पैरयत् ।) प्राण सिरके बीचमें, परंतु मस्तिष्कके ऊपर, प्रेरित करता है ॥ २६ ॥

(तद् वा अथर्वणः सिरः समुब्जितः देव--कोशः।) वह निश्चयसे योगीका सिर देवोंका सुरक्षित खजाना है। (तत् सिरः प्राणः, अन्नं, अथो मनः अभि रक्षति।) उस सिरका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥ २७ ॥

(पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टाः ।) पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है । (तिर्यक् नु सृष्टाः) निश्चयसे तिरछा फैला है । तात्पर्य (पुरुषः सर्वाः दिशः आबभूव ।) पुरुष सब दिशाओंमें है । (यः ब्रह्मणः पुरं वेद ।) जो ब्रह्मकी नगरी जानता है । (यस्याः पुरुष उच्यते ।) जिस नगरीके कारण ही उसको पुरुष कहा जाता है ॥ २८ ॥

(यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद ।) जो निश्चयसे अमृतसे परिपूर्ण उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है । (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः प्राणं, प्रजां च ददुः ।) उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते आये हैं ॥ २९ ॥

(यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं यः वेद ।) जिसके कारण (आत्माको) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है; (तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः ।) उसको वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु छोडता नहीं, और न प्राण छोडता है ॥ ३० ॥

(अष्टा-चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या देवानां पूः ।) जिसमें आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवोंकी नगरी है (तस्यां हिरण्ययः कोशः, ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः ।) उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है ॥ ३१ ॥

(त्रि--अरे, त्रि--प्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्वत् यक्षं, तद् वै ब्रह्म--विदः विदुः) तीन आरोंसे युक्त, तीन केंद्रोंमें स्थिर, ऐसे उसी तेजस्वी कोशमें, जो आत्मवान् यक्ष है, उसको निश्चयसे ब्रह्मज्ञानी जानते है ॥ ३२ ॥

(प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा सं परिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आविवेश ।) तेजस्वी, दुःख हरण करने वाली, यशसे परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरीमें, ब्रह्म आविष्ट होता है ॥ ३३ ॥

केन–सूक्तका विचार।

(१) किसने अवयव बनाये ?

चतुर्थ मंत्रमें " कति देवाः " देव कितने हैं, जो मनुष्यके अवयव बनानेवाले हैं ? यह प्रश्न आता है । इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमें भी " देव " शब्दका अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये । " मनुष्यकी एडियां किस देवने बनायीं हैं ?" इत्यादि प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना उचित है । मनुष्यका शरीर बनानेवाले देव एक हैं वा अनेक हैं और किस देवने कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है ? यह प्रश्नोंका तात्पर्य है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

(२)ज्ञानेंद्रियों और मानसिक भावना-ओंकेसंबंधमें प्रश्न ।

मंत्र छः में सात इंद्रियोंके नाम कहे हैं । दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख । ये सात ज्ञानके इंद्रिय हैं । वेदमें अन्यत्र इनको ही १ सप्त ऋषि, २ सप्त अश्व, ३ सप्त किरण, ४ सप्त अग्नि, ५ सप्त जिह्वा, ३ सप्त प्राण आदि नामोंसे वर्णन किया है । उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मंत्रका अर्थ करना चाहिये । गुदा और मूत्रद्वारके और दो सुराख हैं । सब मिलकर नौ सुराख होते हैं । ये ही इस शरीररूपी नगरीके नौ महाद्वार हैं । मुख पूर्वद्वार है, गुदा पश्चिमद्वार है, अन्यद्वार इनसे छोटे हैं । (इसी सूक्तका मंत्र ३१ देखो)

यद्यपि " पूरुष " शब्द (पुर्--वस) उक्त नगरीमें वसनेवालेका बोध कराता है, इसलिये सर्व साधारण प्राणिमात्रका वाचक होता है, तथापि यहांका वर्णन विशेषतः मनुष्यके शरीरकाही समझना उचित है । " चतुष्पाद और द्विपाद " शब्दोंसे संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मंत्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इस प्रकार अन्य मंत्रोंमें लेनेसे कोई हानि नहीं है, तथापि मंत्र ७ में जो वाणीका वर्णन है वह मनुष्यकी वाणीका ही है, क्योंकि सब प्राणियोंमें यह वाक्शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणीमें पूर्ण विकसित हो गई है । मंत्र ९,१० में " मति अमति " आदि शब्द मनुष्यका ही वर्णन कर रहे हैं । इस प्रकार यद्यपि मुख्यतः सब वर्णन मनुष्यका है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मंत्र सामान्य अर्थके बोधक हैं, वे सर्व सामान्य प्राणिजातिके विषयमें समझनेमें कोई हानि नहीं है ।

मंत्र आठमें " स्वर्गपर चढनेवाला देव कौनसा है ? यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । यह मंत्र जीवात्माका मार्ग बता रहा है । इस प्रश्नका दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि, " नरकमें कौन गिर जाता है ? " तात्पर्य जीव स्वर्गमें क्यों जाता है ? और नरकमें क्यों गिरता है ?

मंत्र ९ और १० में अच्छे और बुरे दोनों पहलुओंके प्रश्न हैं । १ अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तंद्री, आर्ति, अवर्ति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं,२ और प्रिय,आनंद, नंद, राद्धि, समृद्धि, अव्यृद्धि, मति, उदिति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं । दोनों स्थानोंमें आठ आठ शब्द हैं और उनका परस्पर संबंध भी है । पाठक विचार करनेपर उस संबंधको जान सकते हैं । तथा—

(३) रुधिर, प्राण, चारित्र्य. अमरत्व आदिके विषयमें प्रश्न ।

मंत्र ११ में शरीरमें रक्तका प्रवाह किसने संचारित किया है ? यह प्रश्न है । प्रायः लोग समझते हैं, कि शरीरमें रुधिराभिसरणका तत्त्व यूरोपके डाक्टरोंने ढूंढा है । परंतु इस अथर्ववेदके मंत्रोंमें वह स्पष्ट ही है । रुधिरका नाम इस मंत्रमें **"लोहिनीः आपः"** है, इसका अर्थ **"(लोह--नीः) लोहेको अपने साथ ले जानेवाला (आपः) जल"** ऐसा होता है। अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहा भी है । लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है । लोह जिसमें है वही **"लोहित"** (लोह+इत) होता है । दो प्रकारका रक्त होता है एक " **अरुणाः आपः** " अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा " **ताम्र-धूम्राः आपः** " तांबेके जंगके समान मलिन रंगवाला । पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदयसे बाहिर जाता है और सब शरीरमें ऊपर, नीचे और चारों ओर व्यापता है । दूसरा मलिन रंगका रक्त है, जो शरीरमें भ्रमण करके और वहांकी शुद्धता करनेके पश्चात् हृदयकी ओर वापिस आता है । इस

प्रकारकी यह आश्चर्यकारक रुधिराभिसरण की योजना किसने की है, यह प्रश्न यहां किया है । किस देवताका यह कार्य है? पाठको सोचिये ।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है, कि "मनुष्यमें सौन्दर्य, महत्त्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवताके प्रभावसे दिखाई देता है?" इस मंत्रके "चरित्र" शब्दका अर्थ कई लोग "पांव" ऐसा समझते हैं, परंतु इस मंत्रके पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ नहीं दिखाई देता । क्योंकि स्थूल पांवका वर्णन पहिले मंत्रमें हो चुका है। यहां सूक्ष्म गुणधर्मोंका वर्णन चला है । तथा महिमा, यश, ज्ञान आदिके साथ चारित्र्य ही अर्थ ठीक दिखाई देता है ।

मंत्र १५ में "वासः" शब्द "कपडों" का वाचक है । यह जीवात्माके ऊपर जो शरीररूपी कपडे हैं, उनका संबंध है, धोती आदिका नहीं । श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि—"जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोडकर नये ग्रहण करता है उसी प्रकार शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर नये शरीर धारण करता है । (गीता २।२२)" इसमें शरीरकी तुलना कपडोंके साथ की है। इस गीताके श्लोकमें "वासांसि" अर्थात् "वासः" यही शब्द है, इसलिये गीताकी यह कल्पना इस अथर्ववेदके मंत्रसे ली हुई है । कई विद्वान् यहां इस मंत्रमें "वासः" का अर्थ "निवास" करते हैं, परंतु "परि--अदधत्-(पहनाया)" यह क्रिया बता रही है कि यहां कपडोंका पहनाना अभीष्ट है। इस आत्मापर शरीररूपी कपडे किसने पहनाये? यह इस प्रश्नका सीधा तात्पर्य है ।

(४) मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा तथा बाह्य जगत् के विषयमें प्रश्न ।

(समष्टि—व्यष्टिका संबंध)

मंत्र १५ तक व्यक्तिके शरीरके संबंधमें विविध प्रश्न हो रहे थे, परंतु अब मंत्र १६ से जगत्के विषयमें प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इसके आगे मंत्र २१ और २२ में समाज और राष्ट्रके विषयमें भी प्रश्न आ जांयगे। तात्पर्य इससे वेदकी शैलीका पता लगता है, (१) अध्यात्ममें व्यक्तिका संबंध, (२) अधिभूतमें प्राणिसमष्टिका अर्थात् समाजका संबंध, और (३) अधिदैवतमें संपूर्ण जगत्का संबंध है । वेद व्यक्तिसे प्रारंभ करता है और चलते चलते संपूर्ण जगत्का ज्ञान यथाक्रम देता है । यही वेदकी शैली है। जो इसको नहीं समझते, उनके ध्यानमें उक्त प्रश्नोंकी संगति नहीं आती। इसलिये इस शैलीको समझना चाहिये ।

वेद समझता है, कि जैसा एक अवयव हाथ पांव आदि शरीरके साथ जुडा है, उसी प्रकार एक शरीर समाजके साथ संयुक्त हुआ है और समाज संपूर्ण जगत्के साथ मिला है। 'व्यक्ति समाज और जगत्' ये अलग नहीं हो सकते। हाथ पांव आदि अवयव जैसे शरीरमें हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और कुटुंब समाजके साथ लगे हैं और सब प्राणियोंकी समष्टि संपूर्ण जगतसे संलग्न हो गई है । इसलिये तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसे ही हैं। (चित्र अगले २० में पृष्ठपर देखो.)

सोलहवें मंत्रमें "आप्, अहः उषा, सायंभव" ये चार शब्द क्रमशः बाह्य जगत्में "जल, दिन, उषःकाल और सायंकाल" के वाचक हैं, तथा व्यक्तिके शरीरमें "जीवन, जागृति, इच्छा और विश्रांति" के सूचक हैं। इसलिये इस सोलहवें मंत्रका भाव दोनों प्रकार समझना उचित है । ये चार भाव समाज और राष्ट्रके विषयमें भी होते हैं, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जागृति, जनताकी इच्छा और लोगोंका आराम ये भाव सामुदायिक जीवन में हैं । पाठक इस प्रकार इस मंत्रका भाव समझें ।

मंत्र १७ में फिर वैयक्तिक बातका उल्लेख है । प्रजातंतु अर्थात् संततिका तांता (धागा) टूट न जाय, इसलिये शरीरमें वीर्य है यह बात यहां स्पष्ट कही है। तैत्तिरीय उपनिषद्में "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः (तै० १।११।१)" संततिका तांता न तोड । यह उपदेश है । वही भाव यहां सूचित किया है । यहां दूसरी बात सूचित होती है कि वीर्य यौंही खोनेके लिये नहीं है, परंतु उत्तम संतति करनेके लियेही है। इसलिये कामोपभोगके अतिरेकमें वीर्यका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको सुरक्षित करके उत्तम संतति उत्पन्न करनेमें ही खर्च करना चाहिये। इसी सूक्तमें आगे जाकर मंत्र २९ में कहेंगे कि "जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव उत्तम इंद्रिय, दीर्घ जीवन और उत्तम संतति देते हैं ।" उस मंत्रके अनुसंधानमें इस मंत्रके प्रश्नको देखना चाहिये । वंश अथवा कुलका क्षय नहीं होना चाहिये, और संततिका क्रम चलता रहना चाहिये; इतना नहीं परंतु उत्तरोत्तर संततिमें शुभगुणोंकी वृद्धि होनी चाहिये इसलिये उक्त सूचना दी है। अज्ञानी लोग वीर्यका नाश दुर्व्यसनोंमें कर देते हैं, और उससे अपना और

*
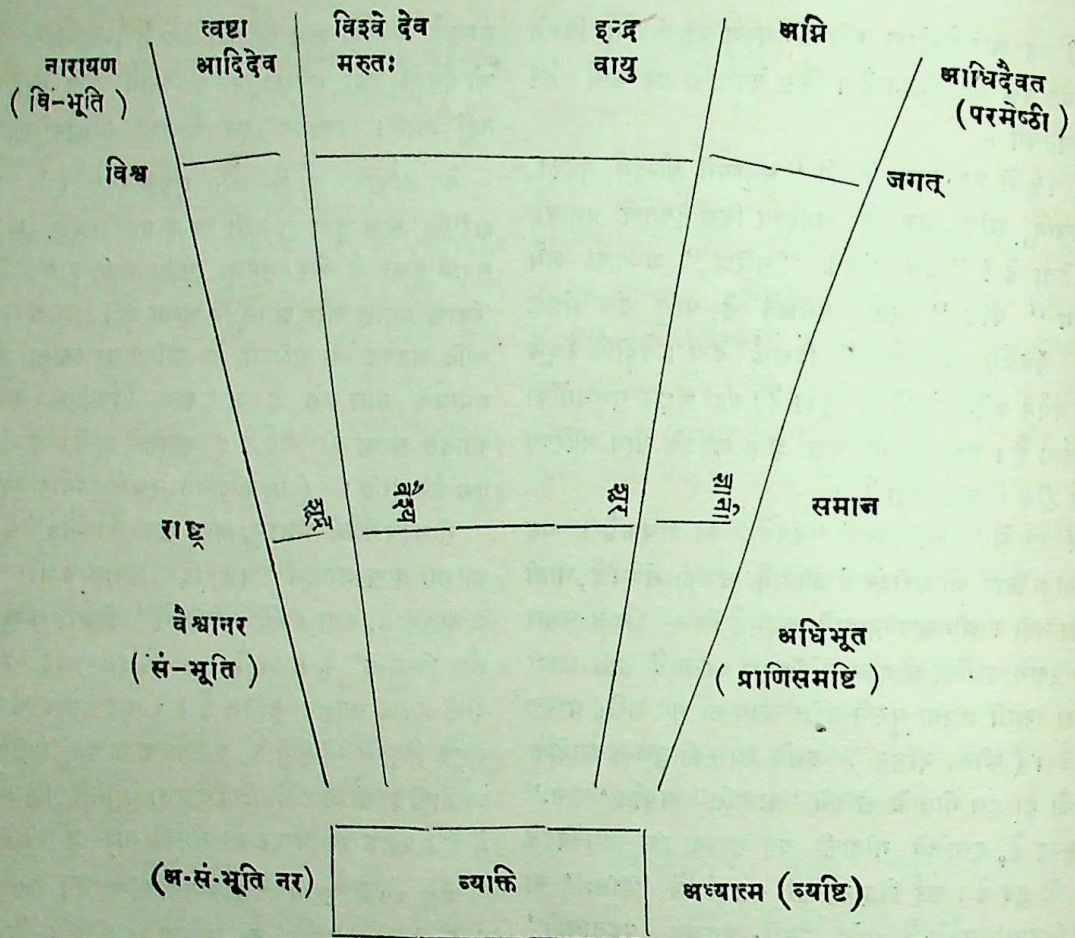
कुलका घात करते हैं; परंतु ज्ञानी लोग वीर्यका संरक्षण करते हैं और सुसंतति निर्माण करने द्वारा अपना और कुलका संवर्धन करते हैं । यही धार्मिकों और अधार्मिकोंमें भेद है ।

इसी मंत्रमें "बाण" शब्द "वाणी" का वाचक और "नृतः" शब्द "नाट्य" का वाचक है । मनुष्य जिस समय बोलता है उस समय हाथ पांवसे अंगोंके विक्षेप तथा विशेष प्रकारके आविर्भाव करता है । यही "नृत्" हैं । भाषणके साथ मनके भाव व्यक्त करनेके लिये अंगोंके विशेष आविर्भाव होने चाहिये, यह आशय यहां स्पष्ट व्यक्त हो रहा है ।

मंत्र १८ में जगत्के विषयमें प्रश्न है । भूमि, द्युलोक और पर्वत किसने व्यापे हैं ? अर्थात् व्यापक परमात्मा सब जगत्में व्याप्त हो रहा है, यह इसका उत्तर आगे मिलना है । व्यक्तिमें जैसा आत्मा है, वैसा संपूर्ण जगत् में परमात्मा विद्यमान है । पुरुष शब्दसे दोनोंका बोध होता है । व्यक्तिमें जीवात्मा पुरुष है और जगत्में परमात्मा पुरुष है । यह आत्मा कर्म क्यों करता है ? यह प्रश्न इस मंत्रमें हुआ है ।

मंत्र १९ में यज्ञ करनेका भाव तथा श्रद्धाका श्रेष्ठ भाव मनुष्यमें कैसा आता है, यह प्रश्न है । पाठक भी इसका बहुत विचार करें, क्योंकि इन गुणोंके कारण ही मनुष्यका श्रेष्ठत्व है । ये भाव मनमें रहते हैं और मनके प्रभावके कारण ही मनुष्य-श्रेष्ठ होता है । तथा—

(५) ज्ञान और ज्ञानी ।

मंत्र २० में चार प्रश्न हैं और उनका उत्तर मंत्र २१ में दिया है। श्रोत्रियको कैसा प्राप्त किया जाता है ? गुरुको किस रीति से प्राप्त करना है? इसका उत्तर "ज्ञानसे ही प्राप्त करना चाहिये"

अर्थात् गुरु पहचाननेका ज्ञान शिष्यमें चाहिये। अन्यथा ढोंगी धूर्तके जालमें फंस जाना असंभव नहीं है।

परमात्माको कैसे प्राप्त किया जाता है? इस प्रश्नका उत्तर **"ज्ञानसे"** ही है, ज्ञानसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। "परमेष्ठी" शब्दका अर्थ "परम स्थानमें रहनेवाला आत्मा" ऐसा है। परेसे परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है।(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण और (४) महाकरण इससे परे वह है, इसलिये उसको **"परमेष्ठी"** किंवा **"पर-तमे-ष्ठी"** परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञानसे ही लगता है। सबसे पहिले अपने ज्ञानसे सद्गुरुको प्राप्त करना है, तत्पश्चात् उस सद्गुरुसे दिव्यज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्माके जानना होता है।

तीसरा प्रश्न "अग्नि कैसा प्राप्त होता है?" यह है; यहां **'अग्नि'** शब्दसे सामान्य आग्नेय भाव लेना उचित है। ज्ञानाग्नि प्राणाग्नि, आत्माग्नि, ब्रह्माग्नि आदि जो सांकेतिक अग्नि हैं, उनका यहां बोध लेना चाहिये। क्योंकि गुरुका उपदेश और परमात्मज्ञानके साथ संबंध रखनेवाले तेजके भाव ही यहां अपेक्षित हैं। वे सब गुरुके उपदेशसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानसे ही प्राप्त होते हैं।

चौथा प्रश्न संवत्सरकी गिनतीके विषयमें है। संवत्सर "वर्ष" का नाम है। इससे "काल" का बोध होता है। इसके अतिरिक्त "सं-वत्सर" का अर्थ ऐसा होता है- (सं सम्यक् वसति वासयति वा स सं-वत्सरः) जो उत्तम प्रकार सर्वत्र रहता है और सबको उत्तम रीतिसे वसाता है वह संवत्सर कहलाता है। विष्णुसहस्र-नाममें संवत्सरका अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा किया है। "**सम्यक् निवास**" इतना ही अर्थ यहां अपेक्षित है। सम्यक् निवास अर्थात् उत्तम प्रकारसे रहना सहना किससे होता है? यह प्रश्न है। उसका उत्तर "ज्ञानसे ही उत्तम निवास हो सकता है" अर्थात् ज्ञानसे ही मनुष्य अपना वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य जानता है, और ज्ञानसे ही उस कर्तव्यका पालन करता है; तात्पर्य व्यक्ति, समाज और जगत्में उत्तम शांतिकी स्थापना उत्तम ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान ही सब की सुस्थितिका हेतु है। इस प्रकार इन मंत्रों द्वारा ज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है।

ज्ञान गुण आत्माका होनेसे यहां ब्रह्म शब्दसे आत्माका भी बोध होता है, और आत्माके ज्ञानसे यह सब होता है। ऐसा भाव व्यक्त होता है। क्योंकि ज्ञान आत्मासे पृथक् नहीं है। इसी लिये ब्रह्म शब्दके ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म आदि अर्थ हैं।

(६) देव और देवजन।

मंत्र २२ में "देव" शब्दके तीन अर्थ हैं- (१) इंद्रियां, (२) ज्ञानी शूर आदि सज्जन, (३) और अग्नि इंद्र आदि देवतायें। ये अर्थ लेकर पहिले प्रश्नका अर्थ करना चाहिये। देवोंको अनुकूल बनाना और उनको उत्तम स्थान देना, यह किससे होता है यह प्रश्न है। इसका निम्न प्रकार तात्पर्य है।

(१) आध्यात्मिक भाव = (व्यक्तिके देहमें) = किससे इंद्रियों अवयवों और सब अंगोंको अनुकूल बनाया जाता है? और किससे उनका उत्तम प्रकारसे स्वास्थ्यपूर्वक निवास होता है? इसका उत्तर ज्ञानसे इंद्रियोंको अनुकूल बनाया जाता है और उनका निवास उत्तम स्वास्थ्यपूर्वक होनेकी व्यवस्था की जाती है। (२) आधिभौति भाव = (राष्ट्रके देहमें) = राष्ट्रमें देवोंका पंचायतन होता है। एक "ज्ञान-देव" ब्राह्मण होते हैं, दूसरे "बल-देव" क्षत्रिय होते हैं, तीसरे 'धन-देव' वैश्य होते हैं, चौथे "कर्म-देव" शूद्र होते हैं, पांचवे "वन-देव" नगरोंसे बाहिर रहनेवाले लोग होते हैं। इन पांचोंके प्रतिनिधि जिस सभामें होते हैं, उस सभाको "पंचायत" अथवा 'पंचायतन' कहते हैं और उस सभाके सभासदोंको "पंच" कहते हैं। ये पांचों प्रकारके देव राष्ट्रपुरुषके शरीरमें अनुकूल बनकर किससे रहते हैं? यह प्रश्नका तात्पर्य है। "ज्ञानसे ही सब जन अनुकूल व्यवहार करते हैं, और ज्ञानसे ही सबका योग्य निवास होता है।" यह उक्त प्रश्नका उत्तर है। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होनेसे सबका ठीक व्यवहार होता है। इन दोनों मंत्रोंमें "देव-जनीः विशः" ये शब्द हैं, इसका अर्थ "देवसे जन्मी हुई प्रजा" ऐसा होता है। अर्थात् सब प्रजाजनोंकी उत्पत्तिका हेतु देव है। यह सब संतान देवोंकी है। तात्पर्य कोई भी अपने आपको नीच न समझे और दूसरेको भी हीन दीन न माने; क्योंकि सब लोग देवतासे उत्पन्न हुये हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं और समान है। इनकी उन्नति ज्ञानसे होती है, (३) आधिदैविक भाव = (जगत्में) = अग्नि, विद्युत्, वायु, सूर्य आदि सब देवताओंको अनुकूल बनाना किससे होता है? और निवासके लिये उनसे सहायता किससे मिलती है। इस प्रश्नका उत्तर भी "ज्ञानसे यह सब होता है," यही है।

ज्ञानसेही भूमि, जल, तेज, वायु, सूर्य आदि देवताओंकी अनुकूलता संपादन की जाती है और ज्ञानसेही अपने सुखमय निवासके लिये उनकी सहायता ली जाती है; अथवा जो ज्ञान-स्वरूप परब्रह्म है वही सब करता है। उक्त प्रश्नका तीनों स्थानोंमें अर्थ इस प्रकार होता है। यहां भी " ब्रह्म " शब्दसे ज्ञान, आत्मा, परमात्मा आदि अर्थ लिये जा सकते हैं, क्योंकि केवल ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं रहता है।

दूसरे प्रश्नमें " दैव-जनीः विशः " अर्थात् दिव्यप्रजा परस्पर अनुकूल बनकर किस रीतिसे सुखपूर्ण निवास करती है, यह भाव है। इस विषयमें पूर्व स्थलमें लिखाही है। इस प्रश्नके उत्तर भी 'ज्ञानसे यह सब होता है' यही है।

तीसरे प्रश्नमें पूछा है कि " सत् क्ष--त्र " उत्तम क्षात्र किससे होता है ? क्षतों अर्थात् दुःखोंसे जो त्राण अर्थात् रक्षण किया जाता है, उसको क्षत्र कहते हैं। दुःख, कष्ट, आपत्ति, हानि, अवनति आदिसे बचाव करनेकी शक्ति किससे प्राप्त होती है, यह प्रश्न है। इसका उत्तर "ज्ञानसे वह शक्ति आती है" यही है। ज्ञानसे सब कष्ट दूर होते हैं, यह बात जैसी व्यक्तिमें वैसीही समाजमें और राष्ट्रमें बिलकुल सत्य है।

" दूसरा न-क्षत्र किससे होता है ?" यह चौथा प्रश्न है। यहां " न-क्षत्र " शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुआ है। आकाशमें जो तारागण हैं उनको " नक्षत्र " कहते हैं, इसलिये कि वे (न क्षरान्ति) अपने स्थानसे पतित नहीं होते। अर्थात् अपने स्थानसे पतित न होनेका भाव जो " न-क्षत्र" शब्दमें है वह यहां अभीष्ट है। यह अर्थ लेनेसे उक्त प्रश्नका तात्पर्य निम्नलिखित प्रकार हो जाता है, " किससे यह दूसरा न गिरनेका सद्गुण प्राप्त होता है ? " इसका उत्तर " ज्ञानसे न गिरनेका सद्गुण प्राप्त होता है " यह है। जिसके पास ज्ञान होता है, वह अपने स्थानसे कभी गिरता नहीं। यह जैसा एक व्यक्तिमें सत्य है वैसाही समाजमें और राष्ट्रमें भी है। अर्थात् ज्ञानके कारण एक व्यक्तिमें ऐसा विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त होता है कि वह व्यक्ति कभी स्वकीय उच्च अवस्थासे गिर नहीं सकती। तथा जिस समाज और राष्ट्रमें ज्ञान भरपूर रहेगा, वह समाज भी कभी अवनत नहीं हो सकता।

इन मंत्रोंमें व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके तत्त्व उत्तम प्रकारसे कहे हैं। ज्ञानके कारण व्यक्तिके इंद्रिय, राष्ट्रके पांच ही जन उत्तम अवस्थामें रहते हैं, प्रजाओंका अभ्युदय होता है, उनमें दुःख दूर करनेका सामर्थ्य आता है और ज्ञानके कारण वे कभी अपनी श्रेष्ठ अवस्थासे गिरते नहीं। यहां ज्ञानवाचक ब्रह्म शब्द है, यह पूर्वोक्त प्रकारही "ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म" का वाचक है, क्योंकि सत्य ज्ञान इनमें ही रहता है।

(७) अधिदैवत।

इस प्रश्नोत्तरमें त्रिलोकीका विषय आ गया है, इसका थोडासा विचार सूक्ष्म दृष्टिसे करना चाहिये। भूलोक, अंतरिक्ष लोक और द्युलोक मिलकर त्रिलोकी होती है। यह व्यक्तिमें भी है और जगत् में भी है। देखिये—

लोक	व्यक्तिमें रूप	राष्ट्रमें रूप (विशः)	जगत्में रूप
भूः	नाभिसे गुदा-तकका प्रदेश, पांव	जनता प्रजा धनी और कारीगर लोग	पृथ्वी (अग्नि)
भुवः	छाति और हृदय	(क्षत्रं) शूर लोग लोकसभा समिति	अंतरिक्ष (वायु) इंद्र
स्वः स्वर्ग	सिर मस्तिष्क	(ब्रह्म) ज्ञानी लोग मंत्रिमंडल	द्युलोक नभो मंडल (सूर्य)

मंत्र २४ में पूछा है कि, पृथिवी, अंतरिक्ष, और द्युलोकोंको अपने अपने स्थानमें किसने रखा है ? उत्तरमें निवेदन किया है कि उक्त तीनों लोकोंको ब्रह्मने अपने अपने स्थानमें रख दिया है। उक्त कोष्टकसे तीनों लोक व्यक्तिमें, राष्ट्रमें और जगत्‌में कहां रहते हैं, इसका पता लग सकता है । व्यक्तिमें सिर, हृदय और नाभिके निचला भाग ये तीन लोक हैं, इनका धारण आत्मा कर रहा है। शरीरमें अधिष्ठाता जो अमूर्त आत्मा है, वह शरीरस्थ इन तीनों केंद्रोंको धारण करता है और वहांका सब कार्य चलाता है। अमूर्त राजशक्ति राष्ट्रीय त्रिलोकीकी सुरक्षितता करती है। तथा अमूर्त व्यापक ब्रह्म जगत्‌की त्रिलोकीकी धारणा कर रहा है।

इस २४ वे मंत्रके प्रश्नमें पूर्व मंत्रोंमें किये सब ही प्रश्न संग्रहीत हो गये हैं। यह बात यहां विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना चाहिये कि पहिले दो मंत्रोंमें नाभिके निचले भागोंके विषयमें प्रश्न हैं, मंत्र ३ से ५ तक मध्यभाग और छातिके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र ६ से ८ तक सिरके विषयमें प्रश्न हैं। इस प्रकार ये प्रश्न व्यक्तिकी त्रिलोकीके विषयमें स्थूल शरीरके संबंधमें हैं। मंत्र ९, १० में मनकी शक्ति और भावनाके प्रश्न हैं, मंत्र ११ में सर्व शरीरमें व्यापक रक्तके विषयका प्रश्न है, मंत्र १२ में नाम, रूप, यश, ज्ञान और चारित्र्यके प्रश्न हैं, मंत्र १३ में प्राणके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र १४ और १५ में जन्म मृत्यु आदिके विषयमें प्रश्न हैं। मंत्र १७ में संतति वीर्य आदिके प्रश्न हैं। ये सब मंत्र व्यक्तिके शरीरमें जो त्रिलोकी है, उसके संबंधमें हैं। उक्त मंत्रोंका विचार करनेसे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। इन मंत्रोंके प्रश्नोंका क्रम देखनेसे पता लग जायगा कि वेदने स्थूलसे स्थूल पांवसे प्रारंभ करके कैसे सूक्ष्म आत्मशक्तिके विचार पाठकोंके मनमें उत्तम रीतिसे जमा दिये हैं। जड शरीरके मोटे भागसे प्रारंभ करके चेतन आत्मातक अनायाससे पाठक आ गये हैं। केवल प्रश्न पूछनेसे ही पाठकोंमें इतना अद्भुत ज्ञान उत्पन्न हुआ है। यह खूबी केवल प्रश्न पूछनेकी और प्रश्नोंके क्रमकी है।

चोवीसवें मंत्रमें प्रश्न किये हैं कि, यह त्रिलोकी किसने धारण की है। इसका उत्तर २५ वे मंत्रमें है कि, "ब्रह्मही इस त्रिलोकीका धारण करता है।" अर्थात् शरीरकी त्रिलोकी शरीरके अधिष्ठाता आत्माने धारण की है, यह "आध्यात्मिक भाव" यहां स्पष्ट हो गया है। इस प्रकार पचास प्रश्नोंका उत्तर इस एकही मंत्रने दिया है।

अन्य मंत्रोंमें (मंत्र १६, १८ से २४ तक) जितने प्रश्न पूछे हैं उनके "आधिभौतिक" और "आधिदैविक" ऐसे दो ही विभाग होते हैं, इनका वैय्यक्तिक भाग पूर्व विभागमें आ गया है। इनका उत्तर भी २५ वा मंत्र ही दे रहा है। अर्थात् सबका धारण "ब्रह्म" ही कर रहा है। तात्पर्य संपूर्ण ७१ प्रश्नोंका उत्तर एक ही "ब्रह्म" शब्दमें समाया है। प्रश्नके अनुसार "ब्रह्म" शब्दके अर्थ "ज्ञान, आत्मा परमात्मा, परब्रह्म" आदि हो सकते हैं। इसका संबंध पूर्व स्थानमें बतायाही है।

व्यक्तिमें और जगत् में जो 'प्रेरक' है उसका 'ब्रह्म' शब्दसे इस प्रकार बोध हो गया। परंतु यह केवल शब्दकाही बोध है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। शब्दसे बोध होनेपर मनमें चिंता उत्पन्न होती है कि, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान किस रीतिसे प्राप्त किया जा सकता है ? हमें शरीरका ज्ञान होता है और बाह्य जगत्‌को भी प्रत्यक्ष करते हैं, परंतु उसके अंतर्यामी प्रेरकको नहीं जानते !! उसको जाननेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है—

ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय ।

इस २६ मे मंत्रदें अनुष्ठानकी विधा कही है। यही अनुष्ठान है जो कि, आत्मरूपका दर्शन कराता है। सबसे पहिली बात है "अथर्वा" बननेकी। "अ-थर्वा" का अर्थ है निश्चल। थर्व का अर्थ है गति अथवा चंचलता। चंचलता सब प्राणियोंमें होती है। शरीर चंचल है, उससे इंद्रियां चंचल है, किसी एक स्थानपर नहीं ठहरतीं। उनसे भी मन चंचल है, इस मनकी चंचलताकी तो कोई हदही नहीं है। इस प्रकार जो चंचलता है उसके कारण आत्मशक्तिका आविर्भाव नहीं होता। जब मन, इंद्रियां और शरीर स्थिर होता है, तब आत्माकी शक्ति विकसित होकर प्रगट होती है।

आसनोंके अभ्याससे शरीरकी स्थिरता होती है, और शारीरिक आरोग्य प्राप्त होनेके कारण सुख मिलता है। ध्यानसे इंद्रियोंकी स्थिरता होती है और भक्तिसे मन शांत होता है। इस प्रकार योगी अपनी चंचलताका निरोध करता है। इसलिये इस योगीको "अ-थर्वा" अर्थात् "निश्चल" कहते हैं। यह निश्चलता प्राप्त करना बडेही अभ्यासका कार्य है। सुगमतासे साध्य नहीं होती। सालोसाल निरंतर और एकनिष्ठासे

प्रयत्न करनेपर मनुष्य " अ-थर्वा " बन सकता है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद कहलाता है। हरएक मनुष्य योगी नहीं होता; इसलिये हरएकके कामका भी अथर्व वेद नहीं है। परंतु इतर तीन वेद " सद्बोध-सत्कर्म-सदुपासना " रूप होनेसे सब लोगोंके लिये ही हैं। इसलिये वेदको " त्रयी विद्या " कहते हैं। चतुर्थ " अथर्ववेद " किंवा " ब्रह्मवेद " विशिष्ट अवस्थामें पहुंचनेका प्रयत्न करनेवाले विशेष पुरुषोंके लिये होनेसे उनको " त्रयी " में नहीं गिनते। तात्पर्य इस दृष्टिसे देखनेपर भी 'अथर्वा' की विशेषता स्पष्ट दिखाई देती है।

इस प्रकार "अ-थर्वा" अर्थात् निश्चल बननेके पश्चात् सिर और हृदयको सीना चाहिये। सीनेका तात्पर्य एक करना अथवा एकही कार्यमें लगाना है। सिर विचारका कार्य करता है और हृदय भक्तिमें तल्लीन होता है। सिरके तर्क जब चलते हैं, तब वहां हृदय की भक्ति नहीं रहती; तथा जब हृदय भक्तिसे परिपूर्ण हो जाता है तब वहां तर्क बंद हो जाता है। केवल तर्क बढनेपर नास्तिकता और केवल भक्ति बढने पर अंधविश्वास होना स्वाभाविक है। इसलिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, सिर और हृदयको सी दो। ऐसा करनेसे सिर अपने तर्क भक्ति के साथ रहते हुए करेगा और नास्तिक बनेगा नहीं, तथा भक्ति करते करते हृदय अंधा बनने लगेगा, तो सिर उसको ज्ञानके नेत्र देगा। इस प्रकार दोनोंका लाभ है। सिरमें ज्ञान नेत्र हैं और हृदयकी भक्तिमें बडा बल है। इसलिये दोनोंके एकत्रित होनेसे बडाही लाभ है।

राष्ट्रीय शिक्षाका विचार करनेवालोंको इस मंत्रसे बडाही बोध मिल सकता है। **शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिससे पढनेवालोंके सिरकी विचार शक्ति बढे और साथ साथ हृदयकी भक्ति भी बढे।** जिस शिक्षाप्रणालीसे केवल तर्कना-शक्ति बढती है, अथवा केवल भक्ति बढती है वह बडी घातक शिक्षा है।

सिर और हृदयको एक मार्गमें लाकर उनको साथ साथ चलाने का जो स्पष्ट उपदेश इस मंत्रमें है, वह किसी अन्य ग्रंथोंमें नहीं है। किसी अन्य शास्त्रमें यह बात नहीं है। वेदके ज्ञानकी विशेषता इस मंत्रसे ही सिद्ध होती है। उपासना की सिद्धि इसीसे होती है। पाठक इस मंत्रमें वेदके ज्ञानकी सच्चाई देख सकते हैं।

पहिली अवस्था " अ-थर्वा " बनना है, तत्पश्चात् सिर और हृदयको सीकर एक करना चाहिए। जब दोनों एक ही मार्गसे चलने लगेंगे तब बडी प्रगति होती है। इतनी योग्यता आनेके लिये बडे दृढ अभ्यास की आवश्यकता है। इसके पश्चात् प्राणको सिरके अंदर परंतु मस्तिष्कके परे प्रेरित करना है। सिरमें मस्तिष्कके उच्चतम भागमें ब्रह्मलोक है। इस ब्रह्मलोकमें प्राणके साथ आत्मा जाता है। यह योगसे साध्य अंतिम उच्चतम अवस्था है। यहां प्राण कैसा जाता है? ऐसा प्रश्न यहां पूछा जा सकता है। गुदाके पास मूलाधार स्थान है, वहांसे प्राण पृष्ठवंशके बीचमेंसे ऊपर चढने लगता है। मूलाधर, स्वाधिष्ठान आदि आठ चक्र इसी पृष्ठवंश किंवा मेरुदण्डके साथ लगे हैं। इनमेंसे होता हुआ, जैसा जैसा अभ्यास होता है वैसा वैसा प्राण ऊपर चढता है और अंतमें ब्रह्मलोकमें किंवा सिरमें परंतु मस्तिष्कके ऊपर प्राण पहुंचता है। यहां जाकर उस उपासक को ब्रह्म स्वरूपका साक्षात् होता है। तात्पर्य जो सबका प्रेरक ब्रह्म है वह यहां पहुंचनेके पश्चात् अनुभवमें आता है। पूर्व पच्चीस मंत्रोंद्वारा जिसका वर्णन हुआ, उसको जाननेका यह मार्ग है। सिरकी तर्कशक्तिके परे ब्रह्मका स्थान है, इसलिये जबतक तर्क चलते रहते हैं, तबतक ब्रह्मका अनुभव नहीं होता। परंतु जिस समय तर्कसे परे जाना होता है, उस समय उस तत्त्वका अनुभव होता है। इस अनुष्ठानका फल अगले चार मंत्रोंमें कहा है।

(९) अथर्वाका सिर।

इस २७ वें मंत्रमें अथर्वाके सिरकी योग्यता कही है। स्थिरचित्त योगीका नाम " अ-थर्वा " है। इस योगीका सिर देवोंका सुरक्षित भण्डार है। अर्थात् देवोंका जो देवपन है वह इसके सिरमें सुरक्षित होता है। शरीरमें ये सब इन्द्रिय ज्ञान और कर्म इंद्रियदेव हैं; तथा पृथिवी, आप, तेज, वायु, विद्युत् सूर्य आदि देवोंके अंश जो शरीरमें अन्य स्थानोंमें हैं, वे भी देव हैं। इन सब देवोंका संबंध सिरमें होता है, मानो सब देवताओंकी मुख्य सभा सिरमें होती है। सब देव अपना सत्त्व सिरमें रख देते हैं। सब देवोंके सत्त्वांशसे यह सिर बना है और सिरका यह मस्तिष्कका भाग बडा ही सुरक्षित है। इसकी सुरक्षितता " प्राण, अन्न और मन " के कारण होती है। अर्थात् प्राणायामसे, सात्त्विक अन्नके सेवनसे और मनकी शांतिसे देवोंका उक्त खजाना सुरक्षित रहता है। प्राणायामसे सब

दोष जल जाते हैं, सात्त्विक अन्नसे शुद्ध परमाणुओंका संचय होता है और मनकी शांतिसे समता रहती है। अर्थात् प्राणायाम न करनेसे मस्तकमें दोष-बीज जैसे के वैसे ही रहते हैं, बुरा अन्न सेवन करनेसे रोग-बीज बढते हैं और मनकी अशांतिसे पागलपन बढ जाता है। इस कारण देवोंका खजाना नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

इस मंत्रमें योगीके सिरकी योग्यता बताई है और आरोग्यकी कूंजी प्रकट की है। (१) विधिपूर्वक प्राणायाम, (२) शुद्ध सात्त्विक अन्नका सेवन और (३) मनकी परिशुद्ध शांति, ये आरोग्यके मूल कारण हैं। योगसाधनकी सिद्धताके लिये तथा बहुत अंशमें पूर्ण स्वास्थ्यके लिये सदा सर्वदा इनकी आवश्यकता है।

अपना सिर देवोंका कोश बनानेके लिये हरएकको प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा वह राक्षसोंका निवास-स्थान बनेगा और फिर कष्टोंकी कोई सीमाही नहीं रहेगी। राक्षस सदा हमला करनेके लिये तत्पर रहते हैं, उनका बल भी बडा होता है। इसलिये सदा तत्परताके साथ दक्षता धारण करके स्व-संरक्षण करना चाहिये। तथा दैवी भावनाका विकास करके राक्षसी भावनाको समूल हटाना चाहिये। ऐसी दैवी भावनाकी स्थिति होनेके पश्चात् जो अनुभव होता है, वह अगले मंत्रमें लिखा है।

(१०) सर्वत्र पुरुष।

जब मंत्र २६ के अनुसार अनुष्ठान किया जाता है और मंत्र २७ के अनुसार "दैवी संपत्ति" की सुरक्षा की जाती है, तब मंत्र २८ का फल अनुभवमें आता है। "ऊपर, नीचे, तिरछा सभी स्थानमें यह पुरुष व्यापक है" ऐसा अनुभव आता है। इसके विना कोई स्थान रिक्त नहीं है। परमात्माकी सर्वव्यापकता इस प्रकार ज्ञात होती है। पुरीमें वसनेके कारण (पुरि+वस; पुर्+उस=पुरुषः) आत्माको पुरुष कहते हैं। यह पुरुष जैसा बाहिर है वैसा इस शरीरमें भी है। इसलिये बाहिर ढूँढनेकी अपेक्षा इसको शरीरमें देखना बडा सुगम है। गोपथ-ब्राह्मणमें "अथर्वा" शब्दकी व्युत्पत्ति इसी दृष्टिसे निम्न प्रकार की है-

'अथ अर्वाक् एनं एतासु अप्सु अन्विच्छ इति॥' (गो. १।४)

(अब इधरही इसको तूं इस जलमें ढूंढ।) तात्पर्य बाहिर ढूंढनेसे यह आत्मा प्राप्त नहीं होगा, अंदर ढूंढनेसे ही प्राप्त होगा। यहां अथर्ववेदका कार्य बताया है----

$$\text{अथ}+(\text{अ})\text{र्वा}(\text{क्}) = \text{अथर्वा}।$$

अपने अंदर आत्माको ढूंढनेकी विद्या जिसने बता दी है, वही अथर्ववेद है। सब अथर्ववेद की यही विद्या है। अथर्ववेद अन्य वेदोंसे पृथक् और वह वेदत्रयीसे बाहिर क्यों है, इसका पता यहां लग सकता है। संपूर्ण जनता अपने अंदर आत्माका अनुभव नहीं कर सकती, इसलिये जो विशेष सज्जन योगमार्गमें प्रगति करना चाहते हैं, उनके लिये तथा जो सिद्ध पुरुष होते हैं उनके लिये यह वेद है।

जो जहां रहता है, उसको वहां देखना चाहिये। चूंकी यह आत्मा पुरिमें रहता है, इसलिये इसको पुरिमें ही ढूंढना चाहिये। इस शरीरको पुरि कहते हैं, क्योंकि यह सप्त धातुओंसे तथा अन्यान्य उपयोगी शक्तियोंसे परिपूर्ण है। इस पुरिमें जो वसता है, उसको पुरुष कहते हैं। पुरुष किंवा पूरुष ये दोनों शब्द हैं और दोनोंका अर्थ एक ही है।

आगे मंत्र ३१ में इस पुरिका वर्णन आ जायगा। पाठक वहां ही पुरिका वर्णन देख सकते हैं। इस ब्रह्मपुरी, ब्रह्मनगरी, अमरावती, देवनगरी, अयोध्यानगरी आदिको यथावत् जाननेसे जो फल प्राप्त होता है, उसको इस मंत्र २८ ने बताया है। ब्रह्मनगरीको जो उत्तम प्रकारसे जानता है, उसको सर्वोत्तमभावका अनुभव आता है। जो पुरुष अपने आत्मामें, अपने हृदयाकाशमें है वह ऊपर नीचे तिरछा सब दिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह किसी स्थानपर नहीं ऐसा एक भी स्थान नहीं है। यह अनुभव उपासकको यहां होता है। **"अपने आपको आत्मामें और आत्माको अपनेमें वह देखने लगता है।"** (ईश उ० ६) जो इस प्रकार देखता है, उसको शोक मोह नहीं होते और उससे कोई अपवित्र कार्य भी नहीं होता।

इस मंत्रमें "सृष्ट" शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। (poured out, connected, abundant, ornamented) फैला हुआ, संबंधित रहा हुआ, विपुल, सुशोभित ये "सृष्ट" शब्दके यहां अर्थ हैं। (१) जिस प्रकार जल झरनेसे बहता हुआ चारों ओर फैलता है, उस प्रकार आत्मा सर्वत्र फैला है, आत्माको सबका मूल "स्रोत" कहते ही हैं। स्रोतसे जलका निकलना और फैलना होता है। इसलिये यह अर्थ यहां है।

(२) फैलनेसे उसका सबके साथ संबंध आता है। (३) वह विपुल होनेके कारण ही चारों तर्फ फैल रहा है। (४) सबकी शोभा उसी कारण होती है, इसलिये वह सुशोभित भी है। ये "सृष्ट" शब्दके अर्थ सब कोशोंमें हैं और इस प्रसंगमें बडे योग्य हैं। परंतु इसका विचार न करते हुए कईयोंने "उत्पन्न हुआ" ऐसा प्रसिद्ध अर्थ लेकर इस मंत्रका अर्थ करनेका यत्न किया है। इसका विचार पाठक ही कर सकते हैं।

इस मंत्रमें " सृष्टा-३: " तथा "बभूवाँ३" शब्द प्लुत हैं। प्लुत स्वरका उच्चार तीन गुणा लंबा करना चाहिये। प्लुत शब्दका उच्चारण अत्यंत आनंदके समय प्रेमातिशयमें होता है। इसके अन्य भी प्रसंग हैं, परंतु यहां आनंदातिशयके प्रसंगमें इसका उपयोग किया है। ब्रह्मपुरीको जाननेसे अत्यंत आनंद होता है और परमात्माकी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष अनुभव में आनेसे उस आनंदका पारावार ही क्या कहना है ? इस परम आनंदको शब्दोंमें व्यक्त करनेके लिये प्लुत स्वरका प्रयोग इस मंत्रमें हुआ है।

जिस पुरुषको परमात्मसाक्षात्कारका अनुभव उक्त प्रकार आ जाता है, वह आनंदसे नाचने लगता है, वह उस आनंदमें मग्न हो जाता है, वह प्रेमसे ओतप्रोत भर जाता है, वह शोकमोहसे रहित अतएव अत्यंत आनंदमय हो जाता है। अब ब्रह्मज्ञानका और एक फल देखिये-

(११) ब्रह्मज्ञानका फल

ब्रह्मनगरीका थोडासा अधिक वर्णन इस २९ वे मंत्रमें है। 'अमृतेन आवृता ब्रह्मणः पुरिः" अर्थात् "अमृतसे आवृत ब्रह्मकी नगरी है।" यहां "अ-मृत "शब्दसे अज, अमर, अजरामर आत्मा लेना उचित है। इस ब्रह्मपुरिमें आत्मा परिपूर्ण है। आत्मा अ-मृत रूप होनेसे जो उसको प्राप्त करता है, वह अमर बन जाता है। इसलिये हरएकको यथाशक्ति इस मार्गमें प्रयत्न करना चाहिये। यह ब्रह्मकी नगरी कहां है, उस स्थानका पता मंत्र ३१ में पाठक देखेंगे।

ब्रह्मनगरीको यथावत् जाननेसे ब्रह्म और ब्राह्म प्रसन्न होते हैं और उपासकको चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। "ब्रह्म" शब्दसे "आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म" का बोध होता है और "ब्राह्माः" शब्दसे "ब्रह्मसे बने हुए इतर देव, अर्थात् अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, इंद्र, वरुण आदि देव बोधित होते हैं।" ब्रह्मनगरीको जाननेसे ब्रह्मकी प्रसन्नता होती है और संपूर्ण इतर देवोंकी भी प्रसन्नता होती है। प्रसन्न होनेसे ये सब देव और सब देवोंका मूल प्रेरक ब्रह्म इस उपासकको तीन पदार्थोंका अर्पण करते हैं। ये तीन पदार्थ "चक्षु, प्राण और प्रजा।" नामसे इस मंत्रमें कहे हैं।

"चक्षु"शब्दसे इंद्रियोंका बोध होता है,सब इंद्रियोंमें चक्षु मुख्य होनेसे, मुख्यका ग्रहण करनेसे गौणोंका स्वयं बोध होता है। " प्राण " शब्दसे आयुका बोध होता है। क्योंकि प्राणही आयु है। "प्रजा" शब्दसे "अपनी औरस संतति " ली जाती है। तात्पर्य " चक्षु, प्राण और प्रजा " शब्दोंसे क्रमशः (१) संपूर्ण इंद्रियोंका स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) उत्तम संततिका बोध होता है। उपासनासे प्रसन्न हुए ब्रह्म और देव उक्त तीन बातें अर्पण करते हैं। ब्रह्मज्ञानका यह फल है।

(१)शरीरका उत्तम बल और आरोग्य,(२) अतिदीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माण की शक्ति ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होती है। इनमें मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बलकी संपन्नता अंतर्भूत है, यह बात पाठक न भूलें। इनके अतिरिक्त उक्त सिद्धि हो नहीं सकती। मानसिक शांतिके अभावमें, बौद्धिक समता न होनेपर तथा आत्मिक निर्बलता की अवस्थामें, न तो शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेकी संभावना है और न दीर्घायुष्य तथा सुप्रजानिर्माण की शक्यता है। ये सद्गुण तथा इनके सिवाय अन्य सब शुभ गुण ब्रह्मज्ञानसे सहज प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मकी कृपा और देवोंकी प्रसन्नता होनेसे जो उत्तम फल मिल सकता है वह यही है। हमारे आर्यराष्ट्रमें प्राचीन कालके लोग अति दीर्घ आयुष्यसे संपन्न थे, बलिष्ठ थे और अपनी इच्छानुसार स्त्रीपुरुष संतानकी उत्पत्ति तथा विद्वान् शूर आदि जिस चाहे उस प्रवृत्तिकी संतति उत्पन्न करते थे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणके अंतिम अध्यायमें अथवा बृहदारण्यक उपनिषद्के अंतिम विभागमें प्रयोग ही स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हैं। इतिहास ग्रंथोंमें इस विषयकी बहुतसी साक्षियां हैं। पाठक वहां इस बातको देख सकते हैं। उसका यहां उद्धरण करनेके लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही बताना है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे अपना शारीरिक स्वास्थ्य संपादन करके अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके साथ साथ अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम संतति की उत्पत्ति की जा सकती है; जिस कालमें, जिस

देशमें, जिन लोगोंको यह विद्या साध्य होगी वे लोग ही धन्य हो सकते हैं। एक कालमें आर्योंको यह विद्या प्राप्त थी, आगे भी प्रयत्न करनेपर इस विद्याकी प्राप्ति हो सकती है ।

संतान-उत्पत्तिकी संभावना होनेकी आयुमें ही ब्रह्मज्ञान होनेयोग्य शिक्षाप्रणाली होनी चाहिये । आठ वर्षकी आयुमें उपनयन करके उत्तम गुरुके पास योगादि अभ्यासका प्रारंभ करनेसे २०, २५ वर्ष की अवधिमें ब्रह्मसाक्षात्कार होना असंभव नहीं है । अष्टावक्र, शुकाचार्य, सनत्कुमार आदिकोंको बीस वर्षके पूर्व ही तत्त्वज्ञान हुआ था । इससे बडी ऊमरमें जिनको तत्त्वज्ञान हो गया था ऐसे सत्पुरुष भरतखंडके इतिहासमें बहुतही हैं। तात्पर्य विशेष योग्यतावाले पुरुष जो कार्य अल्प आयुमें कर सकते हैं, वही कार्य मध्यम योग्यतावालोंको अधिक कालमें सिद्ध होगा, और कनिष्ठ योग्यतावालोंको बहुतही काल लगेगा । इसलिये यहां सर्वसाधारण रीतिसे इतनाही कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य-समाप्तितक उक्त योग्यता प्राप्त हो सकती है, और तत्पश्चात् गृहस्थाश्रममें सुयोग्य संतान उत्पन्न करनेकी संभावना कोई अशक्य कोटीकी बात नहीं ।

आजकल ब्रह्मज्ञानका विषय वृद्धोंकाही है ऐसा समझा जाता है, उनके मतका निराकरण इस मंत्रके कथनसे हो गया है। ब्रह्मज्ञानका विषय वास्तविक रीतिसे "ब्रह्म-चारि"योंका ही है। वनमें गुरुकुलोंमें रहते हुए ये "ब्रह्म-चारी" ही ब्रह्मप्राप्तिका उपाय कर सकते हैं और ब्रह्मचर्य-आश्रम की समाप्तितक "ब्रह्म-पुरी" का पता लगा सकते हैं । तथा इसी आयुमें (१ शारीरिक स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजा निर्माण की शक्ति, आदिकी नींव डाल सकते हैं । इस रीतिसे सच्चे ब्रह्मचारी, ब्रह्मपुरीमें जाकर, ब्रह्मज्ञानी बनकर, ब्रह्मनिष्ठ रहते हुए उत्तर तीनों आश्रमोंमें शांतिके साथ त्यागपूर्वक भोग करते हुए भी कमलपत्रके समान निर्लेप और निर्दोष जीवन व्यतीत कर सकते हैं । इस विषयके आदर्श वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, जनक, श्रीकृष्ण आदि हैं ।

हरएक आयुमें ब्रह्मज्ञानके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये । यहां उक्त बात इसलिये लिखी है कि यदि नवयुवकोंकी प्रवृत्ति इस दिशामें हो गई तो उनको अपना जीवन पवित्र बनाकर उत्तम नागरिक बननेद्वारा सब जगत्में सच्ची शांति स्थापन करनेके महत्कार्यमें अपना जीवन समर्पण करनेका बडा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है । अस्तु । यह मंत्र और भी बहुत बातोंका बोध कर रहा है, परंतु यहां स्थान न होनेसे अधिक स्पष्टीकरण यहां नहीं हो सकता। आशा है कि पाठक उक्त दृष्टिसे इस मंत्रका अधिक विचार करेंगे । इसी मंत्रका और स्पष्टीकरण अगले मंत्रमें है, देखिये-

*

मंत्र २९ में जो कथन है उसीका स्पष्टीकरण इस मंत्रमें है । ब्रह्मपुरीका ज्ञान प्राप्त होनेपर जो अपूर्व लाभ होता है उसका वर्णन इस मंत्रमें है। (१) अति वृद्ध अवस्थाके पूर्व उसके चक्षु आदि इंद्रिय उसको छोडते नहीं,(२)और न प्राण उसको उस वृद्ध अवस्थाके पूर्वही छोडता है । प्राण जलदी चला गया तो अकालमें मृत्यु होता है, और अल्प आयुमें इंद्रिय नष्ट होनेसे अंधापन आदि शारीरिक न्यूनता कष्ट देती है। ब्रह्मज्ञानीको ये कष्ट नहीं होते ।

आठ	वर्षकी	आयुतक	कुमार	अवस्था
सोलह	,,	,,	बाल्य	,,
सत्तर	,,	,,	तारुण्य	,,
सौ	,,	,,	वृद्ध	,,
एकसो बीस	,,	,,	जीर्ण	पश्चात् मृत्यु ।

ब्रह्मज्ञानीका प्राण जरा अवस्थाके पूर्व नहीं जाता । इस अवस्थातक वह आरोग्य और शांतिका उपभोग लेता है और तत्पश्चात् अपनी इच्छासे शरीरका त्याग करता है । जैसा कि भीष्मपितामह आदिकोंने किया था। (इस विषयमें "मानवी आयुष्य" नामक पुस्तक देखिये)

तात्पर्य यह ब्रह्मविद्या इस प्रकार लाभदायक है । ये लाभ प्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त जो अभौतिक अमृतका लाभ होता है तथा आत्मिक शक्तियोंके विकासका अनुभव होता है वह अलगही है । पाठक इसका विचार करें। अगले मंत्रमें देवोंकी नगरीका स्वरूप बताया है, देखिये—

(१२) ब्रह्मकी नगरी । अयोध्या नगरी ।

यह मनुष्यशरीर ही " देवोंकी अयोध्या नगरी " है। इसके नौ द्वार हैं । दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार मिलकर नौ दरवाजे हैं । पूर्वद्वार मुख है और पश्चिमद्वार गुदा है । पूर्वद्वारसे अंदर प्रवेश होता है और पश्चिमद्वारसे बाहिर गमन होता है । अन्य द्वार छोटे हैं और उनसे करनेके कार्य निश्चितही हैं । प्रत्येक द्वारमें रक्षक देव मौजूद हैं और वे कभी अपना नियोजित

कार्य छोडकर अन्य कार्य नहीं करते । इन नौ द्वारोंके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें निम्न प्रकार कहा है— "जो ब्रह्ममें अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता हैं, उसको वैसेही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमलके पत्तेको पानी नहीं लगता । अतएव कर्मयोगी शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और इंद्रियोंसे भी आसक्ति छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं । जो योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोडकर अंतकी पूर्ण शांति पाता है, परंतु जो योगयुक्त नहीं है वह वासनासे फलके विषयमें आसक्त होकर बद्ध हो जाता है । सब कर्मोंका मनसे संन्यास कर, जितेंद्रिय देहवान् पुरुष नौ द्वारोंके इस देहरूपी नगरमें न कुछ करता और न कराता हुआ आनंदसे रहता है। (गीता ५।१०-१३)" अर्थात् सब कुछ करता हुआ न करनेवालेके समान शांत रहता है । यह श्रेष्ठ सिद्धि इस देहमें रहते हुए प्रयत्नसे प्राप्त हो सकती है ।

नौ द्वारोंके अतिरिक्त इस देहमें किंवा इस ब्रह्मपुरीमें आठ चक्र हैं। (१)मूलाधार चक्र--गुदाके पास पृष्ठवंशसमाप्तिके स्थान में है, यही इस नगरीका मूल आधार है । (२) स्वाधिष्ठान चक्र--- उसके ऊपर है । (३) मणिपूरक चक्र- - नाभिस्थानमें है। (४) अनाहत चक्र-हृदय-स्थानमें है । (५) विशुद्धि चक्र-कंठस्थानमें है। (६) ललना चक्र----जिह्वामूलमें है। (७)आज्ञा-चक्र–दोनों भौहोंके बीचमें है । (८)सहस्रार चक्र- मस्तिष्क-में है । इसके अतिरिक्त और भी चक्र हैं, परंतु ये मुख्य है । इनमेंसे एक एक चक्रका महत्त्व योगसाधनके मार्गमें अत्यंत है, क्योंकि प्रत्येक चक्रमें प्राण पहुंचनेसे यहांसे अद्भुत शक्तिका आविष्कार होता है । इन आठ चक्रोंके कारण यह नगरी बडी शक्तिशाली हुई है । जैसे किलेपर शत्रु निवारण के लिये शस्त्रास्त्र रहते हैं, वैसे ही इस नगरीके संरक्षणके लिये इन आठ चक्रोंमें संपूर्ण शक्तियां शस्त्रास्त्रोंसमेत रखी हैं । इन चक्रोंके द्वारा ही हमारा आरोग्य है और बुद्धि, मन, इंद्रियां और शरीरकी सब शक्ति है । जो मनुष्य ये सब शक्तियोंके आठ केंद्र अपने आधीन कर लेता है, उसको शारीरिक आरोग्य, दीर्घ आयुष्य,सुप्रजा निर्माणकी शक्ति,इंद्रियोंकी स्वाधीनता, मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बल सहज प्राप्त होते हैं ।

इसमें जो हृदयकोश है, उस कोशमें " आत्मन्वत् यक्ष " रहता है, इस यक्षको ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं । यही यक्ष केन उपनिषद् में है और देवी भागवत की कथामें भी है । यह यक्षही सबका प्रेरक है, यह " आत्मवान् यक्ष " है । यह सब इंद्रियों, और प्राणोंको प्रेरणा करके सबसे कार्य कराता है । यही अन्य देवोंका अधिदेव है; शरीरमें जो देवोंके अंश हैं, उन सब देवोंकी नियंत्रणा करनेवाला यही आत्मदेव है। यही आत्माराम है। इस " राम " की यह दिव्य नगरी " अयोध्या " नामसे सुप्रसिद्ध है ।

इस नगरीमें तेजोमय स्वर्ग है । स्वर्गधाम यहांही है, स्वर्ग-प्राप्तिके लिये बाहिर जानेकी जरूरत नहीं हैं । इस पुरीमें ही स्वर्ग है, जो इसको देखना चाहते हैं यहां ही देखें । सात्त्विक भावना, राजस भावना और तामस भावना ये तीन इसके आरे हैं । इसके कारण इसमें तीन गतियां उत्पन्न होती हैं । इसको देखनेसे इसकी अद्भुत रचनाका पता लग सकता है । इन तीनों गतियोंको शांत करके त्रिगुणोंके परे जानेसे उस "आत्म-वान् यक्ष" का दर्शन होता है ।

यह जैसी ब्रह्मकी नगरी (ब्रह्मणः पूः) है, उसी प्रकार यही (देवानां पूः)देवोंकी नगरी भी है। जैसी यह ब्रह्मसे परिपूर्ण है वैसीही यह देवोंसे परिपूर्ण है। पृथिव्यादि सब देव और देवतायें इसमें रहती हैं, और उनको आकर्षण करनेवाला यह आत्मदेव इसमें अधिष्ठाता रहता है। यह आत्मवान् यक्ष "आत्मा"शब्दके पुल्लिंग होनेपर न पुरुष है, "देवी" शब्दके स्त्रीलिंग होनेपर न स्त्री है, और " यक्षं " शब्द नपुंसकलिंग होनेसे न वह नपुसक है। तीनों लिंगोसे भिन्न वह शुद्ध तेजस्वि 'केवल आत्मा' हैं। यही दर्शनीय है। उक्त ब्रह्मपुरीमें जाकर इसका दर्शन कैसा, किया जाता है, यह बात अगले मंत्रमें कही है—

(१३) अपनी राजधानीमें ब्रह्माका प्रवेश ।

यह ब्रह्मपुरी तेजस्वी है और (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है । इसको प्राप्त करनेसे तथा पूर्णतासे वशी भूत करनेसे सबही दुःख दूर हो जाते हैं। इसी लिये इसको "पुरी" कहते हैं क्योंकि इसमें पूर्णता है। जो पूर्ण होती है वही "पुरी" कहलाती है । पूर्ण होनाही यशस्वी बनना है । जो परिपूर्ण बनता है वही यशस्वी होता है । अपूर्णताके साथ यशका संबंध नहीं होता, परंतु सदा पूर्णताके साथही यशका संबंध होता है।

जो तेजस्वी, दुःखहारक, पूर्ण और यशस्वी होता है वह कभी पराजित नहीं होता, अर्थात् सदा विजयी होता है। "(१) तेज, (२) निर्दोषता, (३) पूर्णता, (४) यश और (५)

विजय" ये पांच गुण एक दूसरेके साथ मिले जुले रहते हैं (१) भ्राज, (२) हरण, (३) पुरी, (४) यश, (५) अपराजित ये मंत्रके पांच शब्द उक्त पांच गुणोंके सूचक हैं। पाठक इन शब्दोंको स्मरण रखें और उक्त पांच गुणोंको अपनेमें स्थिर करने और बढानेका यत्न करें। जहां ये पांच गुण होंगे, वहां (हिरण्य) धन रहेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। धन्यता जिससे मिलती है वही धन होता है और उक्त पांच गुणोंके साथ धन्यता अवश्यही रहेगी।

उक्त पांच गुणोंसे युक्त, ब्रह्म-नगरीमें ब्रह्म प्रविष्ट होता है। पाठक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि अपने अंदर व्यापक यह ब्रह्म हृदयाकाशमें है। जब अपना मन बाहिरके कामधंधे छोडकर एकाग्र हो जाता है तब आत्माका ज्ञान होनेकी संभावना होती है और तभी ब्रह्मका पता लगना संभव है। क्योंकि वेदमें अन्यत्र कहा है कि "जो पुरुषमें ब्रह्मको देखते हैं वेही परमेष्ठीको जान सकते हैं। (अथर्व०१०।७।१७)" अर्थात् जो अपने हृदयमें ब्रह्मका आवेश अनुभव करते हैं वेही परमेष्ठी प्रजापतिको जान सकते हैं।

(१४) अयोध्याके मार्गका पता।

प्रिय पाठको! यहांतक आपका मार्ग है। आप कहांतक चले आये हैं और आपके स्थानसे यह अयोध्या नगरी कितनी दूर है, इसका विचार कीजिये। इस अयोध्या नगरीमें पहुंचतेही रामराजाका दर्शन नहीं होगा, क्योंकि राजधानीमें जाते ही महाराजाकी मुलाकात नहीं हो सकती। वहां रहकर तथा वहांके स्थानिक अधिकारी सत्य श्रद्धा आदिकोंकी प्रसन्नता संपादन करके महाराजाके दरबारमें पहुंचना होता है। इसलिये आशा है कि आप जरा शीघ्र गतिसे चलेंगे और वहां जलदी पहुंचेंगे। आपके साथी ये ईर्ष्या द्वेष आदि हैं, ये आपको जलदी चलने नहीं देते; प्रतिक्षण इनके कारण आपकी शक्ति क्षीण हो रही है, इसका विचार कीजिये। और सब झंझाटोंको दूर कर एकही उद्देश्यसे अयोध्याजीके मार्गका आक्रमण कीजिये। फिर आपको उसी "यक्ष"का दर्शन होगा कि जिसका दर्शन एकवार इंद्रने किया था। आपको मार्गमें "हैमवती उमादेवी" दिखाई देगी। उसको मिलकर आप आगे बढ जाईये। वह देवी आपको ठीक मार्ग बता देगी। इस प्रकार आप भक्तिकी शांत रोशनीमें सुविचारोंके साथ मार्ग आक्रमण कीजिये, तो बडा दूरका मार्ग भी आपके लिये छोटा हो सकता है। आशा है कि आप ऐसाही करेंगे और फिर भूलकर भटकेंगे नहीं।

(१५) केनसूक्त और केनोपनिषद्।

जैसा यह केनसूक्त अथर्ववेदमें है वैसाही उपनिषदोंमें केनोपनिषद् है। दोनोंका प्रारंभ 'केन' इस पदसे ही हुआ है। यही 'केन' पद बडा महत्त्वपूर्ण है, इसका अर्थ 'किससे' ऐसा होता है। सब तत्त्वज्ञानोंका उगम इसी पदसे होता है। यह जो संसार दीखता है वह (केन) किसने बनाया, और (केन) किससे बनाया, तथा (केन) किसने इसका विचार किया, (केन) किसकी सहायतासे विचार किया, (केन) किस साधनसे विचार किया, किस कारण विचार किया, इसको जो बोध हो रहा है वह कैसे होता है, इत्यादि अनेक विचार इस "केन" शब्दमें हैं।

मनुष्य जो देखता है उसका हेतु जानना चाहता है, छोटेसे छोटा बालक भी जब आश्चर्यसे किसीकी ओर देखता है, तो उसका कारण जानना चाहता है, यह कौन है, क्या करता है, कहांसे आया, कहां जायगा ऐसे अनेकविध प्रश्न बालक करता है और हरएक प्रश्नका उत्तर जानना चाहता है। उत्तरसे समाधान हुआ तो ही वह चुप रहता है। नहीं तो फिर प्रश्न पूछता ही रहता है। इतनी विलक्षण जिज्ञासा मानवके मनमें स्वभावतया होती है।

परंतु जब मनुष्य बडा होता है, तब संसारकी चिन्तामें फंसकर इस जिज्ञासाको खो बैठता है और फिर वह (केन) किससे यह हुआ, ऐसा प्रश्न करना भूल जाता है। जब यह प्रश्न करना भूल जाता है तबसे इसको ज्ञान प्राप्त होना भी बंद होता है। क्योंकि ज्ञान तो जिज्ञासा रही तोही हो सकता है।

इस विश्वमें करोडों मनुष्य हैं, परंतु उनमेंसे कितने लोग 'मैं कहांसे आया, क्यों यहां आया हूं, किधर मुझे जाना है' इत्यादि स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले प्रश्नोंको अपने मनमें उत्पन्न होने देते हैं, येही प्रश्न इस 'केन' पदसे यहां किये गये हैं। साधारणतः मनुष्य जागता है, खाता है, सोता है, फिर जागता है और अन्तमें मर जाता है।

यह जीवनमरणका व्यापार इतना आश्चर्यकारक है कि कोई मननशील मनुष्यके मनमें इस संबंधके प्रश्न आयेविना नहीं रह सकते। परंतु कितने मनुष्य इसका विचार करते हैं। मनन करनेवाला ही मनुष्य कहलायेगा। जो मनुष्य मनन नहीं करता उसको मनुष्य कहना असंभव है। अतः इस

मनुष्यसमाजमें वे ही मनुष्य हैं कि जो ' केन ' यह प्रश्न करते हैं, यह है ' केन ' शब्दका महत्त्व । यह प्रश्न मनुष्यकी मानवता सिद्ध करनेवाला है, पाठक इस शब्दका महत्त्व जानें और अपने जीवनका विचार करना इससे सीखें ।

मैं किस शक्तिसे बोलता हूं, किस शक्तिसे सोचता हूं, किस शक्तिसे जीवित रहता हूं, किस शक्तिसे जन्ममरण तथा प्रजनन हो रहे हैं, इस संपूर्ण संसारके आधारमें कौन है, वह इसका निर्माण क्यों करता है ? ये प्रश्न हैं जो हरएक मनुष्यके मनमें उत्पन्न होने चाहिये। परंतु किन मनुष्योंके अन्तःकरणमें ये प्रश्न उठते हैं ? पाठकों विचार तो कीजिये ।

अर्थात् मनुष्यजाति अगणित वर्षोंसे इस भूमंडलपर उत्पन्न हुई है, परंतु अभीतक सब मनुष्य सच्चे मानव नहीं बने जो 'केन' इस प्रश्नको कर सकते हैं और उत्तर सुयोग्य गुरुसे प्राप्त होनेतक चुप नहीं रह सकते ।

जैसे अन्यान्य कृमिकीटक हैं जन्मते और मरते, वैसेही मनुष्य प्राणी भी जन्मते और मरते और मैं क्यों जन्मको प्राप्त हुआ और क्यों मर गया इसका विचारतक करते नहीं । अपने जीवनके विषयमें कैसे प्रश्न करने चाहिये यह इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। मानवजीवनके विषयमें कई प्रश्न यहां हैं, यदि इतने ही प्रश्न मनुष्य करना सीख जायगे तो उनको आत्मज्ञान हो जायगा और उनका जीवित सफल भी हो जायगा ।

अतः पाठक इस जिज्ञासा-बुद्धिकी जाग्रति करनेवाले इस केनसूक्तका मनन करें, और विश्वके अंदर जो अद्भुत शक्ति है उस अद्भुत शक्तिके विषयमें ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवनका सार्थक करें । मानवी जीवनकी सफलता करनेवाला यह ज्ञान है । आशा है कि इस केनसूक्तने जो यह जिज्ञासा जाग्रतिका-साधन बताया है वह आचरणमें लाकर सब साधक सिद्ध बनेगें ।

---

(३) सपत्ननाशक वरणमणि ।

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वरणमणिः, वनस्पतिः, चन्द्रमाः ।)

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा । तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥
प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात् ।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः ॥ २ ॥
अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः ।
स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ-(मे अयं वरणः मणिः) मेरा यह वरण मणि (वृषा सपत्नक्षयणः) बलवान् है और शत्रुओंका नाश करनेवाला है। (तेन) उसके सहायसे (त्वं शत्रून् आ रभस्व) तू शत्रुका नाश कर और (दुरस्यतः प्र मृणीहि) दुष्ट इच्छा करनेवालोंका नाश कर ॥ १ ॥

(एनान् प्र शृणीहि) इनको मार, (प्रमृण) नाश कर, (आ रभस्व) नष्ट कर । यह (मणिः) मणि (ते पुरस्तात् पुरएता अस्तु) तेरे अग्रभागमें जानेवाला अग्रेसर होवे । (देवाः वरणेन) देवोंने इस वरण मणिसे ही (असुराणां श्वः श्वः अभ्याचारं) असुरोंके प्रतिदिन होनेवाले अत्याचारोंका (अवारयन्त) निवारण किया ॥ २ ॥

(अयं वरणो मणिः विश्वभेषजः) यह वरणमणि सब औषधियोंका सार है। (सहस्राक्षः हरितः) सहस्र आंखवाला, सब दुःखोंका हरण करनेवाला है और यह(हिरण्ययः) सुवर्णसे युक्त है(सः ते शत्रून् अधरान् पादयाति)वह तेरे सब शत्रुओंको नीचे गिराता है । (ये त्वा द्विषन्ति) जो तेरा द्वेष करते हैं (तान् पूर्वः दभ्नुहि) उनको सबसे पूर्व दबाकर नीचे रखो ॥३॥

अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात् । अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥४॥
वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः। यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥
स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् ।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥
अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् । मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥७॥
यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥८॥
वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः । असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥
अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः । तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥१०॥ (७)
अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥ ११ ॥

अर्थ-(अयं वरणः) यह वरण मणि (ते विततां कृत्यां) तेरे चारों ओर फैले हुए कृत्याप्रयोगको, (पौरुषेयात् भयात्) मनुष्यकृत भयसे, (अयं त्वा सर्वस्मात् पापात्) यह तुझे सब प्रकारके पापोंसे (वारयिष्यते) निवारण करेगा ॥ ४ ॥

(अयं वरणः देवो वनस्पतिः) यह वरण मणि वनस्पति देव (वारयातै) दुःखनिवारक है । (यः यक्ष्मः अस्मिन् आविष्टः) जो क्षयरोग इसमें प्रविष्ट हुआ है, (तं उ देवा अवीवरन्) उसको देव निवारण करते हैं ॥ ५ ॥

(स्वप्नं सुप्त्वा) स्वप्नमें निद्राके समय (यदि पापं पश्यसि) यदि तू पापके दृश्य देखता है (यति अजुष्टां सृतिं धावत्) यदि अयोग्य गतिसे कोई दौडे, (शकुनेः परिक्षवात्) शकुनिके अत्यंत दुष्ट शब्दसे और (पापवादात्) निन्दाके शब्दोंसे (अयं वरणो मणिः वारयिष्यते) यह वरण मणि निवारण करता है ॥ ६ ॥

(अरात्याः निर्ऋत्याः) शत्रुभयसे, विनाशसे, (अभिचारात् अथो भयात्) विनाशक प्रयोगसे और अन्य भयसे, (मृत्योः ओजीयसो वधात्) मृत्युके भयानक वधसे (त्वा वरणः वारयिष्यते) तुझे यह वरण मणि निवारण करेगा ॥ ७ ॥

(यत् मे माता) जो मेरी माता, (यत् मे पिता) जो मेरा पिता (यत् च मे भ्रातरः) जो मेरे भाई, जो मेरे (स्वाः) आप्तजन तथा (वयं यत् एनः चकृम) हम सब जो पाप करते रहे हैं, (ततः) उस पापसे (अयं वनस्पतिः देवः) यह वनस्पति देव (नः वारयिष्यते) हमारा निवारण करेगा ॥ ८ ॥

(मे सबन्धवः भ्रातृव्याः) मेरे बांधवोंके साथ शत्रुगण (वरणेन प्रव्यथिताः) वरण मणिके कारण पीडित होकर (असूर्तं रजः अपि अगुः) अन्धकारमय धूलिमय स्थानको प्राप्त हों। (ते अधमं तमः यन्तु) वे निकृष्ट अन्धकारको प्राप्त हों ॥ ९ ॥

(अहं अरिष्टः) मैं अविनाशी, (अरिष्टगुः) अविनाशी वस्तुओंको प्राप्त करनेवाला (आयुष्मान् सर्वपूरुषः) दीर्घायु और समस्त पुरुषार्थी जनोंसे युक्त हूं । (अयं वरणः मणिः) यह वरण मणि (दिशोदिशः मा परि पातु) समस्त दिशाओंमें मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

(अयं वरणः राजा वनस्पतिः देवः) यह वरण मणि राजा वनस्पति देव (मे उरसि) मेरी छातीमें विराजता हुआ (सः मे शत्रून् वि बाधतां) मेरे शत्रुओंको पीडा देवे (इन्द्रः दस्यून असुरान् इव) जैसा इन्द्र असुरों और शत्रुओंको ताप देता है ॥ ११ ॥

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान्छतशारदः । स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥ १२ ॥
यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १३ ॥
यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्साता वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १४ ॥
यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१५॥
तांस्त्वं प्र च्छिन्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः। य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः॥१६
यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ १७ ॥
यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा मे० ॥ १८ ॥

अर्थ- (इमं वरणं बिभर्मि) इस वरण मणिको मैं धारण करता हूं। जिससे मैं (आयुष्मान् शतशारदः) दीर्घायु और शतायु होऊंगा। (सः मे राष्ट्रं च क्षत्रं च) वह मेरे लिये राष्ट्र और क्षत्रियदलका तथा (पशून् ओजः च मे दधत्) पशुओं तथा ओजको मेरे लिये धारण करे ॥ १२ ॥

(यथा वातः) जैसा वायु (ओजसा) वेगसे (वृक्षान् वनस्पतीन्) वृक्षों और वनस्पतियोंको (भनक्ति) तोड देता है, (एवा) उसी तरह (मे पूर्वान् जातान्) मेरे पहिले बने हुए (उत अपरान् सपत्नान्) और दूसरे शत्रुओंको (भङ्ग्धि) तोड दे। (वरणः त्वा अभिरक्षतु) वरण मणि तेरी रक्षा करे ॥१३ ॥

(यथा वातः अग्निः च) जैसा वायु और अग्नि मिलकर (वनस्पतीन् वृक्षान्) वृक्षवनस्पतियोंको (प्सातः) नष्ट कर देते हैं, (एवा सपत्नान् मे प्साहि) इस तरह मेरे शत्रुओंका नाश कर० ॥ १४ ॥

(यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः) जिस तरह वायुसे क्षीण वृक्ष (न्यर्पिताः शेरे) गिराय हुए लेट जाते हैं, (एवा त्वं मम सपत्नान्) उसी तरह मेरे शत्रुओंको तू वरण मणि (न्यर्पय) गिरा दे० ॥ १५ ॥

हे (वरण) वरण मणि! (ये एनं पशुषु दिप्सन्ति) जो इसको पशुओंमें घातक होते हैं तथा (ये अस्य राष्ट्र-दिप्सवः) जो इसके राष्ट्रविघातक शत्रु हैं, हे वरण मणि ! तू (पुरा आयुषः) आयुके क्षय होनेके पूर्व और (दिष्टात् पुरा) निश्चित समयसे भी पूर्व (त्वं तान् प्रच्छिन्धि) तू उनको छिन्न भिन्न कर ॥ १६ ॥

(यथा सूर्यः अतिभाति) जैसा सूर्य प्रकाशित होता है, (यथा अस्मिन् तेजः आहितं) जैसा इसमें तेज रखा है, (एवा वरणः मणिः) इसी तरह यह वरण मणि (मे कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु) मुझे कीर्ति और ऐश्वर्य देवे। (मा तेजसा समुक्षतु) मुझे तेजके साथ संयुक्त करे, (मा यशसा समनक्तु) मुझे यशसे यशस्वी बनावे ॥ १७ ॥

(यथा यशः चन्द्रमसि नृचक्षसि आदित्ये०) जैसा यश चन्द्रमा और दर्शनीय आदित्यमें है, (यथा यशः पृथिव्यां अस्मिन् जातवेदसि०) जैसा यश पृथिवी और जातवेद अग्निमें है, (कन्यायां संभृते रथे०) जैसा यश कन्याओंमें और युद्धके लिये सिद्ध हुए रथमें है, (सोमपीथे मधुपर्के०) जैसा यश सोमपीथ और मधुपर्कमें है, (अग्निहोत्रे वषट्कारे०) जैसा यश अग्निहोत्र और वषट्कारमें है, (यजमाने यज्ञे०) जैसा यश यजमानमें है और यज्ञमें है (प्रजापतौ परमेष्ठिनि०) जैसा यश प्रजापति और परमेष्ठीमें है, इसी तरहका यश यह वरण मणि मुझे देवे और तेज और यशसे युक्त करे ॥ १८-२४ ॥

यथा यशः पृथिव्यां यथाऽस्मिन् जातवेदसि । एवा मे० ॥ १९ ॥
यथा यशः कन्यायां यथाऽस्मिन्त्संभृते रथे । एवा मे० ॥ २० ॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः । एवा मे० ॥ २१ ॥
यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः । एवा मे० ॥ २२ ॥
यथा यशो यजमाने यथाऽस्मिन् यज्ञ आहितम् । एवा मे० ॥ २३ ॥
यथा यशः प्रजापतौ यथाऽस्मिन् परमेष्ठिनि । एवा मे० ॥ २४ ॥
यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् । एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ २५ ॥

(यथा देवेषु अमृतं) जैसा देवोंमें अमृत है (यथा एषु सत्यं आहितं) जैसा देवोंमें सत्य रखा है, (एवा मे वरणो मणिः) इसी तरह मेरे लिये यह वरण मणि कीर्ति और ऐश्वर्य (नि यच्छतु) देवे और मुझे (तेजसा समुक्षतु) तेजसे युक्त करे और (यशसा मा समनक्तु) यशसे संयुक्त करे ॥ २५ ॥

इस सूक्तमें शत्रुनाश और अपने यशकी अभिवृद्धिके लिये प्रार्थना है। यह सूक्त सुबोध होनेसे अधिक स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

(४) सर्पविष दूर करना।

(ऋषिः- गरुत्मान् । देवता- तक्षकः ।)

(१)इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्। अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत्॥१
दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः । रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥
अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च । उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥
अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् । उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

---

[१]अर्थ-(इन्द्रस्य प्रथमः रथः) इन्द्रका पहिला रथ है, (देवानां अपरः रथः) देवोंका दूसरा रथ है, (वरुणस्य तृतीयः इत्) वरुणका तीसरा है। (अहीनां अपमा रथः) सर्पोंका रथ नीच गतिवाला है जो (स्थाणुं आरत् अथ ऋषत्) स्तंभपर चलता है और नाशको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(दर्भः शोचिः तरूणकं) कुशा, आग, तृणविशेष और (अश्वस्य वारः पुरुषस्य वारः) अश्ववार और पुरुषवार ये सब औषधियां तथा (रथस्य बन्धुरम्) रथ-बंधुर या नाभि ये सब सर्पविष दूर करनेवाला हैं ॥ २ ॥

हे (श्वेत) श्वेत औषधे! (पूर्वेण अपरेण च) पूर्व और उत्तर (पदा अव जहि) पदसे विषका नाश कर। इससे (विषं उग्रं अरसं) भयानक विष भी नीरस हो जाय। (उदप्लुतं दारु इव) भरे हुए जलमें लकडी गिरनेके समान विष बह जाय ॥ ३ ॥

(अरंघुषः निमज्य उन्मज्य) अलंघुर औषधि निमज्जन और उन्मज्जन करके (पुनः अब्रवीत्) फिर कहने लगी कि उग्र भयानक विष भी सारहीन हो जायगा जैसी जलमें लकडी होती है ॥ ४ ॥

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम् । पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥ ५ ॥
पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि । अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥
इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम् । इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥
संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् । अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥८
अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके । घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥
अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च । इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥१०॥(१०)
पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः । इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥ ११ ॥
नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा । जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥ १२ ॥
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः । दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥ १३ ॥
कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् । हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

अर्थ-(पैद्वः कसर्णीलं श्वित्रं उत असितं) पैद्व कसर्णील श्वित्र और असित सर्पोंको मारता है, (पैद्वः रथर्व्याः पृदाक्वः सिरः सं बिभेद) पैद्व रथर्व्या और पृदाकुका सिर तोड देता है ॥ ५ ॥

हे (पैद्व) पैद्व! (प्रथमः प्रेहि) तू प्रथम आगे जा (त्वा अनु वयं एमसि) तेरे पीछे हम चलेंगे । और (येन वयं एमसि) जिन मार्गोंसे हम जांयगे उन (पथः अहीन् व्यस्यतात्) मार्गोंसे सर्पोंको दूर कर दें ॥ ६ ॥

(इदं पैद्वो अजायत) यह पैद्व हुआ है, (इदं अस्य परायणं) यह इसका परम स्थान है । (वाजिनीवतः अहिघ्न्यः अर्वतः) बलवान् सर्पनाशक अर्वाके (इमानि पदा) ये पदचिन्ह हैं ॥ ७ ॥

(संयतं न वि ष्परत्) सर्पका बंद मुख न खुले और (व्यात्तं न यमत्) खुला हुआ बंद न होवे । (अस्मिन् क्षेत्रे द्वौ अही) इस खेतमें दो सर्प हैं (स्त्री च पुमान् च) एक स्त्री और दूसरा पुरुष है । (तौ उभौ अरसौ) वे दोनों सारहीन हो जांय ॥ ८ ॥

(इह ये अन्ति ये दूरके) यहां जो पास और जो दूर (अहयः अरसासः) सांप हैं वे सारहीन हो जांय । (घनेन हन्मि वृश्चिकं) हतौडेसे बिच्छुको मारता हूं और (आगतं अहिं दण्डेन) आये हुए सर्पको दण्डसे मारता हूं ॥ ९ ॥

(अघाश्वस्य स्वजस्य च) अघाश्व और स्वज इन (उभयोः इदं भेषजं) दोनोंका यही औषध है, (इन्द्रः मे अघायन्तं अहिं) इन्द्र मेरे ऊपर आक्रमण करनेवाले सर्पको तथा (पैद्वः अहिं अरन्धयत्) पैद्व सर्पको नष्ट करता है ॥ १० ॥

(स्थिरस्य स्थिरधाम्नः पैद्वस्य) स्थिर और अचल धामवाले पैद्वकी महिमा (वयं मन्महे) हम मनन करते हैं जिसके (पश्चा) पीछे (इमे पृदाकवः प्रदीध्यतः आसते) ये पृदाकु नामक सर्प देखते हुये दूर खडे रहते हैं ॥ ११ ॥

(नष्टासवः नष्टविषाः) जिनके प्राण और विष नष्ट हो चुके हैं, (इन्द्रेण वज्रिणा हताः) जो वज्रधारी इन्द्रने मारे हैं, जिनको (इन्द्रः जघान) इन्द्रने मारा है और (वयं जघ्निम) हम भी सर्पोंको मारते हैं ॥१२॥

(तिरश्चिराजयः हताः) तिरछी लकीरोंवाले सर्प मारे गये, (पृदाकवः निपिष्टासः) पृदाकु सांप पीसे गये, (दर्विं, करिक्रतं श्वित्रं) दर्वि, करिक्रत और श्वेत जातिके सांपको तथा (असितं दर्भेषु जहि) काले सांपको दर्भोंमें मार ॥ १३ ॥

(सका कैरातिका कुमारिका) वह भीलोंकी लडकी (हिरण्ययीभिः अभ्रिभिः) लोहेकी कुदारोंसे (गिरीणां सानुषु) पहाडोंके शिखरोंपर (भेषजं उप खनति) औषधिको खोदती है ॥ १४ ॥

आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजितः । स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥१५॥
इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च । वातापर्जन्योभा ॥ १६ ॥
इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्वम् । स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥
इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव । तेषामु तृह्यमाणानां कः स्विच्चेषामसद्रसः ॥ १८ ॥
सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् । सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥ १९ ॥
अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः । हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः॥२०(११)
ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया । नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥
यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् । कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥
ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः ।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥ २३ ॥

अर्थ-(अयं युवा पृश्निहा) यह तरुण सर्पनाशक (अपराजितः भिषक्) अपराजित वैद्य आता है । । (सः वै स्वजस्य वृश्चिकस्य) वह निःसंदेह स्वज नामक सर्पका और बिच्छुका इन (उभयोः जम्भनः) दोनोंका नाश करनेवाला है ॥ १५ ॥

(इन्द्रः मित्रः वरुणश्च) इन्द्र, सूर्य और वरुण [मे अहिं पृदाकुं च अरन्धयन्] ये मेरे पास आये सर्पोंको मारते हैं तथा [वातापर्जन्यौ उभा] वायु और पर्जन्य ये दोनों भी सर्पोंको मारते हैं ॥ १६ ॥

पृदाकु, पृदाक्व, स्वज, तिरश्चिराजी, कसणर्ली, दशोनसि इन सर्पोंकी जातियोंको [इन्द्रः अरन्धयत्] इन्द्र मार देता है ॥ १७ ॥

हे (अहे) सर्प ! [तव प्रथमं जनितारं] तेरे पहिले उत्पादक को [इन्द्रः जघान] इन्द्र नाश करता है । [तेषां तृह्यमाणानां] उनके नाशको प्राप्त हुओंमें [तेषां कः स्वित् रसः असत्] क्या उनका कुछ रस रहता है ? अर्थात् वे सब पूर्ण मर जाते हैं ॥ १८ ॥

मैं सापोंके [शीर्षाणि अग्रभं] सिरोंको पकड लूं [इव] जैसा [पौंजिष्ठः सिन्धोः कर्वरं मध्यं परेत्य] कैवट नदीके गहरे मध्य भागतक जाकर सहजही वापिस आता है, उस प्रकार मैं भी [अहेः विषं व्यनिजं] सांपका विष विशेष प्रकारसे नष्ट करता हूं ॥ १९ ॥

[सर्वेषां अहीनां विषं] सब सर्पोंके विषको [सिन्धवः परा वहन्तु] नदियां दूर बहा ले जांय । इस तरह तिरश्चिराजी और पृदाकु जातिके सब सर्प मारे गये हैं ॥ २० ॥

[अहं ओषधीनां उर्वरीः इव साधुया वृणे] मैं औषधियोंको उपजाऊ भूमीपर धान्य उगनेके समान सहजहीसे प्राप्त करूं और [अर्वतीः इव नयामि] उनको ले जाऊं, अतः हे [अहे] सर्प ! [ते विषं निः ऐतु] तेरा विष दूर हो जावे ॥ २१ ॥

(यत् विषं अग्नौ पृथिव्यां ओषधिषु) जो विष अग्नि, भूमि और औषधियोंमें है, तथा जो (कान्दविषं कनक्नकं) कन्दोंमें तथा वनस्पति विशेषोंमें संगठित होता है, यह तेरा विष (निः ऐतु ऐतु) निःशेष चला जावे ॥ २२ ॥

(ये अग्निजाः ओषधिजाः) जो अग्निसे उत्पन्न, औषधियोंमें उत्पन्न, (ये अहीनां अप्सुजाः) जो सापोंमें जलोंमें उत्पन्न, (विद्युतः आबभूवुः) जो बिजलीसे प्रकट होते हैं, (येषां जातानि बहुधा महान्ति) जिनकी अनेक प्रकारकी जातियां हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमसा विधेम) उन सांपोंको हम नमन करते हैं ॥ २३ ॥

*

तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि । अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥२४॥
अङ्गादङ्गात्प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय । अधा विषस्य यत्तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥
आरे अभूद्विषमरौद्विषे विषमप्रागपि । अग्निर्विषमहेर्निरधात्सोमो निरणयीत् ॥
दंष्टारमन्वगाद्विषमहिरमृत ॥२६॥ (१२)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(**तौदी नाम घृताची नाम**) तौदी और घृताची इन नामों की (**कन्या असि**) कन्या नामकी एक औषधि है। (**अधः पद्देन ते विषदूषणं पदं आददे**) नीचेवाले विषनाशक भागके साथ तेरी जड मैं प्राप्त करता हूं ॥ २४ ॥

हे औषधि! तूं (**अंगात् अंगात्**) प्रत्येक अवयवसे (**प्र च्यावय**) विषको दूर कर, (**हृदयं परिवर्जय**)हृदयको भी छुडा दे, (**विषस्य यत् तेजः**) विषकी जो चमक है, (**तत् ते अवाचीनं एतु**) वह तेरे शरीरसे नीचे की ओर दूर हो जावे ॥२५॥

(**विषं आरे अभूत्**) विष दूर हुआ, (**विषं अरौत्**) विष चला गया, (**विषे विषं अप्राग् अपि**) विषमें विष मिलकर पहिले जैसा विषरहित हो चुका। (**अहेः विषं अग्निः निरधात्**) सर्पका विष अग्नि दूर करता है, (**सोमः निरणयीत्**) सोम औषधि विष दूर करती है। (**दंष्टारं विषं अन्वगात्**) दंश करनेवाले सर्पको विष पहुंचा और उससे (**अहिः अमृत**) वही सर्प मर गया ॥ २६ ॥

यह संपूर्ण सूक्त सर्पविषको दूर करनेके लिये है। इसमें कई नाम औषधियोंके हैं, जो अच्छे वैद्योंको ही ज्ञात हो सकते हैं। यह जीने मरने का विषय है, इसलिये वैद्यविद्या न जाननेवाले केवल कोशों को देखकर न लिखेंगे, तो ही अच्छा है। वैसा तो यह सूक्त सरल है, परंतु कई मंत्र मंत्रशास्त्र की दृष्टिसे देखनेवाले हैं और कई संकेत वैद्यशास्त्रकी दृष्टिसे खुलनेवाले हैं। इसलिये उन विषयोंके विशेषज्ञ इस सूक्तकी अधिक खोज करें, इतना ही यहां लिखा जा सकता है।

---

(५) विजयप्राप्ति।

(ऋषिः—१-२४ सिन्धुद्वीपः, २५-३५ कौशिकः, ३६--४१ ब्रह्मा, ४२--५० विहव्यः।
देवता--१-२४ आपः चद्रमाश्च, २५-३५ विष्णुक्रमः, मन्त्रोक्ताः, ३६--५० मंत्रोक्ताः)

(१)इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि ॥ १ ॥
इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ २ ॥

अर्थ—(**इन्द्रस्य ओजः स्थ**) आप इन्द्रका बल हो, (**इन्द्रस्य सहः स्थ**) आप इंद्रका शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (**इन्द्रस्य बलं स्थ**) आप इन्द्रका बल हो, (**इन्द्रस्य वीर्यं स्थ**) आप इन्द्रका पराक्रम हो, (**इन्द्रस्य नृम्णं स्थ**) आप इंद्रका ऐश्वर्य हो, आपको (**जिष्णवे योगाय**) विजयप्राप्तिके कार्यमें (**ब्रह्मयोगैः वः युनज्मि**) ज्ञानसाधनोंके साथ संयुक्त करता हूं ॥१॥ ० (**क्षत्रयोगैः**) क्षात्रबलके साथ, ...०(**इन्द्रयोगैः**) इन्द्रशक्तियोंके साथ ...० (**सोमयोगैः**) सोमादि औषधियोंके शक्तियोंके साथ...० (**अप्सुयोगैः**) जलादि योजनाओंके साथ संयुक्त करता हूं ॥ २--५॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ ३ ॥
इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥ ४ ॥
इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥ ५ ॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता मे आप स्थ ॥ ६ ॥
(२)अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ७ ॥
इन्द्रस्य भाग स्थ ।०।०।८। सोमस्य भाग स्थ ।०।०।९। वरुणस्य भाग स्थ ।०।०॥१०॥ (१३)
मित्रावरुणयोर्भाग स्थ।०।०।११। यमस्य भाग स्थ।०।१२। पितॄणां भाग स्थ।०।० ॥१३ ॥
देवस्य सवितुर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥
(३)यो व आपोऽपां भागोऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः। इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ १५ ॥
यो व आपोऽपामूर्मिरप्स्व१न्त०।०।०।०।१६। यो व आपोऽपां वत्सोऽप्स्व१न्त०।०।०।०। १७॥

अर्थ- (**जिष्णवे योगाय**) विजयप्राप्तिके लिये (**विश्वानि भूतानि उपतिष्ठन्तु**) सब भूत आपके पास आ जांय तथा (**आपः मे युक्ता स्थ**) जल मुझे समयपर प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

[२](**अग्नेः भागः स्थ**)आप अग्निका भाग हो,हे(**देवीः आपः**) दिव्य जलो!(**अस्मासु वर्चः धत्त**)हमारेमें तेजको धारण करो, क्योंकि आप (**अपां शुक्रं**) जलोंका वीर्यही हो।(**प्रजापतेः धाम्ना**) प्रजापतिके धामसे आये (**वः**) आपको (**अस्मै लोकाय सादये**) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥७॥ आप (**इन्द्रस्य भागः स्थ**) इन्द्रका भाग हो,० (**सोमस्य भागः०**) सोमादि औषधियोंका भाग हो,० (**वरुणस्य**) वरुणका०,-(**मित्रावरुणयोः०**) सूर्य और वरुणका० (**यमस्य**) यमका०, (**पितॄणां**) पितरोंका०, (**देवस्य सवितुः०**) सवितादेवका भाग आप हैं० ॥ ८-१४ ॥

[३]हे (**आपः**) जलो ! (**यः वः अपां भागः**) जो आपमें जलोंका भाग है, जो (**अप्सु अन्तर्, यजुष्यः देवयजनः**) जलोंके अन्दर होता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (**इदं तं अति सृजामि**) यह मैं उसे सौप देता हूं, (**तं मा अभि अवनिक्षि**) उसका तिरस्कार न करें। (**तेन तं अभि अति सृजामः**) उससे उनको दूर कर देते हैं। (**य अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः**) जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं । (**अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या**) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (**तं वधेयं तं स्तृषीय**) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १५ ॥ ... (**यः वः अपां ऊर्मिः०**) जो जलोंके तरंग है०, (**अपां वृषभः ०**)जो जलोंका वर्षण करनेवाला मेघ है०, (**अपां हिरण्यगर्भः०**) जो जलोंका सुवर्णके समान तेजस्वी भाग है०, (**अपां अश्मा पृश्निः दिव्यः०**) जो जलोंका पत्थर जैसा बर्फादिका दिव्य भाग है, तथा जो (**अपां अग्नयः०**) जलोंमें अग्नि जैसा उष्णताका भाग है०, उसकी सहायतासे हम द्वेषीका नाश करते हैं ॥ १५—२१ ॥

यो वं आपोऽपां वृषभोऽ३ऽप्स्व१न्त०।०।०।०॥१८॥

यो वं आपोऽपां हिरण्यगर्भोऽ३ऽप्स्व१न्त०।०।०।०।०॥१९॥

यो वं आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽ३ऽप्स्व१न्त०।०।०।०।०॥२०॥ (१४)

ये वं आपोऽपामग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः ।

इदं तानति सृजामि तान्माभ्यवनिक्षि ।

तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽ३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २१ ॥

(४)यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम । आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥२२॥

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन । अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥ २३ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।

प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥

(५)विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।

पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽ३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥

स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः ।

अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो०।० ॥ २६ ॥

---

[४] अर्थ- (त्रैहायणात् अर्वाचीनं यत् किं च) तीन वर्षोंके अन्दरअन्दर जो कुछ (अनृतं ऊचिम) असत्य भाषण किया है, (तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् अंहसः) उस सब पापसे (आपः मा पान्तु) जल मुझे बचावें ॥ २२ ॥

हे आपः ! (वः समुद्रं प्र हिणोमि) आपको मैं समुद्रके प्रति भेजता हूं, आप (स्वां योनिं अपीतन) अपने उगमस्थानको प्राप्त होओ। (सर्वहायसः अरिष्टाः) संपूर्ण आयुतक आहिंसित होते हुए [नः किंचन मा आगमत्] हम सबको किसी तरह रोग न हो ॥ २३ ॥

[आपः अरिप्राः] जल निर्दोष है, इसलिये वह [अस्मात् रिप्रं अप] हम सबसे दोष दूर करें। [सुप्रतीकाः अस्मत् दुरितं एनः प्र] उत्तम रूपवाला जल हम सबसे पाप और मल दूर करे । [दुष्वप्न्यं मलं प्र प्र वहन्तु] दुष्ट स्वप्न और मल बहाकर दूर ले जावें ॥ २४ ॥

[५] तू [विष्णोः क्रमः असि] तूं विष्णुका आक्रमण जैसा आक्रमक है, तथा [सपत्नहा पृथिवीसंशितः अग्नितेजाः] शत्रुका नाश करनेवाला, पृथ्वीपर तेजस्वी और अग्निके समान प्रतापी है, मैं [अहं पृथिवीं अनु वि क्रमे] पृथ्वीपर पराक्रम करता हूं, [तं पृथिव्याः निर्भजामः] हम उसको पृथ्वीसे हटा देते हैं [यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः] जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं, [सः मा जीवीत्] वह जीवित न रहे, [तं प्राणो जहातु] उसे प्राण छोड देवे ॥ २५ ॥

तू (अन्तरिक्षसंशितः वायुतेजाः) अन्तरिक्षमें तेजस्वी और वायुके तेजसे युक्त, (अहं अन्तरिक्षं अनु वि क्रमे) मैं अन्तरिक्षमें पराक्रम करता हूं और (अन्तरिक्षात् तं निर्भजामः) अन्तरिक्षसे उसको हटा देते हैं… ॥ २६ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः। दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं ०।०॥ २७॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः। दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं०।०।२८।
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः। आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं ०।० ॥२९॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः। ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं०।०।३०।(१५)
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः। यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात् ०।०। ॥३१॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं ०।० ॥३२॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाऽप्सुसंशितो वरुणतेजाः। अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं०।०॥३३॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः। कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं ०।०॥३४॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥३५॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ३६

अर्थ-[द्यौः संशितः सूर्यतेजाः] तू द्युलोकमें तेजस्वी और सूर्यके तेजसे युक्त है, मैं [दिवं अनु वि क्रमे] द्युलोकमें पराक्रम करता हूं और उस द्युलोकसे उसे हटा देता हूं० ॥ २७ ॥...[दिक्संशितः मनस्तेजाः०] तू दिशाओंमें तेजस्वी और मनके तेजसे युक्त युक्त है, मैं [दिशः०] दिशाओंमें पराक्रम करता हूं और दिशाओंसे उसको हटा देता हूं० ॥ २८ ॥... [आशासंशितः वाततेजाः] तू उपदिशाओंमें तेजस्वी और वातके तेजसे युक्त है, सब उपदिशाओंमें मैं पराक्रम करता हूं और उसको वहांसे हटा देता हूं २९ ॥ [ऋक्संशितः सामतेजाः] ऋग्वेदके ज्ञानसे तेजस्वी और सामके तेजसे युक्त है, मैं [ऋचः अनु वि क्रमे] ऋग्विज्ञानमें पराक्रम करता हूं और ऋचाओंसे उसको हटाता हूं ॥ ३० ॥

[यज्ञसंशितः ब्रह्मतेजाः] तू यज्ञसे तेजस्वी व ज्ञानके तेजसे युक्त है, मैं यज्ञक्षेत्रमें पराक्रम करता हूं और उसको यज्ञसे हटाता हूं० ॥३१॥... [औषधिसंशितः सोमतेजाः] तू औषधिद्वारा तेजस्वी और सोमके तेजसे युक्त है, मैं (ओषधीः अनु-वि क्रमे) औषधीवियामें पराक्रम करता हूं और औषधियोंसे उसको हटाता हूं० ॥३२॥...[अप्सुसंशितः वरुणतेजाः] तू जलोंसे तेजस्वी और वरुणके तेजसे युक्त [अप अनु वि क्रमे] जलोंमें मैं पराक्रम करता हूं और जलोंसे उसको हटाता हूं० ॥३३॥... [कृषिसंशितः अन्नतेजाः] तू कृषिसे तेजस्वी और अन्नके तेजसे युक्त है, मैं [कृषिं अनु वि क्रमे] कृषिमें पराक्रम करता हूं और कृषिसे उसे हटाता हूं॥ ३४ ॥... [प्राणसंशितः पुरुषतेजाः] तू प्राणसे तेजस्वी और पुरुषके तेजसें युक्त है [प्राणं अनु वि क्रमे] प्राणक्षेत्रमें विक्रम करता हूं और [प्राणात् तं निर्भजामः] प्राणसे उसको हटाता हूं, कि जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं, वह न जीवे, उसको प्राण छोड देवे॥ ३५ ॥

[६] [अस्माकं जितं] हमारा विजय है, [अस्माकं उद्भिन्नं] हमारा प्रभाव है। [विश्वाः पृतना अरातीः अभ्यस्तं] सब शत्रुसेना और वैरी परास्त हुए हैं। [अहं इदं] मैं यह [आमुष्यायणस्य अमुष्याः पुत्रस्य] अमुक गोत्रके अमुक माताके पुत्रके शत्रुके [वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि] वर्चस्, तेज, प्राण और आयुको पूर्ण रीतिसे बांधता हूं और [इदं एनं अधराञ्चं पादयामि] इस तरह इसको मैं नीचे गिराता हूं॥ ३६ ॥

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् । सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३७ ॥
दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते । ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥
सप्तऋषीनभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥
ब्रह्माभ्यावर्ते । तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४१ ॥
(७)यं वयं मृगयामहे तं वधै स्तृणवामहै । व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥ ४२ ॥
वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि । इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद् देवी सहीयसी ॥ ४३ ॥
राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि । सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥ ४४ ॥
यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु । तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥४५॥
अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥४६॥

अर्थ- [सूर्यस्य आवृतं] सूर्यका आवर्तन अर्थात् [दक्षिणां अन्ववृत्तं] दक्षिण दिशामें गमन है, उसके साथ [अनु आवर्ते] मैं अनुकूल होकर जाता हूं। [सा मे द्रविणं यच्छतु] यह मुझे धन देवे। [सा मे ब्राह्मणवर्चसं] वह मुझे ज्ञानतेज देवे ॥३७॥

[ज्योतिष्मतीः दिशः अभ्यावर्ते] तेजोयुक्त दिशाओंमें मैं गमन करता हूं। वे [ताः०] मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥३८॥

[सप्तऋषीन् अभ्यावर्ते] सप्त ऋषियोंके अनुकूल गमन करता हूं। [ते०] वे मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥ ३९ ॥

[ब्रह्म अभ्यावर्ते] ज्ञानके अनुकूल मैं चलता हूं [तत्०] वह मुझे धन और ज्ञानका तेज देवें ॥ ४० ॥

[ब्राह्मणां अभ्यावर्ते] ब्राह्मणोंके अनुकूल मैं चलता हूं। [ते०] वे मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥ ४१ ॥

[७][यं वयं मृगयामहे] जिसे हम ढूंढते हैं, [तं वधैः स्तृणवामहै] उसे वधोंसे-हथियारोंसे नष्ट करते हैं, और [परमेष्ठिनः व्यात्ते] परमेश्वर की विकराल दंष्ट्रामें [तं ब्रह्मणा आपीपदाम] उसे हम ज्ञानके योगसे डाल देते हैं ॥ ४२ ॥

[वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां] ईश्वरकी दाढों द्वारा बननेवाला जो [हेतिः] हथियार है, उससे [तं अभि समदात्] उसका नाश करते हैं। [तं प्सात्वा] उसका नाश करके [इयं समित्] यह जो समिधा इस यज्ञमें डाली जाती है, वह [देवी सहीयसी] शत्रुको दूर करनेके लिये समर्थ है ॥ ४३ ॥

[वरुणस्य राज्ञः बन्धः असि] वरुणराजके तू बंधनमें पडा है, [सः अमुं] वह इस [अमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं] इस गोत्रके अमुक माताके पुत्रको [अन्ने प्राणे बधान] अन्न और प्राणमें बांध देता हूं ॥ ४४ ॥

हे [भुवः पते] पृथ्वी के स्वामी! [यत् ते अन्नं] जो तेरा अन्न [पृथिवीं अनु आक्षियति] पृथ्वीपर है, हे [प्रजापते] प्रजाके पालक! [तस्य त्वं नः संप्रयच्छ] तुम उसको हमें प्रदान करो ॥ ४५ ॥

हे दिव्य [आपः] जलो! [अयाचिषं] याचना करता हूं, कि [रसेन समपृक्ष्महि] हमें रससे संयुक्त करो। हे [अग्ने] अग्ने! [पयस्वान् आगमं] रसके साथ मैं आ रहा हूं [तं मा वर्चसा सं सृज] मुझे तेजसे युक्त कर ॥ ४६ ॥

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ वि॒द्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ ४७ ॥
यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो॒ यद्वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः ।
म॒न्योर्मन॑सः शर॒व्या॒३ जाय॑ते॒ या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥४८॥
परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ऽग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि ।
प॒रा॒ऽर्चिषा॒ मूर॑देवां छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ॥ ४९ ॥
अ॒पाम॑स्मै॒ वज्रं॒ प्र ह॑रामि॒ चतु॑र्भृष्टिं शीर्ष॒भिद्या॑य वि॒द्वान् ।
सो अ॒स्याङ्गा॑नि॒ प्र शृ॑णातु॒ सर्वा॒ तन्मे॑ दे॒वा अनु॑ जानन्तु॒ विश्वे॑ ॥ ५० ॥ (१७)

अर्थ—हे अग्ने! [मा वर्चसा संसृज] मुझे तेजसे युक्त कर, [प्रजया आयुषा सं] प्रजा और आयुसे युक्त कर। [देवाः अस्य मे विद्युः] देवता मेरे इस भावको जानें। [इन्द्रः ऋषिभिः सह विद्यात्] इन्द्र ऋषियोंके साथ इस विषयको जानें ॥ ४७ ॥

हे अग्ने! [यत् अद्य मिथुना शपातः] आज जो मिलकर गाली देते हैं, [यत् रेभाः वाचः तष्टं जनयन्त] जो वक्ता वाणीका दोष करते हैं, [या मन्योः मनसः शरव्या जायते] जो क्रोधसे मनकी हिंसा होती है, [तया यातुधानान् हृदये विध्य] उससे दुष्टोंके हृदयोंका वेध कर ॥ ४८ ॥

[यातुधानान् तपसा परा शृणीहि] दुष्टोंको अपने तापसे दूर भगा, हे अग्ने! [रक्षः हरसा परा शृणीहि] राक्षसोंको अपने बलसे दूर कर। [अर्चिषा मूरदेवान् परा शृणीहि] अपनी ज्वालासे मूर्खोंको दूर फेंक, और [असुतृपः शोशुचतः परा शृणीहि] दूसरोंके प्राणोंपर तृप्त होनेवालोंको शोक कराते हुए दूर भगाओ ॥ ४९ ॥

[विद्वान्] मैं यह सब जानता हुआ, [अस्मै शीर्षभिद्याय] इसका सिर तोडनेके लिये [अपां चतुर्भृष्टिं वज्रं प्र हरामि] जलोंके चारों ओर नाश करनेवाले वज्रको फेंकता हूं। [सः अस्य सर्वा अंगानि प्रशृणोतु] वह इसके सब अंगोंको काटे, [तत् मे विश्वेदेवाः अनु जानन्तु] वह मेरा कर्म सब देव अनुकूलताके साथ जानें ॥ ५० ॥

शत्रुके पराजयके लिये यत्न।

शत्रुका पराभव करनेके लिये (ओज) शारीरिक बल, (सहः) शत्रुके हमले सहन करनेका सामर्थ्य, (बल) सैन्य तथा अन्यान्य प्रकारके बल, (वीर्य) पराक्रम, वीर्यकी शक्ति, (नृम्णं) मानवी अनुकूल्यका सामर्थ्य, इतने साधन अवश्य हैं। पश्चात् [जिष्णुयोग] विजय प्राप्त करनेकी चातुर्यमयी योजना कैसी करनी है, इसका उत्तम ज्ञान चाहिये, सब अन्य बल होनेपर भी समयपर 'जिष्णु-योग' में न्यूनता हुई, तो कुछ भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीके साथ 'ब्रह्मयोग' अर्थात् ज्ञानसे सिद्ध होनेवाली योजना अवश्य चाहिये। इसी तरह 'क्षत्रयोग' क्षात्र युद्धक्षेत्रमें कुशलतासे करनेयोग्य युद्धके व्यूह आदि रचना-विशेष करनेकी प्रवीणता आवश्यक है। 'इन्द्रयोग' राजा और राजैश्वर्य इनके साथ योग होना चाहिये; इसके अभावमें शेष कार्योंका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। 'सोमयोग' का दूसरा नाम है औषधियोग, शत्रुके साथ युद्ध छिडनेपर अपने लोग जखमी हो गये तो उनको शीघ्र आरोग्यसंपन्न करनेके लिये इस वैद्योंके औषधियोगका बडा उपयोग हो सकता है। इसी तरह स्वपक्षीय लोगोंका शारीरिक बल बढानेके लिये भी इस औषधियोगकी अत्यंत आवश्यकता है।

'अप्सुयोग' का नाम है जलयोग। जलका तो मानवी जीवनके साथ बडा उपयोग है। इसलिये विजयप्राप्तिके लिये जलका संयोग अच्छी प्रकार होना चाहिये। जल न मिला तो पराभव होनेमें कोई देरी न लगेगी।

संक्षेपसे प्रथमके ६ मंत्रोंमें विजयप्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक विषयोंकी सूचना इस तरह दी हैं।

मंत्र ७ से २१ तक कहा है कि जो जलादि साधन अपने पास हैं, उनका उपयोग शत्रुनाश करनेके लिये करना चाहिये, जिससे शत्रु नाशको प्राप्त हो और अपना विजय हो।

मंत्र २२ से २४ तक कहा है कि जलसे सब शरीर, मन आदिकी निर्दोषता सिद्ध होती है, उसीसे शरीरके और मनके मल दूर होते हैं। मनके मलोंसे स्वप्नदोष होता है और शरीरके मलोंसे रोग होते हैं। जलप्रयोगसे ये सब दोष दूर होते हैं और मनुष्य निर्दोष होता है और विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जबतक शरीर और मनमें दोष होंगे, तबतक विजय प्राप्त नहीं हो सकता और प्राप्त होनेपर स्थिर भी नहीं रह सकता।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा उपदिशा, ऋचा, यजु, यज्ञ, औषधि, सोम, आप, कृषि, अन्न, प्राण आदि सब स्थानोंसे शत्रुको हटाना चाहिये और इन स्थानोंको शत्रुरहीत करना चाहिये, यह आशय २५ से ३५ तक मंत्रोंका है।

इतना करनेपर विजय होगा और ऐसा पवित्र वीरही शत्रुको बांधकर उसको पांवके तले दबा सकता है, यह बात ३६ वे मंत्रमें कही है।

सूर्यसे तेजस्विता, दिशाओंसे विस्तृत कार्यक्षेत्र, ऋषिओंसे ज्ञान, ब्रह्म अर्थात् मंत्रोंसे सुविचार और ब्राह्मणोंसे उत्तम उपदेश प्राप्त करके विजयी होनेकी सूचना मंत्र ३७ से ४१ तकके मंत्रोंमें है।

४२-४३ इन दो मंत्रोंमें अपने शत्रुको परमेश्वरके अधीन अर्थात् उसके न्यायके अधीन करनेको लिखा है। स्वयं उसके नाश न करते हुए ऐसा करना, कि वह अपना कुछ न कर सके, और पश्चात् उसे ईश्वरके हवाले करना। परंतु ऐसा करनेके लिये अपना बल बढाना चाहिये, शत्रुका घटाना चाहिये और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि शत्रु अपना कुछ भी न बिगाड सके। शत्रु अपना कैदी होनेपर भी उसे परमेश्वरका कैदी मानना चाहिये। उसका नाश करना है तो परमेश्वर करे।

अपने पास बल, अन्न, जल, शौर्य, तेजस्विता आदिकी अधिकता रहे, और शत्रुके पास येही वस्तुएं कम हों, ऐसी योजना करना चाहिये। यहांतक ४७ वें मंत्रतकके मंत्रभागसे बोध मिलता है।

गाली गलोछ अपने राज्यमें कोई किसीको न देवे। यह वाणीका अपव्यवहार शत्रुके राज्यमें चाहे होता रहे। दुष्टोंका विध्वंस इस तरह करना और सज्जनोंकी रक्षा करनी चाहिये। यह इस सूक्तका संक्षेपसे आशय है।

---

(६) मणिबन्धन।

(ऋषिः-बृहस्पतिः। देवता-फालमणिः, वनस्पतिः ,३ आपः)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥
वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति। पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

अर्थ- (अरातीयोः भ्रातृव्यस्य) शत्रु वैरी (दुर्हार्दः द्विषतः शिरः) दुष्ट हृदयी और द्वेष करनेवालेका सिर [ओजसा अपि वृश्चामि] वेगसे मैं ताडता हूं ॥ १ ॥

[फालात् जातः अयं मणिः] फालसे बना हुआ यह मणि [मह्यं वर्म करिष्यति] मेरे लिये कवच जैसी रक्षा करेगा। [मन्थेन रसेन वर्चसा सह पूर्णः] मन्थन-सामर्थ्य रस और वर्चसे युक्त होनेके कारण पूर्ण समर्थ यह मणि [मा आगमत्] मेरे पास आगया है ॥ २ ॥

यत् त्वा शिक्वः पराऽवधीत् तक्षा हस्तेन वास्या ।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥ ३ ॥
हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् । गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥
तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥ ५ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे । तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्यायि कम् ।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ७ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे ।
सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ८ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद् दिशः ।
सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ९ ॥

अर्थ- [यत् त्वा शिक्वः तक्षा] जो तुझे कुशल तर्खाण [वास्या हस्तेन परा अवधीत्] शस्त्रयुक्त हाथसे मारता है [तस्मात्] उससे [जीवलाः शुचयः आपः] जीवन देनेवाले शुद्ध जल [शुचिं त्वा पुनन्तु] तुझ पवित्र वीरको पवित्र बनावें ॥ ३ ॥

[अयं मणिः] यह मणि [हिरण्यस्रक्] सुवर्णमाला, [श्रद्धां यज्ञं महः दधत्] श्रद्धा भक्ति, यज्ञ और महत्त्वका धारण करे और यह [नः गृहे अतिथिः वसतु] हमारे घरमें पूजनीय जैसा होकर रहे ॥ ४ ॥

[तस्मै घृतं सुरां मधु अन्नं क्षदामहे] उसके लिये घी, वृष्टि जल, शहद और अन्न हम देते हैं, [सः नः पुत्रेभ्यः पिता इव] वह हमें जैसा पिता पुत्रोंको देता है, वैसे [श्रेयः चिकित्सतु] परम कल्याण देवे । यह [मणिः देवेभ्यः एत्य] मणि देवोंके पाससे यहां आकर [भूयोभूयः श्वः-श्वः] वारंवार और प्रतिदिन हमें सुख देवें ॥ ५ ॥

[फालं घृतश्चुतं खदिरं उग्रं मणिं] फालसे उत्पन्न घीसे भरपूर खादिरका बनाया और वीरता बढानेवाला मणि है, [यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्] जिसको बलवृद्धिके लिये बृहस्पतिने यह मणि बांधा है. [तं अग्निः प्रति अमुञ्चत] उसे अग्नि मुझे देवे, धारण करावे, [सः अस्मै भूयो-भूयः श्वः-श्वः.आज्यं दुहे] वह इसके लिये प्रतिदिन वारंवार घी देवे । (तेन त्वं द्विषतो जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् विध्वंस कर ॥ ६ ॥

[यं०] जिसपर बृहस्पतिने ··· मणि बांधा है. [तं इन्द्रः प्रति अमुञ्चत] उसे इन्द्र मुझे देवे और [ओजसे वीर्याय कम्] ओज, वीर्य और सुख प्राप्त करावे । [सः अस्मै बलं इत् दुहे०] वह उसको बल देवे ० ॥ ७ ॥

[यं०] जिसपर०... [तं सोमः प्रति अमुञ्चत] उसे सोम मुझे देवे, [महे श्रोत्राय चक्षसे] महत्त्व, श्रोत्र और दृष्टि देवे। उसे [वर्चः दुहे०] वह वर्च देवे० ॥ ८ ॥ [यं०] जिसपर०... [तं सूर्यः प्रति अमुंञ्चत] उसे सूर्य देवे [तेन इमा दिशः अजयत्] और उससे यह सब दिशाओंको जीते, [सः अस्मै भूतिं दुहे०] वह इसके लिये ऐश्वर्य देवे० ॥ ९ ॥

*

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः ॥
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १० ॥ (१८)
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ११ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १२ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं बिभ्रत् सविता मणिं तेनेदमजयत् स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १३ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।
स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १४ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १५ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वाँल्लोकान् युधाऽजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १६ ॥

अर्थ-[यं]... [तं मणिं बिभ्रत् चन्द्रमाः] उस मणिको धारण करनेवाला चन्द्रमा [असुराणां दानवानां हिरण्ययीः पुरः अजयत्] असुरों और दानवोंकी सुवर्णयुक्त नगरियोंको पराजित करता है। [सः अस्मै श्रियं दुहे०] वह इसके लिये श्री देता है० ॥ १० ॥

[यं०] जिसको बृहस्पति मणि बांधता है और [आशवे वाताय] गतिमय वायुकी शक्तिसे युक्त करता है, [सः अस्मै वाजिनं दुहे०] वह इसके लिये अश्व देता है ० ॥ ११ ॥

[यं०] जिसको बृहस्पति मणि बांधता है, [तेन मणिना] उस मणिसे [अश्विनौ इमां कृषिं अभिरक्षतः] अश्विनीदेव इसकी कृषिकी रक्षा करते हैं। [सः भिषग्भ्यां महः दुहे] वह उन वैद्योंके द्वारा इसे बडा तेज या अन्न देता है ० ॥१२॥

[यं०]...[तं मणिं सविता बिभ्रत्] उस मणिको सविताने धारण किया, [तेन स्वः अयजत्] उससे स्वर्गीय प्रकाश का यजन किया, [सः अस्मै सूनृतां दुहे] वह इसके लिये सत्य देता है ० ॥१३॥

[यं.]...... [तं मणिं अपः बिभ्रतीः] उस मणिको जल धारण करती हैं, [सदाः अक्षिता धावन्ति] अक्षय होकर सदा दौडती है [स आभ्यः अमृतं दुहे०] वह इनके लिये अमृत देता है० ॥ १४ ॥

[यं०] ... [तं शंभुवं मणिं राजा वरुणः प्रत्यमुञ्चत] उस सुखदायी मणिको राजा वरुण छोड देता है, [सः अस्मै सत्यं दुहे] वह इसके लिये सत्य देता है ० ॥ १५ ॥

[यं]... [तं मणिं देवा बिभ्रतः] उस मणिको देवोंने धारण किया और [युधा सर्वान् लोकान् अजयन्] युद्ध करके सब लोकोंको जीत लिया। [स एभ्यः जितिं इत् दुहे०] वह इनको विजय देता है ० ॥ १६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम् ।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १७ ॥
ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत । संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ १८ ॥
अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत । प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १९ ॥
अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत ।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥ (१९)
तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत् । तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् । स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥ २३ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥ २६ ॥

अर्थ-[यं०]-[तं शंभुवं इमं मणिं देवता प्रत्यमुञ्चन्त] उस सुखदायी मणिको देवताओंने छोड दिया, [सः आभ्यः विश्वं इद् दुहे] वह इनके लिये सब सुख देता है ०। १७ ॥

[ऋतवः तं अबध्नत] ऋतु उसको बांधते रहे, [आर्तवाः तं अबध्नत] ऋतुसे उत्पन्न पदार्थ उसको बांधते हैं। [संवत्सरः तं बध्वा] संवत्सर उसे बांधकर [सर्वं भूतं विरक्षति] सब भूतमात्रकी रक्षा करता है ॥ १८॥

(अन्तर्देशा तं अबध्नत) अन्तर्दिशाओंने उसे बांधा, (प्रदिशः तं अबध्नत) दिशाओंने उसे बांधा, यह (प्रजापति सृष्टो मणिः) प्रजापतिने निर्माण किया मणि (मे द्विषतः अधरान् अकः) मेरे शत्रुओंको नीचे करता है ॥ १९ ॥

(अथर्वाणो अबध्नत) अथर्वाओंने इसे बांधा (आथर्वणा अबध्नत) आथर्वणिकोंने इसे बांधा था, (तैः मेदिनः अंगिरसः) उससे बलवान् हुए आंगिरस (दस्यूनां पुरः बिभिदुः) शत्रुओंके नगरोंको तोडते रहे, (तेन त्वं द्विषतः जहि) इससे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥ २० ॥

(तं धाता प्रत्यमुञ्चत) उसे धाताने धारण किया था। (सः भूतं व्यकल्पयत्) वह भूतोंको बनानेमें समर्थ हुआ तेन त्वं द्विषतः जहि) उसके बलसे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥ २१ ॥

(यं०) ...[असुरक्षितिं]जिस असुर-विनाशको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिये बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः मा) वह मणि मेरे पास (रसेन वर्चसा सह आगमत्) रस और तेजके साथ आगया है ॥ २२ ॥

(यं०).... वह (गोभिः अजाभिः अन्नेन प्रजया सह) गौवें बकरियां, अन्न और प्रजाके साथ ०।॥ २३ ॥

(यं०)...(व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह) चावल जौं तथा ऐश्वर्यके साथ. ॥२४॥ ... (मधोः घृतस्य धारया कीलालेन सह) घी, मधु और पेयकी धाराओंके साथ०॥२५॥...(पयसा द्रविणेन श्रिया सह) दूध धन और श्रीके साथ० ॥ २६ ॥

यमब॑ध्नाद् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षितिम् ।
स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् तेज॑सा॒ त्विष्या॑ स॒ह यश॑सा की॒र्त्या॑ स॒ह ॥ २७ ॥
यमब॑ध्नाद् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑राक्षितिम् । स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् सर्वा॑भि॒र्भूति॑भिः स॒ह ॥ २८ ॥
तमि॒मं दे॒वता॑ म॒णिं मह्यं॑ ददतु पुष्ट॑ये । अ॒भि॒भुं क्ष॑त्त्रवर्ध॑नं सपत्न॒दम्भ॑नं म॒णिम् ॥ २९ ॥
ब्रह्म॑णा॒ तेज॑सा स॒ह प्रति॑ मुञ्चामि मे शि॒वम् ।
अ॒स॒प॒त्नः स॑पत्न॒हा स॒पत्ना॑न् मेऽध॑राँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)
उत्त॑रं द्विष॒तो माम॒यं म॒णिः कृ॑णोतु दे॒व॒जाः । यस्य॑ लो॒का इ॒मे त्रयः॒ पयो॑ दु॒ग्धमु॒पास॑ते ॥
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मूर्ध॒तः ॥ ३१ ॥
यं दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ उप॒जीव॑न्ति स॒र्व॒दा । स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मूर्ध॒तः ॥ ३२ ॥
य॒था बीज॑मु॒र्वरा॑यां कृ॒ष्टे फाले॑न॒ रोह॑ति । ए॒वा मयि॑ प्र॒जा प॒शवोऽन्न॑म॒न्नं वि रो॑हतु ॥ ३३ ॥
यस्मै॑ त्वा यज्ञवर्ध॒न मणे॒ प्र॒त्यमु॑चं शि॒वम् । तं त्वं श॑तदक्षि॒ण मणे॒ श्रैष्ठ्या॑य जिन्वतात् ॥ ३४ ॥
ए॒तमि॒ध्मं स॒माहि॑तं जुषा॒णो अग्ने॒ प्रति॑ हर्य॒ होमैः॑ ।
तस्मि॑न् विदेम सुम॒तिं स्व॒स्ति प्र॒जां चक्षुः॑ प॒शून्त्समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि॒ ब्रह्म॑णा ॥ ३५ ॥ (२१)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— (तेजसा त्विष्या यशसा कीर्त्या सह) तेज, चमक, यश और कीर्तिके साथ० ॥ २७ ॥

(सर्वाभिः भूतिभिः सह......) सब ऐश्वर्योंके साथ वह मणि (मा आगमत्) मेरे पास आया है ॥ २८ ॥

(तं इमं मणिं) इस मणिको (देवता पुष्टये मह्यं ददतु) देवताएं पुष्टिके लिये मुझे देवें। यह (अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिं) शत्रुनाशक, क्षात्रतेज बढानेवाला, वैरीका विध्वंसक यह मणि है ॥ २९ ॥

(ब्रह्मणा तेजसा सह) ज्ञान और तेजके साथ (मे शिवं प्रति मुंचामि) मैं इस कल्याणकारी मणिको धारण करता हूं। यह मणि (असपत्नः सपत्नहा) शत्रुरहित और शत्रुघातक है, तथा [मे सपत्नान् अधरान् अकः] इसने मेरे शत्रुओंको नीचे किया है ॥ ३० ॥

[अयं देवजाः मणिः] यह देवोंसे उत्पन्न होनेवाला मणि [मां द्विषतः उत्तरं कृणोतु] मुझे शत्रुओंसे अधिक उत्तम अवस्थामें रखे। [यस्य दुग्धं] जिससे दुहा गया सार [इमे त्रयः लोकाः उपासते] ये तीनों लोक प्राप्त करते हैं। [सः अयं मणिः] वह यह मणि [मा श्रैष्ठ्याय मूर्धतः अधिरोहतु] मुझे श्रेष्ठ स्थानके ऊपर चढावे ॥ ३१ ॥

(देवाः पितरः, मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव पितर और मनुष्य जिसपर सदा निर्भर रहते हैं, वह (श्रेष्ठ्याय०) श्रेष्ठ स्थानपर मुझे चढावे ॥ ३२ ॥

(फालेन कृष्टे उर्वरायां) फालसे हल किये हुए भूमिमें (यथा बीजं रोहति) जैसा बीज उगता है, (एव मयि प्रजाः पशवः अन्नं वि रोहतु) वैसाही मेरे पास संतान, पशु और अन्न बहुत हो जावे ॥ ३३ ॥

हे (यज्ञवर्धन मणे) यज्ञ बढानेवाले मणे! (त्वां शिवं यस्मै प्रति अमुचं) तुझ शुभ मणिको जिसके लिये मैं धारण कराऊं, हे (शतदक्षिण मणे) सौ प्रकारकी दक्षिणा देनेवाले मणि! (तं त्वं श्रैष्ठ्याय जिन्वतात्) उसे तू श्रेष्ठताके लिये बढाओ ॥ ३४ ॥

हे अग्ने! (समाहितं इध्मं जुषाणः) प्रदिप्त इंधनका सेवन करता हुआ (होमैः प्रति हर्य) होमहवनोंसे समृद्ध हो। (तस्मिन् समिद्धे जातवेदसि) उस प्रदीप्त अग्निसे (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (सुमतिं स्वस्ति प्रजां) उत्तम बुद्धि, कल्याण, संतान, (चक्षुः पशून्) दृष्टि और पशुओंको (विदेम) प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

इस सूक्तमें विशेष प्रकारके मणिके धारण करनेका महत्त्व दर्शाया है।

(७) सर्वाधारका वर्णन ।

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-स्कम्भः आत्मा वा)

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धाऽस्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥
क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥
क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः ।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ५ ॥
क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ६ ॥

अर्थ—(अस्य कस्मिन् अंगे तपः अधितिष्ठति) इस मनुष्यके किस अवयवमें तप करनेकी शक्ति रहती है ? **(अस्य कस्मिन् अंगे ऋतं अध्याहितं)** इस मनुष्यके किस भागमें ऋत— सरलताका भाव रहता है ? **(अस्य श्रद्धा व्रतं क तिष्ठति)** इसमें श्रद्धा और व्रत कहां रहते हैं ? **(अस्य कस्मिन् अंगे सत्यं प्रतिष्ठितम्)** इसके किस अवयवमें सत्य रहता है ? ॥ १ ॥

(अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते) इस परमात्माके किस अंगसे अग्नि प्रदीप्त होता है ? **(कस्मात् अंगात् मातरिश्वा पवते)** इसके किस अवयवसे वायु बहता है? **(कस्मात् अंगात् चन्द्रमा अधि वि मिमीते)** किस अवयवसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है ? **(महः स्कंभस्य अंगं मिमानः)** और महान् स्कंभ अर्थात् विश्वाधारके किस अंगका मापन वह करता है? ॥ २ ॥

(अस्य कस्मिन् अंगे भूमिः तिष्ठति)इस परमात्माके किस अंगमें भूमि रहती है ?**(कस्मिन् अंगे अन्तरिक्षं तिष्ठति)** किस अंगमें अन्तरिक्ष रहता है ? **(कस्मिन् अंगे आहिता द्यौः तिष्ठति)** किस अंगमें यह सुरक्षित द्युलोक रहता है ? और **(कस्मिन् अंगे उत्तरं दिवः तिष्ठति)** किस अंगेमें उच्चतर द्युलोकके परला भाग रहता है ? ॥ ३ ॥

(ऊर्ध्वः अग्निः क्व प्र-ईप्सन् दीप्यते) ऊपरका अग्नि अर्थात् सूर्य किस ओर देखता हुवा प्रकाशता है ? **(मातरिश्वा क्व प्र-ईप्सन् पवते)** वायु कहां दृष्टि रखकर बहता है ? **(यत्र प्र-ईप्सन्तीः आवृतः अभियन्ति)** जहां दृष्टि रखते हुए ये जलप्रवाह चल रहे हैं, **(तं स्कंभं ब्रूहि)** उस सर्वाधारके विषयमें मुझे कह दे कि **(सः कतमः स्वित् एव)** वह कौनसा है ? ॥ ४ ॥

(अर्धमासाः मासाः) पक्ष और महीने **(संवत्सरेण सह संविदानाः)** वर्षके साथ मिलते हुए **(क्व क्व यन्ति)** कहां कहां भला चल रहे हैं ? **(यत्र ऋतवः यत्र आर्तवाः यन्ति)** जहां ये ऋतु और ऋतुमें उत्पन्न पदार्थ चल रहे हैं, **(तं स्कंभं ब्रूहि)** उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौनसा पदार्थ है ? ॥ ५ ॥

(क्व प्र-ईप्सन्ती विरूपे युवती) किस ओर लक्ष्य रखकर ये विरुद्ध रूपवाली स्त्रियें अर्थात् **(अहोरात्रे)** दिन प्रभा और रात्री **(संविदाने द्रवतः)** मिलकर दौड रहीं हैं ? **(यत्र प्र-ईप्सन्तीः आपः अभियन्ति)** जहां लक्ष्य रखकर जल जा रहे हैं, **(स्कंभं०)** उसी सर्वाधारके विषयमें कह दे कि वह कौनसा पदार्थ है ? ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत् । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥
यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव ॥ ८ ॥
कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥ ९ ॥
यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १० ॥ (२२)
यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ११ ॥
यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥

अर्थ—(यस्मिन् स्तब्ध्वा) जिस आधारपर रहकर (प्रजापतिः सर्वान् लोकान् अधारयत्) प्रजापतिने सब लोकोंका धारण किया (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ ७ ॥

(यत् परमं अवमं यत् च मध्यमं) जो श्रेष्ठ निकृष्ट और जो मध्यम (विश्वरूपं प्रजापतिः ससृजे) विश्वरूप प्रजापतिने उत्पन्न किया है, (तत्र स्कम्भः कियता प्रविवेश) वहां सर्वाधारने कितना प्रवेश किया है और (यत् न प्राविशत् तत् कियत् बभूव) जहां वह प्रविष्ट नहीं हुवा वह कितना हुवा है ? ॥ ८ ॥

(स्कम्भः भूतं कियता प्रविवेश) यह सर्वाधार भूतकालके विश्वमें कितने अंशसे प्रविष्ट हुवा था ? (अस्य कियत् भविष्यत् अनु-आशये) इसका कितना अंश भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले विश्वमें-प्रविष्ट होगा ? (यत् एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्) जिसने अपने एक अंगको ही हजारों प्रकारोंमें वर्तमानकालमें प्रकट किया है (तत्र स्कंभः कियता प्रविवेश) वहां सर्वाधार कितना प्रविष्ट हुआ है ? ॥ ९ ॥

(यत्र लोकान् कोशान्) जिसमें सब लोक और कोश रहते हैं और (आपः ब्रह्म) जहां जल और ब्रह्म रहता है ऐसा (जनाः विदुः) लोग जानते हैं, (असत् च सत् च यत्र अन्तं) सत् और असत् जहां मिला है (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सर्वाधार का वर्णन मुझे कह (सः कतमः स्वित् एव) वह भला कौन है ? ॥ १० ॥

(यत्र) जिसके आधारसे (पराक्रम्य तपः) बडा प्रयत्न करके तप (उत्तरं व्रतं धारयति) उच्चतर व्रतका धारण करता है तथा जहां (यत्र ऋतं श्रद्धा च आपः ब्रह्म) ऋत श्रद्धा आप् और ब्रह्म (समाहिताः) सुस्थिर रहे हैं (तं स्कंभं ब्रूहि०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ ११ ॥

(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक (अध्याहिता) टिके हैं और (यत्र अग्निः चन्द्रमाः सूर्यः वातः) जिसमें अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायु [आर्पिताः तिष्ठन्ति] आश्रय लेकर रहते हैं उस [तं स्कंभं०] सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १२ ॥

[सर्वे त्रयःत्रिंशत् देवाः] सब तैंतीस देव [यस्य अंगे समाहिताः] जिसके शरीरमें स्थिर हुए हैं [तं स्कंभं०] उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १३ ॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १४ ॥
यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १५ ॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥
ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् । यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥
यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥
यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १९ ॥
यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२०॥

अर्थ– [**यत्र प्रथमजाः ऋषयः**] जिसमें पहिले बने ऋषि तथा [**ऋचः साम यजुः मही**] ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद व बडी ब्रह्मविद्या अर्थात् अथर्ववेद रहे हैं, [**यस्मिन् एक ऋषिः अर्पितः**] जिसमें एक मुख्य ऋषि आधार लिये हैं, [**तं स्कंभं०**] उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १४ ॥

[**यत्र पुरुषे**] जिस पुरुषमें [**अमृतं च मृत्युः च समाहिते**] अमरत्व और मरण रहता है, [**यस्य नाड्यः समुद्रः**] जिसकी नाडियां समुद्र है, जो [**पुरुषे अधि समाहिताः**] जो पुरुषके शरीरमें हैं, [**तं स्कंभं०**] उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १५ ॥

[**चतस्रः प्रथमाः प्रदिशः**] चारों पहिली दिशाएं [**यत्र नाड्यः तिष्ठन्ति**] जहां नाडियां होकर रहीं है, [**यत्र यज्ञः पराक्रान्तः**] जहां यज्ञ पराक्रम कर रहा है [**तं स्कंभं०**] उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौनसा है ? ॥ १६ ॥

[**ये पुरुषे ब्रह्म विदुः**] जो इस मनुष्यके ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं [**ते विदुः परमेष्ठिनं**] वे परमेष्ठिको जानते हैं, [**यः वेद परमेष्ठिनं**] जो परमेष्ठीको जानता है और [**यः च प्रजापतिं वेद**] जो प्रजापतिको जानता है, और [**ये ज्येष्ठं ब्राह्मणं विदुः**] जो ज्येष्ठ ब्राह्मणको जानते हैं [**ते स्कंभं अनुसंविदुः**] वे सर्वाधारको अच्छी तरह जानते हैं ? ॥ १७ ॥

[**यस्य शिरः वैश्वानरः**] जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है,[**चक्षुः अंगिरसः अभवन्**] और आंख अंगिरस हो गये हैं,[**यस्य अंगानि यातवः**] जिसके अवयव यातु—राक्षस— हैं [**तं स्कंभं०**] उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १८ ॥

[**यस्य मुखं ब्रह्म आहुः**]जिसका मुख ब्रह्म है ऐसा कहते हैं,[**उत मधुकशां जिह्वां**] और जिह्वा मधुकशा हुई है । [**यस्य ऊधः विराजं**] जिसके स्तन–दुग्धाशय यह विराट् स्वरूप है [**तं स्कंभं०**] उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौन है? ॥ १९ ॥

[**यस्मात् ऋचः अपातक्षन्**] जिससे ऋचाएं बनीं, [**यस्मात् यजुः अपाकषन्**] जिससे यजु बने, [**यस्य लोमानि सामानि**] जिसके लोम साम हैं, जिसका [**मुखं अथर्वा आंगिरसः**] मुख आंगिरसः अथर्वा है. [**तं स्कंभं०**] उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ २० ॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः । उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥२१॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा । निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥
यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥२४॥
बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे । एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५॥
यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् । एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे । तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥२७॥
हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः । स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥
स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

अर्थ- [असत्-शाखां प्रतिष्ठन्तीं] असत्से उत्पन्न हुई और स्थिरतासे रहनेवाली एक शाखा है उसे [जनाः परमं इव विदुः] मनुष्य परमश्रेष्ठ तत्त्व है ऐसा मानते हैं। [उत ये अवरे सत् मन्यन्ते] और जो दूसरे लोग हैं वे उसको सत् ही मानते हैं [ते शाखां उपासते] वे उसी शाखाकी उपासना करते हैं ॥ २१ ॥

[यत्र] जहां आदित्य रुद्र और वसु [समाहिताः] रहते हैं, [भूतं भव्यं च] भूत, वर्तमान और भविष्य तथा [यत्र सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः] जहां ये सब लोक आधार लिये हैं [तं स्कंभं०] उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है?॥२२॥

[त्रयःत्रिंशत् देवाः] तैंतीस देव [यस्य निधिं सर्वदा रक्षन्ति] जिसके निधिकी सर्वदा रक्षा करते हैं, हे देवो! [यं अभिरक्षथ] जिसकी तुम रक्षा करते हो, [तं निधिं अद्य कः वेद] उस निधिको आज कौन जानता है ? ॥ २३ ॥

[यत्र ब्रह्मविदः देवाः] जहां ब्रह्म जाननेवाले विद्वान् ज्ञानी [ज्येष्ठं ब्रह्म उपासते] श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, [यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्] जो निश्चयपूर्वक उनको प्रत्यक्ष जानेगा [सः वेदिता ब्रह्मा स्यात्] वह ज्ञाता ब्रह्मा हो जायगा ॥२४॥

[ते देवाः बृहन्तः नाम] वे देव बडे प्रसिद्ध हैं, [ये असतः परि जज्ञिरे] जो असत् से अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, [तत् एकं स्कम्भस्य अंगं] वह स्कंभका एक अंग है, जिसको [जनाः असत् परः आहुः] ज्ञानी लोग असत् परंतु श्रेष्ठ है ऐसा कहते हैं ॥ २५ ॥

[यत्र स्कंभः प्रजनयन्] जहां सर्वाधार आत्मा सृष्टि-उत्पत्ति करता हुआ [पुराणं व्यवर्तयत्] पुराणकोही विवर्तित, करता है, [तत् स्कंभस्य एकं अंगं] वह सर्वाधार आत्माका एक अंग [पुराणं अनुसंविदुः] पुराण करकेही जानते हैं ॥ २६ ॥

[यस्य अंगे गात्रा] जिसके शरीरके अवयवोंमें [त्रयःत्रिंशत् देवाः विभेजिरे] तैंतीस देव विभक्त होकर रहे हैं, [तान् वै त्रयःत्रिंशत् देवान्] उन तैंतीस देवोंको [एके ब्रह्मविदः विदुः] अकेले ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं ॥ २७ ॥

(जनाः हिरण्यगर्भं) लोक हिरण्यगर्भका (परमं अनति-उद्यं विदुः) श्रेष्ठ और उच्च जानते हैं, (लोके अन्तरा) इस लोकके बीचमें (अग्रे स्कंभः तत् हिरण्यं प्रासिञ्चत्) प्रारंभमें सर्वाधार आत्मानेही वह सुवर्णमय हिरण्यगर्भ निर्माण किया ॥ २८ ॥

(स्कंभे लोकाः) स्कम्भ सर्वाधार परमात्मा है, उसके आधारसे सब लोग रहे हैं, (स्कंभे तपः) उसीमें तप रहता है, (स्कंभे अधि ऋतं आहितं) उसीके आधारसे ऋत रहता है, हे (स्कंभ) सर्वाधार ! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) मैं तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं, कि तुम (इन्द्रे सर्वं समाहितं) इन्द्रमेंही यह सब समाया है ॥ २९॥

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् । इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ३०(२४)
नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥
यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुराङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः३४
स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥ ३५ ॥
यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।॥ ३६ ॥

अर्थ- [इन्द्रे] इन्द्रमें सब लोक, तप और ऋत रहता है । हे इन्द्र! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं कि तूही (स्कंभे सर्वं प्रतिष्ठितम्) स्कंभ है जिसमें यह सब समाया है ॥ ३० ॥

[सूर्यात् पुरा उषसः पुरा] सूर्योदयके पूर्व उषःकालके भी पूर्व [नाम्ना नाम जोहवीति] नामके साथ ईश्वरके यशका गान करता है, ईशभक्ति करता है। [यत् अजः प्रथमं सं बभूव] जब इस प्रकार प्रयत्नशील आत्मा प्रथम ईश्वरसे सम्यक् संगत होता है, [सः ह तत् स्वराज्यं इयाय] वही उस स्वराज्य—स्वात्मानंद स्वराज्यको प्राप्त करता है कि [यस्मात् अन्यत् परं भूतं न अस्ति] जिससे दूसरा श्रेष्ठ कुछ भी बना नहीं है ॥ ३१ ॥

[यस्य भूमिः प्रमा] जिसकी भूमि एक पांवका प्रमाण है, [उत अन्तरिक्षं उदरं] और अन्तरिक्ष उदर है, [यः दिवं मूर्धानं चक्रे] जिसने द्युलोकको अपना सिर बनाया है [तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः] उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥३२॥

[यस्य सूर्यः चक्षुः] जिसके आंख सूर्य, [पुनः नवः चन्द्रमाः च] और फिरफिर नया बननेवाला चन्द्रमा है, [यः अग्निं आस्यं चक्रे] जिसने अग्निको अपना मुख बनाया है, [तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः] उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३३ ॥

[यस्य प्राणापानौ वातः] जिसके प्राण और अपान यह वायु हैं, और [चक्षुः आंगिरसः अभवन्] आंख आंगिरस बने हैं, [यः दिशः प्रज्ञानीः चक्रे] जिसने दिशाओंको प्रज्ञा साधन कान बनाये हैं, [तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः] उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३४ ॥

[स्कंभः इमे उभे द्यावापृथिवी दाधार] इस सर्वाधारने ये पृथ्वी और द्युलोक धारण किये हैं, [स्कंभः उरु अन्तरिक्षं दाधार] उसीने विस्तृत अन्तरिक्ष धारण किया है, [स्कंभः षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार] उसीने ये छः बडी दिशाएं धारण की है, [स्कंभः इदं विश्वं भुवनं आविवेश] वही इस सब विश्वमें प्रविष्ट है ॥ ३५ ॥

(यः तपसः श्रमात् जातः) जो तपके श्रमसे प्रकट होकर (सर्वान् लोकान् सं आनशे) सब लोकोंको व्यापता है, (यः सोमं केवलं चक्रे) जिसने सोमकोही केवल [एकही उत्तम औषधिरूप बनाया] है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३६ ॥

*

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः । किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥३७॥
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥
यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥
अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना । सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ४०
यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद । स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥
तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् ।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥ ४२ ॥
तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात् ।
पुमानेनद्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद्वि जभाराधि नाके ॥ ४३ ॥
इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥ (२५)

अर्थ- (कथं वातः न ईलयति) कैसा वायु स्थिर नहीं रहता ? (कथं मनः न रमते) क्यों मन नहीं रमता ? (किं सत्यं प्र-ईप्सन्तीः आपः) क्या सत्यकी प्राप्तिकी इच्छासे जल (कदा चन न ईलयन्ति) कभी स्थिर नहीं रहता ॥ ३७ ॥

(भुवनस्य मध्ये महत् यक्षं) इस विश्वके मध्यमें बडा पूज्य एक देव है, (तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे) ताप-उष्णता देनेमें विशेष कान्तिवाला जो जलके पृष्ठभागमें है, (तस्मिन् ये उ के च देवाः श्रयन्ते) उसीमें जो कोई देव हैं,-रहते हैं, [वृक्षस्य स्कन्धः परितः शाखा इव] जिस तरह वृक्षका स्कन्ध और उसके चारों ओर शाखा होते हैं ॥ ३८ ॥

[यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां] जिसके लिये हाथों पावों [वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा] वाणी, कानों और आंखोंसे [देवाः सदा अमितं बलिं यस्मै विमिते प्रयच्छन्ति] देव सदा अपरिमित उपहार जिसके अपरिमितके लिये देते हैं, [स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्वित् एव सः] उस सर्वाधारके विषयमें कह, कि वह कौन है ? ॥ ३९॥

[तस्य तमः अपहतं] उसका अज्ञान दूर हो चुका है, [सः पाप्मना व्यावृत्तः] वह पापसे दूर हो चुका है, [यानि त्रीणि ज्योतींषि] जो तीन ज्योतियां हैं, [सर्वाणि तस्मिन् प्रजापतौ] वे सब प्रजापतिमें हैं ॥ ४० ॥

[यः सलिले हिरण्ययं वेतसं तिष्ठन्तं वेद] जो जलमें सुवर्णका वेतस ठहरा हुआ है, यह जानता है, [सः वै गुह्यः प्रजापतिः] वही गुह्य प्रजापति है ॥ ४१ ॥

[एके विरूपे युवती] दो विरुद्ध रूपवाली स्त्रियां [षट् मयूखं तंत्रं] छः खूंटीयोंवाला ताना [अभि आ क्रामं वयतः] बारंवार घूमघूमकर बुनती हैं, उनमेंसे [अन्या तन्तून् प्रतिरते] दूसरी धागोंको फैलाती है और [अन्या धत्ते] दूसरी उनको धारण करती है, [न अपवृञ्जाते] न विश्राम करती हैं और [न गमातो अन्तं] न समाप्त करती हैं ॥ ४२ ॥

[परिनृत्यन्त्योः इव तयोः] नाचती हुई सी उन दोनों स्त्रियोंमेंसे [यतरा परस्तात् न विजानामि] कौनसी परली है, यह मैं नहीं जानता । [एनत् पुमान् वयति] इसको एक पुरुष बुनता है [एनत् पुमान् उद्गृणत्ति] इसको दूसरा पुरुष उकेलता है और वह [अधि नाके विजभार] स्वर्गमें इसको धारण करता है ॥ ४३ ॥

[इमे मयूखाः दिवं उप तस्तभुः] वे खूंटियां द्युलोकको थाम कर धारण करती हैं । [सामानि वातवे तसराणि चक्रुः] सामोंको बुननेके लिये तन्तुजाल जैसे बनाये हैं ॥ ४४ ॥

(८) ज्येष्ठ ब्रह्मका वर्णन ।

(ऋषिः- कुत्सः । देवता- आत्मा)

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥
स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत्॥२॥
तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्यन्या अर्कमभितोऽविशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥ ३ ॥
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥
इदं सवितर्वि जानीहि षड्यमा एक एकजः । तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥५॥
आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम् । तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत्प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

अर्थ-[यः भूतं भव्यं] जो भूतकालके और भविष्यकालके तथा वर्तमानकालके भी [यः सर्वं अधितिष्ठति] जो सब-पर अधिष्ठाता होकर रहता है, [यस्य च केवलं स्वः] जिसका केवल प्रकाशमय स्वरूप है, [तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः] इस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ।। १ ।।

[स्कंभेन वि-स्तभिते] इस सर्वाधार परमात्माने थांभे हुए [द्यौः च भूमिः च तिष्ठतः] द्युलोक और भूमि ये ठहरे हैं, [यत् प्राणत् यत् निमिषत् च] जो प्राण धारण करता है और जो आंखें झपकता है, [इदं सर्वं आत्मन्वत् स्कंभे] यह सब आत्मासे युक्त विश्व स्कंभमें है ॥ २ ॥

[तिस्रः ह प्रजाः अत्यायं आयन्] तीन प्रकारकी प्रजाएं अतिक्रमणको प्राप्त होती हैं, [अन्या अर्कं अभितः नि अवि-शन्त] एक प्रकारकी [सत्त्वगुणी प्रजा] सूर्यको प्राप्त होती है, दूसरी [बृहन् ह रजसः विमानः तस्थौ] बडे रजोलोकको मापती हुई रहती है, और तीसरी [हरिणीः हरितः आविवेश] हरण करनेवाली हरिद्वर्णको प्रविष्ट होती है ॥ ३ ॥

[द्वादश प्रधयः] बारह प्राधियां हैं, [एकं चक्रं] एक चक्र है, [त्रीणि नभ्यानि] तीन नाभियां हैं, [कः उ तत् चिकेत] कौन भला उसे जानता है ? [तत्र त्रीणि शतानि षष्टिः च शङ्कवः आहताः] उस चक्रमें तीन सौ साठ खूटियां लगायीं हैं और उतने ही [खीलाः] खील लगाये हैं, [ये अविचाचलाः] जो हिलनेवाले नहीं है ॥ ४ ॥

हे [सवितः] सविता ! [इदं विजानीहि] यह तू जान कि यहां [षट् यमाः एकः एकजः] छः जोडे हैं और एक अकेला है । [यः एषां एकजः एकः] जो इनमें अकेला एक है [तस्मिन्] उसमें [ह आपित्वं इच्छन्ते] निश्चयसे अपना संबन्ध जोडनेकी इच्छा अन्य करते हैं ॥ ५ ॥

[गुहा जरन् नाम] गुहामें संचार करनेवाला जो [महत् पदं] बडा प्रसिद्ध स्थान है, वह [आविः सन्निहितं] वह प्रकट होनेयोग्य संनिध भी है, जो [एजत् प्राणत्] कांपनेवाला और प्राणवाला है, वह [तत्र इदं सर्वं आर्पितं प्रतिष्ठितं] वहीं उस गुहामें समर्पित और प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद्बभूव ॥ ७ ॥
पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति ।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥
तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥
या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः ।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥ १० ॥ (२६)
यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत् ।
तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥
अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

अर्थ- (एक चक्रं एकनेमि वर्तते) एक चक्र एकही मध्यनाभिवाला है, जो [सहस्र-आरं प्र पुरः नि पश्चा] हजारों आरोंसे युक्त आगे और पीछे होता है । [अर्धेन विश्वं भुवनं जजान] आधेसे सब भुवन बनाये हैं और [यत् अस्य अर्ध क्व तत् बभूव] जो इसका आधा भाग है, वह कहां रहा है ॥ ७ ॥

[एषां पञ्चवाही अग्रं वहति] इनमें जो पांचोंसे उठायी जानेवाली है, वह अन्ततक पहुंचती है। [प्रष्टयः युक्ताः अनुसंवहन्ति] जो घोडे जोते हैं, वे ठीक प्रकार उठा रहे हैं । [अस्य अयातं ददृशे, न यातं] इसका न चलना ही दीखता है । परंतु चलना नहीं दीखता । तथा [परं नेदीयः अवरं दवीयः] बहुत दूरका बहुत समीप है और जो पास है, वही अति दूर है ॥ ८ ॥

[तिर्यग्बिलः ऊर्ध्वबुध्नः चमसः] तिरछे मुखवाला और ऊपर पृष्ठभागवाला एक पात्र है [तस्मिन् विश्वरूपं यशः निहितं] उसमें नाना रूपवाला यश रखा है । [तत् सप्त ऋषयः साकं आसत] वहां साथ साथ सात ऋषि बैठे हैं [ये अस्य महतः गोपाः बभूवुः]जो इस महानुभावके संरक्षक हैं ॥ ९ ॥

[या पुरस्तात् युज्यते या च पश्चात्] जो आगे और पीछे जुडी रहती है, [या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः] जो चारों ओरसे सब प्रकार जुडी रहती है । [यया यज्ञः प्राङ् तायते] जिससे यज्ञ पूर्वकी ओर फैलाया जाता है, [तां त्वा पृच्छामि] उस विषयमें मैं तुझे पूछता हूं [ऋचां सा कतमा] ऋचाओंमें वह कौनसी है ? ॥ १० ॥

[यत् एजति, पतति, यत् च तिष्ठति] जो कांपता है, गिरता है और जो स्थिर रहता है, [यत् प्राणत् अप्राणत् निमिषत् च भुवत्] जो प्राण धारण करनेवाला, प्राणरहित और जो निमेषोन्मेष करता है और जो होता है, [तत् विश्वरूपं पृथिवीं दाधार] वह विश्वरूपी सत्त्व इस पृथ्वीका धारण करता है [तत् संभूय एकं एव भवति] वह सब मिलकर एक ही होता है ॥ ११ ॥

[अनन्तं पुरुत्रा विततं] अनन्त चारों ओर फैला है, [अनन्तं अन्तवत् च समन्ते] अनन्त और अन्तवाला ये दोनों एक दूसरेसे मिले हैं । [अस्य भूतं उत भव्यं ते विचिन्वन्] इसके भूतकालीन और भविष्यकालीन तथा वर्तमानकालीन सब वस्तुमात्रके संबंधमें विवेक करता हुआ और पश्चात् [विद्वान्] सबको जानता हुआ,[नाकपालः चरति]सुखपालक चलता है॥१२॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् । पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥१४॥
दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते । महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति।१५
यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति । तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥
ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ १८ ॥
सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति ।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥

अर्थ-[प्रजापतिः अदृश्यमानः गर्भे अन्तः चरति] प्रजापति अदृश्य होता हुआ गर्भके अन्दर संचार करता है, और [बहुधा विजायते] वह अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। [अर्धेन विश्वं भुवनं जजान] आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करता है, [यत् अस्य अर्धं सः कतमः केतुः] जो इसका दूसरा आधा है, उसकी निशानी क्या है ? ॥ १३ ॥

[कुम्भेन उदकं ऊर्ध्वं भरन्तं उदहार्यं इव] जैसा घडेसे जलको भरकर ऊपर लानेवाला कहार होता है। [सर्वे चक्षुषा पश्यन्ति] सब आंखसे देखते हैं, [सर्वे मनसा न विदुः] परंतु सब मनसे नहीं जानते ॥ १४ ॥

[पूर्णेन दूरे वसति] पूर्ण होनेपर भी दूर रहता है, [ऊनेन दूरे हीयते] न्यून होनेपर भी दूर ही रहता है। [भुवनस्य मध्ये महत् यक्षं] विश्वके बीचमें बडा पूज्य देव है, [तस्मै राष्ट्रभृतः बलिं भरन्ति] उसके लिये राष्ट्र-सेवक अपना बलिदान करते हैं ॥ १५ ॥

[यतः सूर्यः उदेति] जहांसे सूर्य उगता है और [यत्र च अस्तं गच्छति] जहां अस्तको जाता है, [तत् एव अहं ज्येष्ठं मन्ये] वही श्रेष्ठ है, ऐसा मैं मानता हूं, [तत् उ किं चन न अत्येति] उसका अतिक्रमण कोई नहीं करता ॥ १६ ॥

[ये अर्वाङ् मध्ये उत वा पुराणं] जो उरेवाले बीचके अथवा पुराणे [वेदं विद्वांसं अभितः वदन्ति] वेदवेत्ताकी चारों ओरसे प्रशंसा करते हैं, [ते सर्वे आदित्यं एव परि वदन्ति] वे सब आदित्यकी ही प्रशंसा करते हैं [द्वितीयं अग्निं] दूसरा अग्नि और [त्रिवृतं हंसं] त्रिवृत हंस की ही प्रशंसा करते हैं ॥ १७ ॥

(अस्य हंसस्य) इस हंसके (स्वर्गं पततः) स्वर्गको जाते हुए (पक्षौ सहस्राह्ण्यं वियतौ) इसके दोनों पक्ष सहस्र दिनोंतक फैलाये रहते हैं। (सः सर्वान् देवान् उरसि उपपद्य) वह सब देवोंको अपनी छातीपर लेकर (विश्वा भुवनानि संपश्यन् याति) सब भुवनोंको देखता हुवा जाता है ॥ १८ ॥

(सत्येन ऊर्ध्वः तपति) सत्यके साथ ऊपर तपता है, (ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति] ज्ञानसे नीचे देखता है। (प्राणेन तिर्यङ् प्राणति) प्राणसे तिरछा प्राण लेता है, (यस्मिन् ज्येष्ठं अधिश्रितं) जिसमें श्रेष्ठ ब्रह्म रहता है ॥ १९ ॥

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु ।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद्ब्राह्मणं महत् ॥ २० ॥ (२७)

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्वरा॒भरत् । चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥२१॥

भोग्यो भवदथो अन्नमदद्बहु । यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः । अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥२३॥

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम् ।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद्देवो रोचत एष एतत् ॥ २४ ॥

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते । ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥२५॥

इयं कल्याण्य॒जरा मर्त्यस्यामृता गृहे । यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥२६॥

अर्थ- (यः वै ते अरणी विद्यात्) जो उन दोनों अरणियोंको जानता है, (याभ्यां वसु निर्मथ्यते) जिससे वसु निर्माण किया जाता है। (सः विद्वान् ज्येष्ठं मन्यते) वह ज्ञानी ज्येष्ठ ब्रह्मको जानता है और (सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बडे ब्रह्मको भी जानता है ॥ २० ॥

(अग्रे अपात् सं अभवत्) प्रारंभमें पादरहित आत्मा एक ही था। (सः अग्रे स्वः आभरत्) वह प्रारंभमें स्वात्मानंद भरता रहा। वही (चतुष्पाद् भोग्यः भूत्वा) चार पांववाला भोग्य होकर (सर्वं भोजनं आदत्त) सब भोजनको प्राप्त करने लगा ॥ २१ ॥

(भोग्यः अभवत्) वह भोग्य हुआ। (अथो बहु अन्नं अदत्) बहुत अन्न खाने लगा। (यः सनातनं उत्तरावन्तं देवं उपासातै) जो सनातन और श्रेष्ठ देवकी उपासना करता है। ॥ २२ ॥

(एनं सनातनं आहुः) इसे सनातन कहते हैं (उत अद्य पुनः नवः स्यात्) और वह आजही फिर नया होता है। इससे (अन्यः अन्यस्य रूपयोः) परस्परके रूपके (अहोरात्रे प्र जायेते) दिन और रात्र होते हैं ॥२३॥

(शतं सहस्रं अयुतं) सौ, हजार, दस हजार, (न्यर्बुदं असंख्येयं स्वं अस्मिन् निविष्टम्) लाख अथवा असंख्य स्वत्व इसमें हैं। (अस्य अभिपश्यतः एव) इसके देखते ही (तत् घ्नन्ति) वह सत्त्व आघात करता है (तस्मात् एष देवः एतत् रोचते) इससे यह देव इसको प्रकाशित करता है ॥ २४ ॥

(एकं बालात् अणीयस्कं) एक बालसे भी सूक्ष्म है, (उत एकं नैव दृश्यते) और दूसरा दीखता ही नहीं। (ततः परिष्वजीयसी देवता) उससे जो दोनोंको आलिंगन देनेवाली देवता है; (सा मम प्रिया) वह मुझे प्रिय है ॥ २५ ॥

(इयं कल्याणी अजरा) यह कल्याण करनेवाली अक्षय है, (मर्त्यस्य गृहे अमृता) मरनेवालेके घरमें अमर है। (यस्मै कृता सः शये) जिसके लिये की जाती है, वह लेटता है और (यः चकार सः जजार) जो करता है वह वृद्ध होता है ॥ २६ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७॥
उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥२८॥
पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते । उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥२९॥
एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव ।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥३०॥
अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥३१॥
अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥३२॥
अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् । वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥३३॥

अर्थ– [त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि] तू स्त्री है और तूही पुरुष है । [त्वं कुमारः उत वा कुमारी] तू लडका है और लडकी भी तूही है। [त्वं जीर्णः दण्डेन वञ्चसि] तू वृद्ध होनेपर दण्डके सहारे चलता है, [त्वं जातः विश्वतो मुखः भवसि] तू प्रकट होकर सब ओर मुखवाला होता है ॥ २७ ॥

[उत एषां पिता] इनका पिता, (उत वा एषां पुत्रः) और इनका पुत्र [एषां ज्येष्ठः उत वा कनिष्ठः] इनमें ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ, यह सब [एकः ह देवः मनसि प्रविष्टः] एकही देव मनमें प्रविष्ट होकर [प्रथमः जातः स उ गर्भे अन्तः] पहिले जो हुआ था, वही गर्भमें आता है ॥ २८ ॥

[पूर्णात् पूर्णं उदचति] पूर्णसे पूर्ण होता है, [पूर्णं पूर्णेन सिच्यते] पूर्ण ही पूर्णके द्वारा सींचा जाता है, [उतो अद्य तत् विद्याम] अब आज वह हम जाने, कि [यतः तत् परिषिच्यते] जहांसे वह सींचा जाता है ॥ २९ ॥

[एषा सनत्नी] यह सनातन शक्ति है, (सनं एव जाता) सनातन कालसे विद्यमान है, यही [पुराणी सर्वं परि बभूव] पुरानी शक्ति सब कुछ बनी है, [मही देवी उषसः विभाति] यही बडी देवी उषाओंको प्रकाशित करती है, [सा एकेन-एकेन मिषता वि चष्टे] वह अकेले अकेले प्राणीके साथ दीखती है ॥ ३० ॥

[अविः वै नाम देवता] रक्षणकर्त्री नामक एक देवता है, वह [ऋतेन परिवृता आस्ते] सत्यसे घेरी हुई है। (तस्याः रूपेण इमे वृक्षाः] उसके रूपसे ये सब वृक्ष [हरिताः हरितस्रजः] हरे और हरे पत्तोंवाले हुए हैं ॥ ३१ ॥

[अन्ति सन्तं न जहाति] समीप होनेपर भी वह छोडता नहीं और [अन्ति सन्तं न पश्यति] वह समीप होनेपर भी दीखता भी नहीं । [देवस्य पश्य काव्यं] इस देवका यह काव्य देखो, जो [न ममार न जीर्यति] नहीं मरता और नहीं जीर्ण होता है ॥ ३२ ॥

[अपूर्वेण इषिताः वाचः] जिसके पूर्व कोई नहीं है, इस देवताने प्रेरित की ये वाचाएं हैं, [ताः यथायथं वदन्ति] वह वाणियां यथायोग्य वर्णन करती हैं । [वदन्तीः यत्र गच्छन्ति] बोलती हुई जहां पहुंचती हैं, [तत् महत् ब्राह्मणं आहुः] वह बडा ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं ॥ ३३ ॥

यत्र॑ दे॒वाश्च॑ मनु॒ष्या॒श्चा॒रा नाभा॑विव श्रि॒ताः ।
अ॒पां त्वा॑ पु॒ष्पं पृ॑च्छामि॒ यत्र॒ तन्मा॒यया॑ हि॒तम् ॥३४॥
येभि॒र्वात॑ इषि॒तः प्र॒वाति॒ ये दद॑न्ते॒ पञ्च॒ दिशः॑ स॒ध्रीचीः॑ ।
य आहु॑तिम॒त्यम॑न्यन्त दे॒वा अ॒पां ने॒तारः॑ कत॒मे त आ॑सन् ॥३५॥
इ॒माम॑षां पृ॑थि॒वीं वस्त॒ एको॑ऽन्तरि॑क्षं पर्ये॑को बभूव ।
दिव॑मेषां ददते॒ यो वि॑ध॒र्ता विश्वा॒ आशाः॑ प्रति॑ रक्षन्त्येके॑ ॥३६॥
यो वि॒द्यात्सूत्रं॒ वित॑तं॒ यस्मि॒न्नोताः॑ प्र॒जा इ॒माः ।
सूत्रं॒ सूत्र॑स्य॒ यो वि॒द्यात्स वि॑द्या॒द्ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥३७॥
वेदा॒हं सूत्रं॒ वित॑तं॒ यस्मि॒न्नोताः॑ प्र॒जा इ॒माः । सूत्रं॒ सूत्र॑स्या॒हं वे॒दाथो॒ यद्ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥३८॥
यद॑न्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी अ॒ग्निरैत्प्र॒दह॑न्विश्वदा॒व्यः॑ ।
यत्राति॑ष्ठ॒न्नेक॑पत्नीः प॒रस्ता॒त्क्वे॑वासीन्मात॒रिश्वा॑ त॒दानी॑म् ॥ ३९ ॥
अ॒प्स्वा॑सीन्मात॒रिश्वा॒ प्रवि॑ष्टः॒ प्रवि॑ष्टा दे॒वाः स॑लि॒लान्या॑सन् ।
बृ॒हन्ह॑ त॒स्थौ रज॑सो वि॒मानः॒ पव॑मानो ह॒रित॒ आ वि॑वेश ॥ ४० ॥

अर्थ- [देवाः च मनुष्याः च] देव और मनुष्य [नाभौ आराः इव यत्र श्रिताः] नाभिमें और लगनेके समान जहां आश्रित हुए हैं, उस [अपां पुष्पं त्वा पृच्छामि] आप्-तत्त्वके पुष्पको मैं तुझे पूछता हूं, कि [यत्र तत् मायया हितम्] जहां वह मायासे आच्छादित होकर रहता है ॥ ३४ ॥

[येभिः इषितः वातः प्रवाति] जिनसे प्रेरित हुआ वायु बहता है, [ये सध्रीचीः पञ्च प्रदिशः ददन्ते] जो मिली-जुली पांचों दिशायें धारण करते हैं, [ये देवाः आहुतिं अति अमन्यन्त] जो देव आहुतिको अधिक मानते हैं, [ते अपां नेतारः कतमे आसन्] वे जलोंके नेता कौनसे हैं ? ॥ ३५ ॥

[एषां एकः इमां पृथिवीं वस्ते] इनमेंसे एक इस पृथ्वीपर रहता है [एकः अन्तरिक्षं परिबभूव] एक अन्तरिक्षमें व्यापता है, [एषां यः विधर्ता] इनमें जो धारक है, वह [दिवं ददते] द्युलोकका धारण करता है, और [एके विश्वाः आशाः प्रति रक्षति] कुछ सब दिशाओंकी रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

[यस्मिन् इमाः प्रजाः ओताः] जिसमें ये सब प्रजा पिरोयी हैं, [यः विततं सूत्रं विद्यात्] जो इस फैले सूत्रको जानता है,और [सूत्रस्य सूत्रं यः विद्यात्] सूत्रके सूत्रको जो जानता है,[सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्] वह बडे ब्रह्मको जानता है। ३७॥

[यस्मिन् इमाः प्रजाः ओताः] जिसमें ये प्रजाएं पिरोयी हैं, [अहं विततं सूत्रं वेद] मैं यह फैला हुआ सूत्र जानता हूं। [सूत्रस्य सूत्रं अहं वेद] सूत्रका सूत्र भी मैं जानता हूं और (अथो यत् महत् ब्राह्मणं) और जो बडा ब्रह्म है, वह भी मैं जानता हूं ॥ ३८ ॥

[यत् द्यावापृथिवी अन्तरा) जो द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें [विश्वदाव्यः प्रदहन् अग्निः ऐत्] विश्वको चलानेवाला अग्नि होता है, [यत्र परस्तात् एकपत्नीः अतिष्ठन्] जहां दूरतक एक पत्नीही रहती है, [तदानीं मातरिश्वा क्व इव आसीत्] उस समय वायु कहां था ?॥ ३९ ॥

(मातरिश्वा अप्सु प्रविष्टः आसीत्) वायु जलोंमें प्रविष्ट था, (देवाः सलिलानि प्रविष्टाः आसन्) सब देव जलोंमें प्रविष्ट थे, (बृहत् ह रजसः विमानः तस्थौ) उस समय बडा ही रजका विशेष प्रमाण था, और (पवमानः हरितः आ विवेश) वायु सूर्यकिरणोंके साथ था ॥ ४० ॥

उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे । साम्ना ये साम संविदुरजस्तद्ददृशे क्व ॥ ४१ ॥
निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा । इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥४२॥
पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥
अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥　　(२९)

अर्थ-[उत्तरेण अमृते अधि गायत्रीं अधि वि चक्रमे] उच्चतर रूपसे अमृतमें गायत्रीको विशेष रीतिसे प्राप्त करते हैं। [ये साम्ना साम सं विदुः] जो सामसे साम जानते हैं, [तत् अजः क ददृशे] वह अजन्माने कहां देखा ? ॥ ४१ ॥

[सत्यधर्मा सविता देवः इव] सत्यके धर्मसे युक्त सविता देवके समान [वसूनां संगमनः निवेशनः] सब धनोंका देनेवाला और निवासका हेतु है वह [धनानां समरे] धनोंके युद्धमें [इन्द्रः न तस्थौ] इन्द्रके समान स्थिर रहता है ॥ ४२॥

[नवद्वारं पुण्डरीकं] नव द्वारवाला कमल [त्रिभिः गुणेभिः आवृतं] सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणोंसे घेरा हुवा है। [तस्मिन् यत् आत्मन्वत् यक्षं] उसमें जो आत्मावाला पूज्य देव है (तत् वै ब्रह्मविदः विदुः) उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥४३॥

(अकामः धीरः अमृतः स्वयंभूः) निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू (रसेन तृप्तः) रससे संतुष्ट वह देव (न कुतश्चन ऊनः) कहांसे भी न्यून नहीं है, (तं एव विद्वान् मृत्योः न बिभाय) उसे जाननेवाला ज्ञानी मृत्युसे डरता नहीं, क्योंकि (आत्मानं धीरं अजरं युवानं) वही धीर अजर युवा आत्मा है ॥ ४४ ॥

---

[९] शतौदना गौ ।

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— शतौदना)

(५) अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥ १ ॥
वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते । एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥२॥
बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं माष्टर्व्घ्न्ये ।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ३ ॥

अर्थ— (अघायतां मुखानि अपि नह्य) पापी लोगोंके मुख बंद कर । (सपत्नेषु एतं वज्रं अर्पय) शत्रुओंपर यह वज्र फेंक । (इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना) इन्द्रने दी हुई पहिली सैंकडों भोजन देनेवाली (भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः) शत्रुका नाश करनेवाली, यजमानका मार्ग दर्शानेवाली गौ ही है ॥ १ ॥

(ते चर्म वेदिः भवतु) तेरा चर्म वेदी बने, (यानि ते लोमानि बर्हिः) जो तेरे रोम हैं वे दर्भ हैं, (एषा रशना त्वा अग्रभीत्) जो रसी तुझे बांधी है, हे ('औषधि) सोमवल्ली ! (एषः ग्रावा त्वा अधिनृत्यतु) यह ग्रावा तेरे ऊपर आनंदसे नाचे, तेरा रस निकालनेके लिये वनस्पतिपर पत्थर नाचे ॥ २ ॥

हे (अघ्न्ये) अहिंसनीय गौ ! (ते बालाः प्रोक्षणीः सन्तु) तेरे बाल प्रोक्षणी होवें, (जिह्वा सं मार्ष्टु) तेरी जिह्वा शोधन करे, (त्वं यज्ञिया शुद्धा भूत्वा) तू पूज्य और शुद्ध होकर, हे शतौदना गौ ! (त्वं दिवं प्रेहि) तू द्युलोकमें जा। ३ ।

*

यः श॒तौद॑नां॒ पच॑ति काम॒प्रेण॒ स क॑ल्पते । प्री॒ता ह्य॑स्यर्त्विजः॒ सर्वे॒ यन्ति॑ यथाय॒थम् ॥४॥

स स्व॒र्गमा रो॑हति॒ यत्रा॒दस्त्रि॑दि॒वं दि॒वः । अ॒पू॒पना॑भिं कृ॒त्वा यो दादा॑ति श॒तौद॑नाम् ॥५॥

स तां॑ल्लो॒कान्त्स॒मा॑प्नोति॒ ये दि॒व्या ये च॒ पार्थि॑वाः ।
हिर॑ण्यज्योतिषं कृ॒त्वा यो दादा॑ति श॒तौद॑नाम् ॥ ६ ॥

ये ते॑ देवि शमि॒तारः॑ प॒क्तारो॒ ये च॒ ते॒ जनाः॑ । ते त्वा॒ सर्वे॑ गोप्स्यन्ति॒ मैभ्यो॑ भैषीः शतौदने ॥७॥

वस॑वस्त्वा दक्षिण॒त उ॑त्त॒रान्म॒रुत॑स्त्वा । आ॒दि॒त्याः प॒श्चाद्गो॑प्स्यन्ति॒ साग्नि॑ष्टो॒मम॑ति॑ द्रव ॥८॥

दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वाप्स॒रस॑श्च॒ ये । ते त्वा॒ सर्वे॑ गोप्स्यन्ति॒ साति॑रा॒त्रमति॑ द्रव ॥९॥

अ॒न्तरि॑क्षं॒ दिवं॒ भूमि॑मादि॒त्यान्म॒रुतो॒ दिशः॑ । लो॒कान्त्स सर्वा॑नाप्नोति॒ यो दादा॑ति श॒तौद॑नाम् १०

घृ॒तं प्रो॒क्षन्ती॑ सु॒भगा॑ दे॒वी दे॒वान्ग॑मिष्यति । प॒क्तार॑मघ्न्ये॒ मा हिं॑सी॒र्दिवं॒ प्रेहि॑ शतौदने ॥११॥

ये दे॒वा दि॑वि॒षदो॑ अन्तरिक्ष॒सद॑श्च॒ ये ये चे॒मे भूम्या॒मधि॑ ।
तेभ्य॒स्त्वं धु॑क्ष्व सर्व॒दा क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑ ॥ १२ ॥

अर्थ— (यः शतौदनां पचाति) जो शतौदनाका परिपाक करता है, वह (सः कामप्रेण कल्पते) वह संकल्पोंको पूर्ण करता है । [अस्य सर्वे प्रीताः ऋत्विजः] इसके सब संतुष्ट हुए ऋत्विज (यथायथं यन्ति) यथायोग्य मार्गसे वापस जाते हैं॥४॥

(सः स्वर्गं आरोहति) वह स्वर्गपर चढता है (यत्र अदः त्रिदिवं दिवः) जहां वह स्वर्गधाम है, (यः शतौदनां अपूपनाभिं कृत्वा ददाति) जो शतौदनाको मालपूवोंके रूपमें करके दान देता है ॥ ५ ॥

(ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो दिव्य और जो पार्थिव भोग हैं, (तान् लोकान् सः समाप्नोति) उन सब लोगोंको वह प्राप्त करता है, (यः शतौदनां हिरण्यज्योतिषं कृत्वा ददाति) जो शतौदना गौको सुवर्णसे तेजस्वी करके दान देता है ।।६॥

[ये शमितारः ये च पक्तारः जनाः] जो शमिता और जो पकानेवाले लोग हैं, [ते सर्वे त्वा गोप्स्यन्ति] वे सब तेरी रक्षा करेंगे । हे [शतौदने] सौ मनुष्योंका भोजन देनेवाली गौ ! [एभ्यः मा भैषीः] इनसे तू न भय कर ॥७॥

[दक्षिणतः त्वा वसवः] दक्षिणकी ओरसे तुझे वसुदेव, [उत्तरात् त्वा मरुतः] उत्तरकी ओरसे तुझे मरुत् देव, [आदित्याः पश्चात् गोप्स्यन्ति] आदित्य तेरी पीछेसे रक्षा करेंगे, [सा त्वं अग्निष्टोमं अति द्रव] वह तू अग्निष्टोम यज्ञके पार जा ॥ ८ ॥

[ये] जो देव, पितर, मनुष्य और गन्धर्व-अप्सरागण हैं, [ते सर्वे त्वा गोप्स्यन्ति] वे सब तेरी रक्षा करेंगे, [सा अतिरात्रं अति द्रव] वह तू अतिरात्र यज्ञके पार जा ॥ ९ ॥

(यः शतौदनां ददाति) जो शतौदनाको देता है, (सः सर्वान् लोकान् आप्नोति] वह सब लोगोंको प्राप्त करता है, जो लोक अन्तरिक्ष, द्यु, भूमि, आदित्य, मरुत् और दिशाओंके नामसे प्रसिद्ध है ॥ १० ॥

[घृतं प्रोक्षन्ति सुभगा देवी] घीका सिंचन करनेवाली भाग्यवाली देवी (देवान् गमिष्यसि] देवताओंको प्राप्त होगी । हे शतौदने [अघ्न्ये] अहिंसनीय गौ ! [पक्तारं मा हिंसी] पकानेवालेकी हिंसा मत् कर, [दिवं प्रेहि] स्वर्गको प्राप्त हो॥११

(ये दिवि-सदः देवाः) जो द्युलोकमें रहनेवाले देव हैं, (ये च अन्तरिक्ष-सदः) जो अन्तरिक्षमें रहते हैं, (ये च इमे भूम्यां अधि) जो भूमिपर रहते हैं, (तेभ्यः त्वं सर्वदा) उनके लिये तू सर्वदा (क्षीरं सर्पिः अथो मधु धुक्ष्व) दूध, घी और मधु दे ॥ १२ ॥

यत्ते शिरो यत्ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१३॥
यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥१४॥
यत्ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत्सहकण्ठिका। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१५॥
यत्ते यकृद्ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१६॥
यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥१७॥
यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम्। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥१८॥
यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत्। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥१९॥
यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु।२०।(३१)
यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत्। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२१॥
यत्ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥२२॥
यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२३॥
यत्ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२४॥
क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ। तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥२५॥
उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ २६ ॥

अर्थ- (यत् ते शिरः) जो तेरा सिर, (यत् ते मुखं) जो तेरा मुख है, (यौ च ते कर्णौ) जो तेरे कान हैं, (ये च ते हनू) जो तेरी हनू है, (दात्रे आमिक्षां क्षीरं सर्पिः अथो मधु दुह्रतां) दाताको दही, दूध, घी और मधु देवें ॥ १३ ॥

[यौ ते ओष्ठौ] जो तेरे ओठ हैं (शृंगे अक्षिणी) जो तेरे सींग और आंख हैं, (ते क्लोमा हृदयं पुरीतत् सह कंठिका) जो फेफडा, हृदय, मलाशय और कण्ठका भाग है, (ते यकृत् मतस्ने आन्त्रं गुदाः) जो तेरा यकृत, गुर्दे, आतें और गुदा हैं, [ते प्लाशीः, वनिष्ठुः, कुक्षी, चर्म] जो तेरे पिलही, गुदाभाग, कोख और चर्म है, (ते मज्जा, अस्थि, मांसं लोहितं) जो तेरी मज्जा, अस्थि, मांस और रुधिर हैं, (ते बाहू दोषणी अंसौ, ककुत्) जो तेरे बाहू, बाजूएं, कन्धे और कुहान हैं, (ते ग्रीवा स्कन्धाः पृष्टीः पर्शवः) जो तेरे गर्दन, कन्धे, पीठ और पसुलियां हैं, (ते ऊरू अष्ठीवन्तौ श्रोणी भसत्) जो तेरी जंघाएं, घुटने, कुल्हे और गुह्यांग हैं, (ते पुच्छं बालाः ऊधः स्तनाः) जो तेरा पूछ, बाल, दुग्धाशय और स्तन हैं, (ते जंघाः कुष्टिकाः ऋच्छराः शफाः] जो तेरी जघाएं, खुट्टियां, कलाई के भाग और खुर हैं, (ते चर्म लोमानि) जो तेरे चर्म और लोम हैं, हे (शतौदने) गौ! (दात्रे क्षीरं आमिक्षां०) दाताको दूध, दही, घी और मधु देते रहें॥ १४-२४॥

हे शतौदने गौ! (ते क्रोडौ) तेरे पार्श्वभाग (आज्येन अभिघारितौ पुरोडाशौ स्तां) घीद्वारा सिंचित पुरोडाश हों। हे देवि! (तौ पक्षौ कृत्वा) उनके पंख बनाकर (सा त्वं पक्तारं दिवं वह) वह तू पकानेवालेको स्वर्गपर ले जा॥ २५॥

[उलूखले मुसले] ओखली और मुसल, [चर्मणि शूर्पे च वा यः तण्डुलः कणः] चर्मपर तथा सूर्पमें जो चावलोंके कण रहते हैं, (यं वा वातो मातरिश्वा पवमानः ममाथ) जिसको पवित्र करनेवाले वायुने मथा था, [तत् होता अग्निः सुहुतं कृणोतु] उसे होता अग्नि उत्तम आहुतिरूप बनावें॥ २६ ॥

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥२७॥ (३२)

अर्थ-[मधुमतीः घृतश्च्युतः देवीः आपः] मधुयुक्त घीको देनेवाली दिव्य जलधाराएं (ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् साद-यामि) ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग देता हूं। (यत् कामः इदं वः अहं अभिषिञ्चामि) जिसकी इच्छा करता हुआ, मैं यह आपको अभिषेक करता हूं, [तत् मे सर्वं संपद्यतां] वह मुझे सब प्राप्त हो, (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके पति बनें ॥ २७ ॥

(१०) वशा गौ।

(ऋषिः—कश्यपः । देवता-वशा ।)

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः । बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ॥ १ ॥
यो विद्यात्सप्त प्रवतः सप्त विद्यात्परावतः । शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्॥२॥
वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः । शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥ ३ ॥
यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः । वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥४॥
शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

अर्थ—हे (अघ्न्ये) हनन करने अयोग्य गौ! (ते जायमानायै नमः) उत्पन्न होनेके समय तुझे नमस्कार है। (उत जातायै ते नमः) उत्पन्न हुई तुझको नमस्कार है। (ते बालेभ्यः शफेभ्यः रूपाय नमः)तेरे बालों, शफों और रूपके लिये नमस्कार है॥ १ ॥

(यः सप्त प्रवतः विद्यात्) जो सात प्रवाह-जीवनप्रवाह—जानता है, (यः च सप्त परावतः विद्यात्) और जो सात अन्तरोंको-स्थानोंको-जानता है, तथा जो (यज्ञस्य शिरः विद्यात्) यज्ञका सिर जानता है, वही (वशां प्रति गृह्णीयात्) वशा गौका स्वीकार करे ॥ २ ॥

(अहं सप्त प्रवतः वेद) मैं सात जीवनप्रवाहोंको-प्राणोंको-जानता हूं, (सप्त परावतः वेद) सात स्थानोंको-इंद्रिय स्थानोंको-भी जानता हूं। (यज्ञस्य शिरः च अहं वेद) यज्ञका शिर भी-यज्ञका मुख्य साध्य भी जानता हूं (अस्यां विचक्षणं सोमं च वेद) इसमें विशेष चमकनेवाले सोमको भी मैं जानता हूं॥ ३ ॥

(यया द्यौः पृथिवी इमा आपः च गुपिताः) जिसने द्युलोक, पृथिवी और सब जलोंकी सुरक्षा की है, उस [सहस्र धारां वशां] उस हजारों अमृतधारा देनेवाली वशा गौको (ब्रह्मणा अच्छा वदामसि) ज्ञानद्वारा उत्तम रीतिसे प्रदर्शित करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं॥ ४ ॥

[अस्याः अधिपृष्ठे] इसकी रक्षा करनेके लिये इसकी पीठपर [शतं दोग्धारः शतं कंसाः] सौ मनुष्य दूध दोहनेवाले, सौ उत्तम पात्रोंको लेकर, साथ साथ [शतं गोप्तारः] सौ इसके रक्षक भी इस गौके साथ चलते हैं। [ये देवाः तस्यां प्राणन्ति] जो देव उस गौसे जीवित रहते हैं [ते एकधा वशां विदुः] वे एकमतसे गौका महत्त्व यथावत् जानते हैं ॥५॥

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका । वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥
अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा। ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे॥७॥
अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे । तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥
यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि । इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद्वशे ॥ ९ ॥
यदनूचीन्द्रमैरात्त्व ऋषभोऽह्वयत् । तस्मात्ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद्वशे ॥ १० ॥
यत्ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद्वशे । इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥
त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद्वशा । अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १२ ॥
सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता । वशा समुद्रमध्यष्ठाद्गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥ १३ ॥

अर्थ-[यज्ञपदी आक्षीरा] यज्ञमें जिसको स्थान प्राप्त हुआ है, जो दूध देती है, [स्वधाप्राणा महीलुका] अन्नरूप प्राणका धारण करनेवाली होनेके कारण इस पृथ्वीपर जो प्रसिद्ध है । यह [पर्जन्यपत्नी वशा] वृष्टिद्वारा घास आदि उत्पन्न होनेसे जिसका पालनपोषण होता है, वह गौ (ब्रह्मणा देवान् अप्येति) ब्रह्मरूप अन्नसे देवोंको प्राप्त करती है ॥ ६ ॥

हे (वशे) गौ ! (त्वा अग्निः अनुप्राविशत्)तुझे अग्नि प्राप्त हुआ है,(सोमः अनु) सोम भी प्राप्त हुआ है। हे (भद्रे) कल्याण करनेवाली गौ ! (ते ऊधः पर्जन्यः) तेरा दूधस्थान पर्जन्य ही है । हे वशा गौ ! (ते स्तना विद्युतः) तेरे स्तन विद्युत् हैं। इस तरह अग्न्यादि देवताओंकी शक्तियां तेरे अंदर हैं ॥ ७ ॥

हे (वशे) वशा गौ ! (त्वं प्रथमः अपः धुक्षे) तू सबसे प्रथम जलको दुहती—देती है, (अपरा उर्वरा) पश्चात् उपजाऊ भूमिके समान धान्य देती है । (तृतीयं राष्ट्रं धुक्षे) तीसरा राष्ट्रीय शक्ति देती है, (त्वं अन्नं क्षीरं) तू अन्न और क्षीर-दूध-देती है ॥ ८ ॥

हे (वशे) गौ ! हे (ऋतावरी) दूधरूपी अन्न देनेवाली गौ ! (यत् आदित्यैः हूयमाना) जब तू आदित्यों द्वारा शक्ति प्राप्त करती हुई (उपातिष्ठः) समीप आती है, तब (इन्द्रः सहस्रं पात्रान्) इन्द्र हजारों बर्तनोंको लेकर (त्वा सोमं पाययत्) सोमरस पिलाता है ॥ ९ ॥

हे (वशे) गौ! (यत् अनूचीः इन्द्रं ऐः) जब तू अनुकूलतासे इन्द्रको प्राप्त होती है, (त्वा ऋषभः आत् अह्वयत्) तब तुझे वृषभ समीपसे पुकारता रहा। हे वशा गौ ! (तस्मात् क्रुद्धः वृत्रहा) इस कारण क्रोधित हुआ इन्द्र (ते पयः क्षीरं अहरत्) तेरा दूध और जल हरता रहा ॥ १० ॥

हे वशा गौ ! (यत् क्रुद्धः धनपतिः) जब क्रोधित हुआ धनपति (ते क्षीरं अहरत्) तेरा दूध लेता है, तब समझो कि (इदं तत् अद्य) यह वह आज (नाकः त्रिषु पात्रेषु रक्षति) स्वर्गधामही सोमके रूपसे तीन बर्तनोंमें रखता है ॥ ११ ॥

(यत्र दीक्षितः अथर्वा) जहां दीक्षा लिया अथर्ववेदी यज्ञकर्ता (हिरण्यये बर्हिषि आस्ते) सुवर्णमय आसनपर बैठता है, (तं) उसके पास (त्रिषु पात्रेषु सोमं) तीनों बर्तनोंमें रखा सोम (वशा देवी अहरत्) देवी वशा गौ ले जाती है, दूध रूपसे पहुंचा देती है ॥ १२ ॥

(वशा सोमेन सं अगत) गौ सोम औषधीको प्राप्त हुई, और (सर्वेण पद्वता सं उ) सब पांववालों-मनुष्योंको भी प्राप्त हुई। (वशा कलिभिः गंधर्वैः सह) यह गौ कलह करनेवाले गंधर्वों के साथ (समुद्रं अध्यष्ठात्) समुद्रपर अधिष्ठान करती रही। अर्थात् समुद्रपर भी गौका मान वैसाही है, जैसा मानवोंमें है ॥१३॥

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः । वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥१४॥
सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा । वशा समुद्रमत्यख्यद्भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥ १५॥
अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि । अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद्वशे त्वा ॥ १६ ॥
तद्भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा । अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥१७॥
वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव । वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत ॥१८॥
ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद्ब्रह्मणः ककुदादधि । ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥१९॥
आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे । पाजस्याज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव॥२०॥(३४)
ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव । आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः २१

अर्थ-(वशा ऋचः सामनि बिभ्रती) गौ यज्ञमें ऋचा और सामोंको धारण करती हुई (वातेन सं अगत) वायुसे संगत हुई, (सर्वैः पतत्रिभिः हि सं) सब पांववालोंसे मिलकर (समुद्रे प्रानृत्यत्) समुद्रपर नाचने लगी । इस तरह गौका संमान सर्वत्र होता है ॥ १४ ॥

(वशा सूर्येण सं अगत) गौ सूर्यसे मिली है, (सर्वेण चक्षुषा सं उ) सब आंखवालोंसे मिली है । (भद्रा वशा ज्योतींषि बिभ्रती) कल्याणकारिणी गौ अनेक तेजोंका धारण करती हुई (समुद्रं अत्यख्यत्) समुद्रके परे देखने लगी । दूरतक उसकी प्रतिष्ठा हुई है ।। १५ ॥

हे [ऋतावरि] हे अन्नको देनेवाली गौ ! [हिरण्येन अभिवृता यत् अतिष्ठः] जब सुवर्णभूषणोंसे युक्त होकर जब तू खडी होती है, हे [वशे] गौ ! [त्वा अधि समुद्रः अश्वः भूत्वा अस्कन्दत्] तेरे पास समुद्र अश्व बनकर आ गया, यह तेरा महत्त्व है ॥ १६ ॥

[यत्र दीक्षितः अथर्वा] जहां जिस यज्ञमें दीक्षित अथर्ववेदी (हिरण्यये बर्हिषि आस्ते) सुवर्णमय आसनपर बैठता है, वहां (भद्राः समगच्छन्त) भद्र पुरुष इकठ्ठे हुए और वहां (वशा देष्ट्री अथो स्वधा) दान देनेवाली गौ और स्वयं अन्नरूपमें उपस्थित हुई ॥ १७ ॥

(राजन्यस्य माता वशा) क्षत्रिय की माता गौ है, हे (स्वधे) अन्न ! (तव माता वशा) तेरी भी माता गौही है। (वशाया आयुधं जज्ञे) गौसे शस्त्र उत्पन्न हुआ है, और (ततः चित्तं अजायत) उससे चित्त बना है। अर्थात् गौसे बल और बुद्धि दोनों होती हैं ॥ १८ ॥

(ब्रह्मणः ककुदादधि) ब्रह्माके उच्च भागसे (बिन्दुः ऊर्ध्वः उदचरत्) एक बूंध ऊपर चल पडा, हे (वशे) गौ! (ततः त्वं जज्ञिषे) उससे तू उत्पन्न हुई है। और (ततः होता अजायत) उससेही पश्चात् होता-हवन कर्ता-उत्पन्न हुआ। अर्थात गौमें ब्रह्मशक्ति अधिक है, क्योंकि वह पहिले हुई है ॥ १९ ॥

हे (वशे) गौ ! (ते आस्नः गाथाः अभवन्) तेरे मुखसे गाथाएं बनीं, (उष्णिहाभ्यः बलं) तेरे गर्दनके भागोंसे बल उत्पन्न हुआ है, (पाजस्यात् यज्ञः जज्ञे) तेरे दुग्धाशयसे यज्ञ हुआ, और (तव) तेरे (स्तनेभ्यः रश्मयः) स्तनोंसे किरण हुए हैं। इस तरह गौसे यह सब उत्पन्न हुआ है, इतना गौका महिमा है ॥ २० ॥

(तव ईर्माभ्यां) तेरे बाहुओंसे तथा (सक्थिभ्यां अयनं जातं) टांगोंसे गमन होता है । हे (वशे) गौ ! तेरे (आन्त्रेभ्यः अत्राः) आंतोंसे अनेक पदार्थ और [उदरात् वीरुधः] पेटसे वनस्पतियां उत्पन्न हुई हैं ॥ २१ ॥

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे । ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत्स हि नेत्रमवेत्तव ॥ २२ ॥
सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः ।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥ २३ ॥
युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी । तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा ॥२४॥
वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत् । वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥
वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते । वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्याऽ३ असुराः पितर ऋषयः ॥२६॥
य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात् । तथा हि यज्ञः सर्वपाद्दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥ २७ ॥
तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि । तासां या मध्ये राजति सा वशा दुःप्रतिग्रहा ॥२८॥
चतुर्धा रेतो अभवद्वशायाः । आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥ २९ ॥

अर्थ- हे (**वशे**) गौ ! (**यत् वरुणस्य उदरं**) जो वरुण के उदरमें तू (**अनु प्रविशथाः**) प्रविष्ट हुई है, (**ततः ब्रह्मा त्वा उत् अह्वयत्**) तब ब्रह्माने तुझे आह्वान किया था । (**सः हि तव नेत्रं अवेत्**) वह तेरा नेत्र जानता है । अर्थात् गौका महत्व ज्ञानी ही जानता है ॥ २२ ॥

(**असूस्वः जायमानात्**) प्रसवमें असमर्थ गौकी (**गर्भात् सर्वे अवेपन्त**) गर्भस्थितिसे सब कांपने लगते हैं । (**तां आहुः वशा असूस्व इति**) उसीको कहते हैं कि यह गौ प्रसवके लिये असमर्थ है । (**सः हि ब्रह्मभिः अस्याः बन्धुः क्लृप्तः**) वही ब्राह्मणोंने इसका बंधु माना है ॥ २३ ॥

[**एकः युधः संसृजति**] एक योद्धा व्यवस्थाको उत्पन्न करता है । (**यः अस्याः इत् वशी एकः**) जो इस गौका एक ही वश करनेवाला है । (**यज्ञाः तरांसि अभवन्**) यज्ञ पार करनेवाले हैं, और (**तरसां चक्षुः वशा अभवत्**) पार होनेवालों की आंख गौ बनी है । गौकी सहायतासे सब लोग दुःखोंसे पार होते हैं ॥ २४ ॥

(**वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णात्**) वशा गौ यज्ञ स्वीकारती है, (**वशा सूर्यं अधारयत्**) वशा गौने सूर्य धारण किया है । (**वशायां ओदनः अविशत्**) गौमें भात अन्न प्रविष्ट है और वह (**ब्रह्मणा सह**) ज्ञानके साथ प्रविष्ट हुआ है । गौके आधार से यज्ञ, अन्न और ज्ञान सुरक्षित रहते हैं ॥ २५ ॥

(**देवाः वशां अमृतं आहुः**) देव गौको अमृत कहते हैं, (**वशां मृत्युं उपासते**) गौको मृत्यु समझकर उपासना करते हैं । (**वशा इदं सर्वं अभवत्**) गौ ही यह सब हुई है, अर्थात् (**देवाः मनुष्याः असुराः पितर ऋषयः**) देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि यह वशाकाही रूप है ॥ २६ ॥

(**यः एवं विद्यात्**) जो यह तत्त्वज्ञान जानता है, (**सः वशां प्रतिगृह्णीयात्**) वह वशा गौका दान लेवे । तथा वशा गौके दाताको (**यज्ञः सर्वपात् अनपस्फुरन् दुहे**) यज्ञ सब प्रकारसे सफल होकर विचलित न होता हुआ सुयोग्य फल प्रदान करता है ॥ २७ ॥

(**वरुणस्य आसनि अन्तः तिस्रः जिह्वाः**) वरुण के मुखमें तीन जिह्वाएं (**दीद्यति**) चमकती हैं । (**तासां मध्ये या राजति**) उनके बीचमें जो विशेष चमकती है, (**सा वशा**) वह वशा गौ ही है, अतः वह (**दुष्प्रतिग्रहा**) दानमें स्वीकार करना कठिन है ॥ २८ ॥

(**वशायाः रेतः चतुर्धा अभवत्**) वशा गौका वीर्य चार प्रकारसे विभक्त हुआ है । (**आपः तुरीयं**) आप् चतुर्थ भाग है, (**अमृतं तुरीयं**) अमृत अन्न चौथा भाग है, (**यज्ञः तुरीयं**) यज्ञ चौथा भाग है और (**पशवः तुरीयं**) पशु चौथा भाग है । यह सब वशाका चतुर्धा वीर्य है ॥ २९ ॥

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः। वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ।३०।
वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये । ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥ ३१॥
सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते । ये एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥ ३२॥
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते । ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥ ३३॥
वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत । वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति ३४ (३५)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

॥ इति दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

(वशा द्यौः) वशा द्यौ है, (वशा पृथिवी) वशा ही पृथिवी है, (वशा प्रजापति विष्णुः) वशा ही प्रजापालक विष्णु है । (ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं, वे (वशायाः दुग्धं अपिबन्) वशा गौका दूध पीते हैं ॥ ३० ॥

(ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं वे (वशायाः दुग्धं पीत्वा) वशा गौका दुध पीकर पश्चात् (ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि) वे स्वर्गके स्थानमें (अस्याः पयः उपासते) इसके दूधकी प्राप्ति करते हैं ॥ ३१ ॥

(एनां सोमं एके दुह्रे) इससे सोमका कईयोंने दोहन किया है, (एके घृतं उपासते) कई इससे घृतकी प्राप्ति करते हैं । (एवं विदुषे वशां ददुः) जो इस प्रकारके विद्वान को गौका प्रदान करते हैं, (ते दिवः त्रिदिवं गताः) वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३२ ॥

(ब्राह्मणेभ्यः वशां दत्वा) ब्राह्मणोंको वशा गौ देकर (सर्वान् लोकान् सं अश्नुते) सब लोकोंको प्राप्त करते हैं । (अस्य ऋतं ब्रह्म अथो तपः हि आर्पितम्) इसमें ऋत, ज्ञान, तप आश्रित होते हैं ॥ ३३ ॥

(देवाः वशां उपजीवन्ति) देवताएं वशा गौपर उपजीवन करती हैं (उत मनुष्याः वशां) और मनुष्य भी वशा गौ पर ही जीवित रहते हैं । (वशा इदं सर्वं अभवत्) वशा गौ ही यह सब हो गयी है (यावत् सूर्यः विपश्यति) जहां तक सूर्य का प्रकाश पहुंचता हैं ॥ ३४ ॥

पंचम अनुवाक समाप्त ।

दशम काण्ड समाप्त ।

सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्म।

सूक्त ७ से सूक्त १० तक का स्पष्टीकरण किया नहीं, वह अब संक्षेपसे करना है।

सूक्त ७ और ८ में सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्मका वर्णन है और यह विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य है।

प्रथमके २२ मंत्रोंतक ' कतमः स्वित् एव सः ' वह देव कौनसा है ? ऐसा प्रश्न किया है। उस एक सर्वाधार देवताके विषयमें किसीको संदेह नहीं है उसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें करते हैं और अन्तमें पूछते हैं, कि ' वह देव, जिसका की यहांतक वर्णन हुआ हैं, वह कौनसा है, इस उपदेशकी अपूर्व विधिका तात्पर्य यह है कि, जिसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें अथवा मंत्रभागोंमें किया गया है वह देव कहां है, उसका अनुभव पाठक लेवें, । जो श्रेष्ठ ब्रह्म है उसका वर्णन मंत्रोंमें किया है, वह अनुभवमें आने योग्य हैं मनुष्यका जन्म ही इस कार्यके लिये है। अब देखिये इस वर्णनका अनुभव कैसा आ सकता है।

प्रथम मंत्रमें " तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा और सत्य किस अंग या अवयवमें रहता है, " यह पूछा है। मनुष्यके किस अंगमें ' सत्य ' रहता है ? पाठक सोचें और अपने अन्दर देखें, तथा अनुभव लें, कि अपने अन्दर कहां किस स्थानमें सत्य रहता है, वही आत्मा है, यह निश्चयसे पाठक जान सकते हैं, आत्म-बुद्धि-मन-चित्त इस अन्तःकरणचतुष्टयमें हि सत्य श्रद्धा आदिका निवास है।

आगे मंत्र २, ३ और ४ इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके किस अंगमें अग्नि, वायु, चन्द्रमा, भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, उत्तर द्युलोक, जलप्रवाह ये रहते हैं इसकी पृच्छा की है।

पहिले मंत्रमें सत्य श्रद्धा आदिका स्थान मानव-व्यक्ति में पूछा है और अगले इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके देहके अग्नि वायु आदि देव किस अंगमें और किस अवयवमें रहते हैं, यह प्रश्न पूछा है। वेदमें व्यक्तिगत आत्मतत्त्व और विश्वगत आत्मतत्त्वका विचार विभिन्न रीतिसे नहीं होता हैं, यह पाठक यहां देखें। विश्वव्यापक आत्मतत्त्व का ज्ञान यथार्थ रीतिसे होनेके लिये इस वर्णन की शैली को यथावत् जानना चाहिये।

आगे मंत्र ५ और ६ कालस्वरूप का वर्णन है। इस काल-स्वरूप के मास, पक्ष, ऋतु अयन, अहोरात्र, पर्जन्यधाराएं (वर्षाकाल) सर्वाधार परमात्माके आधार से रहते हैं।

यहांतक पाठक देख सकते हैं कि प्रथम मंत्रमें वैयक्तिक सत्य श्रद्धा आदि गुण, आगेके तीन मंत्रोंमें पृथिव्यादि विश्वके पदार्थ और आगेके दो मंत्रोंमें कालके सब अवयव उसी एक सर्वाधार परमात्माके आधार से रहते हैं, ऐसा कहा है। यहां वैयक्तिक श्रद्धादि गुण व्यक्तिगत आत्माके आधारसे रहते हैं ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत येभी विश्वआत्माकेही आधारसे रहते हैं, ऐसा कहा है।

जो संपूर्ण लोकलोकान्तरोंको धारण कर रहा है, वह प्रजापतिभी उसी सर्वाधार स्कंभमें आश्रित है, यह कथन मंत्र ७ में है। यहां प्रजापति नाम सर्वाधार विश्वात्माके आधार से रहनेवाले लोकपालक का है। अष्टम मंत्रमें कहा है, कि प्रजापति उच्च, मध्यम और कनिष्ठ [सात्त्विक, राजस और तामस] विश्वके पदार्थ निर्माण करता है और इस तरह त्रिविध विश्वकी उत्पत्ति होते ही स्कंभ नामक जो सर्वाधार आत्मा है, वह उस त्रिविध विश्वमें प्रविष्ट होता है और अन्दर व्याप कर रहने लगता है। ऐसा होनेपर मंत्रमें प्रश्न पूछा है, कि इस तरह सर्वाधार आत्माका प्रवेश त्रिविध विश्वमें होनेके पश्चात् उस विश्वात्माके कितनेसे अंशने इस विश्वको व्यापा है और कितना विश्वात्माका भाग अवशिष्ट रहा है,जो इस विश्वके साथ संबंधित ही नहीं हुआ ? अर्थात्–

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥(ऋ. १०।९०)

एक अंशमात्रमें ये सब भूत हैं और शेष सब परमात्मा अपने स्वरूपमें विराजता है। यह अनंत विश्व यद्यपि हमारी दृष्टिमें अनन्त और अगाध है, तथापि परमात्मा की दृष्टिसे वह अत्यंत अल्प, अंशमात्र है। यही बात समझाने के लिये इस अष्टम मंत्रमें ये दो प्रश्न किये हैं, कि विश्वमें इसका कितना अंश प्रविष्ट हुआ है और इसका शेष अंश कितना है ? इसका उत्तर यही है, कि विश्व एक अल्पसा अंश है और शेष अनन्त परमात्मा है, जो इस विश्वसे बाहर है।

नवम मंत्रमें फिर पूछा है, कि भूतकालके विश्वमें कितना

परमात्मा प्रविष्ट हुआ था, और भविष्यकालके विश्वमें कितना प्रविष्ट होगा, और वर्तमानकालीन विश्वमें कितना प्रविष्ट हुआ है ? अर्थात् इनका उत्तर यही है, कि भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन सब मिलकर विश्व एक अल्प अंशके बराबर है, विश्वके बडेपनसे परमात्माका बडापन अनंतगुणा है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है । इस मंत्रमें तीसरा चरण अत्यंत महत्त्वका है वह यह है—

यत् एकं अंगं सहस्रधा अकरोत् ।। (मं० ९)

"जो अपने एक अंगको सहस्रों भागोंमें विभक्त करता है।" जैसा सूर्यका विभाग होकर ग्रह और उपग्रह बने, पृथ्वीके विभाग होकर स्थावर, जंगम, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य बने । एक अंगके सहस्रों पदार्थ इस तरह बनते हैं। यही बात इसी सूक्तके २५ वें मंत्रमें इस तरह कही है—

बृहन्तो नाम ते देवाः ये असतः परिजज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

"वे बडे देव असत् से उत्पन्न हो चुके हैं और यह असत् सर्वाधार परमात्माका एक अंग ही है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं॥"

स्कम्भ नाम सर्वाधार परमात्मा है, इसके दो अंग हैं। एक का नाम सत् और दूसरेका नाम असत् है । इन दोनो अंगोंका मिलकर नाम स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमात्मा है। इस स्कंभ के एक अंगसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु आदि सब लोक लोकान्तर बने हैं, इसीका अर्थ " इसने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त कर दिया । " इस ९ म मंत्रमें स्पष्ट कह दिया है । पाठक इस तरह मंत्रका आशय जान सकते हैं। शतपथादि ब्राह्मणमें कहा है कि

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ॥

' ब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त ' । इनका अधिक स्पष्टीकरण ऐसा किया है, कि मूर्त शरीर और इन्द्रियां हैं और अमूर्त प्राण, मन आदि हैं । यह मूर्त और अमूर्त मिलकर ब्रह्म होता है । यही आशय स्कंभ नाम सर्वाधार परमात्माके असत नामक एक अंगसे सब लोकलोकान्तर बने हैं, इस मंत्रमें प्रकट हुआ है, और वे कैसे बने हैं, इसका स्पष्टीकरण ' इस स्कंभ नामक विश्वात्माने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त करके यह विश्व बनाया, इस ९ म मंत्रमें हुआ है ।

दशम मंत्रमें इस स्कम्भ नामक सर्वाधार में लोक, कोश, आप, असत् और सत् रहते हैं और ये वहां हैं, यह बात ब्रह्मज्ञानी लोग यथावत् जानते हैं,ऐसा कहा है, वह उक्त बात उक्त दृष्टिसे ही समझना चाहिये ।

आगे ११ और १२ इन दो मंत्रोंमें वही बात दुहराई है, कि जो पहिले १ से ४ मंत्रोंमें कही है । स्कम्भ नामक विश्वाधार के अंग में अर्थात् शरीरमें अग्नि आदि देवताएं अपने अपने स्थानमें रही हैं । अर्थात् अग्नि, आप् पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र मिलकर उस सर्वाधार का शरीर है। आगेके चार मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १३ से १६ तक यही बात कही है —

मंत्र १३ = जिस सर्वाधारके शरीरके अंगोंमें ३३ देवताएं रही हैं ।

मंत्र १४ = सब पहिले उत्पन्न हुए ऋषि, भूमि, ऋचा, साम, यजु , एक मुख्य ऋषि ये सब उसी सर्वाधारमें रहते हैं।

मंत्र १५ = पुरुषमें अमृत और मृत्यु रहते हैं । समुद्र जिसकी धमानियां हैं ।

मंत्र १६ = चारों दिशा-उपदिशाएं जिसमें नाडियां हैं जहां यज्ञ विशेष महत्त्व का स्थान पाकर रहा है ।

इस तरह सर्वाधार परमात्माके शरीरके अंग बनकर ये सब पदार्थ रहे हैं। इसका ही स्पष्टीकरण पाठक आगे देख सकते हैं ।

मंत्र १८ = इस सर्वाधारका मुख अग्नि है, चक्षु अंगिरस हैं, अन्य अवयव यातु-जन्तुमात्र है,

मंत्र १९ = ब्राह्मण जिस सर्वाधारका मुख है, जिह्वा मधुकशा-- गौ है, जिस का दुग्धाशय विराट् विश्व है ।

मंत्र २० = उससे ऋग्वेद, यजुर्वेद हुए और साम जिसके लोम है और अथर्वा-ब्रह्मा-जिसका मुख है ।

पाठक इस वर्णनकी तुलना १३ से १६ मंत्रोंके साथ करें । मंत्र १३ से १६ तक जो कहा है, वही अधिक सुदृढ करनेके लिये मंत्र १८ से २० तक के मंत्र हैं । विश्वरूपी परमात्माके ये सूर्यादि अवयव हैं, यह विश्वही उसका शरीर है, वेद ही उसकी वाणी है, वेदके द्वारा वही सब मनुष्योंके साथ बोल रहा है । जो वेदवेत्ता ब्राह्मण है, वही उसका मुख है इस तरह परमात्मा प्रत्यक्ष हो रहा है, पाठक इस रूपमें परमात्माका साक्षात्कार करना सीखें ।

१७ वे मंत्रमें परमात्मसाक्षात्कार करनेकी और एक विशेष युक्ति दी है, वह यह है कि —

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥ (१७)

" जो पुरुषमें-मनुष्यके अन्दर ब्रह्म जानते हैं वे ही परमेष्ठी परमात्माको जानते हैं । यहां व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी का भेद देखना चाहिये । व्यष्टि एक व्यक्ति है, समष्टि व्यक्तिसमूह का नाम है, और परमेष्ठी स्थिरचर विश्वसंपूर्णका नाम है। मनुष्य विश्वव्यापक परमेष्ठी को किस तरह जान सकता है ? मनुष्यका इन्द्रियसमूह अल्प शक्तिवाला है, उससे विश्वसमष्टि का आकलन कैसे हो सकता है ? उत्तरमें कहते हैं कि मनुष्य अपने अन्दर वही विश्वकी बातें अनुभव करे । मनुष्य अपने अन्दर देखे, कि मेरा आंख सूर्य ही है, अग्नि शरीरमें उष्णता रूप धारण किये हैं, जलतत्त्व रक्तरूपसे मेरे शरीरमें है और नाडियोंमें प्रवाहित हो रहा है, वायु मेरा प्राण बना है, पृथ्वी भी हड्डियोंके रूपसे शरीरमें है, दिशाएं कानमें रही हैं, इसी तरह ३३ देवताएं मेरे इस छोटेसे शरीर में अंशरूपसे आकर रही हैं और यहां मुझे सहायता दे रही है । मैं आत्मा हूं और ये ३३ देव यहां मेरे सहायक होकर इस शरीरमें मेरे वशवर्ती हो रहे हैं। यही ज्ञान पुरुष-मनुष्य-के शरीरमें लेने योग्य है। यही शरीरमें मूर्त और अमूर्त ब्रह्म रहता है । इसको यथावत् जाननेसे विश्वमें-विश्वात्मामें- येही ३३ देव वैसे रहे हैं, यह साधक जान सकता है और अपने शरीरके अंशरूप देवोंका विश्वव्यापक परमात्मदेहमें रहनेवाले देवोंके साथ क्या संबंध है, यहभी देखा जा सकता है। जैसा आंखका सूर्यसे संबंध इ० । इस तरह विचार करनेसे साधक अपने आपको परमात्माके विश्वव्यापक देहमें एक अंश- अल्प अंशरूप देख सकता है । जो इस तरह अपने शरीरमें अनुभव कर सकेंगे, वेही ब्रह्माण्डदेहमें ब्रह्मका अनुभव और साक्षात्कार कर सकते हैं। यह ब्रह्मसाक्षात्कार की साधना है ।

जो इस तरह मनुष्य अपने अन्दर ब्रह्म देख सकते हैं, वे परमेष्ठी, प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्मको भी क्रमशः जान सकते हैं और अन्ततः सर्वाधार परमात्माको जान सकते हैं ।

कई साधक असत्‌को ही श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं, और दूसरे साधक सत् को ही श्रेष्ठ मानकर उपासना करते हैं। इस तरह दोनों उपासनाएं मनुष्यों में शुरू हैं । यह मंत्र २१ में वर्णन है । परंतु आगे (मं० २२ में) कहा है, कि जिसमें आदित्य, रुद्र और वसु रहते हैं, और जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य काल के सब लोकलोकान्तर रहे हैं, वही सर्वाधार परमेश्वर सबका उपास्य देव है ॥

(मं० २३ =) जिस परमात्माके निधिका संरक्षण सब तैंतीस देव करते हैं, उस निधिको कौन जानता है ? इस मंत्रका अनुभव पाठक अपने अन्दर भी देख सकते हैं, क्योंकि सब ३३ देवों द्वारा—देवताओंके अंशोंद्वारा- ही यहांके आत्माकी रक्षा हो रही है । यहां सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि आये हैं, रहे हैं और यहांके निधिकी रक्षा कर रहे हैं। इसी का वर्णन आगेके २४ वें मंत्रमें कहा है कि ब्रह्मज्ञानी और देव जहां श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, यह जो जानता है, वही ज्ञानी होता है । २५ वे मंत्रमें सर्वाधार परमात्मा का एक अंग असत् है, जिससे अग्न्यादि सब देवताएं बनी हैं, ऐसा वर्णन है अर्थात् यह बात यहां स्पष्ट हो चुकी है कि सर्वाधार परमात्मा के शरीर के दो अंक हैं, एक सत् और दूसरा असत् । दोनों मिलकर सर्वाधार परमात्मा होता है, जिसका आधार सब विश्वको है । इसी बातका अधिक स्पष्टीकरण मंत्र २७ में करते हैं— जिसके शरीरमें ३३ देव एक एक अवयवमें रहते हैं, अर्थात् जिसके शरीरके अवयव इन देवताओंके हि बने हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है, इसको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं ।

इस स्थानपर परमात्मा मूर्त- अमूर्त, दोनों रूपोंवाला है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है । परमात्माका प्रत्येक गात्र एक एक देवताका बना है । वस्तुतः मनुष्यके गात्रभी सब देवताओंके ही बने हैं । क्या हमारे गात्रों और अंगोंमें पृथ्वी, आप, अग्नि वायु आकाश ये देवताएं नहीं हैं ? हैं और अवश्य हैं । इसी तरह विश्वाधार परमात्माके विश्वदेहके प्रत्येक अंगभी देवताओंके ही बने हैं । इस तत्त्वज्ञानको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं, अन्य मूढ क्या जानेंगे ?

२६ वे मंत्रमें एक विशेष ही महत्त्वकी बात कही है, वह यह कि--

स्कंभः पुराणं प्रजनयन् व्यवर्तयत् ॥ (२६)

" सर्वाधार परमात्मा अपने पुराणे अंगको पुनः जन्म देता हुआ, उसको परिवर्तित करता है, अर्थात् नया ही बनाता है । यह इस सर्वाधारका अंग पुराणा होनेपर भी उसीकाही समझना चाहिये । उसीका है ऐसा ज्ञानी जन मानते हैं । यही बात आगे अगले सूक्तमें दर्शायेंगे--

एको ह देवो मनसि प्रविष्टिः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः । (सूक्त ८ । २८)

'एकही देव जो मनमें प्रविष्ट हुआ है, वह पहिले जन्मा था, वही पुनः गर्भमें आ गया है।' यह नया बननेके लिये ही गर्भमें आ गया है। यही बात अन्य वेदोंमें भी है --

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो
ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥
(वा० यजुः० ३२।४,)

" यह देव सब दिशाओंमें व्याप्त है, यही पहिले जन्मा था और यही अब गर्भमें आ गया है, यही भूत कालमें हुआ था और यही भविष्य कालमें जन्म लेनेवाला है, तात्पर्य यह कि यही सब अनंत मुखवाला प्रत्येक मनुष्यमें रहता है। " अतः यही पुराणा हो जानेपर पुनः पुनः जन्म लेता है और नया बनता है क्योंकि मृत्युभी यही है और जन्म भी यही है। यम (मृत्यु) भी वही है और प्रजापतिभी अथवा पिताभी वही है।

मं० २८ में हिरण्यगर्भ भी उसी स्कंभ-सर्वाधारसे सामर्थ्य प्राप्त करके हुआ, यह बात दर्शाई है। तात्पर्य यह कि इस सर्वाधार परमात्मामें सब लोक, सब तप, सब ऋत, अर्थात् सब कुछ समाया है । इसीका नाम इन्द्र है और इसी कारण इन्द्रमें यह सब कुछ है, ऐसा कहा जाता है। (मं० २९-३०) इस परम देवका नाम प्रातःकालमें सूर्योदयके पूर्व और उषः-कालके पूर्व ध्यानद्वारा स्मरण करनेसे अपना आत्मिक स्वराज्य प्राप्त होता है, जो सबसे श्रेष्ठ मनुष्यका प्राप्तव्य है। यह नाम-जप एक प्रकारका वाग्यज्ञ ही है।

ईश्वरका शरीर।

आगे ३ मंत्रोंमें (अर्थात् मं० ३२-३४ इन मंत्रोंमें) ईश्वरके शरीरका वर्णन है। भूमि उसके पांव हैं, अन्तरिक्ष पेट है, द्युलोक सिर है, सूर्य आंख है, नया नया बननेवाला चन्द्रमा भी उसका दूसरा आंख है, अग्नि मुख है, वायु प्राण और अपान है, अंगिरस आंख बने हैं, दिशाएं कान है। इस तरह इस सर्वाधारका ब्रह्माण्ड देह है। पाठक इस तरह इस परमात्माका साक्षात्कार करें। इसी परमात्माने यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सब दिशा उपदिशाओं का धारण किया है, वह सब भुवनोंके अन्दर व्याप कर रहता है। सबका धारण करता है। (मं० ३५)

इस परमात्माने ही 'सोम' नामक दिव्य औषधि बनायी है, वायु और मन को चञ्चल बनाया है, जलोंको प्रवाही बनाया है। इसी भुवनोंके बीचमें वर्तमान देवताके आश्रयसे सब देवताएं रहती हैं, जिस तरह शाखाएं वृक्षके आश्रयसे रहती हैं। हाथ, पांव, वाणी, कान, चक्षुसे जिसको उपहार पहुंचाया जाता है, सब देवता जिसकी उपासना करके उपहार पहुंचाते हैं, वही अनन्त ईश्वर सबका उपास्य है। (मं० ३६-३९)

उसमें अन्धकार नहीं है, पाप उससे दूर है, तीनों ज्योतियां उसीमें हैं। वही सर्वत्र गुप्त रहनेवाला प्रजापति है। दिनप्रभा और रात्री ये दो स्त्रियें छः ऋतुवाला संवत्सररूपी वस्त्र बुन रहीं हैं, न ये कभी थकती हैं और न अपना कार्य समाप्त करती हैं। इनपर अधिष्ठाता एक पुरुषभी है, जो धागा देता है और कार्य करवाता है। सब ताना और बाना यह काल ही है। यह उसी परमात्माकी शक्तिका एक महिमा है। (मं० ४०-४४)

पाठक इस तरह इस सूक्तका मनन करें और परमात्माका साक्षात्कार करनेको सीखें। इसीलिये मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है। अब इसी परमात्माके वर्णनपरका आगेका मनोरम सूक्त देखिये—

सूक्त ८ ज्येष्ठ ब्रह्म।

पूर्व सूक्तमें जिस स्कंभ-स्तंभ-सर्वाधार परमात्माका वर्णन हुआ है, उसीका वर्णन करके पुनः इसी सूक्तमें वही विषय समझाते हैं—

भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जो कुछ विश्व है, उस सबका अधिष्ठाता वही परमात्मा है, वही सबका प्रकाशक है, वही सबका उपास्य है (मं० १) । इसी परमात्माने पृथ्वी और द्यु धारण किये हैं, इतनाही नहीं परंतु—

स्कंभः इदं सर्वं, आत्मन्वत,
यत् प्राणत्, यत् निमिषत्। (मं० २)

यह सर्वाधार परमात्माही यह सब कुछ विश्व है, जिसमें आत्मा है और जो प्राणापान लेताछोडता है और निमेषोन्मेष करता है। देखिये —

स्कंभ इदं सर्वं। [अथर्व० १०।८।२]
पुरुष एवेदं सर्वं। [ऋ० १०।९०।२]
एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्। [ऋ० १०।७।९]
वासुदेवः सर्वं। [भ० गीता ७।१९]
विश्वं विष्णुः। विष्णुसहस्रनाम [म० भारत]

स्कंभही सब कुछ है, पुरुषही सब कुछ हैं उसके एक अंगसे सहस्रों वस्तुएं बनी हैं, वही सब कुछ है। ये सब वर्णन

विश्वात्माके ही हैं। यदि वही सब कुछ है, तो जो दीखता है, वह भी सब उसीका रूप है। यह सिद्ध है।

[मं० ३] तीन प्रकारकी प्रजाएं हैं, एक सत्वगुणी, दूसरी रजोगुणी और तीसरी तमोगुणी। सब विश्व इन तीनों गुणोंसे भरपूर है, कोई वस्तु इन गुणोंसे रहित नहीं है। सत्त्व-गुणी प्रकाशमें रहते हैं, रजोगुणी भोगमें विराजते हैं और तमोगुणी अन्धकारमें जाते हैं।

[मं० ४–५] बारह महिने, तीन काल अर्थात् गर्मी, वृष्टी और सर्दी, और तीन सौ साठ दिवस यह सुस्थिर कालचक्र है। इसमें ६ ऋतु हैं, एक अधिक मास है, वह अकेला ही रहता है।

[मं० ६--८] एक पुराणकालसे विद्यमान महत्पद है; उसी पदके साथ स्थावर जंगम सब कुछ संबन्धित है। कोई वस्तु उससे संबंध न रखनेवाली यहां नहीं है। एक चक्र है जो आगेपीछे चलता रहता है, उसके आधे भागसे यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है, जो दूसरा आधा भाग है वही गूढ है वह हरएक जान नहीं सकता। इसकी गति दीखती नहीं है, परंतु उसकी जो स्थिति है, वही दीखती है। गतिमें भूतकाल गया है, इस लिये दीखती नहीं, और भविष्य काल आया नहीं है, इस कारण दीखता नहीं है, वर्तमान काल अति अल्प है, वह अंश रूप दीखता है।

[मं० ९] मनुष्यका सिर एक पात्र है, उसका मुख नीचे है, इसमें सब विश्वरूपी यश रहता है, सब मनुष्यका सामर्थ्य इसीमें रहता है। मस्तक बिगड गया तो मनुष्यत्व ही नष्ट होता है। वहां सात ऋषि साथसाथ रहते हैं, दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सातऋषि हैं। यही इस खजानेके बडे संरक्षक हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इस का महत्त्व जाने और इसकी उत्तम रक्षा करे। क्योंकि संपूर्ण मानवता यहीं है।

एकही है।

यत् एजति, पतति, यत् च
तिष्ठति, प्राणत्, अप्राणत्;
निमिषत् च यत् भुवत्।
तत् विश्वरूपं पृथिवीं दाधार, तत्
संभूय एकं एव भवति। [मं० ११]

'इस विश्वमें कंपन, पतन, स्थिरत्व से युक्त, प्राणयुक्त, प्राण-रहित, निमेष करनेवाला ऐसे अनेक वस्तुमात्र हैं। यह सब मिलकर एकही सत् तत्त्व होता है और वही तत्त्व विश्वरूप है अर्थात् सब रूपोंका धारण करता है, उसीने इस पृथ्वीको धारण किया है।' वहां एक तत्त्व है, शेष जो है, वे सब उसके रूप हैं

(मंत्र १२) एक अनन्त सत् तत्त्व है, वही सर्वत्र व्याप्त है। अनन्त और सान्त ये दोनों अन्तमें एक दूसरेमें मिले हुए हैं। इसका भूत भविष्य देखता हुआ विद्वान् ही आगे बढता है, उन्नति करता है।

(मं. १३) एक प्रजापति है' वह वस्तुतः अदृश्यमान है, वह गर्भमें संचार करता है और गुप्त रूपसे अनेक रूपोंमें उत्पन्न होता है। उसके एक आधे भागसे ही यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है, उसका जो शेष भाग है, वह गुप्त है, वह पह-चानना कठिन है।

सब लोग इस सत् तत्त्वको आंखसे देखते हैं, परंतु सब इसको मननसे जानते नहीं। (मं. १४) जो दिखाई देता है, वह भी उसीका रूप है, परंतु यह सबको समझमें नहीं आता है। (मं० १५) वह सत् तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है, वह दूर भी है और पास भी है, वह पूर्णभी है और हीनमें भी वही है। यही बडा पवित्र और उपास्य है, सब इसीके पास उपहार पहुंचाते हैं। (मं० १६) जिसके बलसे सूर्य उदयको प्राप्त होता है और जिसमें अस्त को प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्म है, उससे और दूसरा कोइभी श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है। [मं०१७] वेदवेत्ता जिसकी प्रशंसा करते हैं, वही प्रकाश देनेवाला आदि-त्य है, जो सबका आदान करता है। वही सबका आधार है। उसी के आधारसे सब अन्य देव हैं। सबको प्रकाशित करने-वाला वही एक देव है। [मं० १८]

एकही ज्येष्ठ ब्रह्म है। सत्य, ज्ञान और प्राण उसीसे संबं-धित हैं। जैसा दोनों अरणियोंसे अग्नि निकलता है, वैसा ही सर्वत्र वही सत्तत्त्व है और प्रकटभी होता है। गर्भमें [अपाद] पादरहित ही गर्भ सर्वप्रथम होता है, वही आगे [स्वर] प्रकाशको प्राप्त करता है, और वही चतुष्पाद— दो हाथों और दो पावोंसे युक्त— हो कर सब प्रकारके भोग भोगता है। [मं० १९–२१] वह भोग्य होता है, भोक्ता होता है बहुत अन्न प्राप्त करता है और और वही सनातन देवता की उपासना करके कृतकृत्य होता है। [मं० २२]

यही एक सनातन सत् तत्त्व है। जो फिरसे नया नया

होता है, जैसे बारंवार दिन और रात होते हैं इसी तरह यह उत्पत्ति और लय होता है। [मं० १३] सौ, हजार, दश लक्ष, अर्बुद असंख्य शक्ति इसमें है, इसकी यह शक्ति कोइ जान नहीं सकता। यही देव इस सबको प्रकाशित करता है। [मं० २४] बालसेभी सूक्ष्म यह है, सबको घेरनेवाली ही यह देवता है और वही प्रियरूप है। [मं० २५] यही कल्याण करनेवाली, अजर और अमर है। इस मृत देहमें यह न मरनेवाली, देवता है। यह स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वृद्ध आदि सब रूपोंमें होती है, इसी लिये इसको विश्वतोमुख कहते हैं। [मं० २६-२७]

यही पिता और यही पुत्र है, यही ज्येष्ठ है और यही कनिष्ठ है। यही एक देव मनमें प्रविष्ट हुआ हैं, वही एक बार जन्मकर फिर गर्भमें पुनर्जन्म के लिये आता हैं। [मं० २८]

पूर्ण परमात्मासे ही यह पूर्ण विश्व बना है, क्योंकि जैसा वह पूर्ण है, वैसा यह भी पूर्ण है। इसको जीवन उसीसे मिलता है। जहांसे इसको जीवन मिलता है, उस मूल स्रोत को जानना चाहिये। (मं० २९) यही सनातन है, और यही सब कुछ बन गयी है। यही बडी देवता है। [मं० ३०] एक देवता है जो ऋतसे युक्त है, उसकी ही शक्तिसे ये वृक्ष हरे भरे दीख रहे हैं। (मं० ३१) पास होनेपर भी दीखता नहीं और पास होनेपर भी उसका त्याग नहीं किया जाता। उसी ईश्वरका यह काव्य है, जो नाशको नहीं प्राप्त होता और जीर्णभी नहीं होता। (मं० ३२)

अपूर्व देवताने प्रेरित हुई वाणी सब कोई बोलते हैं, इस वाणीकी मूल प्रेरणा जहांतक पहुंचा देती है, वही बडा ब्रह्म है। ब्रह्मको प्राप्त करनेका यही साधन है कि वाणीका मूल देखो। (मं० ३३) जहां देव और मनुष्य नाभिमें आरे रहनेके समान आश्रित हुए हैं, वही माया से छिपा हुआ सत्तत्त्व है, उसीको जलका पुष्प कहते हैं, क्योंकि उसी फूलसे विश्वका बीज उत्पन्न होता है। (मं० ३४) वायुका संचलन, दिशाओं का अवकाश, तथा अन्यान्य कार्य उसीसे हो रहे हैं। (मं० ३५)

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो रहता है वह वही एक देव है, इसीके ये रूप हैं, प्रत्येक दिशामें वही भिन्न-भिन्न दीखता है। (मं० ३६) जो इस फैले हुए विश्वव्यापक सूत्रात्मा को जानता है, जिस सूत्रमें सब विश्वके लोकलोकान्तर पिरोये हैं, सब प्राणी उसीमें हैं और कोई उससे बाहर नहीं है। (मं० ३७-३८)

विश्वको जलानेवाला अग्नि पृथ्वीपर है, उसका सहायक वायु भी अन्तरिक्षमें हैं, द्युलोकमें सबको प्रकाश देनेवाला सत्यधर्मा सूर्य है। यह सब एकके ही सामर्थ्यसे कार्य हो रहा है। (३९-४२

एक कमल है, तीन गुणोंसे वह बंधा है, नौ द्वार हैं, उनमें वह कमल रहता है। यही हृदयकमल है। नौ द्वारोंवाला स्थान यह शरीर ही है। इस कमलमें जो पूज्य देव है, वही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। (मं० ४३)

निष्काम, धैर्ययुक्त, अमर, स्वयंभू, रससे संतुष्ट होनेवाला, कहीं भी न्यून नहीं, सर्वत्र ओतप्रोत भरा हुआ वह देव है, उसको यथावत् जाननेसे ही मृत्युका डर दूर हो जाता है; यही आत्मा अजर, अमर और सदा तरुण है। यही सब शक्तियों का केन्द्र है। यही आनंद देनेवाला है। उसको यथावत् जानने के लिये ही मनुष्य यहां उत्पन्न हुए है।

गौ।

आगे सूक्त ९ और १० में गौका वर्णन है। गौका यहां नाम 'शतौदना' है। सैंकडों मनुष्योंका अन्न देनेवाली गौ शतौदना कहलाती है। कल्पना करिये कि प्रतिदिन १० सेर दूध गौ देती है। इस हिसाबसे प्रतिदिन पांच मनुष्योंका पेट भरती है, एक मासमें १५० मनुष्यों का पेट भरती है और छः सात महिनोंमें एक सहस्र मनुष्योंका पेट पालन करती है। इस हिसाबसे एक आयुमें गौ दस हजार मनुष्योंका पेट पालन कर सकती है और उसकी संतानसे और अधिक। गौका यह महत्त्व है। गौका दूध बीमारों और अशक्तोंको तो अमृत जैसा है, बालकोंके लिये तो गौ माताका स्थान धारण करती है। गौके दूधसे बल मेधा और बुद्धिकी वृद्धि होती है। शतौदना गौका यह महत्त्व है।

यह गौ स्वर्गीय वस्तु है। कामधेनु यही है, जो गौ जिस समय चाहिये उस समय दूध देती है, उसका नाम 'कामदुघा' है। कामधेनु यही है। गौ विद्वान् ब्राह्मण को दान देनेसे बडा लाभ है, यह दान अन्न और सुवर्ण के साथ, (अपूप, हिरण्य) होना चाहिये। (मं० ७-८) यज्ञके शमिता, अन्नके पाचक, देवोंके वसु, मरुत् और आदित्य ये सब गौ के संरक्षक हैं। देव पितर, मनुष्य, गंधर्व और अप्सरागण ये सब गौकी रक्षा करनेवाले हैं, क्योंकि गौके दुधसे ही अग्निष्टोम और अतिरात्र ये यज्ञ होते हैं। (मं० ९)

जो शतौदना गौका दान विद्वान्को करता है, उसको अन्तरिक्ष, भूमि, दिशा, मरुत् तथा अन्य सब लोकोंमें उत्तम स्थान प्राप्त होता है। (मं० १०) सबकी पवित्रता करती हुई यह गौ देवोंको यज्ञद्वारा प्राप्त करती है। त्रिलोकमें जो देवताएं हैं वे सब गौके दूधसे तृप्त होती हैं, दूध, घी इसीसे उनको प्राप्त होता है। (मं०११-१२)

आगे मं० १३ से २४ तक कहा है कि इसी तरह गौका वर्णन है कि यह गौके अवयव और गौ दाताका कल्याण करे और दूधदहीघृत आदि सब वस्तु उसको पर्याप्त प्राप्त हों और दाता स्वर्गको प्राप्त हो।

आगे २७ मंत्रतक ब्राह्मणोंको पृथक् पृथक् गौ दान करने का वर्णन है।

दशम सूक्तमें भी ऐसा ही गौका वर्णन है। गौका दान लेने का अधिकारी कौन है, इस विषयमें द्वितीय मंत्रकी सूचना अत्यंत महत्त्वकी है। जो यज्ञका तत्त्व जानता है, वही गौका दान लेवे। गौ अपने भोग के लिये लेनी नहीं है, प्रत्युत यज्ञके लिये लेनी है, यह जो जानता है, वही दान लेवे और उसीको दान दिया जावे। (मं०१-३)

इस सूक्तमें गौका नाम वशा है। वशा गौ वह है कि जो सुखसे दोहि जाती है। दूसरी 'सूतवशा' है, अर्थात् जो नौकर को वश रहती है। अन्य गौवें वशमें नहीं रहतीं। वशा गौ-सबमें उत्तम है, क्योंकि वह न मारती है, न लाथें लगाती है और हर समय दूध देती है।

संपूर्ण पृथ्वी, तथा आप इन सबकी रक्षा यह गौ करती है। सहस्र धाराओंसे दूध देकर यह गौ हरएक का संरक्षण करती है। (मं० ४)

गौका उत्सव।

जो उत्तमसे उत्तम गौ होती हैं, उसका महोत्सव करते हैं गौ आगे चलायी जाती है, उसके पीछे सौ मनुष्य पात्र लेकर चलते हैं, सौ मनुष्य दोहन करनेवाले चलते हैं, सौ मनुष्य उसकी रक्षा करनेवाले गोपके रूप में चलते हैं; गौके पीछे इस तरह ३०० मनुष्य बडे आनंदसे चलते हैं। (मं० ५) बडबाजे बजाये जाते हैं और नगर भरमें इसका यह उत्सव मनाया जाता है। यज्ञद्वारा गौके दूधसे सबका जीवन उत्तम रीतिसे होता है, इसलिये उत्तम गौका यह वार्षिक उत्सव किया जाता है।

गौको 'यज्ञपदी' अर्थात् यज्ञका आधार कहा जाता है, क्योंकि इसके दूध और घृतसे यज्ञ होता है, पर्जन्य से घास की उत्पत्ति होकर इस गौकी रक्षा होती है (मं० ६)। सोमवल्ली गौ खाती है, और उसका परिणाम दूधपर होता है, वह दूध पीनेसे मनुष्यमें भी सोमका बल प्राप्त होता है। दूध दही घृत तो गौके अधीनही है, परंतु बैलसे खेती होती है, जिससे सब राष्ट्रकी रक्षा होती है, इस तरह गौही सबकी रक्षा करती है। (मं० ७-१७)

गौ क्षत्रियकी माता है, अन्न की भी वही माता है (मं०-१८), ब्रह्मकी विशेष बलवत्तर शक्तिसे गौकी उत्पत्ति हुई है (मं० १९), गौके अवयवोंको विशेष बल प्राप्त होता है, उससे सब विश्व का धारण होता है। गौ यज्ञ ही का रूप है (मं०२०-२५)

गौ अमृत का धारण करती है, जो मृत्युके मार्गपर होते हैं वे गौकी उपासना करके दीर्घजीवी होते हैं। गौही सब कुछ बनी है; देव, मानव, असुर, पितर और ऋषि गौके दूधसेही पुष्ट होते हैं (मं० २६)। इस तरहका सब ज्ञान जो जानता है वही वशा गौका दान लेवे (मं०२७)।

(मं०२८) वरुण राजाकी जैसी जिह्वा बडी तेजस्विनी होती है, कोई उसका विरोध नहीं कर सकता, उसी तरह वशा गौ प्रतिग्रह करनेके लिये कठिन होती है। अज्ञानी मनुष्य उसका दान नहीं ले सकता (मं० २९)। विश्वरमाका वीर्य चार वस्तुओंमें विभक्त हुआ, उसमें एक वशाके रूपमें प्रकट हुआ है। अन्य तीन भाग यज्ञ, जल और पशुके रूपमें प्रकट हुए हैं।

साध्य वसु, आदि देव वशाका दूध पीकर ही सिद्धि को प्राप्त हुए। वशा गौ ही पृथ्वीपर भूमि यौ और प्रजापतिका कार्य कर रही है (मं० ३०-३१)। यह सब ज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी को गौ दान देकर स्वर्गके भागी हुए हैं। (३२-३३)

वशा गौपर देव उपजीवन करते हैं, गौका दूध पीकर मनुष्य भी जीवित रहते हैं। जहांतक सूर्य प्रकाशता है वहांतक का विश्व मानो वशाका ही रूप है, इतना महत्त्व गौका है। पाठक इस तरह गौका महत्व जानें और गोपालन तथा गौ संवर्धन करके अपनी पुष्टि प्राप्त करें और दीर्घायुका सेवन करके यशस्वी बनें।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

दशमकाण्डकी विषयसूची ।